श्री० . नमः

श्री शांतिसागर जैन ग्रन्थमाला

५

कविवेधा तार्किकचूडामणि श्रीमत्समंतभद्राचार्य–विरचित

रत्नकरण्डश्रावकाचार की भाषाटीका

रत्नत्रय–चन्द्रिका प्रथम भाग

टीकाकार

अनगारधर्मामृत, न्यायदीपिका गोम्मटसार जीवकाण्ड आदि विविध ग्रन्थोंके
हिंदी भाषा अनुवादक पद्मावतीपुरवाल—जातिभूषण
धर्मदिवाकर स्याद्वादवाचस्पति विद्यावारिधि आदि अनेक उपाधि विभूषित
बेरनी (एटा) निवासी, इन्दोर (मध्यभारत) प्रवासी
पं० खूबचन्द्रजी जैन शास्त्री

जिसको
शोलापुरवासी गांधी हरीभाई देवकरण एंड संस द्वारा संरक्षित
श्रीशांतिसागरजैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, श्रीमहावीरजी (राजस्थान) के
महामंत्री—गृहविरत ब्रह्मचारी श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ ने संस्था के पवित्र प्रेस में
मुद्रक–सेठ हीरालालजी पाटणी निवाई वालों के
मंत्रित्व में छपाकर प्रकाशित किया।

पौष ८ वीर नि० स० २४८५

सम्यग्दर्शन-स्तोत्रम्

(स्याद्वाद वाचस्पति, विद्यावारिधि पण्डित खूबचन्द्रजी जैन कृत)

श्रियं पुष्यात् स वो धर्मो जगदमृतवर्षणः। सेत्स्यत्-सिद्ध्यत्-प्रसिद्धात्मज्योतिरानन्दनिर्भरः ॥१॥
यं समाराध्य संसिद्धाः सिद्ध्यन्त्याप्ता जिनेश्वराः। सेत्स्यन्ति साधवो नूनं जगदुद्धरणे क्षमम् ॥२॥
येनात्माऽलंकृतो भास्वान् न स्यात्तिमिरगोचरः। भवेत्तापत्रयोन्मुक्तस्तथा दुर्गतिदूरगः ॥ ३॥
रोचते भव्यता यस्मै विशुद्धिर्देशना सती। करणापेक्षिणी साक्षात् क्षयोपशमपूर्वजा ॥ ४ ॥
यस्मादभ्युदयाः पुंसां महदाश्चर्यकारिणः। निःश्रेयसफलाः सर्वे फलन्ति सरसाः शुभाः ॥ ५ ॥
यस्य पादप्रसादेन शक्राश्चक्रधरास्तथा। जातास्तीर्थंकृतोऽप्यहो वाञ्छितार्थप्रसाधकाः ॥६ ॥
यस्मिन्नुदीयमानेऽन्तः शूकरः कुक्कुरः कपिः। दीनो हीनोऽपि चाण्डालो जायते दिविजेश्वरः ॥ ७
स त्वं श्रीमान् गुणाधीश सार्व सम्यक्त्व शंकर!। समुद्धर भवाम्भोधौ पततः सीदतो जनान् ८

सप्तभिः कुलकम्

त्वमेव जगतां बन्धुः सर्वापत्तिनिवारणः। आधिव्याधिहरो बाल-वैद्यः सद्यः सुखप्रदः ॥ ९ ॥
त्वमेव च जगत्त्राता शान्तिदः करुणार्णवः। परमं शरणं नृणां मङ्गलं जगदुत्तमम् ॥ १० ॥
मोक्षमार्गप्रणेता त्वं वज्री कर्माद्रिभेदने। वन्द्योऽनिन्द्यो मुनीनां तु गेयो ध्येयो महात्मनाम् ॥११॥
शम-सद्धर्मी (संवेग) -दयास्तिक्य-चतूरत्नाकरावधेः। त्वं शुद्धात्मप्रभुः पाता सद्ज्ञानव्रतसाधनः १२
अहो धर्म! जगन्नाथ परात्मन् परमेश्वर!। श्रेयोनिधे महाभाग! पवित्र! गुणसागर ॥ १३ ॥
जन्ममृत्युजरासर्प--त्रयीदष्टमरं नरम्। तार्क्ष्यपक्षायमाणस्त्वं, निर्विषीकुरुषे क्षणात् ॥ १४ ॥ युग्मं।
श्रेणिको व्रतहीनोऽपि, त्वत्प्रसादेन केवलम्। श्वाभ्रीं स्थितिमपाकृष्य भावितीर्थेश्वरोऽभवत् ॥१५॥
अहं दुःखत्रयीदग्धो, मत्वा दुःखमयं जगत्। अवगाहे शरण्यं त्वा- मनन्तं शांतिसागरम् ॥१६॥
त्वामन्तरा गुणाः सर्वे मता मान्यैर्विषोपमाः। त्वां त एव समासाद्य, भवन्त्यमृतवार्धयः[१]॥ १७॥

त्वदुपकारसहस्रकृतज्ञतामनुसरद्भिरिव प्रथितैर्जिनैः।
अखिलधर्मपदेषु महत्स्वपि प्रथम[२] एव भवान् समुदीरितः ॥ १८ ॥

तपोऽमृतैर्भूरिगुणैः सुसिक्ता त्वया विना सा ननु बीजरिक्ता।
क्षमाधरित्री सुकृतस्य धात्री भवेन्न निर्वाणतरोः सवित्री ॥१९ ॥

स्वयं महान् वा महतां सुमान्यस्त्वामन्तरा मार्दवधर्म एषः।
भवेन्न भेत्ता विधिपर्वतानां, वज्रं विना शक्र इवाद्वितीयः ॥ २० ॥

अपूर्वकल्पद्रुमसन्निभं त्वा,-मनाश्रयन्ती प्रथिता विशाला।
कथं नु वा स्यादजुतालतेय मनन्तवीर्यप्रदसत्फलान्वा ॥ २१ ॥

१—"जन्ममृत्युजरापहाः" इति च पाठान्तरम्।

२—"प्रथममेव" इति वा। प्रथमं [illegible] आद्यो

शुचिर्भवानेव यतो भवन्ति गुणाः पवित्रा गतपङ्कभावाः।
रजोविहीना गणिनामहीनाः प्रसिद्धसंस्नातकभावभाजः ॥२२॥
सत्ये प्रतिष्ठितो धर्म इति लौकिकसम्मतम् ।
स वै धर्मो भवान् यत्र सत्यसद्म प्रतिष्ठते ॥ २३ ॥
त्वय्येव वाक् शास्ति नु सत्यतत्त्वं, न त्वय्यथो[1] शास्ति हि सत्यतत्त्वम् ।
मूले गते धर्मकथा कथं स्यात्, केकायितं वा[2] शिखिनि प्रणष्टे ॥ २४ ॥
संयम्य चाचापि-दयार्द्रचित्ता नो निर्वृता भो वद को ऽत्र हेतुः ? ।
आ[3] इष्टमार्गस्य हि सन्नियन्त्रा दिष्टस्त्वया नैव कृपाकटाक्षः ॥ २५ ॥
तीव्रे तपोऽग्नौ वपुरच्चचेतोवृत्तेर्निरोधे स्थिरतामुपैति ।
स्वच्छुद्धवीर्यानुगतः प्रकृत्या, शक्तः स एवात्र यथा सुवर्णः ॥ २६ ॥
मुनयो नाजपिष्यंश्चेत्त्वमाद्वरमालिकाम् ।
अत्यक्ष्यन् वा कथं दुष्टकषायग्रहदुःस्थितीः ॥ २७ ॥
अकिञ्चनत्वं परमो विवेको, निजस्वरूपे यदि वा स्थिरत्वम् ।
मिथ्यादृशः कश्मलचित्तवृत्तेरसंभवं तुभ्यमसह्यतस्तत् ॥ २८ ॥
गुरुकुलवसनं विषयविरमणं, निजपदशरणं परपरिहरणम् ।
अथ च विवसनं पदमनुभवनं श्रुतमनुमननं भवभयहरणम् ॥ २९ ॥
इत्यादि यः साधयते विवेकी त्वत्सारथिर्मोक्षपदाभिलाषी ।
शैलेश्यमध्यास्य भवत्ययोगी, सोऽन्ते च सिद्धो भुवनप्रसिद्धः ॥ ३० ॥ युग्मम् ॥
इति तव महिमानं को नु शक्नोति वक्तुम् ।
सुरगुरुरपि यत्राशक्ततां वै व्यनक्ति ॥
विरमति यदि जिह्वा मामकीनाऽद्भुतम् ? किं-
मध्ररमभिदध्मो तिष्ठ मेऽन्तः सदैव ॥ ३१ ॥
अहो मोहतमीचन्द्र, त्वदीयाः सकलाः कलाः ।
वन्दे स्तौमि नमस्कुर्वे, भूयो भूयो यजे भजे ॥ ३२ ॥

प्राद्य निवेदन

" रत्नकरण्डश्रावकाचार " दि० जैन समाजका सुप्रसिद्ध एवं अपने विषयका अत्यन्त महान ग्रन्थराज है। इसके रचयिता भगवान् समन्तभद्रस्वामी हैं। यह श्रावकाचार उपासकाध्ययन नामसे भी प्रसिद्ध है। इसका मुख्य विषय एकदेश मोक्षमार्ग-रत्नत्रय धर्म का वर्णन करना है। आगम में श्रावक पद प्रायः नैष्ठिक श्रावकके लिये ही प्रयुक्त हुआ करता है। कोई भी संयमस्थान अथवा संयमासंयमस्थान अन्तरंगमें सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान के हुए बिना संवर निर्जरा एवं मोक्षतत्त्व के साधनका कार्य करनेमें असमर्थ है। अत एव आचार्यने नैष्ठिकके प्रतिमारूप व्रतोंका वर्णन करनेसे पूर्व इन दो रत्नोंका-सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका भी सबसे पहले वर्णन करना उचित समझकर क्रमसे प्रथम दो अध्यायों में कीया है। इस प्रथम अध्यायमें सम्यग्दर्शनके लक्षण, विषय, गुण, दोष, और नैःश्रेयस तथा आभ्युदयिक फलका वर्णन है। यद्यपि सम्यग्दर्शनका विषय अत्यधिक महान है किन्तु श्रावकपदमें प्रवेश करनेवालेके लिये उस सबका आवश्यक सार आचार्यने यहां पर ४१ पद्योंमें संगृहीत कीया है जबकि आगेके द्वितीय अध्यायमें सम्यग्ज्ञानके विशाल विषयका निर्देश इस अध्याय के प्रमाणसे आठवे भागसे भी कम केवल ५ पद्योंमें ही किया है। ऐसा मालुम होता है कि ग्रन्थकर्त्ता भगवान् समन्तभद्र सम्यग्दर्शन (सम्यग्दृष्टि) के दश भेदोंमेंसे सूत्रदृष्टि अथवा बीजदृष्टि थे। वे वृत्तके समान महान् अर्थको-आगमके विस्तृत वर्णनको बीजरूपसे संक्षेपमें सूचित करना अधिक पसद करते थे। हमारी इस मान्यताकी पुष्टि उनकी आप्तमीमांसासे हो सकती है जिसकी कि ११५ कारिकाओंमें ३६३ या प्रायः सभी मूल अपसिद्धान्तोंका निराकरण किया गया है जैसा कि उसकी टीकाओंसे स्पष्ट होसकता है। भगवान् समन्तभद्रकी सार्वभौम विद्वत्ताको भगवज्जिनसेनाचार्यने यह मानते हुए भी कि—

कवीनां गमकानां च, वादिनां वाग्मिनामपि। यशः सामन्तभद्रीयं, मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥

दो भागोंमें विभक्त कीया है। यथा—

नमः समन्तभद्राय, महते कविवेधसे। यद्वचोवज्रपातेन, निर्भिन्नाः कुमताद्रयः ॥

मालुम होता है इस विभागीकरणमें विषयकी तरफ मुख्य दृष्टि न रखकर साहित्यिक रचनाकी तरफ प्रधानतया लक्ष्य रक्खा गया है। इससे ऐसा मालुम होता है कि भगवज्जिनसेनाचार्य उनकी कृतियोंमें दो महान् गुणों अथवा कलापूर्ण योग्यताओं को देखते हैं — महान् कवित्व और कठोर अथवा असाधारण तर्कपूर्णता।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि —

अङ्गादङ्गात्प्रभवति, हृदयादपि जायते। आत्मा वै पुत्रनामासि, स जीव शरदः शतम् ॥

आशीर्वादात्मक आगमके इस वाक्यके अनुसार जिस प्रकार पिताके शारीरिक मुख आदिकी आकृति और हार्दिक भावोंका अवतार पुत्रमें हुआ करता है उसी प्रकार कविकी कला एवं भावनाका प्रतिबिम्ब उस की कृति हुआ करती है। भगवान् समन्तभद्रके विषयमें भी यही कहा जासकता है।

यद्यपि यह श्रावकाचार है। यह कोई काव्य या प्रथमानुयोगका ऐसा कथाग्रन्थ नहीं है जिसमें कि साहित्यिक गुण दोष रीति रस अलंकारोंका प्रयोग किया जाय, इसी प्रकार यह कोई दार्शनिक अथवा, द्रव्यानुयोगका भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसमें कि आक्षेपिणी अथवा विक्षेपिणी कथाओंके अवसरपर यथायोग्य प्रमाण नय निक्षेपके आधारपर हेतुवाद एवं कर्कश तर्कगर्भित युक्तियो के सदर्भका निबन्ध आवश्यक हो।

यह तो उपासकाध्ययन के एक अपूर्व आवश्यक भागका महत्त्वपूर्ण सार है।
क्योंकि इस विषयका मूल उद्गम स्थान सातवाँ अंग उपासकाध्ययन है। इसका अर्थ होता है—

"आहारादिदानैः पूजाविधानैश्च ये संघमुपासते ते उपासकाः श्रावकाः अधीयन्ते वर्ण्यन्ते, यस्मिन् तत् उपासकाध्ययनम्"।

अतः इसमें श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओं के वर्णन के सिवाय उनके कर्त्तव्य दान पूजा आदि से सम्बन्धित आचरण क्रिया काण्ड तथा तद्विषयक मंत्रवि-

दान पूजा की सिद्धिके कारण वार्ता कर्म और उसके सावद्य, अल्प सावद्य, असावद्य भेदोंका एवं कर्मोंसे सम्बंधित चार आश्रम और चातुर्वर्ण्य विशिष्टताका वर्णन भी इसमें रहे यह स्वाभाविक है क्योंकि चार आश्रमों की उत्पत्ति इसी अंगमें बताई है अत एव इस अंगका वर्णनीय विषय केवल ११ प्रतिमा ही नहीं है। यह स्पष्ट है।

इसके ग्यारह लाख सत्तर हजार पद हैं। इसमें श्रावक सम्बन्धी ग्यारह प्रतिमा रूप व्रतोंका जिस तरह वर्णन पाया जाता है उसीप्रकार आवश्यक क्रियाकाण्ड अभिषेक पूजा प्रतिष्ठा दान आदि छह आवश्यक कर्म और तत्सम्बन्धी मन्त्र भागका एवं चार आश्रम सम्बन्धी विषयोंका भी श्री महावीर भगवान् के अर्थरूप कथनका ६४ ऋद्धियोंसे युक्त श्रुतकेवली गणधरदेव द्वारा ग्रन्थन किया गया है। यथा —

ब्रह्मचर्यं गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
चत्वार आश्रमा एते सप्तमांगाद् विनिर्गताः॥

प्रकृत रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें वर्णित ग्यारह प्रतिमाओंके विषयका सम्बन्ध भी उपासकाध्ययनसे ही है। और शेष सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सल्लेखना के विषयका सम्बन्ध नाथधर्मकथा (ज्ञातृधर्मकथा) अंग ज्ञानप्रवादपूर्व प्रत्याख्यान पूर्व से है। किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि भगवान् समन्त भद्रसे पहले इन विषयों का वर्णन अन्य आचार्यों ने किया ही नहीं है। आचार्यप्रवर कुन्द कुन्द उमास्वामी आदिके पाहुड मोक्षशास्त्र आदिमें भी इन विषयोंका संग्रह पाया जाता है। अत एव यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये सनातन सर्वज्ञोक्त परम्परीण नहीं है। समन्तभद्र स्वामीने भी आचार्य परम्परा से चले आये आगमके आधार पर ही तो यहां विषय निबद्ध किये हैं। फिर भी यह सर्वथा सत्य है कि उन की यह रचना अत्यन्त महत्त्व रखती है। इसमें यद्यपि मुख्यतया भावरूप एकदेश रत्नत्रयका वर्णन ही प्रधान है। साथ ही इतना प्रौढ और विशाल अर्थके सारका गर्भित करता है कि इसकी पद्यरचना को कारिका ही कहा जासकता है। फिर भी इस में उनकी स्वाभाविक कवित्व शक्ति एव दार्शनिकता दृष्टिगोचर हुए बिना नहीं रहती।

निःसन्देह आचार्य ने केवल १५० कारिकाओंमें अपने विवक्षित महान विषयको जिस तरह सूत्र दृष्टि-बीजरूपमें संक्षिप्त किया है इससे उनकी सूत्रदृष्टित्व अथवा बीजदृष्टित्व के साथ साथ विशालश्रुतसमुद्रके मन्थन करने वाली श्रुतसम्पत्तिका भी परिचय प्राप्त हुए विना नहीं रहता। इस रचनाके द्वारा उन्होंने केवल प्रकृत विषयको जीवित रखने का ही प्रयत्न नहीं किया है प्रत्युत ऐदयुगीन पूर्ण रत्नत्रयधर्मके यथावत् पालन करनेमें असमर्थ मुमुक्षुओंकेलिये सामर्थ्य प्रदान करनेवाला कल्याणकारी मार्ग प्रस्तुत करके संसारदुखोंका उच्छेदन एवं मोक्ष साधना के लिये हस्तावलम्बन देकर तीर्थंकर भगवानके अनन्तर गणधर देव के समान कार्य किया है जिसके लिये मुमुक्षु भव्य विद्वान् अवश्य ही उनके ऋणी हैं।

इस ग्रन्थ की अभी तक अनेकों टीकाएँ लिखी गई हैं। संस्कृत टीका तो एक प्रभाचन्द्र आचार्य की ही प्रसिद्ध है। अभी कुछ वर्ष पूर्व स्व० सिद्धान्तशास्त्री प० गौरीलालजी की निरुक्ति भी जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्थाके द्वारा कलकत्ता से प्रकाशित हुई थी। हिंदी टीकाऐं अनेक हैं। फिर भी कईवर्ष से हमारी भी भावना थी कि इसके अभिप्राय को स्फुट करनेके लिये यथाशक्ति और यथामति टीकाके ही रूपमें लिखना। परन्तु विचारों को कार्यान्वित होने में कई वर्ष अनेकों बाधायें के कारण निकल गये। अभी भी पूरे ग्रन्थ की टीका नहीं लिखी जासकी है केवल सम्यग्दर्शनका वर्णन करनेवाले पहले अध्यायका ही यह प्रथम भाग है। आगे के भाग का भी लिखना चालू किया है परन्तु वह कब पूरा होगा यह अभी हम निश्चित नहीं कह सकते। फिर भी जहां तक शक्य होगा जल्दी पूरा करनेका प्रयत्न किया जायगा।

हमने अपनी इस टीकामें प्रत्येक कारिकाके सामान्य अर्थको लिखनेके बाद प्रयोजन, शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ, और तात्पर्य इसतरह तीन भागों मे अभिप्राय स्फुट करनेका प्रयत्न किया है। अपने उपयोग को कल्याणकारी विषयमें लगाये रखने की सद्भावना से ही विना किसी की प्रेरणा के ही हमने यह प्रयास किया है। फिर भी इसके प्रकाशन के विषयमें हमारे बडे भाई स्व० उद्भट विद्वान पं० बंशीधरजी सोलापुरके सिवाय खासकर शान्तिसागर (भारतीय) जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्थाके महामंत्री एवं प्रबंधक विद्वान् ब्र० [illegible] की प्रेरणा भी मिली जिसके कि फलस्वरूप इसी संस्थासे यह प्रथम भाग प्रकाशित होरहा है।

यद्यपि हमारी इच्छा अभी प्रकाशित करनेकी नही थी परन्तु ब्र० श्रीलालजी काव्यतीर्थका कहना रहा कि जितना भी लिखागया है उसे प्रकाशित कर दिया जाय। इसके सिवाय उक्त भाई सा० जब इन्दौर आये थे तब उन्होने मुझे लिखते हुए देखकर और कुछ पद्योंका अर्थ सुनकर अत्यन्त हर्ष प्रकट किया और जोर देकर प्रेरणा की कि जैसा भी हो एकबार इसको प्रकाशित करादो। उनकी इच्छा थी और जैसा कि उन्होने कहा भी था कि अब समय अधिक नहीं है और मैं इसके प्रकाशित अंशको देखना चाहता हूं। किंतु दुःख है कि इसके प्रकाशित होनेसे पूर्व ही उनका समय (मनुष्य पर्याय) समाप्त होगया।

हमारी इसके छपते समय यह भी इच्छा थी कि कमसे कम एक वार हम इसका प्रूफ देख सकें किंतु वैसा नहीं होसका। इसके संशोधन का कार्य श्री ब्र० श्रीलालजी सा० ने किया है। एतदर्थ हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। साथ ही उक्त संस्था–श्री शांतिसागर जैन सिद्धांतप्रकाशिनी संस्था श्री महावीरजीके हम उसी प्रकार अत्यंत आभारी हैं जिसके कि द्वारा यह टीका प्रकाशित होरही है।

हमारी यह कृति कहां तक उपयोगी है यह निर्णय तो पाठक महानुभाव एवं विद्वानों पर ही निर्भर है। विद्वानोंसे यह प्रार्थना अवश्य है कि यदि हमसे कहीं स्खलन होगया है तो केवल क्षमा प्रदान करने की अथवा उसपर उपेक्षा करने की अपेक्षा उसको सुधार लेनेकी कृपा करना अधिक श्रेयस्कर होगा।

अंतमें हम अपने गुरुजनों का आशीर्वाद चाहते हैं कि इस ग्रंथ को यथाशक्य जल्दी पूरा करनेमें हमको निर्विघ्नताके साथ ही सामर्थ्य भी प्राप्त हो।

देवश्चंद्रप्रभः पुष्यात् मद्रत्नत्रयचन्द्रिकाम्।
सन्मतिः सन्मतिं दद्यात् पार्श्वो विघ्नहरोऽस्तु नः ॥

वर्तमान आवास
इन्द्र भवन तुकोगंज इन्दौर
५–१२–५८

प्रार्थी
खूबचन्द जैन

उपोद्घात

सन् १९५२ की बात है। श्रीमदाचार्य वीरसागरजी महाराजका श्री संघ श्रीसम्मेद शिखरजीकी वन्दना कर चातुर्मास योगके लिये ईसरीमें विराजमान था। मैं श्रावण मासकी शुक्ल चतुर्दशीके दिन गृहविरत सप्तम प्रतिमाधारी श्रावकके व्रत श्रीमदाचार्य महाराजसे ग्रहणकर साथमे रहने लगा तो भाद्रपद माससे श्री-स्याद्वाद वाचस्पति पं० खूबचन्द्रजी शास्त्रीका समागम भी हुआ। उस समय शास्त्रीजीने मुझे अपनी लिखी रत्नकरंड श्रावकाचारकी रत्नत्रयचंद्रिका हिंदी विवृत्ति पढकर सुनाई। उस समय तक केवल पुलिसकेप आकार के केवल १२५ पृष्ठ लिखे गये थे और उतने अंशमें केवल ९ या १० श्लोकोंका ही भाष्य हो पाया था। सुन-कर मेरा और अन्य उपस्थित सज्जनोंका हृदय गद् गद् हो गया। वस्तुतः ऐसी टीका आजतक देखने सुननेमें न आई थी जो तार्किक चूडामणि कविवेधा श्री समन्तभद्र आचार्यकी इस ग्रन्थरचनाकी उनके विद्वत्ता-नुकूल गंभीरताको बता सके। जिस प्रकार आचार्य महाराजने द्वादशांगके सप्तमांग उपासकाध्ययन रूप सागरके जलको गागरमें भरा है उसी प्रकार शास्त्रीजीने, गागरको उडेलकर इस रत्नकरण्ड श्रावकाचारके जलको 'सागर' रूप परिणत कर दिया है।

शास्त्रीजीने अपनी विद्वत्ताका, सिद्धान्त शास्त्रके अध्ययनका, व्याकरणकी निपुणताका और साहित्य शास्त्रकी पारंगतताका इस विवरणमें खूब ही उपयोग किया है आपने अपने वक्तव्यको कोई स्वतंत्र वक्तव्य न समझ बैठे इसलिये प्राचीन आचार्योंके वाक्य उद्धृत कर वीतराग सर्वज्ञकी उ

बाद यह लिखी जाती है इसलिये और शास्त्रीजी वृद्ध हैं इसलिये अधिक श्रम करनेमें असमर्थ हैं इसके सिवा वे इधर उधरका मसाला लगाकर ग्रन्थको लम्बा करना भी पसन्द नहीं करते। कारिका (श्लोको) का हृदय हृदयंगम करलेनेके बाद उसी कारिकाको लिखते हैं। यही कारण है कि सात सालमें १५०श्लोकोमेसे केवल ४१ श्लोक अथवा धर्मका एक अंग सम्यग्दर्शनाधिकारका ही ४१४ चारसौ चौदह पृष्ठमें विवरण लिख पाये हैं।

शास्त्रीजी आगे इसको लिख रहे हैं परन्तु कितने सालोमें ग्रन्थ पूर्ण होगा यह कहा नहीं जासकता। इसलिए इसका एक भाग —सम्यग्दर्शनाधिकार प्रकाशित किया जारहा है।

श्री शांतिसागर (भारतीय) जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था जबसे कलकत्ता छोडकर इस प्रान्तमें आई है तबसे श्रीआचार्य महाराज वीरसागरजीके शुभाशीर्वादसे प्रकाशन कार्य अच्छी तरह करने लगी है। आचार्य महाराजके भक्त लोगोंने आर्थिक सहायता दे इसको आगे बढाया है ऐसे ही सज्जनोंमें निवाई (राजस्थान) निवासी सेठ हीरालालजी पाटणी है। आप प्रतिमाधारी श्रावक होनेके साथ श्रीमान्, श्रीमान् होनेके साथ स्वोपार्जित द्रव्यका चारो प्रकारके दानमें सदुपयोग करने वाले है।

इस संस्थाके आप मन्त्री हैं और २५००) ढाइ हजार रु० देकर " पोषक " भी बने हैं। यह ग्रन्थ उसी रुपयेसे प्रकाशित होरहा है।

संस्थाके नियमानुसार इस ग्रन्थ की लागत उठ आनेपर फिर दूसरा ग्रन्थ छपेगा इसीतरह-बराबर एक बार दानमें दीगई द्रव्यसे जिनवाणी का प्रकाशन-प्रचार होता रहेगा इसलिए पाटणीजी धन्यवादके पात्र हैं

संस्थाका परिचय

सन १९१२ में इसकी स्थापना बनारस में सुजानगढ निवासी स्वर्गीय पं.पन्नालाल जी बाकलीवाल ने जैन धर्मप्रचारिणी सभाके नामसे श्रीमान् पं.लालारामजी शास्त्री चावली (आगरा) की सम्मति-सहयोगसे की थी। इसके बाद संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशनकी आवश्यकता समझकर श्री सम्मेद शिखर जी की यात्रा के लिये बनारस आये हुए वकील गांधी नेमचंद बालचन्द जी धाराशिव (उस्मानाबाद—शोलापुर) से कहा गया तो उन्होंने अपने पिता बालचंद कस्तूरचदकी स्मृतिमें दोहजार एक रु. दान दिया जिससे समय प्राभृत तत्त्वार्थ राजवार्तिकालंकार आदि ग्रन्थ प्रकाशित हुए और सभाका नाम भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशनी संस्था कर दिया गया। संस्कृतग्रन्थों को लेनेवाले अत्यंत अल्प होने के कारण रकम(द्रव्य) सब ग्रन्थों में अटक गई तब सहायताके लिए दक्षिण का दौडा पं. गजाधरलाल जी न्यायतीर्थ और प. मुन्नालालजी काव्यतीर्थ के साथ लेकर पं० पन्नालालजी बाकलीवाल ने किया जिसमें अन्य सहायता के अतिरिक्त गांधी हरीभाई देवकरण एण्ड संसके मालिक —सेठ बालचंद , हीराचंद , और फूलचंद जी तीनो भाईयोने १३ तेरह हजार रु० दान दिया इसतरह सम्थाको लगभग १७ सत्रह हजार रु० की सहायता मिल जाने के कारण बंगालमे जैन धर्मके प्रचार की इच्छा से संस्थाका स्थान परिवर्तन 'कलकत्ता' कर दिया गया और तबसे १९५२ तक यह वहां ही अपना कार्य करती रही।

इस बीचमे संस्थाके जन्म दाता पं० पन्नालालजी महामंत्री और पं० गजाधरलालजी न्यायतीर्थ सहायक महामंत्री का स्वर्गवास होगया।

व्रती होजानेके कारण श्री मुनिसंघ में सदा रहना मेरा आवश्यक होगया इसलिए संस्था का स्थान परिवर्तन आचार्य विहार की भूमि राजस्थान में करना पडा जिससे संस्था और संघ दोनोंकी सेवा हो सके।

श्रीमहावीरजी (राजस्थान)
पौष सुदी १ सं० २०१५
श्री वीरनि-संवत् २४८४

श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ
गृहविरत ब्रह्मचारी
महामंत्री-संस्था

स्वाध्याय करने से पहले शुद्ध करलें।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
यदिष्टन्ते	यदिष्टं ते	२	२ (टि)
" ७ इनमेंसे	" ७। इनमेंसे	३	१९
नह्येदधुना	नह्येतदधुना	३	६ (टि)
मंगलहेतुनिमित्त	मंगलनिमित्तहेतु	३	१० (टि)
८ र०क०	८—र०क०	३	११ (टि
संक्रमेण	संश्रयेण	४	१ (टि)
ऽ त्यो	ऽन्त्यो	४	४ (टि)
(जो कि	जो कि	५	१०
प्रकृतियां पुण्य	प्रकृतियां भी है। जिनमे नरकायुके सिवाय चार	५	२२
हूआ	हुआ	६	५
रसणी	रसणि	६	१ (टि)
गुत्तीण	गुत्तीण य	६	१,(टि)
सालोक यह	सालोक। यह	६	२४
यद्विद्या	"यद्विद्या"	७	२०
जिनका ज्ञान	जिनका ज्ञान,		
माताके	मातापिताके	९	२७
सामन्यतया	सामान्यतया	१०	१०
सुक्तिमश्नुते	भुक्तिमश्नुते	१०	७ (टि)
अर्थकी	कि अर्थकी	१०	१६
सकता है३	सकता है२,	११	८
परमस्थानोकी	परमस्थानो या अन्य विशिष्ट गुणोकी	११	११
अध्यात्म	अध्यात्मं	११	२ (टि)
वृष्ट्यादि बहि	वृष्ट्यादिर्बहि	११	३ (टि)
अष्टसहस्रो३-	अष्टसहस्री। ३-	११	४ (टि)
श्री वर्धमान	श्रीवर्धमान	११	१५
	पृथक्	११	१० (टि)
"मायाविषु" शब्दका	"मायाविषु" शब्दका	११	१३ (टि)
त्ववमोसि	त्वमेवासि	१२	१
उन्है	उन्हे	१२	४
स्वाभाविकहै	स्वाभाविक है।	१२	५
घातिक	घाति	१३	३
घातिक	घाति	१३	४
प्रकृत्तियो	प्रकृतियों	१३	६
करतीहै	करती है।	१३	१३
नहीं है	नहीं है।	१३	१५
नेता है	नेता हैं।	१३	२०
किया वही	किया है वही	१३	२३
होता कि	होता है कि	१३	२७
विश्वातत्त्वनां	विश्वतत्त्वानां	१४	८
यदनन्तर	यदनन्तरं	१५	१ (टि)
निर्मूलन—	निर्मूल	१५	२५
चलकर१	चलकर२	१६	५
१—	१, २—	१६	१ (टि)
हूआ	हुआ	१६	११
दोष२	दोष३	१६	२०
२—	३—	१६	१ (टि)
दोषेए	दोषेण	१६	१ (टि
वीतरागताका	वीतरागता या निर्दोषताका	१७	६
हैं वह	है। वहां	१७	१ (टि)
है यद्यपि	है। यद्यपि	१७	२ (टि)
सर्वज्ञताका	सर्वज्ञताका भी	१७	८
हो जिस	हो। जिस	१८	४
अविद्यमान	अविद्यमान-	१८	१३
ठीक है,	प्रश्न—ठीक है,	१९	२०
करते	करते।	१९	२६
उतरनेवाले	उतारनेवाले	२०	१९
तरहके	तरहके तीर्थ	२०	२२
आदीसे	आदि जिससे	२१	१२ (टि)
हा,	हां,	२४	७
जाता३	जाता३।	२५	१९
जगद्गुरु	जगद्गुरुः	२५	२(टि)
गृहीत	गृहीत—	२६	१२
ही है इस	ही हैं। इस	२६	२२
करनी है	करनी हैं।	२६	२४
दीया	दिया	२६	२७
ही है	ही हैं।	२६	१५
संखड्तव्व	संखडतव्वा	२६	५ (टि)
में उपयोग	में जिसका उपयोग	२७	

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
कारण कि	कारणकी	२७	५
और	किन्तु	२७	२०
ही है	ही है।	२७	२३
पुन्यकर्मको	पुण्यकर्मको	२७	२८
धर्मोंके	धर्मके	२८	२१
कीया है	किया है।	२८	२२
लक्ष करके	लक्ष्यकरके	२८	२४
एघं सर्वया	एवं सर्वथा	२८	२५
आंकडा	आकडा	२८	२८
कीया	किया	२९	२
सिवाय	सिवाय—	२९	६
है। ३	है।	२९	१०
शुद्धकर्म दोनो	शुद्ध दोनो	२९	१०
निवर्हण	कर्मनिवर्हण	२९	११
अविरोघेन	अविरोघेन३	२९	२३
इसके	उसके	२९	२४
यस्मादभ्युदया	[illegible] मादभ्युदयः	२९	३ टि
पउंजई	पउंजइ	२९	५टि०
छिंज्जइ	छिज्जइ	२९	५टि०
आदि	आदि २	३०	३
जाते हैं	जाते हैं। ३	३०	४
हैं। पुण्य	है। अपने ऊपर आया हुआ कष्ट यदि कम होजाता है तो वहां भी सुख शब्दका प्रयोग होता है। पुण्य	३०	४
मोक्षसे	मोक्ष	३०	६
कर्मकी	कर्मके	३०	६
हैं।	हैं। ४	३०	१६
वहिरंगके	वहिरंग	३०	२१
नपूता०	नशरणाः	३०	७ टि
इसलिये	इसीलिये	३१	१९
सकता १।	सकता ३।	३१	२७
३—देखो टिप्पणी न १ पृ० ३२		३१	४ टि०
हो	हो।	३२	१
सकता १।	सकता २।	३२	३
हैं	है।	३२	४
	[illegible]	३२	८

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
समंझे	समझे	३२	१३
एवं २	एवं ३	३२	१५
गिनाया	गिनाया ४	३२	२४
है यहीकारण है।	है। यहीकारण है	३२	२६
४—देखो टिप्पणी नं० १ पृ० ३३		३२	७
कि १	कि	३३	१
बन्धका	बन्धका—	३३	६
भगवान्ने—अर्थतः	भगवान्ने अर्थतः	३३	१८
देवने	देवने ग्रन्थतः	३३	१९
जाता	जाता।	३४	१२
है	है।	३४	१४
गुण—धर्मों	गुणधर्मों	३४	२०
सिद्धपु	सिद्धयु	३४	३ टि०
मान	मायां	३४	४ टि०
त्मक	त्मकं	३४	७ टि०
सम्यक	सम्यक्त्व	३५	१४
परिणत	परिगणित	३५	२०
निशेष	विशेष	३६	२
सकती	सकती।	३७	१५
ऋद्धि	सिद्धि	३७	३ टि०
अन्तरगत	अन्तर्गत	३८	३
निर्दोष हैं	निर्दोष हैं।	३८	४
विपमरूप	विषयरूप	३८	५
चाहिये	चाहिये।	३८	१५
है	हैं।	३८	२३
है	है।	३८	२४
२ विषय	३—विषय—	३८	२ टि०
आदि	आदि।	३८	२ टि०
उसकी	उसके	३८	४ टि
ही है	ही है।	३९	६
सम्यक्दृष्टि	सद्दृष्टि	३९	१५
इजैसा	जैसा	३९	१८
करनेके	करनेकी	३९	२५
परमावगाढ	परमावगाढ	३९	२६
रत्नत्रयों	रत्नत्रय	४०	५
नियम है	नियम है।	४०	१४
है	है।	४०	१७

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	प
अपने	आपने	५०	२१
पाया भी	पाया	४०	२७
उचित है	उचित है।	४१	६
हौना	होना	४१	२८
होता है	होता है।	४१	२८
९६	६९	४१	१ टि०
भवित्व	भावित्व	४२	२
है	हैं	४२	३
भाव है	भाव हैं।	४२	१०
रनेका पूर्णकरनेका प्रयत्न	करनेका प्रयत्न	४२	१७
सम्यग्दर्शनादिको	सम्यग्दर्शनादिकी	४३	१
होजाती है	होजाती है कि	४३	५
है किन्तु	है। किन्तु	४३	७
न्यत्व	न्यत्वं	४३	१ (टि)
धमका	धर्मका	४४	७
आस्तिक्या	आस्तिक्य	४७	७
प्रमाणरूप	प्रमाणरूप—	४७	१७
अर्थशुद्ध	अर्थ—शुद्ध	४७	१७
गुरुके	गुरुकी	४७	२०
कि अभिधेय	कि आगमके अभिधेय	४७	२१
रागाता	रागादीना	४७	१ (टि)
कीया	किया	४८	३
लक्ष	लक्ष्य	४८	६
अनायतनोंका१	अनायतनोंकार (टि०पृ०४९ में)		
जाय	जाय।	४९	२
तप	तप।	४९	४
योंके	योंकी	४९	५
विरोध	निरोध	४९	५
है	है।	४९	५
इन	इसके	४९	७
इन	जिस तरह	४९	८
के	के जो	४९	२४
यह	ये	५१	१०
अयुक्त	अयुत	५१	१६
वलाया	बताया	५१	२२
प्रमतान्ता अन्यगां	प्रमत्तान्तान्यगां	५१	२ (टि)
चेष्टानुमतैः	चेष्टानुमितैः	५१	३ (टि)
५	४	५२	१२
कारण	करण	५८	७
निर्ग्रन्थ	निर्ग्रन्थकी	५८	११
तरह	तरहका	५८	१६
भेदा	भेदके	५९	१६
हैं।	हैं	५९	१७
ऐसे	ऐसे ही	५९	१९
आन्तक	आतंक	६०	१६
अन्तका	अन्तक—	६०	१७
प्रतीत	प्रतीति	६०	२३
कायरता	कायरता एवं कातरता	६१	२४
कायरताके	कातरताके	६१	२६
दुष्टान्त	दृष्टान्त	६२	३
शास्त्र	शास्त्रे	६२	४ (टि)
का	के	६४	१
क्योकि	क्योंकि वह	६४	९
उनके	उनघातिकर्मों	६४	१२
सकता	सकता है	६४	१६
कारण है	कारण	६४	१६
उपसग	उपसर्ग	६५	२४
अर	और	६७	२५
प्रकरण	प्रकरणर	६८	२९
तीनो	तीनोंसे	७०	२०
तरह	तरह विचार	७०	२२
अधिक है	है	७२	३
आगमको	अभावको	७२	१०
हीनादिको	हीनाधिको	७२	२६
विचारणीय प्रथम	प्रथम विचारणीय	७२	२९
तरह	तरहकी	७३	१८
अपने	अपनी	७३	२०
क्षमारी	क्षमादी	७३	१ (टि)
नहीं है	नहीं है ४	७४	२२
उनको	उनकी	७६	१९
तीर्थकर	तीर्थ—	७७	२४
है।	है कि	७८	२७
अनात्मानम्	अनात्मार्थम्	७९	१७

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
वेणवस्ते	वेणवस्ते स्तुर्ये	८१	३ (टि)
वनककीर्ति	कनककीर्ति	८२	३ (टि)
के शासन	शासन	८४	१६
पत्तियां	पत्तियां १	८५	१
प्रयन्ति	प्रयच्छन्ति	८५	१ टि
भाव	तत्त्वशब्दसे भाव	८६	१६
प्रकारके	प्रकारसे	८८	२०
आगम	आगम है	८८	२१
प्राज्ञाः	प्राज्ञः	८८	२ टि
दुर्मत	दुर्मत	८८	२ टि
उसके	उसकी	८६	५
दिये उनमे	दिये हैं उनमें	८६	६
पूरवके	पूर्व २ को		
विपर्योंके	विपर्योंकी	६०	६
मसी	मसि	६०	६
शक्रानु	शक्यानु	६०	११
जौर	और	६०	२०
लानेकी	लानेके	६०	४ टि
लिए	लियेकिं	६१	८
विपय	विषय भी	६१	२१
पापाणको	पापाण	६३	२६
शरीरं	शारीरं	६३	३ टि
चार चार	चार	६४	२५
यह है	यह हैं कि	६५	२४
कहा कि	कहा है कि	६६	२३
वही	नहीं	६६	२ टि
समायान्ति	संमान्ति	६७	२८
निर्मलता	निर्भयता	६८	२६
हुए तथा	हुए	१००	२४
गिरखुस जानेसे	गिरजानेसे	१०१	११
और	और वह	१०१	२३
तद्वस्थ	के तदवस्थ	१०१	१८
परन्ताद्	पश्चात्तद्	१०२	५
तद्धानि	तद्धाचि	१०२	२ टि
निःशक	नि काद्च	१०३	२
कि शुद्ध	कि	१०३	२०
आस्था	शुद्ध अवस्था	१०३	२१
ज्ञाने	ज्ञाते	१०३	१ टि
क्योकि ये	क्योंकि	१०४	६
यद्दि	यदि उसको	१०५	८
आत्माका	और आत्माका	१०८	११
बन्धन	बन्धनमे	१११	४
वन्धा	वन्धा२	१११	६
तन्निमित	तन्निमित्तक	१११	६
चारुपया	चारुतरा	१११	२ टि
मृषेव	मृषैव	१११	४ टि
इत्यादि है	इत्यादि उसका विषय है	११३	७
निजतत्त्वशुद्ध	निजशुद्धतत्त्व	११३	१०
प्रकृतियां	जीवविपाकी प्रकृतिया	११५	१ टि
स्वभाविक	अस्वाभाविक	११६	६
वना नहीं कर	नहीं बना	११७	२२
सकता	सकती	११६	६
स्यादौ	सन्नौ	११६	७ टि
परिषह	परीषह	११६	१६ टि
विशेषरूप	विषयरूप	१२०	७
दोपोके	दोषोंकी	१२०	७
मिथ्य	मिथ्या	१२२	२७
होगा	न होगा	१२४	७
विपाक्त	विपाक्त	१२६	७
विषयनि	विषयानि	१२६	६ टि०
प्रकारके	प्रकारकी	१२७	२६
गुणवृद्धि	गुणवृद्धिकी	१२७	२७
निन्दा	निन्दाका	१३०	५
जाता	जाता ३	१३०	१८
पाय	पाप	१३०	१३ टि०
क्योवृद्ध	वयोवृद्ध	१३१	२
कपाय	कपाया	१३१	१७
सेवरणार्थक	संवरणार्थक	१३२	८
निन्दा	निन्दा न	१३२	१४
१—	२—	१३२	३ टि०
२—	३—	१३२	४ टि०
दोनो	दोनोंके	१३३	२
यमय	समय	१३३	२ टि०
निरोग	निरोगता	१३४	१

*

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
मिथ्यात्व	मिथ्यातत्त्व	१३५	२३
प्रभाव	प्रभाव दूसरे विरोधियोंपर भी पडता है।	१३६	३०
विकल्प वाशब्दको प्रयोग	विकल्पवाचक वा शब्दका प्रयोग	१३७	१०
स्थपित	स्थापित	१३७	२५
समय	सभय	१३८	२५
निःसारिता	निःसारता	१३९	२
वुद्धि	वृद्धि	१४०	२५
अथा	अथवा	१४०	२९
आप्ततत्व	आप्ततत्त्व	१४०	५ टि०
तत्र	तत्र	१४०	२ टि०
किसी भी एकके लिये	किसीके भी लिये	१४१	६
धर्मशून्य	धर्मसे शून्य	१४३	४
उसकी	उसको	१४३	२३
कार्यके	कार्यकी	१४३	२४
अत एवं	अतएव	१४४	९
परन्तु	फिरभी	१४५	२२
आधि	आधि—	१४६	२५
भी दूर	भी संभवऔरशक्य हो उसीतरहसे योग्य उपायके द्वारा	१४८	१
पदार्थसे	पदार्थमें	१५३	१०
कारण	कारण है	१५३	२७
गुणारछा	गुणेच्छा	१६०	१३
केवली	केवलि	१६०	२ टि–
वापी	वापि	१६०	४ टि–
आत्मा	आत्म	१६३	१५
सम्मक्त्व के	सम्यक्त्व रूप	१६४	१२
अमितप्रभ—	अमितप्रभ ?	१६७	२०
सकल	सकलत्र	१६७	२१
बोला	पुनः बोला	१६७	२१
उन्हे पकड़ करमहादेव	और विस्मय में पड़कर उन्हे महादेव	१६८	२
उसकी	उनकी	१६८	२७
हमारो	हमारी	१७३	१
पिश्चम	पश्चिम	१७३	२३
सूर्य	सूर्प	१७४	१३
सूर्ये सूर्ये	सूर्पे सूर्ये	१७४	२९
सुदनि	सुदती	१७६	२४
महभद्र	महापद्म	१७८	६
हरितने	हास्तिने	१७९	१८
दुर्दर्श	दुर्धर्ष	१८१	५
भेदी	भेरी	१८२	२
सज्जातीय	सज्जातीयता	१८३	१५
आभ्युदयों	अभ्युदयो	१८७	२०
परम्परा	परम्परा—	१८९	१२
स्वदेश	सुदेश	१८९	२ टि
—न	न	१९१	९
प्राप्ता	प्राप्त	१९१	१५
निःशंकता	निःशंकिता	१९३	४
निरवच्छन्न	निरवच्छिन्न	१९३	२ टि
पाखण्डी	पाखण्डि	१९४	४
दोषः का वर्ण	दोषके निवारण	१९५	१९, २
युक्त	मुक्त	१९६	१७
तीनों से	तीनों में से	१९६	२७
भेदास्त्रि	भेदात् त्रि	१९८	१ टि
कर्तमूमू	कर्तव्यममू	१९८	५ टि
अनायतन	आयतन	२००	१६
सभीके	सभीकी	२०५	१
लिप्सा	लिप्सया	२०५	३
कारण	करण	२०७	१५
दोष	दोष—	२०७	१६
भंग	भंग—	२०७	१७
दोष	दोष—	२०८	१६
भग	भग—	२०८	१६
यते	पते	२१०	१४
यहा	यह	२११	१२
स्थष्ट	स्पष्ट	२१२	६
करना	कराना	२१२	३०
हिंस्पन्ते	६—हिंस्यन्ते	२१८	१२ टि
उससे	उसमें	२२०	२१
जनुचित	अनुचित	२३५	४
सनंत	सन्ति	२३७	३ टि
ये	इन	२४०	२२
कार्ये कि	कर्म की	२४१	५
कर्तव्तत	कर्तव्य	२४१	९

मार्ग भी	मार्ग मे भी	२४१	१०
गई है	गई हैं वे	२४१	१६
दोनो से	दोनो मे	२४१	२०
देवं	देवं	२४५	२५
भाईयों	भाइयों	२५१	२८
होदि	होदि हु	२५१	१ टि—
अर	और	२५५	२
शब्दों को	शब्दों का	२५५	३ टि—
प्रारम्भ	प्रारम्भ मे	२५६	१२
कर्तः	कर्तः	२५६	२ टि—
एक दो हो	एक हो दोहों	२६५	२
कारा	द्वारा	२६८	२०
हुआ है	हुआ है १	२६८	२४
हुआ है	हुआ है २	२६८	२५
वनकर	वनकर ५	२६८	२८
दोनोकी	दोनोंकी समष्टिसे	२७२	६
क्षिप्यमान	क्षिप्यमाण	२७२	३०
में ही	मे १ ही	२८०	५
पत्पति	उत्पत्ति	२८०	८
है।	है २।	२८०	२३
कापेक्षा	व्यपेक्षा	२८१	१२ टि०
न्याम्प	न्याय्य	२८५	३१
श्रुत म्यग्दर्शनको केवल	श्रुतकेवल सम्यग्दर्शनको	२८८	६
स्फूर्ति	स्फूर्ति	२६१	१२
मूर्तिकी	मूर्तिको	२६४	७
होदि	होदि हु	२६८	२ टि०
१—	२—	३०८	२४
वनाता	वनता	३०६	७
अन्यत्	नान्यत्	३१०	७
श्रुति	श्रुत	३११	१३
पुक्ति	उक्ति	३११	२०
श्रुति	श्रुत	३११	१ टि०
सम्यक्त्वका	सम्यक्तत्त्वका	३१५	१.२
ही पाप	ही निन पाप	३१६	६
अन्येन मव्रज	अन्ये न व्रज	३१७	२ टि०
मम्यग्दर्शनं	सम्यक् दर्शनं	३१७	१३
भाग्नत्रिक	भवनत्रिक—	३२१	७
अपर्याप्त	अपर्याप्त—	३२१	१६
इन्द्रियमंयम	इन्द्रियासयम	३२७	८
नहीं पाई	नहीं पाई जा सकती, यदि पाई	३२८	२३
भिर्या	भिर्वा	३३६	१ टि०
[illegible]	[illegible]		

पृ०३३७कीटि०नं०१के साथ पढें		३३६	२ टि०
व्यक्तिके	व्यक्तिको	३४०	१
कोके	कोकी	३४३	२४
काको	काके	३४३	२४
हो	हो ही	३४३	२४
योंकी	योंमे	३४८	१५
यताका पता	यताको	३४८	१५
है उन	है	३४६	३
महाकुला	माहाकुला	३५०	१२
गतियोंमें	गतिमें	३५१	१६
तथा	तया	३५१	२०
इस व्याप्ति	इस अव्याप्ति	३५२	६
ईशित्व—	ईशित्व—सम्पूर्णलोककी प्रभुता। वशित्व—	३५२	२२
चिरन्त	चिरत्न	३५५	१५
उपायके	उपचयके	३५७	७
स्पष्टानित	स्पष्टानि न	३६०	१ टि०
नं० २	नं०२ पृ० ३६१	३६२	२ टि०
युक्ति	उक्ति	३६५	३
शास्त्रो	शस्त्रों	३६६	२
अयोध्या	अयोध्य	३६६	११
शब्दमे उत्तरसे	शब्दसे उत्तरमे	३६७	५
दिव्यास्त्र	व्यस्त्र	३६७	७ टि०
केवल	वे केवल	३७१	४
तरह फलो	तरहके फलो	३७४	३
अव्याप्त	अव्याप्ति	३७४	६
जातिरेंद्री	जातिरैन्द्री	३७७	१ टि०
शब्दका	पदका	३८०	६ टि०
अस्त्र-शस्त्र	अस्त्र-शस्त्र	३८१	११
दिव्यास्त्र	व्यस्त्रों	३८१	१२
दुग्धरक्त	रक्त	३८५	६ टि०
प्रवृतियो	प्रकृतियों	३८६	२२
आर्हद	अर्हद	३६३	३
मोह साह	मोहका साह	३६४	१६
आर्थ पृथ्यक	अर्थ पृथक्	३६५	१८
उसका	और उसका	३६५	२१
जनन्तर	अनन्तर	३६७	१७
निष्पति	निष्पत्ति	३६७	२३
विशेषणोमे	विशेषणोंसे युक्त	३६८	२३
करके भी	करके तथा कोई दोनोंमेंसे किसी भी पदको प्राप्त न करके भी	४०४	८
सम्यग्दर्शन	सम्यग्दर्शनके	४०६	५
वलानरातीन्	वलान् रिपून् यः	४१४	२

श्री सिद्धेभ्यो नमः

श्रीमदाचार्य समन्तभद्र स्वामि-विरचित
श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार

विद्यावारिधि, स्याद्वादवाचस्पति, स्याद्वादभूषण धर्मदिवाकर पंडित खूबचंद्रजी शास्त्रीकृत

"रत्नत्रय-चन्द्रिका" नामकी देशीभाषाटीका सहित

टीकाकारका मंगलाचरण।

श्रीमन्तं सन्मतिं नत्वा तद्वाणीं च गुरुत्रयीम्।
श्रावकाचारविवृतिं कुर्वे मंगलकारिणीम्॥

आचार्य श्री समन्तभद्र भगवान् रत्नत्रयरूप श्रावकधर्मका व्याख्यान करने की इच्छासे सबसे प्रथम अन्तिम तीर्थकर श्रीवर्धमान स्वामीको नमस्कार करते है—

नमः श्रीवर्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते॥१॥

अर्थ—आत्मासे लगे हुए कलिल--पापो को जिन्होंने निकाल कर दूर कर दिया है और जिनका ज्ञान अलोक सहित तीनों लोको को जानने के लिये दर्पणके समान है, उन श्रीवर्धमान भगवान् को नमस्कार है।

विशेष—इस कारिकाके सम्बन्धमें निम्नलिखित तीन विषय विचारणीय है—

१—प्रयोजन। २—शब्दों का सामान्य-विशेष अर्थ, ३—तात्पर्य। इनमें भी प्रथम प्रयोजन के सम्बन्ध में चार बातें ज्ञातव्य हैं। १—आस्तिकता, २—कृतज्ञता, ३—आम्नाय और ४—मंगलकामना।

आस्तिक शब्दका अर्थ "अस्ति परलोक इति मतिर्यस्यासौ आस्तिकः१" इस निरुक्तिके अनुसार जीवात्माके अस्तित्व और परलोक आदिपर श्रद्धा रखनवाला हुआ करता है। मतलब यह कि जो आत्मा या जीवतत्त्वको, उसकी अप्रत्यक्ष अवस्थाओं—स्वर्ग नरक आदि सांसारिक गतियों एवं संसारातीत निर्वाण अवस्था को मानता है; उनके अस्तित्वके सम्बन्ध में जिसको पूर्ण विश्वास है; जो इनके वर्णनकी सत्यताको स्वीकार करता है; उसको कहते हैं आस्तिक। तथा इस तरहकी मान्यता एवं श्रद्धाका ही नाम है आस्तिकता।

१—"अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः" पाणिनीय।

यह पद्य ग्रन्थकर्ताकी आस्तिकताको प्रकट करता है। क्योंकि इसमें नमस्य व्यक्तिके जिन तीन गुणों का वर्णन किया गया है उनसे युक्त जीवतत्त्वको जो नहीं मानता या जो निर्वाण अवस्था और उसके असाधारण कारणरूप इन धर्मों को स्वीकार नहीं करता इस तरहका नास्तिक बुद्धिका व्यक्ति उनको नमस्कार करके अपनी श्रद्धा भी अभिव्यक्त नहीं कर सकता। अतः इस पद्यके द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकर्ता को यह बात सर्वथा मान्य है कि सर्वज्ञता वीतरागता और हितोपदेशकतारूप गुणों का धारक कोई एक व्यक्ति अवश्य है। साथ ही वह हम सब छद्मस्थ संसारी जीवों के लिये आदर्श है। निर्वाणके मार्गका प्रदर्शक है। अत एव वह हमारेलिये नमस्य (नमस्कार करने योग्य) है।

वह कौन है इस बात को समझाने के लिये यहां दृष्टांत रूपमें नामोल्लेख भी कर दिया है कि जिस तरह श्री वर्धमान भगवान। वे नमस्य क्यों हैं अथवा मैं उनको नमस्कार क्यों करता हूँ? इसका विशेष युक्तिपूर्वक उत्तर तो अपने आप्तमीमांसा नामक[१] ग्रन्थमें स्वयं ग्रन्थकारने देदिया है उसीका संक्षिप्त आशय इस पद्यमें तथा आगे चलकर आप्तका लक्षण बतातेहुए स्पष्ट कर दियागया है जो कि विद्वानों को स्वयं घटित करलेना चाहिये। इस गुणके कारण अपनी लघुता, ग्रन्थकी सर्वज्ञोपज्ञता और प्रामाणिकता पर भी प्रकाश पड़ता है।

२। कृतज्ञता—अपने प्रति किये गये उपकार को मानना, तथा कृतोपकारीके प्रति सम्मान प्रकट करना, और उसका निह्नव न करके गौरवके साथ उसके नाम आदिका उल्लेख करना आदि 'कृतज्ञता' कहलाता है। यह एक महान गुण है जो कि वक्ता के शुद्ध सरल गुणग्राही स्वभाव को स्पष्ट तो करता ही है साथ ही प्रकृत विषय के मूल वक्ताके प्रति दृष्टि दिलाकर उसकी ऐतिहासिकता भी प्रकट कर देता है। यही कारण है कि शिष्ट ग्रन्थ-कर्त्ता अपनी रचना के प्रारम्भ में अपने उस उपकारी का स्मरण करना परम कर्तव्य समझते है और श्रद्धापूर्वक उनका नामोल्लेख किया[२] करते हैं।

इस ग्रन्थमें जो कुछ वर्णन किया गया है उसके अर्थतः मूल वक्ता श्रीवर्धमान स्वामी हैं। उन्होंने जो श्रेयोमार्ग का उपदेश दिया वही उसकी ग्रन्थ रचना करने वाले गणधर देव तथा अन्य आचार्योंके द्वारा अब तक चला आरहा है। अतएव कृतज्ञ ग्रन्थकर्त्ता श्री आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने उनका यहां स्मरण किया है।

३। आम्नाय—यद्यपि इस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं लेकिन यहां पर आचार्य परम्परागत (प्राचीन आचार्यों के द्वारा चली आई प्रवृत्ति) अर्थ ग्रहण करना चाहिये। मर्यादा का रक्षण महान् गुण है। और उसका भंग करना महान् दोष है[३]। ऊपर लिखे कारणों से अभिमत कार्य के प्रारम्भ

१—दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्। क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥ स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्। अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥ आप्तमीमांसा ४-६॥

२—अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः, प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्। इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात् प्रबुद्धैर्नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति॥ ३—देखो आदिपुराण॥

में इष्टदेवका स्मरण करना आचार्यों तथा शिष्ट पुरुषोंको अभीष्ट है। इस मर्यादाका पालन करना महान् तार्किक आचार्य भगवान् समन्तभद्र स्वामीने अपने इस श्रावकाचारके प्रारम्भमें भी उचित समझा है। क्योंकि वे न केवल तथाकथित परीक्षाप्रधानी ही थे अपितु परीक्षाप्रधानितासे भी पूर्व आज्ञाप्रधानी और परम्परीण मर्यादाके पालन करने वाले भी थे। यही कारण है कि अपनेसे पूर्ववर्ती आचार्योंकी मंगलाचरण[१] करनेकी आम्नायका उन्होंने भी यथावत् अनुसरण किया है।

४। मंगलकामना—मंगलकी अभिलाषाको कहते है। मंगल शब्दके दो अर्थ प्रसिद्ध हैं—पापका नाश और पुण्यकी प्राप्ति[२]। प्रारब्ध शुभ कार्योंके पूर्ण होनेमें अनेक तरहसे विघ्नोंके आनेकी सम्भावना रहा करती है[३]। विघ्नोंका कारण अन्तराय आदि पाप कर्मोंका उदय तथा साता आदि पुण्य कर्मोंका अनुदय अथवा मंदोदय है। वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी परमात्मा आप्त परमेष्ठीके पवित्र गुणोंके स्मरणसे अन्तराय आदि पाप कर्मोंकी शक्ति क्षीण हो जाती है और सद्वेद्यादि पुण्य कर्मोंके रसमें प्रकर्ष हुआ करता है[४]। फलतः विघ्न आनेमें अन्तरंग कारण अन्तराय कर्मके निर्वीर्य हो जानेसे अभिमत कार्यकी सिद्धि अबाधित बन जाती है।[५] अतएव आस्तिक एवं तत्त्वज्ञ ग्रन्थकर्त्ता अपने ग्रन्थकी आदिमें पवित्रगुणोंके समुद्र अभीष्ट देवका स्तवन किया करते है। समन्तभद्र स्वामीने भी इसीलिये इस श्रावकाचारकी रचनाके प्रारम्भमें अपने इष्ट गुणोंके स्थानभूत श्रीवर्धमान भगवान्को नमस्कार किया है।

मंगल करनेका फल अनेक तरहके अभ्युदयोंकी सिद्धि आदि भी बताया है[६]। वह भी ग्रन्थान्तरोंके कथनानुसार विद्वानोंको यहां पर भी यथायोग्य घटित कर लेना चाहिये।

ऐसा भी कहा है कि "मंगल निमित्त हेतु प्रमाण ग्रन्थका नाम और शास्त्र कर्त्ताका नाम इस तरह छह बातोंका ग्रन्थकी आदिमें वर्णन करना चाहिये।"[७] इनमेंसे मंगलका उल्लेख तो स्पष्ट ही है, अन्य विषय अनुमान अथवा तर्क द्वारा समझने चाहिये। जिसके कि लिये ग्रन्थके अन्तिम दो पद्य तथा ग्रन्थकी पद्य संख्या आदिका आधार पर्याप्त है।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—नमः यह अव्ययपद है जिसका अर्थ होता है नमस्कार। अर्थात् ग्रन्थकर्त्ता कहते हैं कि मेरा नमस्कार हो। इस पर से प्रश्न उठ सकता है कि किनको

१—षट् खण्डागमके प्रारम्भ मे "णमो अरिहन्ताणं" आदि . मोक्षशास्त्रकी आदि मे "मोक्षमार्गस्य नेतारम्" तथा समयसार प्रवचनसार के "वंदित्तु सव्वसिद्धे, एस सुरासुर" आदि मंगल पद्य उसके प्रमाण हैं।

२—"मं" पापं गालयति–विनाशयति इति। तथा "मंगं"–सुखं पुण्यं वा लाति ददाति इति। देखो अनगार धर्मामृत अ० ७ श्लोक ६१ की टीका और तद्गत दोनो पद्य।

३—'श्रेयान्सि बहुविघ्नानि न ह्यद्य धुना भवत्' क्षत्रचूडामणी (वादीभसिंह)

४—नेष्टं विहन्तुं शुभभावभग्नरसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः। तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकृदर्हदादेः॥

५—नास्तिकत्वपरिहारः शिष्टाचारप्रपालनम्। श्रेयोऽवाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्तसंस्तवात्॥

६—धवला आदि ७—मंगलहेतुनिमित्तप्रमाणनामानि शास्त्रकर्तृश्च। व्याकृत्य षडपि पश्चात् व्याचष्टां शास्त्रमाचार्यः॥ ८ र० क० १४६–१५० येन स्वयं आदि तथा सुखयतु आदि।

और क्यों ? इसके उत्तरमें ही नमस्य भगवान्‌की तीन पदों द्वारा विशिष्टता—नमस्कारके योग्य असाधारण गुणवत्ता इस पद्यमें प्रकट की गई है। पहले पदके द्वारा हितोपदेशकता, दूसरेके द्वारा वीतरागता और तीसरे अथवा उत्तरार्धके द्वारा सर्वज्ञताको दिखाया गया है। जिससे यह अर्थ निकलता है कि जो हितोपदेशी है वह नमस्य है। किन्तु हितोपदेशी वास्तवमें वही माना जा सकता है जो वीतराग एवं सर्वज्ञ है। लोकमें भी जो रागद्वेष अर्थात् पक्षपातसे ग्रस्त है तथा प्रकृत विषयमें अजानकार है उसका उपदेश या निर्णय हितरूप एवं प्रमाणरूप नहीं माना जाता।१

नमस्कारसे प्रयोजन यहां मोक्षाश्रय विनयसे है। क्योंकि आगममें पांच प्रकारके विनयका जो उल्लेख मिलता है उनमें से मोक्षाश्रय विनयके सिवाय शेष चार प्रकारके विनयका यहां सम्बन्ध घटित नहीं होता।२

श्रीवर्धमान—इस शब्दके दो अर्थ प्रसिद्ध हैं, परन्तु तीन अर्थ भी किये जा सकते हैं। प्रथम तो श्रीवर्धमान, यह वर्तमान २४ तीर्थंकरोंमेंसे अन्तिम तीर्थंकरकी उनके माता पिता द्वारा रक्खी गई अन्वर्थ संज्ञा है, दूसरा इसका अर्थ २४ तीर्थंकर होता है। तीसरा अर्थ समवसरणविभूतियुक्त अन्तिम तीर्थंकर भी हो सकता है।

वर्तमान हुंडावसर्पिणीमें होनेवाले तीर्थंकरोंमेंसे चोबीसवें तीर्थंकर भगवान् पांच नामसे प्रसिद्ध हैं—वीर महावीर अतिवीर सन्मति और श्रीवर्धमान। पांचो ही नामके भिन्न २ कारण हैं और वे भिन्न २ व्यक्तियोंके द्वारा रक्खे गये हैं३। इनमेंसे श्रीवर्धमान यह नाम उनके माता पिता द्वारा जन्मसे दशवें दिन रक्खा गया था४। यद्यपि इस नामकरणमें कुछ अर्थकी भी अपेक्षा रक्खी गई है। यहां पर ग्रन्थकर्त्ताने इंद्र रुद्र देव और चारण मुनिके रक्खे हुए नामका उल्लेख न करके माता पिताके रक्खे हुए नामका ही उच्चारण किया है। यद्यपि आचार्योंने अनेक स्थानों पर 'श्रीवर्धमान' शब्दका प्रयोग न करके केवल "वर्धमान" शब्दका ही प्रयोग किया है सो संभव है कि यह केवल पूर्ण नामके स्थान पर उसके एक देशका प्रयोग करनेकी पद्धतिके अनुसार ही किया गया हो। जैसे कि बलभद्रको बल या भद्र शब्दसे ही लिखना अथवा सत्यभामाको सत्या या केवल भामा शब्दके द्वारा ही बोलना। किन्तु वास्तवमें भगवान्‌का पूरा नाम 'श्रीवर्धमान' ही रक्खा गया।५

१। आत्मस्थितेर्वस्तु विचारणीयम् न जातु जात्यन्तरसंक्रमेण। दुर्वर्णनिर्वर्णविधौ बुधानां सुवर्णवर्णस्य मुधानुबंधः गुणेषु ये दोषमनीषयांधा, दोषान् गुणीकर्तुमथेशते वा। श्रोतुं कवीनां वचनं न तेऽर्हाः सरस्वतीद्रोहिषु कोऽधिकारः॥ १-३७,३८। (यशस्तिलक)। २—लोकानुवृत्तिकामार्थभयनिःश्रेयसाश्रयः। विनयः पंचधावश्यकार्योऽन्त्यो निर्जरार्थिभिः॥ तथा लोकानुवर्तनाहेतुरित्यादि····· विनयः पंचमो यस्तु तस्यैषा स्यात्प्ररूपणा॥ इत्यन्तम्॥ (अ० ध० ८-४८)

३—इसके लिये देखो श्री अशग कविकृत महावीर चरित्र अपरनाम वर्धमान चरित्र के सर्ग १७ के श्लोक नं० ८३; ९१, ९२,९८, १२६। ४—जैसा कि इसी वर्धमान चरित्रके सर्ग १७ के श्लोक नं० ९१ से विदित होता है। किंतु आगम में गर्भाधानादि ५३ क्रियाओंका वर्णन किया है उनमें जन्मसे १२ वे दिन अथवा उसके बाद नामकरण की विधी बताई है देखो आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक नं० ८७, ८८,८९।

५—तीर्थंकर भगवानका जन्माभिषेकके अनन्तर इन्द्रद्वारा नामनिर्देश किया जाता है। परन्तु आगम पद्धति

दूसरा अर्थ चौबीस तीर्थंकर भी होता है जैसा कि श्री प्रभाचन्द्राचार्यादि की की गई निरुक्तिसे स्पष्ट होता है[१]। तीसरा अर्थ श्री—अन्तरंग बहिरंग विभूतिसे युक्त वर्धमान भगवान् अर्थात् समवसरणस्थित अन्तिम तीर्थंकर ऐसा भी हो सकता है।

तीनों ही अर्थ निर्बाध है। फिर भी मालूम होता है कि ग्रन्थकर्त्ताको अन्तिम अर्थ ही मुख्यतया यहां अपेक्षित रहा है। क्योंकि इस समय उनका ही शासन प्रवर्तमान है जिसको कि दृष्टिमें रखकर यहां ग्रन्थकारने श्रावकाचारका वर्णन किया है।

निर्धूतकलिलात्मने—निकालकर दूर कर दिये हैं कलिल आत्मासे जिसने। कलिल शब्दका अर्थ होता है—कलिं--कलहं लाति दत्ते इति कलिलम्। जो कलह-झगड़ेका या विरोध का कारण है उसको कहते हैं कलिल। यहां इस शब्दसे आशय उन पाप कर्मोंसे है जो कि संसारमें शांति भंग करनेमें मूल कारण है, उन पाप कर्मोंको (जो कि प्रवाहरूपसे जीवात्माके साथ अनादिकालसे लगे आ रहे है, अपनी आत्मासे सर्वथा जिन्होंने पृथक् कर दिया है, जो उन पापोंसे रहित हो जानेके कारण स्नातक अवस्थाको प्राप्त हो चुके है उनको कहते हैं निर्धूतकलिलात्मा।

यों तो पाप कर्मोंकी संख्या १०० है, घातिया कर्मोंकी ४७, नामकर्मकी ५० और असातावेदनीय नीचगोत्र तथा नरक आयु। किन्तु प्रकृत स्नातक अवस्था वाले सर्वज्ञ जीवन्मुक्त हितोपदेशी तीर्थंकर भगवान्के इनमे से ६३ का अभाव हो जाया करता है। घातिया कर्मोंकी ४७ तथा अघातिकर्मोंकी १६, जिसमें कि ३ आयु भी सम्मिलित है, इसतरह कुल ६३ प्रकृतियोंका क्षय करके शुद्ध चैतन्यको सिद्ध करने वाले परमेष्ठीको यह अवस्था प्राप्त हुई मानी गई है। इन ६३ प्रकृतियोंमें प्रायः पाप प्रकृतियां ही है—यही कारण है कि इनको अपनी आत्मासे पृथक् कर देनेवाला निर्धूतकलिलात्मा कहा गया है। ऊपर पापकर्मोंकी संख्या १०० कही है और यहां कुल ६३ का ही क्षय कहा गया है जिनमें कि पाप कर्मोंकी संख्या ५८ ही है। क्योंकि ६३ में आयुस्त्रिक आतप और उद्योत ये पांच प्रकृतियां पुण्य रूप हैं इससे यह स्पष्ट है कि अभी उनके ४२ पाप कर्मोंका सत्त्व बना हुआ है। फिर भी इनको जो निर्धूतकलिलात्मा— पापका विघातक कहा गया है उसके कई कारण है—प्रथम तो पाप कर्मोंमें मुख्य

के अनुसार जन्म के १२ वें दिन माता पिता द्वारा नाम निर्देश होना चाहिये। किन्तु अन्य तीर्थंकरों के विषय मे इस तरह नामकरण का वर्णन देखने म नहीं आया, संभव है इन्द्र द्वारा रक्खे गये नाम को ही माता पिता द्वारा स्वीकृत कर लिया गया हो और नामकरण क्रिया के समय १२ वे दिन उसी नाम की विधि पूर्वक घोषणा कर दी गयी हो। १—इस शब्द मे चार शब्द है—श्री. अव. ऋद्ध. मान। श्री—विभूति—अव उपसर्ग है, और ऋद्ध-बढा हुआ, मान-केवलज्ञान। अर्थात् समवशरण विभूतियुक्त है सर्वोत्कृष्ट अवस्था तक पहुंचा हुआ प्रमाणभूत केवलज्ञान जिनका।

२—ध्यान रहे पुण्य और पापोंकी संख्या बताने में स्पर्शादिक २० कर्मप्रकृतियोंको दोनो ही तरफ गिनागया है। क्योंकि इनका फल इष्ट अनिष्ट दोनो ही प्रकारका माना गया है।

घातिया कर्म हैं जो कि आत्माके वास्तविक अनुजीवी गुणोंका घात करने वाले हैं। इनमें भी मुख्य मोहनीय कर्म है। इस मोहनीय कर्मके निमित्तसे ही संसार और उसके कारण भूत कर्मोंकी शृंखला बनी हुई है या चल रही है। इसके निर्मूल हो जाने पर सभी कर्मोंकी संतति विध्वस्त हो जाती है—कोई भी कर्म बंधको प्राप्त नहीं हुआ करता और न किसी भी कर्मका ऐसे रूपमें उदय ही हुआ करता है जो कि नवीन बंधका कारण हो सके। यही कारण है कि इसको सिद्ध करना—उसको निर्मूल करके उस पर विजय प्राप्त कर लेना मोक्ष मार्गके साधनमें सबसे अधिक दुष्कर कार्य माना गया है १। इस मोहनीयके नष्ट हो जाने पर इसके समान काम करनेवाले शेष घातिया कर्मोंका विनाश भी सहज ही हो जाया करता है—वे भी निर्मूल नष्ट हो जाते हैं।२ तथा इनके साथ ही अघातिया कर्मोंकी भी कुछ प्रकृतियां नष्ट हो जाया करती हैं। फलतः मूलभूत पाप कर्मोंके नष्ट हो जानेसे इनको निर्धूतकलिलात्मा कहा गया है।

दूसरी बात यह है कि जो पाप कर्म अभी सत्तामें बने हुए हैं वे मोहके उदयका निमित्त न रहनेसे अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं हुआ करते।३ वे या तो बिना फल दिये ही निर्जीर्ण हो जाते हैं अथवा अन्य सजातीय पुण्यकर्म प्रकृतिके रूपमें संक्रमण कर लिया करते हैं।४ जैसे कि असाता वेदनीय साता वेदनीयके रूपमें, नीचगोत्र उच्चगोत्रके रूपमें, अयशस्कीर्ति यशस्कीर्तिके रूपमें, इत्यादि। अत एव सर्वथा असमर्थ सत् रूप उन पापकर्मोंको कोई भी महत्त्व या मुख्यता प्राप्त नहीं है। जिनको मुख्यता प्राप्त है उनको उन्होंने नष्ट करके ही सर्वज्ञता एवं हितोपदेशकता प्राप्त की है।

तीसरी बात यह है कि यदि ऐसा न माना जायगा तो न तत्त्वव्यवस्था ही बन सकेगी और न कार्यकारणभावके भंगका प्रसंग आये बिना रह सकेगा। इस विषयमें आगे चलकर और भी लिखना है अतएव यहां विशेष नहीं लिखा जाता। अनावश्यक विषयको द्विरुक्ति आदिके द्वारा बढ़ाना उचित नहीं है। अस्तु।

इस विशेषणके द्वारा भगवानकी वीतरागता या निर्दोषताको स्पष्ट किया है जो कि सर्वज्ञता का और उनके शासनमें सर्वाधिक प्रामाणिकताका भी कारण है।

सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते।

सालोक—अलोकसहितको कहते हैं सालोक यह "त्रिलोक" का विशेषण है। अलोक शब्द क्योंकि निषेधपरक है अतएव उसके दो तरहके अर्थ हो सकते हैं,—पर्युदास और प्रसज्य४। जहां किसी अन्य पदार्थके रूपमें निषेधका आश्रय लिया जाय वहां पर्युदास और जहां केवल निषेधका ही अभिप्राय हो वहां प्रसज्य अर्थ माना जाता है। यहां पर अलोकका अर्थ पर्युदास करना

१—[illegible]

२—[illegible]

३—[illegible]। ४—[illegible]

चाहिये। क्योंकि लोकका अभाव ऐसा ही अर्थ यदि लिया जायगा तो लोकका जो प्रमाण बताया है उसके वाहर कुछ भी नहीं है ऐसा सर्वथा निषेधरूप ही अर्थ निष्पन्न होगा सो अर्थ ठीक नहीं है। जैसा कि आगममें बताये गये लोक अलोकके अर्थसे विदित होता है। लोक शब्दका अर्थ ऐसा होता है कि जो देखे जांय अथवा जहां पर जीवादि पदार्थ देखे जांय उसको लोक कहते है। अतएव जो जीवादि पदार्थोंके समूहरूप है—छहों द्रव्योंके समुदायरूप है—उसको लोक कहते है—अथवा जितने आकाशमें छहां द्रव्य पाये जाते है उतने आकाश प्रदेशोंके प्रमाणको भी लोक कहते हैं। लोक शब्दके और भी अनेक अर्थ किये है[१] परन्तु प्रकृतमें ये दो अर्थ ही मुख्य है। यह लोक द्रव्योंके समूहरूप होनेसे स्वतः सिद्ध अकृत्रिम है और अनादि तथा अविनस्वर है।[२]

त्रिलोकानाम्—इस लोकके मुख्यतया तीन विभाग हैं,—अधोलोक मध्यलोक और ऊर्ध्व लोक। ये तीन विभाग क्षेत्र विशेषकी अपेक्षा अथवा पुण्य पापके अनुसार उत्पत्तिके योग्य स्थानों की अपेक्षासे बताये गये है। आगममें प्रायः ये तीन ही विभाग सर्वत्र प्रसिद्ध है। किन्तु इनके सिवाय सात नौ या चौदह इस तरहसे भी भेदोंकी संख्याका उल्लेख मिलता[३] है जो कि भिन्न २ अपेक्षाओंसे किया गया है। लोकका प्रमाण निश्चित है जैसा कि आगे चलकर[४] बताया जायगा। उसके बाहर सभी दिशाओंमें अनन्त आकाश रूपमें अलोक है। इस तरह लोक तथा अलोकका सामान्यतया यहां निर्देशमात्र किया गया है। इसके प्रमाण आदिका विशेष वर्णन करणानुयोग के लक्षण आदिका वर्णन करनेवाले त्रिलोकसार, त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदिमे देखना चाहिये। संक्षेपमें यहां भी कारिका नं० ४४ की व्याख्याके समय किया जायगा।

यद्विद्या—विद्या शब्द के अर्थ और भी अनेक हो सकते है। परन्तु यहां उसका अर्थ ज्ञानही लेना चाहिये।[५] मतलब यह कि यहां पर यद्विद्या जिनका ज्ञान ऐसा कहने से समवसरण स्थित वीतराग भगवान् के उस केवल ज्ञानको बतानेका है जो कि पूर्णतया निरावरण है और जिसमें युगपत्—विना क्रमके ही सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिभासित होते है और जो कि आत्मा के लक्षण रूप चैतन्यका ऐसा विशुद्ध स्वरूप है जो शाश्वतिक है—अपने स्वरूपमें ही सदा विद्यमान रहता है, जिसमें न कभी न्यूनाधिकता आती और न किसी तरहके विकार का ही सम्बन्ध हुआ करता है,

---

१—''पंचास्तिकायाः कालश्च लोकः '५-१-२६,' यत्र पुण्यपापफललोकनं स लोकः '१०' लोकतीति वा लोक '११' (षड्द्रव्यसमूहो लोकः) 'लोक्यते ज्ञात वा लोकः '१२' यत्रस्थेन सर्वज्ञेन लोक्यते यः स लोकः' रा० वा० ५-१२। जगच्छ्रेणीघनप्रमाणो लोकः ति० प० अ० १-५। २—आदिणिहयेण हीणो पगदिसरूवेण एस संजादो। जीवाजीव-समिद्धो सव्वण्हवलोइओ लोओ, 'ति० प० अ० १-१३३। ३-,' भूयात्त्रीणि सप्त चतुर्दश भुवनानि' अ० चि० १-७६। भुवनानि निबध्नीयात्त्रीणि सप्त चतुर्दश। वाग्भटालंकार। णामं ठवणं दव्वं खेत्त चिण्हं कहाय लोओ य। भवलोग भावलोगं पज्जयलोगो य णादव्वं॥ अ० ध० टी ८-३७। ४—करणानुयोगक स्वरूप वर्णन करनेवाली कारिका नं० ४४ की व्याख्या में। ५—विद्यास्पदं प्रवक्ष्यामि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-१ प्रसिद्धं च सकलविद्यास्पदत्वं भगवतः सर्वज्ञत्वसाधनात्। त० श्लो० मंगलाचरण।

अपने शुद्ध स्वरूप में ही वह परिणमन करता हुआ अनन्त कालतक अवस्थित रहा करता है[1]।

दर्पणायते—व्याकरण में जिस तरह धातु से नाम बनते हैं उसी तरह नाम से धातु भी बनते हैं। यहां पर भी उसी नाम धातु प्रक्रिया के अनुसार दर्पण शब्द से दर्पणायते यह क्रिया बनाई गई है जिसका अर्थ होता है दर्पण के समान आचरण करना। इस क्रिया के प्रयोग करने का आशय दृष्टान्त पूर्वक अर्थ विशेष को स्पष्ट करने का है। दृष्टान्त के सभी धर्म दार्ष्टान्त में नहीं मिला करते अन्यथा दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का भेद ही नहीं रहेगा। अतएव जिस अंशको स्पष्टतया समझाने के लिये दृष्टान्त दिया जाता है उस दृष्टान्त को उसी अंश में घटित करना चाहिये। यहां पर दर्पण के दृष्टान्त का आशय यह है कि जिस तरह स्वच्छ दर्पण के सामने जो भी पदार्थ आते है वे सभी स्वाभाविकतया उसमें प्रतिबिम्बित हुआ करते है। उसी प्रकार आवरणादि दोषो से रहित पूर्ण स्वच्छ चैतन्य में स्वभाव से ही सम्पूर्ण पदार्थ—तीन लोक के भीतर पाये जाने वाले पदार्थ और उनके समस्त गुणधर्म तथा उनकी अतीत अनागत सभी अवस्थाएं प्रतिभासित हुआ करती है[2]।

तात्पर्य—ऊपर नमस्कारात्मक मंगलरूप कारिकाका सामान्य अर्थ तथा पद्यगत शब्दों का आशय लिखा जा चुका है। यहां पर इस श्लोक के सम्बन्ध में कुछ और भी लिखने की इसलिये आवश्यकता है कि इसका हृद्‌गत तात्पर्य पाठक श्रोताओंको विदित हो सके।

मंगल अनेक प्रकार के हुआ करते हैं—मानसिक वाचिक कायिक[3]; वाचिक मंगल भी दो प्रकारका बताया गया है। निबद्ध तथा अनिबद्ध[4]। इसके सिवाय कोई जयवादरूप कोई आशीर्वादात्मक कोई वस्तुनिर्देशस्वरूप कोई गुणस्तवनरूप तथा कोई नमस्कारात्मक मंगल हुआ करते हैं।[5] इनमें से यह नमस्कारात्मक निबद्ध मंगल है। इसमें स्पष्ट ही नमः शब्दका प्रयोग किया है। नमस्कारका उल्लेख इस बातको व्यक्त करता है कि नमस्कर्ताके हृदयमे नमस्य व्यक्तिके गुणों अथवा उसके व्यक्तित्वके प्रति कैसा और कितना अनुराग है। ग्रन्थकर्त्ता भावी तीर्थंकर श्री

१—र० श्रा० कारिका न० ४०। तथा "तैलोकेणपि ण चालिज्जो।"

२—तज्जयति पर ज्योतिः सम समस्तैरनन्तपर्यायैः। दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र। पुरुषार्थ० १। तथा प्रवचनसारका ज्ञानप्रपचनामा अन्तराधिकार यथा—तिक्कालणिच्चविसयं सयलं सव्वत्थ संभव चित्त। जुगवं जाणदि जोण्हं अहाहि णाणस्स माहप्प ॥५१॥

३—'तस्य मनःकायाभ्यामपि सम्भवात्।' प्र० र० पृ० ६। 'मनसा वचसा तन्वा कुरुते कीर्तनं मुनिः। ज्ञानादीनां जिनेन्द्रस्य प्रणामस्त्रिविधो मतः। अ० ध० ८—९५ टीका।

४—धवला

५—जयवादरूप-तज्जयति परज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः। दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र। पु० सि०। "जय जय श्री सत्कान्तिप्रभो जगतां पते, जय जय भवानेव स्वामी भवाम्भसि मज्जताम्॥ "इत्यादि (नि० पू०) श्रीपतिर्भगवान् पुष्याद्‌भक्तानां वः समीहितम्।" क्ष० चू० यद्वा—"श्रीकान्ता कुचकुम्भ ...... "पुष्यासुमनसां मतानि जगतः स्याद्वादिवादां वपः। "यश० २-१ इत्यादि; प्रनाणादर्थ ससिद्धि इत्यादि। अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा, अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा।"

समन्तभद्र स्वामीने नमस्य व्यक्तिके असाधारण गुणोंका तथा नमस्कारके कारणका उल्लेखपूर्वक जो नमस्कार किया है उससे उनकी आन्तरिक विशुद्ध श्रद्धा—दर्शनविशुद्धिके साथ अर्हद्भक्तिका परिचय मिलता है।

इस तरह के नमस्कारसे जो पापका क्षय होता है तथा पुण्यका बन्ध या बद्ध पुण्य कर्मों की स्थिति अनुभागमें प्रकर्ष हुआ करता है अथवा अशुभ कर्मों का संवर निर्जरा हुआ करती है उसका वर्णन करने से ग्रन्थका विस्तार बहुत अधिक बढ जायगा अतएव यहां नहीं किया जाता। विद्वानोंको तो बताने की आवश्यकता भी नहीं हैं अन्य विशेषजिज्ञासुओं को ग्रन्थान्तरों से जान लेना चाहिये।

श्रीवर्धमान शब्दके सम्बन्धमें पहले लिखा जा चुका है कि इसके तीन अर्थ हो सकते है। यह अन्तिम तीर्थकरका उनके माता पिता द्वारा जन्मसे दशवें दिन रक्खा गया नाम है यह बात श्री महाकवि अशगके वर्धमान चरित्रसे विदित होती है[१]। आगममें नामकरणके सम्बन्धमें क्या विधान है यह बात श्री भगवज्जिनसेन आचार्यके आदिपुराण पर्व ३८ से जान लेनी चाहिये। उसका संक्षिप्त आशय इस प्रकार है—

उपासकाध्ययनके अनुसार क्रियाएं तीन प्रकार की बताई है;—गर्भान्वय, दीक्षान्वय, और कर्त्रन्वय, जिनका कि सम्यग्दृष्टियोंको अवश्य ही पालन करना चाहिये। इनमें से गर्भान्वयके ५३ दीक्षान्वयके ४८ और कर्त्रन्वयके ७ भेद हैं। गर्भान्वय के ५३ भेदोंमें सातवीं क्रिया नामकर्मके नामसे बताई गई है। इस सम्बन्धमें लिखाहै कि—

द्वादशाहात्परं नामकर्म जन्मदिनान्मतम्। अनुकूले सुतस्यास्य पित्रोरपि सुखावहे ॥८७॥
यथाविभवमत्रेष्टं देवर्षिद्विजपूजनम्। शस्तं च नामधेयं तत्स्थाप्यमन्वयवृद्धिकृत् ॥८८॥
अष्टोत्तरसहस्राद्वा जिननामकदम्बकात्। घटपत्रविधानेन ग्राह्यमन्यतमं शुभम् ॥८९॥

मतलब यह कि सातवीं नामकरण क्रिया जन्मके दिनसे बारहवें दिन होनी चाहिये। जबकि पुत्रके लिये और उसके माता पिताके लिये वह दिन सुखावह तथा अनुकूल हो—चन्द्रमा नक्षत्र आदि ग्रहयोग सब शुभ हों। इस क्रियामें अपने २ वैभवके अनुसार देव ऋषि और द्विजोंका पूजन किया जाता है और जो वंशकी वृद्धि करनेवाला हो ऐसा प्रशस्त नाम रख दिया जाता है। अथवा घटपत्र विधानके द्वारा भगवान्के एक हजार आठ नामोंमेंसे, कोई एक शुभ नाम चुनकर रखलिया जाता है।

इस विधिमें बारहवें दिन नाम रखना बताया है और अशग कविने दशवें दिन नाम रक्खा गया लिखा है संभव है कि दशवां दिन ही पुत्र और माताके लिये अनुकूल एवं सुखावह पडनेके[२]

"तवसंजमप्पसिद्धो सग्गापवग्गमग्गकरो। अमरासुरिंदमहदो देवोऽसा लोयसिहरत्थो"। तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ ………इत्यादि (भक्तामर)

१—सर्ग १७ श्लोक नं० ९१। २—श्रीवर्धमान भगवान्का जन्म चैत्रशुक्ला १३ को उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें

कारण दो दिन पहिलेही यह क्रिया करली गई हो। अथवा अन्य कोई कारण है सो हमारी समझ में नहीं आया।

वर्धमान शब्दका अर्थ २४ तीर्थंकर भी किया गया है। यह अर्थ रत्नकरण्ड श्रावकाचार के टीकाकर्त्ता श्री प्रभाचन्द्रने किया है। और प्राचीन आचार्यों के कथनसे भी इस अर्थ की पुष्टि होती है। श्रीभगवज्जिनसेन आचार्यने आदिनाथ भगवान की इन्द्रद्वारा एक हजार आठ नामसे की गई जिस स्तुतिकी रचना की है उसमें[१] भी वर्धमान इस नाम का उल्लेख मिलता है टीका टिप्पणकारोंने इस शब्दका जो अर्थ किया है वह सामान्यतया सभी तीर्थंकरोंपर घटित हो सकता[२] है

इसके सिवाय महापण्डित आशाधरजी के सहस्र नाममें भी वर्धमान नामका उल्लेख है[३] और यह सहस्र नाम किसी एक तीर्थंकर को ही नहीं अपितु अनन्त,[७] अर्हन्तोंको लक्ष्य करके बनाया गया है—इसके द्वारा सामन्यतया सभी अर्हन्तों की स्तुति की गई है। इस वर्धमान शब्दका अर्थ टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरीने जो किया है[४] वह भी सामान्यतया सभी तीर्थंकरों या अर्हन्तों पर घटित होता है।

शब्द नयकी दृष्टिमें रखकर आगममें प्रयुक्त शब्दोंके विषयमें यदि विचार किया जाय तो वे प्रायः—अधिकतर योगरूढ ही मालूम होते है। अत एव उनका अर्थ रूढि और अन्वर्थता दोनों को ही सामने रखकर करना अधिक संगत प्रतीत होता है। अतः विचार करनेसे मालूम होता है अर्थकी अपेक्षा सभी तीर्थंकर या अर्हन्त वर्धमान शब्दके द्वारा कहे जाते है या कहे जा सकते हैं परन्तु अन्तिम तीर्थंकर अर्थकी अपेक्षाके साथ २ नाम निक्षेपसे भी वर्धमान है।

वर्धमान शब्दके साथ जो श्री शब्द लगा हुआ है उसके सम्बन्ध में दो बाते है—१ अशग कविके[६] कथनसे तो मालूम होता है कि वह नामका ही एक अंश है २—परन्तु अन्य व्याख्याओं से मालूम होता है वह भगवान की असाधारण विभूतिको सूचित करने के लिये विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है। दोनों ही अर्थ संगत है। इस विषयमें हम पहले लिख चुके है अत एव यहांपर

हुआ था। इससे १८वे दिन वैसाख कृ० ७ को उत्तराषाढ नक्षत्र हिसावसे आता है; और बारहवे दिन वैसाख कृ० ६ श्रवण या धनिष्टा नक्षत्र आता है, इनमेंसे भगवान् और उनके माता पिताके लिये कौनसी मिति नक्षत्र आदि शुभ पडते है, इसका विचार ज्योतिर्वेत्ताओंको करना चाहिये।

१—सिद्धिदः सिद्धसंकल्प सिद्धात्मा सिद्धसाधनः। बुद्धबोध्यो महाबोधिर्वर्धमानो महर्द्धिकः। आदिपुराण २५-१४४

२—सहस्रनाम पूजा आदि।

३—निर्वाणादि शतक (७) श्लोक नं ६० यथा— नेमिः पार्श्वो वर्धमानो महावीरश्च वीरकः।

४—इदमष्टोत्तरं नाम्नां सहस्रं भक्तितोऽर्हताम्। योऽनन्तानामधीतेऽसौ मुक्त्यंतां भुक्तिमश्नुते। आशाधर कृत सहस्रनाम।

५—वर्धते ज्ञानेन वैराग्येण च लक्ष्म्या द्विविधया वर्धमान.। अथवा अव समन्ताद् ऋद्धः परमातिशयं प्राप्तो मानो ज्ञानं पूजा वा यस्य स वर्धमानः। आशाधर सहस्रनामकी श्रुतसागर टीका।

६—वर्धमान चरित्र स० १७—६१।

उसके विषयमें विशेष न लिखकर केवल उनकी असाधारण विभूतिके सम्बन्ध में ही कुछ लिखना उसका दिग्दर्शन कराना उचित प्रतीत होता है।

सभी तीर्थंकर अपनी विभूतिके कारण लोकोत्तर हैं। भिन्न २ आचार्योंने उनकी विभूतिको भिन्न २ प्रकार से गिनाया है। फिर भी पाठक देखेंगे कि वे सभी कथन परस्परमें विरुद्ध नहीं सभी आपसमें अविरुद्ध हैं। किसी आचार्यने सामान्यतया एक प्रभुता के नामसे ही उनके लोकोत्तर माहात्म्यका वर्णन किया है।[१] किसी आचार्यने अन्तरंग और बहिरंग इस तरह दो भागों में उनकी महत्ता को विभक्त कर दिया है[२], शारीरिक, देवकृत और केवल ज्ञान निमित्तक इसतरह तीन भागोंमें भी उनके अतिशय को विभक्त किया जा सकता है[३] किन्हीं आचार्यों ने शरीर वाणी भाग्य और आत्मा के सम्बन्ध को लेकर उनके असाधारण ऐश्वर्य को चार भागों में विभक्त कर दिया[४] है। पांच कल्याणकों की अपेक्षा पांच भेदोंमें, नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा छह भेदों में, और सात परमस्थानों की अपेक्षा उनके ऐश्वर्य या माहात्म्य को सात भेदोंमें भी परिगणित किया जाता[५] है। आठ भेदों में भी आचार्यो ने गिनाया है[६]। इस तरह तीर्थंकर भगवान की "श्री"—विभूति के सम्बन्ध में आचार्यों ने जो जो उल्लेख किया है वह उनके असाधारण माहात्म्य को प्रकट करता है।

यद्यपि भगवान् श्री वर्धमान स्वामी के समकालीन किसी किसी अन्य धर्मप्रवर्तक ने भी इस महत्ता को अपने में बताने का प्रयत्न किया था परन्तु उनका वह कार्य किस तरह अस्वाभाविक और असफल एवं अमान्य सिद्ध हुआ यह उनके दर्शन का ही सूक्ष्मतया एवं निष्पक्ष भाव से अध्ययन करने पर विदित हो जाता[७] है, यही कारण है कि श्री समन्तभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा में कहा है कि—

देवागम-नभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्[८] ॥१॥ इत्यादि।

१–तित्थयराण पहुत्तं, णेहो बलदेवकेसवाणं च। दुक्खं च सवित्तीणं तिण्णिवि परभाग पत्ताइं॥ अ० घ० टी०। २–अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः। आप्तमी०। आत्मानमधिकृत्य वर्तमानोऽध्यात्ममन्तरंगो. विग्रहादिमहोदयः शश्वन्निःस्वेदत्वादिः परानपेक्षत्वात्। ततो बहिर्गन्धोदकवृष्ट्यादि बहिरंगो देवोपनीतत्वात्। अष्टसहस्री ३–अष्टोत्तरसहस्रलक्षणादयो दश सहजाः शारीरातिशयाः।
देवकृताश्चतुर्दशातिशयाः। केवलज्ञाननिमित्तकाः दशातिशयाः।

प्रवचनसार गाथा १-८० के अनुसार द्रव्य गुण पर्याय इस तरह से भी तीन भेद कहे जा सकते हैं। यथा जो जाणदि अरिहंतं दव्वत्त गुणत्तपज्जयत्तेहि। सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयम्।

४–आदिपुराण।

५—६ प्र. सा. ज. १-२—तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं। तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो॥ इसमें सात अतिशयही गिनाये हैं। माहात्म्यको पृथक गिनने से आठ हो सकते हैं। अथवा अनन्तचतुष्टय, शारीर, वाचनिक भाग्य और दिव्य इस तरह भी आठ हो सकते हैं।

७—इसके लिये देखो बा० कामताप्रसाद जी द्वारा लिखित "भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध"।

८—यहांपर प्रयुक्त "मायाविषु "शब्दका स्वामी विद्यानन्दने अष्टसहस्रीटीका में "मस्करिप्रभृतिषु" ऐसा अर्थ

यहासे लेकर "सत्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्" यहां तक की ६ कारिकाओं के द्वारा उन्होंने जो कदाप्तताका निराकरण कर श्रीवर्धमान भगवान में ही सदाप्तता को सिद्ध किया है उसमें प्रयुक्त अकाट्य युक्तियां निष्पक्ष निकट संसारी भव्यों के हृदय पर विद्यानन्द स्वामी के समान सहज में ही असर कर जाती है और सत्यतत्त्व का श्रद्धान कराकर उन्हें मुक्तिके निकट पहुचा देती हैं।

तीर्थकरों की जो महत्ता है वह असाधारण है सत्य है और स्वाभाविक है अन्य ग्रन्थकारों ने भी अपने २ ग्रन्थों में अपने २ मत प्रवर्त्तकों की महत्ता बताते हुए अनेक बातों का उल्लेख अवश्य किया है परन्तु विचारशील विद्वानोंकी दृष्टि में वह इस बात को अवश्य स्पष्ट कर देता है कि उस वर्णन में अन्य किसी भी महान् व्यक्ति के सत्यभूत माहात्म्य का किसी भी तरह यहां सम्बन्ध जोड़ कर बतानेका तथा इसके लिये अनुकरण करने का प्रयत्न किया गया है या नहीं।

ऊपर भगवान की महत्ता के सम्बन्ध में हमने तीन बातें कही है—

असाधारण है, सत्य है, और स्वाभाविक है। असाधारण कहने से प्रयोजन यह है कि जिस तरह के और जो जो गुणधर्म तथा वैभव तीर्थकरों में रहते या रह सकते हैं उस तरह के और वे सब गुणधर्म तथा वैभव किसी भी अतीर्थकर व्यक्ति में न तो रहते ही हैं और न उत्पन्न हो सकते, न रह सकते न पाये जाते या न पाये ही जा सकते है। क्योंकि उस तरह के गुणधर्म तथा वैभवका कारण तो उनका तीर्थकर नाम का कर्म विशेष है जोकि नामकर्म का जीवविपाकी एवं सर्वोत्कृष्ट पुण्य कर्म का भेद है। वह अन्यत्र जहां नहीं पाया जाता वहां उसके उदय के अनुसार होने वाले कार्य भी किस तरह पाये जा सकते है। अतएव तीर्थकरों का वह अन्तरंग बहिरंग वैभव असाधारण ही हैं।

'सत्य है' यह कहने का आशय यह है कि वह बनावटी या कल्पित नहीं है। अपने महत्व को बताने की इच्छा से उस तरह के कार्य जानबूझ कर तैयार किये गये हो ऐसा नहीं है। इनके मूल में किसी भी प्रकार की माया वंचना प्रतारणा अथवा अपने महत्त्व को प्रकट करने की भावना आदि कोई भी प्रवृत्ति काम नहीं करती।

स्वाभाविक कहने से प्रयोजन यह है कि पूर्व जन्म के बन्धे हुए कर्म के उदय आदि के अनुसार ये स्वयं ही प्राप्त हुआ करते है —तीर्थकर प्रकृति और उसके साथ बन्धे हुए अन्य पुण्य कर्मो के उदय तथा उनके प्रतिपक्षी पापकर्मों का क्षय होजाने से योग्य नोकर्म के अनुसार समवसरणस्थ भगवान् की सभी क्रियाऐ स्वयं—नियति वश ही हुआ करती हैं। उनकी विहार स्थिति निषद्या और देशना रूप[1] प्रवृत्ति छद्मस्थ जीवों के समान इच्छा पूर्वक अथवा प्रयत्नपूर्वक नहीं हुआ करती। यही उनकी समस्तपरिणतियों के सम्बन्ध में समझना चाहिये। उनके ऐसे जो परिणमन पाये जाते

लिखा है। तथा आगे कारिका नं०२की टीकाके इस वाक्यसे भी कि "पूरणादिज्जसंभवी". मस्करी--मष्करिपूरण ही मुख्यतया लिया मालूम होता है।।

१—ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं। अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं। प्र० सा० १—४४।

हैं जोकि कर्म नोकर्म से सम्बन्ध रखते हैं वे न तो शुद्ध वस्तु के ही परिणाम है और न उनके घटपटादि के समान प्रयत्नसाध्य कार्य ही है। किन्तु उनका जो वैभव है उसके मूल कारण दो है — एक घातिक कर्मों का क्षय और दूसरा पुण्य कर्मों का उदय। जो पुण्य प्रकृतियां घातिकर्मों के उदय के कारण अपना कार्य करने या फल देने में असमर्थ रहा करती हैं वे घातिक कर्मों का क्षय हो जानेसे बिना विघ्नबाधा के अपना कार्य करने लगती हैं बल्कि विशुद्ध परिणामों के सहयोग को पाकर प्रकर्ष रूप में फल देनेमेही समर्थ नहीं होजातीं किन्तु अन्य योग्य अशुभ प्रकृत्तियों का भी अपने शुभ रूपमें संक्रमण कर लोकोत्तर एवं आश्चर्यकारी फल देने तथा कार्य करनेमें समर्थ होजाया करती हैं।

इसतरह नमस्य भगवान् के जिस असाधारण सत्य और स्वाभाविक वैभव को श्रीशब्द के द्वारा ग्रंथकार ने यहां बताया है उसका आशय विवक्षित धर्मके उपज्ञ वक्तृत्वकी तरफ दृष्टि दिलाने का है। क्योंकि तीर्थंकर ही धर्मरूप तीर्थके आदि प्रवर्तक हुआ करते हैं। और उनका यह कार्य तीर्थंकर नामकर्म के फलस्वरूप हुआ करता है, तीर्थ प्रवर्तन के लिये[१] जिस जिस बाह्य निमित्त की आवश्यकता हुआ करती है, वह सभी उनको प्राप्त हुआ करती है ग्रन्थकार ने देवागमनभोयानादि को आप्तमीमांसामें नमस्यताके लिये व्यभिचारी हेतु बताया हैं। किन्तु यहां पर यह बात नहीं है। उस बाह्य विभूतिको यहां पर व्यभिचरित बताने का आशय नहीं है यहां पर तो सभी तीर्थंकरों में पाई जाने वाली उस श्रीवर्धमानता को बताने से प्रयोजन है जोकि विवक्षित धर्म के नायकत्व अथवा आगमेशित्व यद्वा मोक्षमार्ग के नेतृत्व को सूचित करती हैं।

मतलब यह है कि यहां पर जिस धर्म का निर्देश तथा अंशतः वर्णन किया जायगा उसके नायक—मूलवक्ता श्रीवर्धमान भगवान् हैं। क्योंकि वे ही आगम के ईश है और वे ही मोक्षमार्ग के नेता हैं यह बात निम्नलिखित दो बातों पर से अधिक स्पष्ट होजासकती है —

प्रथम तो ग्रन्थकार ने नमस्य आप्तके कारिका नं० ५ में तीन विशेषण दिये है —उच्छिन्नदोषेण, सर्वज्ञेन, और आगमेशिना। यहां पर 'निर्धूतकलिलात्मने' कहकर जिस गुण का उल्लेख किया वही आगे चलकर उक्त कारिका नं०५ में उच्छिन्नदोषेण कहकर बताया है और इस कारिका के उत्तरार्ध में जिसका वर्णन किया है उसी गुण को वहां सर्वज्ञेन कहकर बता दिया है। इसी तरह कारिका नं०५ में आगमेशिना कहकर जिस योग्यता का निर्देश किया है उसीको यहां नमस्कार करते समय श्रीवर्धमान कहकर सूचित किया है। इस तरह पूर्वापर सम्बन्ध पर विचार करने से मालुम होता कि ग्रन्थकार का श्रीवर्धमानाय कहने से प्रयोजन या लक्ष्य उस तीर्थप्रवर्तन—आगमेशित्व—या मोक्षमार्गके नेतृत्वसे ही है जोकि सभी तीर्थकरोंमें पाया जाता है और जोकि सभी कृतज्ञोंके लिये ग्रन्थ के प्रारम्भ में अवश्य स्मरणीय है।

१—गणधर आस्थानभूमि आदि।

दूसरी बात यह है कि अन्य प्राचीन अर्वाचीन कृतियों पर दृष्टि देकर मिलान करने से भी यही बात स्पष्ट होती है।

उमास्वामी भगवान् ने मोक्षशास्त्र अपर नाम तत्त्वार्थ सूत्रके प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हुए[१] लिखा है कि—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

पाठक महानुभावों को यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि "भेत्तारं कर्मभूभृताम्" और "निर्धूतकलिलात्मने" का तथा 'ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां" और "सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते" का एक ही अर्थ है। इसी तरह "श्रीवर्धमानाय" और "मोक्षमार्गस्य नेतारं" का भी एक ही आशय है। यद्यपि यह ठीक है कि "श्रीवर्धमानाय" इस वाक्य में अन्तिम तीर्थकर का जिनका कि इस समय शासन प्रवर्त्तमान है, नाम भी आजाता है। इस मिलानसे भी श्रीवर्धमानाय कहने से मुख्य प्रयोजन धर्म के या तीर्थ के उपज्ञ वक्ता के उल्लेखका ही व्यक्त होता है। अनेक ग्रन्थकारों[२] ने वर्धमान का अर्थ २४ तीर्थकर किया है जैसाकि पहिले लिखा भी जा चुका है। इससे भी यही सूचित होता है कि सभी तीर्थकरों का जो सामान्य कार्य तीर्थप्रवर्त्तन है उसी को इस शब्द के द्वारा बताया है। और सबसे प्रथम उसका ही उल्लेख करने की इसलिये भी आवश्यकता मानी जासकती है कि प्रकृत ग्रन्थ के विषयके अर्थात् मूलवर्णनका सम्बन्ध इसी गुण से है। परन्तु वर्तमान में अन्तिम तीर्थकर भगवान् के शासन से इस विषयका सम्बन्ध है अतएव उनके नामका उच्चारण करते हुए मोक्षमार्गनेतृत्व गुणको इस शब्दके द्वारा सूचित किया है ऐसा समझना चाहिये ॥

'श्री' शब्द से छत्र चमर सिंहासन देवागम आस्थान भूमि आदि बाह्य विभूति भी लीजाती है, अत एव कदाचित् कोई समझ सकता है कि इन विभूतियों के कारण ही तीर्थकरों या महावीर भगवान की महत्ता है सो यह बात नहीं है। इस बातको ग्रन्थकारने अन्यत्र[३] स्पष्ट कर दिया है। इसका दिग्दर्शन पहले किया जा चुका है। कहा जा सकता है कि संभवतः इसीलिये यहां पर श्रीवर्धमानाय के साथ २ दूसरे दो विशेषण और भी दिये गये है जिनसे नमस्य भगवान की अन्तरंग महत्ताका परिज्ञान हो जाता है कि वे इसलिये ही नमस्य या प्रमाणभूत

१—आजकल कुछ लोग इस मंगलाचरण को उमास्वामी का न मानकर "सर्वार्थसिद्धि" टीका के कर्ता श्री पूज्यपाद स्वामी का मानते है। परन्तु वह ठीक नहीं है। टीका ग्रन्थों का आशय और अनेक आचार्यों के उल्लेख से यह बात मालूम होसकती है इसके सिवा जैसे ग्रन्थ स्तोत्र आदिके प्रारम्भिक शब्दोंके नामसे भक्तामर कल्याणमंदिर एकीभाव आदि नाम प्रचलित है उसी प्रकार मोक्ष शास्त्र नाम भी 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' की आदिमे 'मोक्ष' शब्द होने से ही प्रचलित है। २—प्रवचनसार के मंगलाचरण की जयसेनाचार्य कृत टीकामें लिखा है—"अव समन्तात् ऋद्धं वृद्धं मानं प्रमाणं ज्ञानं यस्य स भवति वर्धमानः"। इत्यादि।

३—आप्तमीमांसामे।

श्रेयोमार्ग के वक्ता नहीं हैं कि वे इस तरहकी विभूतिको धारण करते हैं। किन्तु वे इसलिये सत्य हितरूप पूर्वापरअविरुद्ध त्रिकालाबाधित शासनके विधाता हैं कि वे वीतराग एवं निर्दोष होने के सिवाय पूर्ण सर्वज्ञ भी हैं।

वचनकी प्रामाणिकता के लिये इन दो गुणोंका बताना आवश्यक भी था। फिर भी यहां कुछ बातें विचारणीय हैं। वीतरागता या निर्दोषताका उल्लेख करनेके बाद सर्वज्ञता का निदर्शन तो उचित ही है क्योंकि दोनो में कार्य कारणभाव है। वीतरागताके बिना सर्वज्ञता प्राप्त नहीं होती अत एव पहले कारण का और पीछे कार्यका उल्लेख क्रमानुसार वर्णन के लिये उचित तथा संगत ही है। फिर भी यह समझ लेना चाहिये कि सर्वज्ञता के लिये सामान्य वीतरागता नहीं अपि तु विशिष्ट एवं पूर्ण वीतरागता ही कारण है। क्योंकि सामान्य वीतरागता तो चतुर्थगुण स्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि के भी पाई जाती है परन्तु चतुर्थगुण स्थानसे सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती। और वास्तवमें किसी भी कार्य की सिद्धि के लिये समर्थ कारण वही माना या कहा जा सकता है जिसके कि प्रयत्न के अव्यवहित उत्तर क्षणमें ही कार्य की निष्पत्ति होजाय[१]। फलतः सर्वज्ञताके लिये सामान्य वीतरागता समर्थ कारण नहीं है यह स्पष्ट है।

इसी तरह वीतरागताके प्रतिपक्षी मोह कर्मके उदयका ग्यारहवें गुणस्थान में सर्वथा अभाव है परन्तु वहांसे भी सर्वज्ञता निष्पन्न नहीं हुआ करती। क्योंकि यद्यपि प्रतिपक्षी मोहकर्म की प्रकृतियां यहां पर उपशांत होगई है—प्रयत्न विशेषके कारण वे फल देने में कुछ कालके लिये असमर्थ होगई हैं परन्तु वे न तो निर्मूल ही हुई है और न उनकी सामर्थ्य ही सदा के लिये नष्ट हुई है। वास्तवमें उनका अभीतक कर्मत्व ही नष्ट नहीं हुआ है।

अतएव कहा जासकता है कि इस गुणस्थान की वीतरागता निरापद नहीं है, और इसीलिये सर्वज्ञताकेलिये जिस वीतरागता को कारण कहा जा सकता है वह बारहवें गुणस्थानके अंतिम भागकी वह विशुद्धि विशेष ही है जहां पर कि एकत्व वितर्क अवीचार नामका शुक्लध्यान अपना काम किया करता है; उसीमें यह सामर्थ्य है कि उसके होते ही ज्ञानावरणादि तीनों ही कर्मों का एक साथ निर्मूलन होजाया करता है। अतएव सर्वज्ञताके लिये सामान्य वीतरागता नहीं अपितु पूर्ण एवं विशिष्ट वीतरागता ही कारण है ऐसा समझना चाहिये। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये "निर्धूतकलिलात्मा" कहा गया है। निर्धूत से मतलब निर्मूलन—उच्छेदन से है जोकि अन्यत्र नहीं पाया जाता। और जिसके कि होने पर उक्त पापकर्मों का आत्माके साथ किसी भी प्रकार का और अंशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रहा करता।

१—निश्चयनयाश्रयेण तु यदनन्तरमोक्षोत्पादस्तदेव मुख्यं मोक्षस्य कारणमयोगिकेवलिचरमसमयवर्ति रत्नत्रयमिति निरवद्यमेतत्तत्त्वविदामाभासते। ततो मोहक्षयोपेतः पुमानुद्भूतकेवलः। विशिष्टकारणं साक्षादशरीरत्वहेतुना ॥९३॥ रत्नत्रितयरूपेणायोगकेवलिनोन्तिमे। क्षणे विवर्तते ह्येतदबाध्यं निश्चितान्नयात् ॥९४॥ व्यवहारनयाश्रित्या त्वेतत्प्रागेव कारणम्। मोक्षस्येति विवादेन पर्याप्तं तत्त्ववेदिनाम् ॥९५॥ श्लोकवार्तिक पृष्ठ ७१

दूसरी बात यह भी यहां विचारणीय है कि निर्धूतकलिलात्मा का अर्थ यहां वीतरागता करना चाहिये अथवा निर्दोषता ? प्रश्न यह होसकता है कि वीतरागता और निर्दोषतामें क्या अंतर है ? उत्तर सहज है कि मोहकर्म के अभावसे वीतरागता और सम्पूर्ण दोषोंके न रहने पर निर्दोषता हुआ करती है। दोष १८ गिनाये[1] है। वे मोहकर्मसे ही सम्बन्ध नहीं रखते। उनका सम्बन्ध आठों ही कर्मों से है। इस विषय का खुलासा आगे चलकर[1] किया जायगा। फिर भी संक्षेपमें इतना समझ लेना चाहिये कि वीतरागता और निर्दोषतामें विषम व्याप्ति है न कि सम-व्याप्ति। अर्थात् जहां जहां वीतरागता है वहां वहां निर्दोषता भी हो यह नियम नहीं है परन्तु जहां निर्दोषता है वहां वीतरागता अवश्य रहा करती है। क्योंकि आश्चर्य आदि दोषों के कारणभूत ज्ञानावरणादि का जहां तक उदय बना हुआ है वहां तक वास्तवमें वीतरागताके रहते हुए भी निर्दोषता नहीं कही जा सकती परन्तु यह बात सत्य है कि वीतरागताके होजाने पर ही निर्दोषता हुआ करती हैं। आगममें जिनेंद्र भगवान् को ही १८ दोषों से रहित बताया है नकि छद्मस्थ क्षीणमोह को। इस परसे वीतरागता और निर्दोषता में क्या अंतर है सो समझमें आसकता है। परन्तु यह विचारणीय है कि यहां पर निर्धूतकलिलात्मतासे क्या अभिप्राय लेना अधिक संगत और उचित प्रतीत होता है। उसका अर्थ वीतरागता करना अधिक उचित है अथवा निर्दोषता ? इसका विचार भी करना चाहिये।

पाठक महानुभाव ध्यान दें कि ग्रन्थकारने आगे चलकर कारिका नं० ५ में यहां जिसको नमस्कार किया उसीका स्वरूप बताया है। उसमें "निर्धूतकलिलात्मा" के स्थान पर "उच्छिन्न-दोष" शब्द का प्रयोग किया है। मतलब स्पष्ट है कि नमस्य आप्त का स्वरूप बताते हुए यहां जिस अर्थमें निर्धूतकलिलात्मा शब्द का प्रयोग किया है उसी अर्थ में वहां पर चलकर उच्छिन्न-दोष या उत्सन्न दोष[2] शब्द का प्रयोग किया है इससे मालूम होजाता है कि ग्रन्थकार को निर्धूतकलिलात्मा कहने से वीतरागता बताने का नहीं किन्तु निर्दोषता दिखानेका अभि-प्राय अभीष्ट है। और यह ठीक भी है क्योंकि निर्दोष कहनेसे तो वीतरागता अर्थ भी सम्मिलित हो ही जाता है। परन्तु यदि वीतरागता मात्र ही यदि अर्थ लिया जाय तो निर्दोषता का अर्थ नियमित रूपसे उसमें गर्भित होगया ऐसा नहीं कहा जासकता। अतएव निर्धूतकलिलात्माका अर्थ निर्दोषतारूप व्यापक धर्म से युक्त करना ही अधिक सुसंगत और उचित प्रतीत होता है। क्योंकि इस विषय में ऊपर भी लिखा जा चुका है अतएव इस विषय को दुहराने की आवश्यकता नहीं है यह बात स्वयं समझी जासकती है कि वास्तव में वीतरागताका सम्बन्ध जबकि केवल मोहनीय कर्मके अभावसे और निर्दोषता का सम्बन्ध सम्पूर्ण घातिककर्मों के निर्मूल होजाने के साथ साथ अन्य असाता वेदनीय आदि पापकर्मों के अपना अपना कार्य करने में असमर्थ होजाने से

१—क्षुत्पिपासा आदि कारिकाके व्याख्यान में। २—कहीं उच्छिन्न दोषेण और कहीं 'उत्सन्न दोषेण' दोनों ही तरह का पाठ पाया जाता है।

भी है तब वीतरागता के बदले निर्दोषता ही प्रधान और महान सिद्ध होती है। अतएव उसविशिष्ट धर्म को ही यहां बताना अधिक उचित एवं संगत प्रतीत होता है।

ऊपरके कथन से यह बात भी समझमें आसकती है कि जिस तरह नमस्यताके लिये बाह्य विभूति व्यभिचरित है उसी तरह पूर्ण प्रामाणिकताके लिये केवल वीतरागता भी छद्मस्थोंमें[1] भी पाये जाने के कारण व्यभिचरित है। अतएव श्रीवर्धमानताके द्वारा जिस तीर्थप्रवर्त्तनरूप गुण का उल्लेख किया है उसकी पूर्ण प्रामाणिकता को बतानेके लिये केवल वीतरागताका ही निदर्शन पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसके साथ में सर्वज्ञता का भी उल्लेख करना आवश्यक है। यही कारण है कि प्रकृत कारिका के उत्तरार्धमें ग्रन्थकार ने सर्वज्ञता का वर्णन किया है।

देशना की पूर्ण प्रामाणिकताके लिये जिन दो गुणों की—वीतरागता और सर्वज्ञताकी आवश्यकता है उनमें उत्पत्तिका क्रम भी ऐसाही है कि पूर्ण वीतरागता के होजाने पर ही सर्वज्ञता सिद्ध हुआ करती है। अत एव यहांपर भी वीतरागता का उल्लेख करके सर्वज्ञता का वर्णन किया गया है इसीलिये यह वर्णन क्रमानुगत है।

आत्माका असाधारण लक्षण रूप गुण चेतना है उसकी आगममें तीन दशाएं बताई गई है। कर्म फल चेतना, कर्म चेतना और ज्ञानचेतना[2]। इनमें से कारिकाके उत्तरार्ध में ज्ञानचेतना के जिस सर्वोत्कृष्ट—अन्तिमस्वरूपका निदर्शन है उसको दर्पणका दृष्टान्त देकर समझाया गया है। जिसका मतलब यह है कि जिस तरह दर्पण के सामने आये हुए सभी पदार्थ उसमें स्वयं प्रति-भासित होते हैं उसी प्रकार इस ज्ञान चेतनामें भी सभी लोक अलोक तथा उसके भीतर पाये जानेवाले द्रव्य तत्त्व पदार्थ और अस्तिकाय एवं गुण धर्म तथा त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्य पर्याय या अर्थ पर्याय[3] विनाक्रमके—युगपत्[3] प्रतिभासित हुआ करते हैं। जिसका आशय यह है कि उन भगवान की ज्ञान चेतना पूर्ण रूपमे और सदाकेलिये निर्विकार बन गई है तथा उसकी

१—बारहवे गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ होजाने पर भी छद्मस्थ है वह। पर असत्यवचनयोग आदि भी पाया जाता है यद्यपि वे वहा पर मोहकेअभावके कारण असमर्थ ही है। और केवल ज्ञानावरणके कारण ही माने गये है।

२—कः कि प्राधान्येन चेतयते इत्याह—"सर्वे कर्मफलं मुख्यभावेन स्थावरास्त्रसाः। सकार्यं चेतयन्ते ऽस्त-प्राणित्वा ज्ञानमेव च।" २—३५ टीका—चेतयन्तेऽनुभवन्ति। के ? सर्वे स्थावरा एकेन्द्रिया जीवाः पृथिवी कायिकादयः। कि तत् ? कर्मफलं सुखदुःखं। केन ? मुख्यभावेन। तथा चेतयन्ते। के ? त्रसा द्वीन्द्रियादयः। कि तत् ? कर्मफलम्। किंविशिष्टं ? सकार्यम्। क्रियते इति कार्यं कर्म। बुद्धिपूर्वो व्यापार इत्यर्थः। तेन सहितम्। कार्यचेतना हि प्रवृत्तिनिवृत्तिकारणभूतक्रियाप्राधान्येनोत्पद्यमानः सुखदुःखपरिणामः। तथा चेतयन्ते के ? अस्तप्राणित्वाः प्राणित्वमतिक्रान्ता जीवाः कि ? ज्ञानमेव। ते हि व्यवहारेण जीवन्मुक्ता. परमार्थेन परम मुक्ताश्च। मुक्ता एव हि निर्जीर्णकर्मफलत्वादत्यन्तकृतकृत्यत्वाच्च स्वतोऽव्यतिरिक्तस्वाभाविकसुखं ज्ञान-मेव चेतयन्ते। जीवन्मुक्तास्तु मुख्यभावेन ज्ञानं गौणतया त्वन्यदपि। ज्ञानादन्यत्रेदमहमितिचेतनं ह्यज्ञान-चेतना। सा द्विविधा कर्म चेतना कर्मफलचेतना च। तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना। ज्ञाना-दन्यत्रेदं चेतयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना सा चोभय्यपि जीवन्मुक्ते गौणी। बुद्धिपूर्वक कर्तृत्वभोक्तृत्वयो-रुच्छेदात् ॥अ०ध०॥ ३—अनन्तशक्तियोके पिंडसरूप द्रव्यकी जो अवस्थाएँ होती हैं उनको द्रव्य पर्याय और

स्वच्छता एवं निर्मलता पराकाष्ठाको प्राप्त कर चुकी है यद्यपि उसकी वृत्ति या प्रवृत्ति ध्रुवरूपसे अन्तर्मुख बन गई है परन्तु समस्त चराचर त्रैकालिक जगत् उसमें प्रतिक्षण प्रतिभासित रहा करता है। चेतनाका यह स्वभाव है कि—

पदार्थ उसमें प्रतिबिम्बित हों जिस तरह दर्पण का यह स्वभाव है कि उसके सम्मुख जो भी पदार्थ जिसरूप में भी उपस्थित होता है वह उसी रूपमें उसमें प्रतिफलित हुआ करता है चेतना की स्वच्छता इससे भी अधिक और विचित्र है उसमें विद्यमान और अविद्यमान अनन्तानन्त पदार्थ भी युगपत् प्रतिभासित हुआ करते हैं। जिसतरह दर्पण किसी पदार्थको देखनेका स्वयं प्रयत्न नहीं करता परन्तु जो भी उसके सम्मुख आता है वह स्वयं ही उसमे स्वभावतः दर्पण की स्वच्छता विशेषके कारण प्रतिबिम्बित हो जाया करता है उसी तरह सर्वज्ञकी चेतना पदार्थ को जाननेका स्वयं प्रयत्न नहीं करती जिस तरह छद्मस्थ—अल्पज्ञसंसारी जीवोंकी चेतना पदार्थ की तरफ उन्मुख होकर क्रमसे और योग्य पदार्थ को ही ग्रहण किया करती है वैसा सर्वज्ञकी चेतनामें नहीं हुआ करता। वह पदार्थों की तरफ उन्मुख नहीं हुआ करती स्वयं पदार्थ ही उसमें प्रतिभासित हुआ करते है। फिर वे पदार्थ चांहे विद्यमान हों चाहे अविद्यमान भूत भविष्यत्[1] और कितने ही प्रमाणमें क्यों न हों। "वह सभी पदार्थो को एक साथ ग्रहण कर लेती है" ऐसा जो कहा जाता है उसका तात्पर्य यही है कि उसमें सभी पदार्थ एक साथ प्रतिबिम्बित हो जाया करते है। चेतनाकी यह अवस्था जब होती है तब उसमें यह भी एक विशेषता आजाती है कि उसमें फिर किसी भी तरह की न्यूनाधिकता नही आया करती। जिस तरह संसारी जीवोंका ज्ञान न्यूनाधिक हुआ करता है वैसा सर्वज्ञका नहीं हुआ करता। वह अपने जिस पूर्ण रूपको धारण कर प्रकट होता है वह फिर अनन्त कालतक उसी रूपमें रहा करता है।

कोई २ दर्पण के स्थानपर श्रोताओ की कल्पना करके इस वाक्यका इसतरहसे अर्थ करते हुए देखे गये है कि "जिस तरह दर्पण में पदार्थ प्रतिबिम्बित हुआ करते है उसी तरह भगवान् का ज्ञान लोक अलोकके स्वरूपको श्रोताओं में प्रतिबिम्बित करदिया करता है।" सो ठीक नहीं है "दर्पणायते" क्रिया है, यद्विद्या उसका कर्त्ता है, "त्रिलोकानां" कर्म है, और "सालोकानां" कर्मका विशेषण है इस बातको ध्यान मे रखकर अर्थ करनेसे मालूम हो सकता है कि सर्वज्ञ के ज्ञानको ही दर्पणके स्थानापन्न समझकर अर्थ करना उचित एवं संगत है जैसा कि ऊपर किया गया है।

गुणोंकी जो अवस्थाएँ पलटती हैं उनको गुणपर्याय अथवा अर्थपर्याय कहते है। इनके विस्तृत भेदो और उनके लक्षणोंको जाननेके लिये देखो आलापपद्धति पंचाध्यायी आदि। परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्व पज्जाया। सो णेव ते वि जाणदि उग्गह पूव्वा हि किरियाहि ॥अ १ गा० २१॥ जे णेव हि संजाया खलु णट्ठा भवीय पज्जाया। ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा॥अ १ गा० ३८॥ जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समतदो सव्व। अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं॥ प्रवचन सार गा ४७॥ इत्यादि

[1]—देखो प्रवचनसार अ० १ गा० ३७, ३८, ३६।

दोष और आवरणकी हानि प्रकट करनेवाले दोनों वाक्यों का आशय ऊपर लिखा गया है। जिसका संक्षिप्त अभिप्राय इतना ही होना है कि जो वीतराग है, निर्दोष है और सर्वज्ञ है वही जीवों के हितरूप मार्गका वक्ता होनेके कारण कृतज्ञ विद्वानोंद्वारा नमस्य हो सकता है। किन्तु यहां पर प्रश्न हो सकता है कि जो भी सर्वज्ञ होते हैं वे नियम से जिस तरह वीतराग और निर्दोष होते है क्या उसीतरह नियमसे हितोपदेशी भी होते ही है? इसके उत्तर में जो विशेपता है वह समझ लेनी चाहिये। वह इस प्रकार है कि—

सर्वज्ञ जो होते हैं वे नियमसे वीतराग एवं निर्दोष होते हैं, इस का कारण उपर लिखा जा चुका है उससे मालूम हो सकता है कि वीतरागता सर्वज्ञताका कारण है और निर्दोषता कार्य है। मोहनीय कर्मके सर्वथा अभावसे जो वीतरागता उत्पन्न होती है वह सर्वज्ञता के लिये समर्थ कारण है; इसी तरह निर्दोषताकेलिये वीतरागता एवं सर्वज्ञता समर्थ कारण है। समर्थ कारण के मिलने पर नियमसे कार्य उत्पन्न हुआ करता है। अत एवसर्वज्ञताके साथ वीतरागता और निर्दोपता की व्याप्ति बन सकती है—कहा जा सकता है कि जो २ सर्वज्ञ है वह २ नियम से वीतराग है और निर्दोष है। किन्तु हितोपदेशकताके साथ इस तरहकी व्याप्ति नहीं है। क्योंकि ज्ञानका वचन के साथ नियत सम्बन्ध नहीं है। जो २ ज्ञानवान् हो वह २ वक्ता भी हो तो ऐसा नियम नहीं है। हां यह अवश्य कहा जा सकता है और यह सर्व मान्य होना चाहिये कि किसी भी वक्ताके वचनकी प्रामाणिकता उसकी वीतरागता निर्दोपता और ज्ञानपर निर्भर है। जो व्यक्ति जितना अधिक वीतराग और निर्दोष होनेके साथ साथ सम्यग्ज्ञानी है उसके वचन भी उतनेही अधिक प्रमाणभूत हुआ करते है। अत एव जो पूर्ण वीतराग है, पूर्ण निर्दोष और पूर्ण ज्ञानवान् है उसके वचन भी पूर्णतया प्रमाण ही है।

ठीक है, परन्तु इस कथन से तो इतना ही मालूम होता है कि पूर्णतया प्रमाणरूप वचन उसके ही माने जा सकते हैं—जो सर्वज्ञ है और वीतराग तथा निर्दोष है परन्तु इस से यह तो स्पष्ट नहीं होता कि जो जो इसतरहके सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा है वे वक्ता भी हों ही। अत एव संभव है कि कोई सर्वज्ञ वीतराग निर्दोष परमात्मा होकर भी ऐसा भी हो जो कि हितोपदेशी न हो सो क्या ऐसे ही है?

सत्य है, ऐसा ही है जहांतक सामान्यतया सर्वज्ञताका विचार है वहां तक तो ऐसा ही है कि सभी सर्वज्ञ वक्ता नहीं हुआ[१] करते इसके सिवाय यह भी है कि सर्वज्ञ होकर जो वक्ता होते है वे

१—आगममे अन्तकृत् केवली भी बताये है जो कि प्रत्येक तीर्थंकर के समय १०—१० हुआ करते हैं। जिन का कि वर्णन अन्तकृद्दशांग मे किया गया है ये घोर उपसर्ग के द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष को चले जाते हैं। राजवार्तिक मे सिद्धो के अनेक भेद बताये है उससे भी केवलियो के भेदों का पता मालूम हो सकता है, सत्ता स्वरूप मे पं० टोडरमलजी ने अरिहंतो के ७ भेद इस प्रकार बताये है १-पंचकल्याणक वाले तीर्थंकर २-तीन कल्याणक वाले तीर्थंकर, ३—दो कल्याणक वाले तीर्थंकर, ४—सातिशय केवली, ५—सामान्य केवली, ६—

भी सब मोक्षमार्ग के नायक नहीं हुआ करते। बात यह है कि सर्वज्ञ वक्ता भी दो प्रकार के हुआ करते है—१ तीर्थंकर और दूसरे अतीर्थंकर। जिन्होने सर्वज्ञता प्राप्त करने के पहिले तीर्थंकर नाम की सर्वोत्कृष्ट नामकर्म के एक भेदरूप पुण्य प्रकृति का बंध करलिया है वे सर्वज्ञ होने पर तीर्थंकर वक्ता कहे जाते है; और जिन्होंने इस कर्म का बंध न करके ही सर्वज्ञता प्राप्त की है वे अतीर्थंकर सर्वज्ञ है। इस तरह के अतीर्थंकर सर्वज्ञों केलिये नियम नहीं है कि वे वक्ता भी हों हीं। जो तीर्थंकर सर्वज्ञ हुआ करते है वे अवश्य ही वक्ता हुआ करते हैं और वे ही तीर्थ के प्रणेता-मोक्ष मार्ग के नायक—जगज्जीवों के हृद्वर्त्ती मोहान्धकार के हर्त्ता—सर्वोत्कृष्ट पुण्य विभूतिके भर्त्ता—त्रैलोक्याधिपतियों के द्वारा अर्चनीय पूजनीय वन्दनीय और नमस्य[१] हुआ करते हैं। इस विभूतिके कारण ही उनका पद सांसारिक आभ्युदयिक पदों में सबसे महान् माना जाता है। इसी विभूति के कारण वर्तमान शासन के नायक भगवान् का कृतज्ञतावश ग्रन्थकारने यहां पर "श्रीवर्धमान" शब्दके द्वारा स्तवन तथा स्मरण किया है।

यद्यपि यहां पर एक प्रश्न और भी हो सकता है कि तीर्थ शब्द से क्या अर्थ समझना चाहिये इसके उत्तर में अनेक विषय विवेचनीय है। उनका वर्णन करने पर विवेचन बहुत अधिक बढ़ जायगा अतएव इस सम्बन्धमें अधिक न लिखकर थोड़ासा संक्षिप्त परिचय दे देना ही ठीक प्रतीत होता है।—

तीर्थ इस शब्दके साधन भेदके अनुसार अनेक अर्थ हो सकते हैं कर्तृसाधन, कर्मसाधन, करणसाधन, भावसाधन आदि। अतएव निरुक्तिके अनुसार तीर्थ शब्दका अर्थ पार उतारनेवाला, पार गया या पहुँचने वाला, पार उतरने का उपाय या पार उतरना आदि होता है। किन्तु इसका सम्बन्ध आत्माके साथ है इसलिये जो व्यक्ति संसार से पार उतरने वाले है वे तीर्थ कहलाते[२] हैं। जो स्वयं संसार से पार होचुके है या पार होने वाले है उनको भी तीर्थ कहते[३] है। संसार से छूटने का जो मार्ग—साधन—उपाय[४] है वह भी तीर्थ कहा जाता है संसारको छोड़नेरूप क्रिया का नाम भी तीर्थ[५] है। इसी तरह और भी अनेक तरहके हो सकते है। परन्तु यहां पर भाव

उपसर्ग केवली, ७—अन्तकृत् केवली। इनका स्वरूप समझनेसे मालूम होजायगा कि सभी सर्वज्ञ वक्ता नहीं हुआ करते।

१—"जस्स इणं तित्थयरणामगोदकम्मस्स उदएण सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स अच्चणिज्जा पूजणिज्जा वंदणिज्जा णमंसणिज्जा णेदारा धम्मतित्थयरा जिणा केवलिणो हवंति"। षट्खण्डागमबन्धस्वामित्व सूत्र ४२।

२—५— तृ धातुसे थ प्रत्यय लगाने पर तीर्थ शब्द बनता है। निरुक्ति के साधन भेदो की अपेक्षा अथवा उपमा आदि-गर्भित अर्थों की अपेक्षासे अथवा वक्ताके आशय भेदके अनुसार यह शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ करता है। अतएव प्रकरण के अनुसार इसका अर्थ समझलेना चाहिये। तीर्थ शब्दके विभिन्न अर्थ कोष के द्वारा तथा आगमके टीका ग्रन्थो से जाने जासकते है। यथा—"तीर्यते संसारसागरः (येन यतो वा) त्रिप्‌लवधातो-थॅक्. पानुवधे." धर्मश्चारित्रं सएव तीर्थः, नीर्थानां तीर्थभूतपुरुषाणां तीर्थे शास्त्रे, तीर्थं गुरुः, अथवा तीर्थं जिनपूजनं, अथवा तीर्थं पुण्यक्षेत्रं, अथवा तीर्थं पात्रं त्रिविधं, "उक्तं च"—दर्शन खीरजो योनि पात्रं सत्रा गुरुः श्रुतं पुण्यक्षेत्रावतारो च ऋषिजुष्टजल तथा। उपायश्री विद्वांसस्तीर्थमित्यूचिरे चिरं"। आदि

अर्थ मुख्य है इसलिये संसार के कारणों से हटना और शुद्ध आत्मस्वरूप की सिद्धि के साधन में लगना ऐसा प्रकृतमें तीर्थ शब्दका आशय लेना चाहिये।

तीर्थंकर शब्दका अर्थ भी उक्त तीर्थ की उत्पत्ति के अनुकूल स्वतंत्र सामर्थ्य तथा योग्यता रखने वाला और उसका प्रवर्तन करने करानेवाला होता है। इस योग्यता का सीधा सम्बन्ध तीर्थंकर नामकी नामकर्म को प्रकृतिके उदयसे है। यह नामकर्म की प्रकृति जीवविपाकी[१] है। अतएव उसके द्वारा जीव में ही वह योग्यता उत्पन्न हुआ करती है जिसके कि द्वारा वह जीव समस्त योग्य प्राणियों को आत्महित-श्रेयोमार्गका स्वरूप बताकर सर्वोत्कृष्ट अभयदान करने में समर्थ हुआ करता है।

इस कर्मप्रकृतिके बन्धकी कारण दर्शन विशुद्ध्यादि सोलह भावनाए हैं जिनका स्वरूप आगम[२] में विस्तार पूर्वक बताया गया है। इस कर्मके बन्ध के साथ दूसरी भी अनेक योग्य पुण्य प्रकृतियों का बन्ध हुआ करता है। तथा उसके उदय के कारण वह जीव जगत में अनादि अविद्या का उच्छेदन कर श्रेयोमार्गका प्रवर्तन करने में नियमतः— नियतिवश ही प्रवृत्त हुआ करता है। इनके उपदेश को ही तीर्थ,— शासन—धर्म—मोक्षमार्ग आदि शब्दों से कहा जाता है। इनके उपदेश को जो भी प्राणी सुन लेता है वह अवश्य ही श्रीवर्धमान बन जाता है—उसकी अनादि अविद्या दूर होकर पूर्ण अन्तरंग श्री प्रगट हो जाती है और वह मोक्ष मार्ग में बढने लगता है। इस तरह के तीर्थंकर सर्वज्ञों के सिवाय और भी अन्य अनेक सर्वज्ञ हुआ करते हैं तथा वे भी उपदेश कदाचित् दिया करते हैं परन्तु न तो उनका उपदेश नियत[३] ही है और न उनके उपदेश में यह निश्चित सामर्थ्य है कि उसको सुननेवाला नियमसे संसार से पार हो जानेकी सामर्थ्य या योग्यता को प्राप्त [४]करले। मतलब यह है कि दूसरे जो अतीर्थंकर सर्वज्ञ है वे स्वयं संसारसे

स० श्रु० टी० ४। "मुक्त्युपायो भवेत्तीर्थम्" आदिपुराण १-३६। "गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवोधणेहिं जदि उसिदा। तित्थं कधं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवओ॥" भ० आ० २००७। इत्यादि

१—देखो गो० कर्म कांड गाथा ४८ से ५१ के अनुसार कुल जीवविपाकी प्रकृतियां ७८ हैं। यथा—

अट्ठत्तरि अवसेसा जीवविवाई मुणेयव्वा ॥४८॥

२. तत्वार्थसूत्र अ. ६ सूत्र २४ की टीका सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक श्लोकवार्तिक सिद्धनन्दी टीका आदि षट्खण्डागम बन्धस्वामित्व सूत्र नं० ४१ और उसकी धवला टीका में इनका सुन्दर और विस्तृत वर्णन पाया जाता है। दोनों ही स्थानो के वर्णन में नाम तथा उनकी व्याख्या आदि मे जो जो विशेषताएँ हैं उन प्रकरणोंको देखकर जानी जा सकती है।

३. तिलोय पण्णत्ती ... . यथा—

पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे मज्झिमाय रत्तीए। छच्छघडिया णिग्गइ दिव्वझुणी कहइ सुतत्थे॥

यह नियम तीर्थंकरो की अपेक्षा से है।

४. इसके लिए देखो—पद्मचरित हरिवंशपुराण मुनिसुव्रत काव्य आदिसे स्पष्ट होता है कि तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि सुननेसे अवश्य सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

तरनेवाले हैं किन्तु उनमें स्वयं तरने के साथ साथ दूसरोंको भी तारने की एक निश्चित सामर्थ्य नहीं रहा करती और जो तीर्थंकर सर्वज्ञ होते है उनमें ये दोनों ही–स्वयं तरने और दूसरोंको भी तारने की सामर्थ्य निश्चित रूपमें पाई जाती है और वह सामर्थ्य भी अपने योग्य समयपर नियत रूपसे [1]कार्य किया करती है।

ऊपर जिस सामर्थ्य या योग्यता का उल्लेख किया है वह उनकी अन्तरंग असाधारण श्री कहलाती है। और उनको जो अष्ट [2]प्रातिहार्य [3]समवशरणादि अनुपम विभूति प्राप्त है वह बाह्य श्री कहलाती है। इनमें से अन्तरंग श्री प्रधान है। क्यों कि संसार से तारने की सामर्थ्य उसीमें है तथा बाह्य श्री में भी जो माहात्म्य अतुलित है वह अन्तरंग श्री के कारण ही [4]है। अतएव समीक्षक परीक्षक मुमुक्षुओं के लिए अन्तरंग श्री ही मुख्यतया वन्दना स्तुति नमस्कार आदि का विषय मानी जा सकती है इस श्री से सभी तीर्थंकर वर्धमान रहा करते है। तदनुसार अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वमी भी उससे युक्त थे—वे भी श्रीवर्धमान थे। परन्तु उनमें यह विशेषता है कि वे केवल अर्थ की अपेक्षासे ही नही अपितु नामनिक्षेप की अपेक्षा से भी श्रीवर्धमान है। यही कारण है कि सभी बातों को दृष्टिमें रखकर कृतज्ञ ग्रन्थकर्ताने अपने इस प्रारम्भित ग्रन्थकी आदिमें उनका स्मरण किया है और उनको नमस्कार किया है।

श्रीवर्धमान भगवान्‌ने आत्मस्वरूप एवं उससे लगे हुए कर्मोंके स्वरूप भेद आदिको भले प्रकार जाना तथा उनके पृथक्करणके उपाय को भी अच्छीतरह जानकर काममें लिया फलतः समस्त कर्मोंसे उन्होंने अपनेको मुक्त करलिया। पूर्णतया मुक्त होने के पूर्व उन्होंने उस सम्पूर्ण तत्त्व एवं रहस्यका उन सभी संसारी जीवोंको[5] परिज्ञान कराया जो कि उसे जानना

---

१. रत्नत्रयरूप श्रेयोमार्ग और उसके विषयभूत सम्पूर्ण तत्त्व द्रव्य पदार्थ अस्तिकाय एवं सभी सम्बन्धित विषयों का पूरा विवेचन इसी अन्तरंग योग्यता के कारण हुआ करता है।

२. अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च। भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्। संस्कृत पूजापाठ।

३. आदिशब्दसे अवतरणादि कल्याणकों के समय देवों के द्वारा किये जाने वाले ग्राम गृहादि रचना रत्न वृष्टि पितृपूजा आदि, केवलज्ञान के बाद विहार कालमे देवकृत अतिशयों का होना आदि, निर्वाण होजानेपर उनकी यथाविधि अन्त्यक्रिया तथा सिद्धिस्थान की नियुक्ति इत्यादि ग्रहण कर लेना चाहिये।

४. क्योकि तीर्थंकर प्रकृतिके साथ जो प्रायः सभी अविरुद्ध पुण्य प्रकृतियां बन्धती है उनका मूल भी वह तीर्थंकृत्त्व भावना ही है। तथा तीर्थकृत्व प्रकृतिके उदय मे आनेपर अन्तराय कर्मके नष्ट हो जानेसे पुण्य प्रकृतियां अपना यथावत् निर्विघ्नरूपसे पूर्णतया कार्य करनेसे समर्थ हो जाया करती है। अथवा–
'पाषाणात्मा तदितरसमः केवलं रत्नमूर्तिर्मानस्तम्भो भवति च परस्तादृशो रत्नवर्गः। दृष्टिप्राप्तो हरति स कथं मानरोगं नराणां प्रत्यासत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्तिहेतुः" (वादिराज सूरिकृत एकीभाव)

५—जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं, जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं॥ सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा, किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं॥ प्र०सा० अ० १—८१—८२।

चाहते थे, जन्म जरा मरण आदिसे खिन्न होकर उसका निर्मूल उच्छेदन करने के वास्तविक उपाय को जाननेकी जो इच्छा रखते अथवा उसतरहकी योग्यताको धारण करनेवाले थे। उनका यह सर्वांगपूर्ण ज्ञानदान ही अभयदान, तीर्थ, जैनशासन, मोक्षमार्ग आदि नामोंसे कहा जाता है उसको अच्छीतरह जानकर तथा समझकर भी सभी लोग उसका यथेष्ट पालन करने में समर्थ नहीं रहा करते। अत एव शक्ति आदिके भेदके कारण उसके पालन करने वालोंके अनेक भेद हो सकते हैं। फिर भी सामान्यतया उनको तीन भागोंमें विभक्त कर दिया गया है। प्रथम वे है जोकि वतायेगये मार्ग के अनुसार पूर्णतया चलते और श्रीवर्धमान भगवान् की अवस्थाको प्राप्त करलेने की साधना में तत्पर रहते हैं। दूसरे वे है जो कि अन्तरंग या बहिरंग कमजोरियोंसे पराजित रहने के कारण प्रथम प्रकार की साधनामें प्रवृत्त न होकर अंशतः उसका पालन करते और पूर्ण साधना के स्थान को प्राप्त करलेनेके प्रयत्नमें रहा करते हैं। तीसरे वे है जो कि आंशिक रूपमें भी पालन करनेमें समर्थ न होकरभी उसमार्गकी सिद्धि करने का अंतरंगमें दृढ निश्चय कर चुके है। उस मार्गको ही आत्मकल्याणका सच्चा साधन मानते, फलतः उसीमें जिनकी श्रद्धा रुचि और प्रतीति है। अत एव शक्तिभर मार्ग में आगे बढने का ही त्रियोग पूर्वक प्रयत्न किया करते है। प्रथम नम्बर वालोंको साधु मुनि अनगार आदि शब्दोंसे कहा जाता है दूसरे नम्बर वालोंको संयता-संयत देशव्रती श्रावक आदि नामोंसे कहा गया है और तीसरे स्थान वालोंको अव्रत सम्यग्दृष्टि, असंयत, श्राद्ध आदि नामोंसे बोला जाता है ये उतम मध्यम जघन्य स्थान भगवान् के प्ररूपित मार्गपर चलनेकी तरतमताके कारण माने गये है। किंतु तत्त्व ज्ञान और श्रद्धानकी अवस्थाओंके भेदसे इस भेद प्ररूपणा में अनेक तरहसे प्रकारान्तरता भी है जो कि आगमके अध्ययन से जानी जा सकती हैं।

ऊपर भगवानकी जिस प्ररूपणा या तीर्थका उल्लेख किया है, जो कि संसार समुद्रसे पार होने का निर्बाध सत्य एवं सर्वोत्कृष्ट हित रूप असाधारण साधन है उसीका यहां आचार्यप्रवर श्री समन्तभद्रस्वामी वर्णन करना चाहते हैं। किन्तु इस वर्णन के सम्बन्धमें सबसे प्रथम एक बात जानलेना जरूरी है।—

आचार्योंकी यह परम्परा है कि वे धार्मिक देशनाके प्रारम्भमें उसके पूर्ण रूपका ही वर्णन किया करते है जिसके कि पालन करनेपर श्रोता भव्य ऊपर लिखे अनुसार प्रथम नम्बरका साधक—साधु—महाव्रती मुनिके रूपमें अपनेको परिणत करके और उस मोक्षमार्गका अभ्यासकर या तो उसी भवसे अथवा कुछ भवोंके बाद संसारसे सर्वथा मुक्त कर लिया करता है। फलतः सबसे पहले मोक्षमार्ग के पूर्ण स्वरूपका वर्णन करना श्रेयस्कर है और वैसा न करना अयोग्य एवं अनुचित माना[१] गया है। क्योंकि पूर्ण स्वरूपको न बताकर यदि संसारसे तरने के आंशिक स्वरूपका ही उल्लेख किया जाय

१—बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति, तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥१७॥ यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः, तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥१८॥ अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः, अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥ पुरुषा०।

तो उत्साही श्रोताके विषयमें संभव हो सकता है कि वह शीघ्रही संसारसे पार होने के मार्ग का पालन करने में समर्थ होते हुए भी उससे वंचित हो जाय। क्योंकि धर्मका आंशिक आराधन निर्वाणका साक्षात् साधन नहीं है और उस श्रोताको धर्मके पूर्ण स्वरूपका बोध प्राप्त न होकर यदि आंशिक ही परिचय मिलता है तो अवश्य ही वह उतने अंशमें ही तृप्त होकर उत्कृष्ट हितमार्ग से वंचित रह जासकता है। उसके इस अहितका उत्तरदायित्व क्रमभंग करके वर्णन करनेवाले ग्रन्थकर्त्ता या वक्ता पर आता है। अत एव वक्ताके लिये उचित यही है कि श्रोताके सम्मुख वह सबसे प्रथम धर्म के पूर्ण स्वरूपका ही प्रतिपादन करे। हा, वैसा करके जो उसका यथावत् अथवा यथेष्ट पालन करने में समर्थ नही है उनको लक्ष्य करके यदि पीछे आंशिक धर्मका व्याख्यान करता है तो वह अनुचित न कहा जाकर प्रशंसनीय ही माना जाता है।

प्रकृत ग्रन्थकर्त्ताने भी अपनी इस रचना मे उक्त आचार्य परम्पराका बराबर ध्यान रक्खा है। उसके अनुसार उन्होने पहले धर्मके पूर्णस्वरूपका निर्देश किया है और बादमें आंशिक धर्मका वर्णन किया है।

आगमकी स्याद्वादपद्धतिसे परिचित विद्वानोंको यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है कि वक्ता आम्नायका पालन करते हुए अपने विवक्षित किसी भी विषयको गौण या मुख्य बनाकर वर्णन करने आदिके विषयमें स्वतंत्र रहा करता है। वह आगम और आम्नायकी सीमाका उल्लंघन न करके अपने निरूपणीय विषयका प्रतिपादन करने में अपनी स्वतंत्रताका यथेच्छ उपयोग कर सकता है। यही कारण है कि यहां पर ग्रन्थकर्त्ताने आम्नाय के अनुसार प्रथम धर्मके पूर्णरूपका उल्लेख करके आंशिक धर्म—संयमासंयम—देशव्रत अथवा श्रावकधर्मका मुख्यतया वर्णन किया है। इस विवक्षा और तदनुसार किये गये वर्णनके अनुकूल ही इस ग्रन्थका नाम "रत्नकरण्ड श्रावकाचार" ऐसा प्रसिद्ध है।

यद्यपि ग्रन्थके उपान्त्य उल्लेखसे[१] ऐसा मालुम होता है कि आचार्यने इसका नाम "रत्न-करण्ड" ही रक्खा है। परन्तु इसमें मुख्यतया श्रावकधर्मका वर्णन है अतएव इसके साथ "श्राव-काचार" शब्द भी जोड दिया गया है।

आगमके अनुसार "श्रावक" शब्दसे प्रतिमारूपमें व्रत धारण करनेवाला ही लिया जाता है जैसा कि आगे इसी ग्रन्थके उल्लेखसे[२] विदित हो सकेगा। उसीके व्रतरूप धर्मका इसमें मुख्यतया किंतु सूत्ररूपमें स्वामीने वर्णन किया है इसलिये इसका नाम "रत्नकरण्डश्रावकाचार" प्रसिद्ध है।

अब यहांपर संसारसे पार होनेके उपायभूत धर्मतीर्थका लक्षण तथा फल बताते हुए और अपनी लघुता प्रकट करते हुए आचार्य उसके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

१—"येन स्वयं वीतकलंकविद्या-दृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम्।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव, सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥१४६॥ र० क०

२— श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु। स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥१३६॥ र० क०।

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसार दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥

अर्थ—मैं उस समीचीन, कर्मोंका निवर्हण–संवरण एवं निर्जरण करने वाले धर्मका प्रतिपादन कर रहा हूँ जोकि प्राणियोंको संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें उपस्थित करदेता है।

इस कारिकाके विषयमें भी १-प्रयोजन, २-शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ, और ३-तात्पर्य, इस तरह तीन प्रकारसे विचार किया जायगा।

१—प्रयोजन

संसारी प्राणी समस्त दुखोंसे सदाकेलिये उन्मुक्त हो और शाश्वतिक उत्तम सुखका उसे लाभ हो, जैसाकि श्लोकके उत्तरार्धमें बताया गया है, इस व्याख्यानका मुख्य प्रयोजन है। इस प्रयोजनकी सिद्धिका वास्तविक उपाय धर्म है अतएव उस धर्मके स्वरूपका ही आचार्य यहां निरूपण करेंगे जैसाकि उनके प्रतिज्ञावाक्यसे स्पष्ट होता है।

प्रश्न यह हो सकताहै कि इस धर्मके उपदेशकी आवश्यकताही क्या उपस्थित हुई? साथ ही यह कि ग्रन्थकर्त्ता इस कार्यमें पड़े, इसका क्या कारण है?[1] दोनों ही प्रश्नोंका उत्तर विचारणीय है।

सबसे प्रथम विद्वानोंको इस बातपर दृष्टि देनी चाहिये कि उत्तम या सत्पुरुषोंका स्वभावही निरपेक्षतया परोपकार करनेका रहा करता है। वे साहजिक रूपसे ही दूसरोंकी भलाईमें प्रवृत्त हुआ करते हैं। दूसरोंके कल्याण करनेमें अपने लाभालाभका विचार करना मध्यम या जघन्य पुरुषों का काम है[2]। अतएव ख्याति लाभ पूज्यता आदि किसीभी ऐहिक प्रतिफलकी आकांक्षाके विना ही केवल परोपकारकी भावनाने ही ग्रन्थकर्त्ताको इस कार्यकेलिये प्रेरित किया है। यश अथवा अर्थलाभकेलिये जो ग्रन्थनिर्माण किया जाता है वह उत्तम पुरुषोंमें प्रशंसनीय नही माना जाता[3] संसारके सभी सम्बन्धोंसे सर्वथा विरत जैनाचार्यों की कोई भी कृति अथवा रचना ख्याति लाभ या पूज्यता के लिये ही न तो अबतक हुई है और न वैसा होने का कारण ही है। क्योंकि वे तो अध्यात्मनिरत वीतरागता के उपासक मुमुक्षु हुआ करते हैं। इसलिये उनकी यदि किसी कार्य में प्रवृत्ति होती है तो उसके दो ही कारण हो सकते हैं; या तो आत्मकल्याण के किसी भी अपने साधन की विवशता अथवा आवश्यकता या दुःखपूरित संसारकूप में पडते हुए जीवों को देखकर दयापूर्ण दृष्टिसे प्रेरित होकर उनके उद्धार की भावना। एक परम दयालु केलिए यह

१—"नहि प्रयोजनमन्तरा मन्दोऽपि प्रवर्तते" इत्युक्तेः।

२—"परार्थं स कृतार्थोऽपि यदैहिष्ट जगद्गुरु। तन्नूनं महतां चेष्टा परार्थैव निसर्गतः" आ०पु० १-१८८। तथा "एके सत्पुरुषाः परार्थघटका स्वार्थं परित्यज्य ये, सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये। तेऽमी मानुषराक्षसा परहितं स्वार्थाय निघ्नंति ये। येनिघ्नन्तिनिरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥" इति लोकोक्तेः (भर्तृहरि) अथवा—"अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्"। इति च लोके।

३—श्रोता न चैहिकं किंचित् फलं वाञ्छेत् कथाश्रुतौ। नेच्छेद्वक्ता च सत्कारधनभेषजसंश्रयान् ॥१-१४३॥
श्रेयोऽर्थं केवलं ब्रूयात् सन्मार्गं शृणुयाच्च वै। श्रेयोर्था हि सतां चेष्टा न लोकपरपङ्क्तये ॥आ० पु० १४४॥

संभव भी कैसे हो सकता है कि वह समर्थ रहते हुए भी रक्षणीय व्यक्ति की उपेक्षा करदें[1]। अत एव समझना चाहिये कि आचार्यों की परमदयाभाव से प्रेरित [2]साध्वी परोपकारिणी सद्भावना ही इस ग्रन्थके निर्माणमें अन्तरंग और मुख्यतया वास्तविक कारण है। जगत के जीवों का अज्ञान और कषाय छुडाकर संसार रूपी दुःख पूर्ण अन्धकूपमें ढकेल देनेवाली दुःप्रवृत्तियोंसे सावधान कर कल्याण के वास्तविक मार्ग को बता देना ही सच्चा उपकार है। इस उपकारके लिए ही ग्रन्थकर्त्ता प्रकृत ग्रन्थ के निर्माण कार्य में प्रवृत्त हुए है, ऐसा समझना चाहिये।

अब प्रश्न रह जाता है कि धर्म के उपदेश की ही आवश्यकता क्यों उपस्थित हुई ? यद्यपि सामान्यतया इस प्रश्नका उत्तर ऊपर के कथन से हो जाता है फिर भी इस विषय में जो कुछ विशेषता है उसका यहां उल्लेख करना भी उचित प्रतीत होता है।

बात यह है कि संसारी प्राणीको वास्तविक हित से वंचित रखनेवाली दो तरह की प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। एक अन्तरंग और दूसरी बाह्य। अथवा अगृहीत-अनादि स्वाभाविक और गृहीत परोपदेशादि के द्वारा उत्पन्न होनेवाली। मन वचन काय की अपने अपने इष्ट अनिष्ट विषयों में जो जीवकी प्रवृत्ति होती है वह उसके अहितका बाह्य कारण है। और इन विषयों में जो इष्ट अनिष्ट कल्पना होती है उसका जो वास्तविक कारण है वही उसके अहितका अन्तरंग कारण है। मूलभूत यह अन्तरंग कारण भी और कुछ नहीं, जीवका अतत्त्व श्रद्धान ही है अनादि कालसे जीव के साथ जो मोहकर्म लगा हुआ है इसके उदयवश इस जीव को तत्त्व का श्रद्धान नहीं होता। इस अतत्त्व श्रद्धान को ही मिथ्यात्व कहते हैं। क्यो कि वह वास्तविक एवं सत्यभूत वस्तुस्वरूप तथा आत्मस्वरूप से जीव को वंचित करनेवाला भाव है। अनादि कालसे यह भाव जीव के साथ लगा हुआ है उसीको अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। कदाचिद् दूसरोंके मिथ्या उपदेश को सुनकर जो अतत्त्वमें श्रद्धा होती है उसको गृहीत मिथ्यात्व कहते है। दोनोंका वास्तविक कारण मोह-दर्शन मोह का उदय ही है। दोनो में अन्तर का यदि कुछ कारण है तो बाह्य कारण की निरपेक्षा और सापेक्षा ही हैं इस मिथ्यात्व भावके कारण जीवकी कषाय वासनाएं भी अत्यन्त तीव्र अथवा इस मिथ्यात्वभाव के अनुकूल यद्वा अविरुद्ध ही अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्त हुआ करती है इस कषाय भावना को ही क्षोभ शब्द से आगम में कहा है। इस तरह ये अनादि अथवा कथंचित् [3] सादि मोह क्षोभ भाव ही जीव के अहितके [4]कारण है। निसर्गतः परोपकारमें निरत तत्वज्ञानी इसी दुक्ख अथवा अहित के वास्तविक एवं अंतरंग कारण की निवृत्ति के लिए उपदेश दीया करते हैं उसीका नाम धर्मोपदेश है। इस धर्मोपदेशकी पद्धति अनेक

१—"कूपे पिपतिषुर्बालो नहि केनाप्युपेक्ष्यते," क्षत्रचूडामणि।

२—यथा—"हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः" पंचाध्यायी

३—परोपदेशकी अपेक्षा सादि भी कहा जा सकता है।

४—"दव्वादि एसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति। खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा ॥८१॥ मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स। जायदि विविधो बन्धो तम्हा ते संखइतव्वा ॥८२॥ अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य मणुव तिरियेसु। विसएसु अप्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥८३॥ प्र०अ०१।

प्रकार की है परन्तु सबमें सरल तथा मुख्य सर्वसाधारण के द्वारा भले प्रकार एवं अधिक से अधिक प्रमाण में उपयोग हो सके—पालन किया जा सके वह पद्धति यह है कि उक्त मोहक्षोभके कारण जो जीवोंकी मन वचन काय की इस तरह की प्रवृत्ति हो रही है कि जो उन्हीकी[1] संतति चालू रहने में कारण है उन प्रवृत्तियों से जीव की निवृत्ति कराई जाय। ऐसा होनेसे मोहक्षोभ थोडेसे काल में निर्मूल हो जा सकते है। कारण कि असमर्थता अथवा अप्राप्तिमें कार्यका जीवित रहना अथवा उत्पन्न होना अशक्य है।

इस तरहसे संसारके उक्त कारणोंकी निवृत्तिकेलिये जो उपाय बताया जाता है उसीका नाम धर्मोपदेश है। इस धर्मतीर्थके प्रवर्तनके कारणही तीर्थंकर भगवान् अथवा श्रीवर्धमान भगवान् सब से प्रथम वन्द्य हैं। उसी प्रकार उनके मार्गका अनुसरण करना भी उनके भव्य भक्त मुमुक्षुओंका कर्तव्य है। ग्रन्थकर्त्ताका भी इस प्रकृत ग्रन्थके निर्माणमें यही प्रयोजन है।

प्रश्न—श्रेयोमार्गके साधक मुनियों एवं आचार्योंको आत्मसाधनमें ही निरत रहना चाहिये परोपकार करनेकी इच्छा और तदनुकूल प्रवृत्ति तो सराग भाव है। उससे तो उन्हें बचना चाहिये। ऐसी हालतमें इस प्रवृत्तिका क्या कारण है?

उत्तर— ठीक है। आगममें भी ऐसाही कहा है कि साधुओंको आत्महित ही सिद्ध करना चाहिये। किंतु साथमें यह भी कहा है कि यदि शक्य हो तो परहितमें भी उन्हें प्रवृत्त होना चाहिये[2]। इसका आशय यही है कि आत्महित और परहित दोनोंमें आत्महित मुख्य एवं प्रथम उपादेय है। परन्तु परहितमें प्रवृत्ति भी साधुपदके विरुद्ध नहीं है। तथा साधारणतया सभी साधु इस तरहके नहीं हुआ करते कि जिनको बाह्य प्रवृत्ति करनी ही न पड़े। अतएव उपदेशादिकमें प्रवृत्तिका साधुओंके लिये आगममे निषेध नहीं है[3]। फिर भी यह ठीक है कि यह प्रवृत्ति शुभोपयोग रूप है, और आजकल जबकि शुद्धोपयोग संभव ही नहीं है तब शुभोपयोग रूप प्रवृत्तियां ही तो साधुके लिये शेष रह जाती है। हां! यह ठीक है कि वे क्षोभरहित होनी चाहिये। शल्य, ख्याति आदिकी भावना गारव आदि दोषोंसे रहित होनी चाहिये।

दूसरी बात यह है कि परोपकारमें स्वोपकार भी निहित ही है परोपकार दो तरहसे संभव है। एक तो पूर्णतया वीतराग व्यक्तियोंके द्वारा जैसाकि आगे चलकर कारिका नं०८में आप्त-परमेष्ठी के विषयमें कहा जायगा दूसरा निरवद्य तथा शुभसराग बुद्धिसे। पहिले प्रकारका उपकार जहां तक वक्ता सराग अवस्थामें है वहां तक संभव नहीं है। ग्रन्थकर्ता महाव्रती होनेसे निरवद्य शुभकर्ममें प्रवृत्त हो सकते हैं। और ऐसा करने पर उनके गौणतया संवर निर्जरा तथा मुख्यतया सातिशय पुण्यकर्म बंध होनेसे स्वोपकार भी होता ही है। यद्यपि वे उस पुन्यकर्मको न तो वास्तवमें उपादेय ही मानते हैं और न खास उसके लिये ही परोपकारमें प्रवृत्ति करते है। वैसा

---

[1]—अर्थात मोह क्षोभ की दूसरे शब्दों मे मिथ्यात्व कषाय की अथवा संसार के कारण की।
[2]—आदहिद कादव्वं जइ सक्कइ परहिद च कादव्वं। आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं।
[3]—देखो प्रवचनसार अ० ३ गाथा ४६, ४७' ४८ आदि।

करनेपर तो पुण्यकर्मका अतिशय भी नष्ट हो जा सकता है[1] । अतएव ग्रन्थकर्त्ता तो इस कार्य में निरपेक्ष बुद्धिसे संसारी प्राणियोंको दुःखरूप अवस्थासे निकालनेके लिये सत्य शक्य समीचीन सदुपायका जो कि पूर्ण वीतराग भगवानके द्वारा ही कहा गया है वर्णन करनेमें प्रवृत्त हुए हैं। यही इस प्रवृत्तिका प्रयोजन है।

शब्दोंका सामान्य–विशेष अर्थ—

देशयामि—दिश धातु तुदादिगणकी है। उत्तम पुरुषके एकवचनमें इसका प्रयोग दिशामि होता है। किंतु स्वार्थमें अथवा प्रयोजक अर्थमें णिच् प्रत्यय करनेपर "देशयामि" ऐसा प्रयोग हो सकता है। दिश्‌का अर्थ अतिसर्ग–देना होता हैं। स्वार्थकी अपेक्षा प्रयोजक अर्थमें णिच् प्रत्यय करके इस क्रियापदका प्रयोग अधिक सुन्दर एवं उचित अर्थका द्योतक प्रतीत होता है। क्योंकि उससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि सर्वज्ञ भगवान् तथा गणधर देवने जिस धर्मका व्याख्यान किया है उसीका मैं यहां प्रतिपादन करता हूँ[2] । ऐसा कहनेसे अपनी लघुता प्रदर्शित होनेके सिवाय प्रतिपाद्य विषयकी सर्वज्ञपरम्परानुगति तथा स्वतः प्रामाणिकता प्रकट हो जाती है।

धर्म शब्दका स्वयं ग्रंथकारने ही आशय कारिकाके उत्तरार्धमें निरुक्त्यर्थ बताते हुए स्पष्ट कर दिया है। शेष शब्दोंका अर्थ प्रसिद्ध एवं स्पष्ट है फिर भी सत्त्व शब्दपर थोडा ध्यान जरूर देना चाहिये।

क्यों कि यहांपर सत्त्व शब्द सत्ता आदि अर्थका वाचक तो नहीं ही है, और आगम में प्रसिद्ध संसारी जीवों के चार भेदों–जीव, सत्त्व, प्राणी और भूत, इनमेंसे एक भेद– सत्त्वकाभी वाचक नहीं है। यहांपर तो सामान्यतया संसारी जीव अर्थ अभीष्ट है जिसका अर्थ होता है कि किसीभी तरह के दुःख से पीडित आत्मा[3] ।

विशेषण का फल इतर व्यावृत्ति होता है। व्याख्येय धर्मोंके स्वरूप भेद एवं असाधारण वैशिष्ट्य को बताने के लिए ग्रंथकारने तीन विशेषणोंका प्रयोग कीया है समीचीन कर्मनिवर्हण ये दो विशेषण जिसतरह इतर व्यावृत्ति तथा विशेषता को बताने के लिए दिये हैं उसीतरह उत्तरार्धका पूरा वाक्य भी दोनों प्रयोजनों को लक्ष करके लिखा गया है। इनमेंसे पहला समीचीन विशेषण पापरूप मिथ्या एवं सर्वथा दुःखरूप इस तरह के धर्मसे व्यावृत्ति के लिए दिया गया हैं। जिसका कि इस लोक तथा परलोक में दुःखके सिवाय और कोई फल ही नहीं है अथवा जो स्वयं दुःखरूप है।

गौ के दूध को दूध कहते हैं परन्तु आंकडा आदि वनस्पतियों के दूध को भी लोकमें दूध

1—पुण्णं पि जो समीहदि संसारो तेण ईहिदो होदि । दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि ॥

2—यं दिशन्ति अतिशयन्ति वा अर्थतः सर्वज्ञदेवा ग्रन्थतो गणधरदेवाश्च तमेवाहम् प्रयोजकत्वेन देशयामि । सर्वज्ञोक्तमाचार्यपरम्परानुगतमेव धर्मस्वरूपमिदाहं वर्णयामि नान्यत इत्याशयः ।

3—सीदन्तीति सत्त्वाः ।

शब्दसे ही कहा जाता है[१]। इसी तरह अमृत के समान अजर अमर सुखशांतिके प्रदाता रत्नत्रय को जिसका कि यहां दर्शन कीया जायगा धर्म कहते है, किंतु लोक में मिथ्यात्व मोह कषाय अज्ञान तथा हिंसा आदि पापाचारको भी धर्म शब्दसे बोलते हैं जो कि दुःखरूप संसारमें भ्रमण का ही कारण है। इस तरह के धर्मको वास्तव में अधर्म ही समझना चाहिये। इस अधर्म से बचानेके लिए ही समीचीन विशेषण दिया गया है क्यों कि वे समीचीन नहीं हैं। दुःखरूप भ्रमण के ही कारण हैं अथवा स्वयं भी दुःखरूप हैं। समीचीन विशेषण के द्वारा उक्त अधर्मसे निवृत्ति हो जाती है। परन्तु समीचीन शब्द से भी दो तरह के अर्थ का बोध होता है; एक तो शुभ और दूसरा शुद्ध। जो केवल सांसारिक सुखों का कारण है वह शुभ और अनेक अभ्युदयोंके लाभके सिवाय उनका कारण होकर भी जो मुख्यतया संसार निवृत्ति[२] का कारण है वह शुद्ध कहा जाता है[३]। समीचीन विशेषण के द्वारा शुभ और शुद्ध कर्म दोनों का भी बोध हो सकता है अतः निवर्हण शब्दके द्वारा शुद्ध धर्म का बोध यहां कराया गया है। क्यों कि शुभोपयोगरूप धर्म दो तरह से संभव हैं। एक सम्यक्त्व सहचारी और दूसरा मिथ्यात्व सहचारी। कर्मोंकी वास्तव में संवर निर्जरा तबतक संभव नही है जबतक कि सम्यग्दर्शन के द्वारा आत्मद्रव्यमें शुद्धता प्राप्त नहीं हो जाती। अंतरंग में जिसको यह शुद्धि प्राप्त है वही जीव कर्मोका निवर्हण नाश करनेवाले धर्मसे युक्त माना जाता है और वही उस धर्म के वास्तविक फलकों—संसार और उसके दुःखोंसे निवृत्त होकर संसारातीत अवस्था और अनन्त अव्याबाध सुखको जोकि इस कारिका के उत्तरार्धमें बताया गया है प्राप्त किया करता है। किन्तु गौणतया सम्यग्दर्शनसे शुद्धआत्माके शुभोपयोग को भी कथंचित शुद्ध कहा और माना जा सकता है।

इस तरह इन दोनों विशेषणों द्वारा धर्मके द्वैविध्यको यहांपर प्रगट कर दिया गया है। ये दो भेद भिन्न २ शद्वों के द्वारा कहे जा सकते है। व्यवहार और निश्चय, शुभ और शुद्ध परम्परा कारण साक्षातकारण इत्यादि। इनका विशेष वर्णन करनेवाले आगम ग्रन्थोंका अध्ययन कर इनके स्वरूप का भले प्रकार जिज्ञासुओंको ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और उसको जानकर अविरोधेन प्रवृत्ति करनी चाहिये।

उत्तम सुखः— पूर्वार्धमें धर्मका स्वरूप बताकर उत्तरार्धमें इसके फलका निर्देश किया गया है। धर्मका फल 'सुख' इतना ही न बताकर उसे उत्तम विशेषण से युक्त करके बताया गया है। मतलब यह कि यहांपर जिस धर्मके स्वरूप का निर्देश किया गया है या जिसका इस ग्रन्थ में वर्णन किया जायगा उसका वास्तविक फल सामान्य सुख नही किंतु एक विशिष्ट सुख— लोकोत्तर सुख है।

१—लोके विषामृतप्रख्यभावार्थः क्षीरशब्दवत्। वर्तते धर्मशब्दोऽपि तत्तदर्थोऽनुशिष्यते॥ अन-१-८६

२—संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुवरायविहवेहिं। जीवस्स चारित्तादो दंसणणाणपहाणादो। प्र.सा. १-६ अथवा यस्मादभ्युदया पुंसां निश्रेयसफलाश्रयः वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरयः॥ यशस्तिलक। तथा अनगार धर्मामृत।

३—जइ जिणमवं पवंजई ता मा ववहार णिच्छए मुयह। एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं

यों तो देखा जाता है कि सुख शब्दका प्रयोग अनेक अभीष्ट विषयों में होता है किंतु आचार्यों ने इसका प्रयोग मुख्यतया चार अर्थों में बताया[१] है— विषय, वेदनाका अभाव, विपाक और मोक्ष। वैभव ऐश्वर्य आदि अथवा इन्द्रियों के विषय यदि मनोहर हों तो सुख शब्दसे कहे जाते हैं। पुण्य कर्मोंके उदय को भी सुख शब्दके द्वारा कहा जाता है। इस तरह ये तीन अर्थ हैं जो कि कर्म के उदयादिकको किसी न किसी प्रकार अपेक्षा रखते हैं। चौथा अर्थ मोक्षसे है जोकि कर्मकी अभाव की अपेक्षा रखता है। फलतः यह चारों अर्थ दो भागोंमें विभक्त हो जाते है—एक सांसारिक और दूसरा नैःश्रेयस। ये दोनों ही सुख तत्त्वतः परस्पर में अत्यंत विरुद्ध जातिके है। दोनोंका स्वरूप भिन्न २ है, दोनों के कारण भी भिन्न २ ही हैं। सामान्यतया दोनोही सुख शब्द से कहे जाते है। परन्तु वास्तव में एक हेय और दूसरा उपादेय है। जिस धर्म का यहां व्याख्यान किया जायगा उसका वास्तविक फल उपादेय अथवा नैःश्रेयस सुख है; इस बातको बताने के लिए ही सुखका उत्तम विशेषण दिया गया है।

सांसारिक सुखकी अपेक्षा नैःश्रेयस सुखकी उपादेयता एवं उत्तमताका परिज्ञान उनके स्वरूप और कारणों को जान लेनेपर हो सकता है अतएव स्वयं ग्रंथकारने आगे चलकर अपने इसी ग्रन्थ में दोनोही सुखों के स्वरूप एवं कारणों का यथावसर निर्देश कर दिया है।

प्रश्न हो सकता है कि ऐसी अवस्था में प्रकृत धर्म नैःश्रेयस सुखका ही कारण हो सकता है न कि सांसारिक सुखोंका। फिर सांसारिक सुखोंका कारण क्या है? इस प्रश्नका उत्तर धर्मकी विभिन्न दशाओंका स्वरूप समझ लेनेपर सहज ही हो सकता है। यहां आगेकी कारिकामें धर्मके स्वरूपका सामान्यतया उल्लेख किया जायगा, परन्तु उसके अंतरंग बहिरंग के कारण भेदोंके साहचर्यवश अनेक भेद हो जाते है। कारण भेदके अनुसार कार्य भेदका होना स्वाभाविक है। जिस धर्मका यहां व्याख्यान किया जायगा उसके द्रव्य और भाव इस तरह से तथा सराग और वीतराग इसतरह से दो भेद है।

विवक्षित धर्मके घातक बाधक या प्रतिपक्षी मुख्यतया मोह और योग है। मोहके उपशम क्षय क्षयोपशमके होने पर जो आत्मामें विशुद्धि प्रकट होती है वही वास्तविक एवं भाव रूप अन्तरंग धर्म है। उसके रहते हुए या कदाचित न रहते हुए भी जो बाह्य रूपमें असंयम रूप

---

१ १—विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च। लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते। अमृतचन्द्र आचार्य तत्त्वार्थसार।

२—[illegible] आत्मा [illegible]। र० क० टीका

३—सर्वो वाञ्छति [illegible] तत्त्वार्थसार। [illegible]

४—[illegible]॥ [illegible]॥ [illegible]

प्रवृत्तियोंका परित्याग[१] होता है उसको बहिरंग एवं द्रव्य रूप धर्म कहते हैं। इन्द्रियों तथा मनके विषयसे निवृत्ति, हिंसा आदि पापोंका त्याग, एवं द्यूतादि महाव्यसनोंसे उपरति और अन्य सावद्य प्रवृत्तियोंका परिहार आदि बहिरंग धर्म हैं। इस बहिरंग धर्मकी अन्तरंग धर्मके साथ नियत अथवा समव्याप्ति नहीं है। ऐसा नियम नहीं है कि जहां २ यह बहिरंग धर्म हो वहां २ अन्तरंग धर्मभी अवश्य ही रहे। क्योंकि यह बहिरंग धर्म मोहनीय कर्मके उपशम क्षय क्षयोपशम के विना केवल मन्द मन्दतर मन्दतम उदयकी अवस्थामें भी हुआ करता है। फिर भी यह सत्य है कि इस तरहका केवल बहिरंग धर्म भी अनेक अभ्युदयोंके कारण भूत पुण्य बन्धका कारण होने के सिवाय अन्तरंग धर्मकी सिद्धिमें भी एक कारण[२] अवश्य है। इसके विपरीत अन्तरंग धर्मकी बहिरंग धर्मके साथ यह व्याप्ति अवश्य है कि जहां २ जिस २ प्रमाणमें अन्तरंग धर्म पाया जाता है वहां २ उसके प्रतिपक्ष बाह्य असंयत प्रवृत्तिका अभावभी अवश्य ही रहा करता है। ऐसा नहीं होता कि जहां जिस प्रमाणमें अन्तरंग धर्म प्रकट होगया है या विद्यमान है वहां उसके विरुद्ध असंयत प्रवृत्तिभी होती रहे। उदाहरणार्थ अनन्तानुबन्धी ४ कषाय तथा दर्शन मोहनीय कर्मके उपशमादिसे सम्यग्दर्शन रूप धर्म प्रकट होता है ऐसी अवस्थामें यह कभीभी संभव नहीं हो सकता कि जब तक वह सम्यग्दर्शन विद्यमान है तब तक मिथ्यात्व या अनन्तानुबन्धी कषायके उदयके निमित्त से होने वाली बाह्य असंयत प्रवृत्तियां भी होती रहें। अन्यथा करणानुयोग में बन्ध व्युच्छित्ति आदिके बताये गये नियम ही असंगत हो जायगे और संसार मोक्षकी वास्तविक व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। न करणानुयोग सिद्धान्त शास्त्रके साथ चरणानुयोगके उपदेशों की संगति ही बैठ सकेगी। अतएव यह सिद्ध है और स्पष्ट है कि अन्तरंग धर्मके अनुकूल बाह्य प्रवृत्ति अवश्य होती है। इसलिये चतुर्थ गुणस्थानवर्तीको "असंयत" कहकर जो उसकी प्रवृत्ति आहार विहारादिमें अनर्गल बताना चाहते हैं वे गलती पर हैं और उनका इस तरहका कथन उत्सूत्र समझना चाहिये। इसी तरह जो बाह्य धर्मको अन्तरंग धर्मका कारण नहीं मानते वे भी तत्त्वसे विपरीत हैं। इससे भी अनर्गलताकी पुष्टि और वृद्धि होती है तथा सन्मार्गके वास्तविक कार्य कारण भावका भंग होता है। इसलिये अन्तरंग और बहिरंग धर्मकी मैत्री तथा अनुकूल कार्य कारणताको समझ कर चलना ही सर्वथा उचित है। यहां पर यह बात अवश्य ही ध्यानमें रखनी चाहिये कि द्रव्यरूप और भावरूप अथवा अन्तरंग और बहिरंगरूप धर्म वास्तव में धर्म शब्दसे भी तभी कहे या माने जा सकते हैं जबकि उनमें परस्पर मित्रता हो। दोनोंमें विरोध रहते हुए किसीको भी धर्म शब्दसे नहीं कहा जा सकता। द्रव्यरूप धर्मको छोड़कर भावरूप धर्म नहीं रह सकता और न भावरूप धर्मका विरोधी रहने पर द्रव्यरूप धर्म ही समीचीन धर्म माना जा सकता है। क्योंकि वास्तविक धर्म वही है जिससे कर्मोंका निबर्हण हो जो वस्तुतः

१—इन्द्रियोंके विषय तथा हिंसा झूठ चोरी आदि पापोंके त्यागका नाम संयम और उनके त्याग न करनेको असंयम कहते हैं।

२—अन्तरंग धर्मकी सिद्धिमें बाह्य धर्म कारण है, न कि करण। कारण और करणमें क्या अन्तर है, यह

निर्वाणका कारण हो भावरूप निश्चय धर्मको छोडकर केवल व्यवहार धर्मका ही सेवन अथवा व्यवहारको छोडकर केवल निश्चयका ही सेवन करनेवाला कर्म निवर्हण या निर्वाण रूप फलको प्राप्त नहीं कर सकता[१]। यही कारण है कि जिस तरह आगममें व्यवहारको हेय बताया है उसी प्रकार केवल निश्चयको भी मिथ्या ही कहा है 'समीचीन' और 'कर्म निवर्हण' विशेषणों का आशय स्पष्ट करते हुए ऊपर जो शुभ-पुण्यरूप या पुण्य बन्धके कारण भूत धर्मकी गौणता बताई है, उसका अभिप्राय भी यही है कि अन्तरंग निश्चय रूप धर्मके सिद्ध हो जाने पर ही वास्तवमें व्यवहार हेय है क्योंकि कार्य सिद्ध होजाने पर फिर कारणकी आवश्यकता नहीं रहा करती परन्तु जब तक निश्चय धर्मकी योग्यता या शक्ति प्राप्त नहीं होती और वह प्राप्त नहीं होता वहां तक तो व्यवहार धर्म ही शरण है तब तक वह हेय नहीं है। क्योंकि उसके प्रारम्भमें आलम्बन लिये बिना निश्चय धर्म भी सिद्ध नहीं हो सकता। हां, जो व्यवहार धर्मका निश्चय की सिद्धिके लिये पालन नहीं करता उसका वह व्यवहार धर्म कदाचित् निर्वाणका कारण न होकर संसारका ही कारण हो सकता है। अतएव जो मुमुक्षु हैं उनको चाहिये कि निश्चय और व्यवहार दोनोंका ही स्वरूप समझे और दोनोंके ही शुद्ध अशुद्ध सद्भूत असद्भूत आदि भेदों को भले प्रकार समझकर अपनी शक्ति एवं योग्यताके अनुसार सापेक्षतया दोनोंका ही पालन एवं[२] धारण करे।

ऊपर धर्मके सराग और वीतराग इस तरहसे भी दो भेद बताये हैं। इन दोनोंका स्वरूप शब्दों परसे ही समझमें आ सकता है। जहां तक धर्मका रागके साथ सम्बन्ध पाया जाता है वहां तक सराग धर्म कहा जाता है, और जहां रागके साथ सम्बन्ध नहीं रहता वहां पर वीतराग धर्म कहा जाता है। गुणस्थानोंकी अपेक्षा चौथे गुणस्थानसे दशवें तक सराग और उसके ऊपर वीतराग धर्म हुआ करता है।

आगममें कर्मोंके बन्धके कारण मोह और योग माने[३] है। इनमें भी मुख्य कारण मोह है। मोहके तीन भेद हैं—दर्शनमोह कषाय वेदनीय और नो कषाय वेदनीय। कषाय वेदनीयका एक भेद अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहके भेद रूपमें भी बताया है और चारित्र मोहके भेदमें भी गिनाया है। सम्यग्दर्शन रूप धर्म अपने प्रतिपक्षी कर्मोंके उपशम क्षय क्षयोपशम होने पर जब आविर्भूत होता है वहीं से अन्तरंग वास्तविक धर्म प्रकट होता है। परन्तु जहां तक उसका शेष मोहके उदयके साथ साहचर्य बना रहता है वहां तक वह सराग माना जाता है यही कारण है।

आगेकी व्याख्यासे विदित होगा परन्तु यह बात जरूर ध्यानमें रखनी चाहिये कि कारणके बिना भी कार्यकी सिद्धि न तो होती ही है और नहीं हो सकती है। अन्यथा उसको कारण भी किस तरह कहा जा सकेगा।

१—"निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।" आप्तमीमांसा। २—व्यवहारमभूतार्थं प्रायो भूतार्थविमुखजनमोहात्। केवलमुपयुञ्जानो व्यञ्जनवद्भ्रश्यति स्वार्थात्॥ अन० अ० १—९९। व्यवहार पराचीनो निश्चयं यश्चिकीर्षति। बीजादिना बिना मूढः स सस्यानि सिसृक्षति॥१००॥ भूतार्थं रज्जुवत्स्वैरं विहर्तुं वंशवन्मुहुः। श्रेयो धीरैरभूतार्थो हेयस्तद्विहृतीश्वरैः॥१०१॥ ३—इसके लिये देखो अनगार धर्मामृत अध्याय १ श्लोक १०२ से ११० तक।

कि[1] इस सराग धर्ममें अंशांशि भाव माना गया है। धर्म और राग दोनोंकी मिश्रित अवस्थाके कारण उसका दोनों दृष्टियोंसे विचार किया गया है। इसमें जो सम्यग्दर्शनादिक आत्माका शुद्ध अंशरूप धर्म है वह तो संवर निर्जरा एवं मोक्षका ही कारण है; वह किसीभी तरहके कर्म बन्धका कारण नहीं है। किन्तु उसके साथ जो राग भाव लगा हुआ है वह बन्धका कारण[2] है। इससे यह बात समझमें आजायगी कि धर्मको जो अभ्युदयका कारण कहा जाता है वह भी सर्वथा अतात्त्विक नहीं है। धर्मके सहचारी रागके कारण होने वाले बन्धका-सांसारिक अभ्युदयों के कारण भूत कर्मोंके बन्धका कारण उपचारसे धर्मको भी कह दिया जाता है। यद्यपि यह ठीक है कि धर्मके सहचारी तथा व्यभिचरित रागमें बहुत बडा अन्तर एवं विशेषता है। यही कारण है कि विशिष्ट एवं अनेक[3] सातिशय अभ्युदय ऐसे है जिनके कि कारण भूत पुण्य कर्म विशेषों का बन्ध धर्मके सहचारी रागके निमित्तसे ही हुआ करता है। जो कि धर्मसे व्यभिचरित रागके द्वारा न तो होता ही है और न संभव ही है। धर्मको उपचारसे अभ्युदयका कारण कहनेमें यही निमित्त[4] है। आगे चलकर प्रकृत ग्रन्थमें भी सम्यग्दर्शनादिके जो अनेक[5] आभ्युदयिक फल बताये है वे भी इसी कारण वास्तविक धर्मके सहचारी भिन्न २ शुभ रागरूप परिणामोंके ही वस्तुतः फल समझने चाहिये। फलतः स्पष्ट है कि निश्चय धर्मके साहचर्यके विना जो अभ्युदय प्राप्त हो नहीं सकता उसकी प्राप्तिमें निश्चय धर्मको कारण कहना भी अयुक्त तथा मिथ्या नही है। इस तरहके सराग धर्मके आधार पर ही तीर्थ प्रवर्तन संभव हो सकता है।

तात्पर्य—

आप्तपरमेष्ठी सर्वज्ञ वीतराग श्रीवर्धमान भगवान्ने—अर्थतः और उसके ज्ञाता एवं वक्ता—प्रवर्तक श्री गौतमादिगणधर देवने समीचीन धर्म के भिन्न २ अपेक्षाओंसे नाना प्रकार बताये हैं। परन्तु उन सभी प्रकारोको सामान्यतया चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। १—वस्तुस्वभाव,[6] २—उत्तम क्षमादि दशलक्षण, ३—रत्नत्रय, ४—दया। वस्तु स्वभावका विचार द्रव्यानुयोगमें विस्तार पूर्वक और भिन्न २ दृष्टियोंसे कियागया है। जिज्ञासु मुमुक्षुओंको वह सबसे प्रथम अवश्य समझलेना चाहिये। क्योंकि उसका ज्ञान प्राप्तहुए विना न तो अन्य विषयोंका ठीक

१—"सप्तैते दृष्टिमोहनम्" पंचाध्यायी और तत्त्वार्थ सूत्र तथा धवला।

२—येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति॥ येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बँधन नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति॥ येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बँधनं भवति। पुरुपार्थ०। तथा येनांशेन विशुद्धिः स्याज्जन्तोस्तेन न बँधनम्। येनांशेन तु रागः स्यात्तेन स्यादेव बन्धनम्॥ ११०। अनगार। किंच—"रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य। आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगस्य सोयमपराधः अ० १ अन० टी १—६१,

३—अनुदिश आदिमें उत्पत्ति, तथा सौधर्मेन्द्रादि पदका लाभ, या मनुष्य भवमें चक्रवर्ती तीर्थंकर जैसे पद॥ ४—क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि—"प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्त्तते।" ५—इसके लिये देखो रत्नकरण्ड श्रावकाचार कारिका नं० ३६ से ४१ तक, तथा ३३, ३४।

६—प्रवचनसार—वत्थुसहावो धम्मो आदि।

ठीक परिज्ञान ही प्राप्त हो सकता है और न अभीष्ट विषयमें सफलता ही प्राप्त हो सकती है। कारण यह है कि सभी विषय मूलभूत वस्तुस्वभावसे ही सम्बन्धित है और उसीपर आधारित हैं। इसके सिवाय बात यह भी है कि जिस उपाय से आत्मा निर्वाण को प्राप्त होता है वह भी वस्तु स्वभाव से भिन्न नहीं तद्रूप[२] ही है।

वस्तु अनन्तगुण धर्मों का अखंडपिंड है। और वह उसका अनाद्यनन्त स्वभाव है। उसमें जो अनेक विप्रतिपत्तियां[३] उपस्थित है उनका निराकरण स्याद्वाद पद्धतिसे जैनागम के अनुसार वस्तु स्वभावके समझलेने पर सहजही हो जाता है। क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग भगवान्‌के द्वारा प्रतिपादित होनेके कारण तथा वस्तुस्वभाव को ठीक २ समझाने एवं समस्त विरोधोंका परिहार करने में समर्थ यह "स्याद्वाद" सिद्धान्त एक ऐसी नीति—युक्ति–रीति या पद्धति है जोकि समस्त प्रश्नोंका समाधान करने एवं सभी विरोधों–आपत्तियोंको दूर[४] कर वस्तुका यथावत् स्वरूप प्रकट करने में समर्थ है। इस नीतिका प्रतिपादन जैनागमके सिवाय अन्यत्र कहीं भी नहीं पाया जाता इसके द्वारा यह बात भी स्पष्ट हो जाती है-अनुमान द्वारा जानी जा सकती है कि जिसने इस उपायको बताया है वही उपेय–वस्तुस्वभावका भी यथार्थ एवं पूर्णतया ज्ञाता तथा वक्ता माना जा सकता है निष्पक्ष सदाग्रही मुमुक्षुओं को चाहिये कि उसी के वचनोंके आधार पर चलने में अपना हित समझें।

ऊपर जैसा कि कहागया है कि वस्तु अनन्तगुणधर्मोंका अखण्डपिंड है यही कारण है कि उसके स्वरूपका परिज्ञान करानेके लिये आचार्योंने उसका जो भिन्नभिन्न दृष्टियोंसे प्रतिपादन किया है वह परस्पर में विरोध नहीं रखता[५]।

आचार्योंने द्रव्योंके स्वरूप का विचार अनेक प्रकारसे किया है। या तो सर्वसामान्य अस्तित्वकी दृष्टिसे या उसके विशेष–गुणपर्यायों-गुण-धर्मों-चित् अचित्, मूर्त अमूर्त, काय अकाय, सक्रिय निष्क्रिय, एवं सत् असत्, एक अनेक, नित्य अनित्य, तत् अतद् आदि तथा साधर्म्य वैधर्म्य, तिर्यक् सामान्य, ऊर्ध्वतासामान्य, स्वभाव विभाव, शुद्ध अशुद्ध प्रभृति विवक्षित अविवक्षित विशेषणों को मुख्य तथा गौण रखकर नाना तरहसे विचार तथा वर्णन किया है। किन्तु यह सारा ही विषय दो भागोंमें विभक्त है—हेय और उपादेय। उक्त सब विषयका परिज्ञान समीचीन[६] श्रुतका सम्यक्तया[७] अभ्यास करने पर हो सकता है। इसके लिये विधिपूर्वक[८] चारोंही अनुयोगों

२—निर्वाणका साक्षात् साधन रत्नत्रय—सम्यग्दर्शनादि आत्मरूप ही है उससे भिन्न नहीं। रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्मि। तम्हा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा॥ द्रव्य संग्रह ४०॥
३—विरोध, विरुद्धमान्यताएं। ४—५ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय—अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रं खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्।

६—दिगम्बर जैनागम। ७—श्रद्धापूर्वक एवं गुरुमुखसे आम्नायपूर्वक। ८—ग्रन्थार्थोभयं पूर्णं काले विनयेन सोपधानं च बहुमानेन समन्वितमनिह्नव ज्ञानमाराध्यम्। तथा ग्रन्थार्थतद्द्वयैःपूर्णम् आदि। अन ३-१४ तीर्थादाम्नाय निध्याय युक्त्यान्तः प्रणिधाय च। श्रुतं व्यवस्येत्सद्विश्वमनेकान्तात्मकं सुधीः॥ अन ३—७

का अध्ययन करना जरूरी है। इस अध्ययनका अन्तिम फलितार्थ यही है कि उन प्रतिपादित विषयोंका हेय उपादेय रूपमें विश्लेषण करके ग्रहण किया जाय और स्वयंमें घटित करके सिद्ध किया जाय।

ऊपर धर्मका दूसरा और तीसरा स्वरूप क्रमसे उत्तमक्षमादि तथा रत्नत्रयरूप बताया है। इन दोनोंका सम्बन्ध आत्म द्रव्यसे है अतएव सामान्यतया वस्तुस्वभावको जो धर्म कहा है उसी के ये विशेष हैं। क्योंकि द्रव्य छह हैं, उनमेंसे केवल आत्मासे इन दो धर्मोंका सम्बन्ध है। मुख्यतया मोहनीय कर्मके अभावसे उत्तम क्षमादि भाव प्रकट होते हैं तथा रत्नत्रय रूप धर्मकी प्रकटतामें भी मूलभूत एवं प्रधान कारण मोहका अभाव ही है। तीसरा भेद दया है। यह जीव का सराग भाव है। क्योंकि दूसरेके कल्याण करनेकी बुद्धि या भावनाको ही दया कहते[१] हैं।

इस तरह धर्मके चार भेद मुख्यतया बताये हैं। परन्तु इनमें मुख्य धर्म रत्नत्रय ही है। क्योंकि आत्माका स्वभाव होनेके कारण वह भी धर्मकी वस्तुस्वभावरूप परिभाषाके अन्तर्गत ही है, साथ ही कर्मोंके निवर्हणपूर्वक जीवको दुखोंसे छुटाकर उत्तम सुखमें उपस्थित कर देने की समीचीन—यथार्थ सामर्थ्य भी उसीमें है। क्षमादि धर्मोंके साथ जो उत्तम विशेषण दिया गया है उसका भी मुख्य कारण यही है। क्योंकि सम्यक् रहित जीवके क्षमादि भावोंको न तो उत्तम माना ही है और न वास्तवमें उचित एवं संगत ही है। दयाभाव भी धर्म है; क्योंकि अवश्य ही वह पुण्य बंधका कारण है। परन्तु वीतराग एवं सराग भावोंमेंसे वीतराग भाव ही मुख्यतया धर्म कहा जा सकता है। क्योंकि धर्मकी यहां जो परिभाषा की है और उसका जो फल बताया है वह वीतराग भावके साथ ही वास्तवमें संगत होता है न कि सराग भावके साथ रत्नत्रय रहित क्रोधादि निवृत्ति अथवा परोपकारिणी भावनारूप दयाको पुण्य बन्धका कारण होनेसे आभ्युदयिक धर्ममें परिणत किया जा सकता है; परन्तु कर्म निवर्हणका कारण न होनेसे मोक्षमार्गरूप संसार पर्यायसे छुटाकर मुक्त पर्यायरूपमें परिणत कर देनेके असाधारण कारणरूपमें परिगणित नहीं किया जा सकता। अतएव धर्म शब्दसे रत्नत्रयका ही मुख्यतया ग्रहण करना उचित एवं संगत है। यही सब ध्यानमें रखकर, यहां जिस धर्मकी परिभाषा की है वह किंभूत किमाकार है यह बतानेके लिये उसका नाम निर्देशपूर्वक ग्रन्थकार वर्णन करते हैं—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धतिः॥३॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्मके ईश्वर धर्म मानते है; जिनके कि प्रत्यनीक–विरोधी संसारके मार्ग हुआ करते हैं।

१—दूसरेके हितार्थ सराग भावना दया है।

विशेष—इस कारिकाके सम्बन्धमें भी तीन विषयोंको लेकर विचार करना है। प्रयोजन, शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ, तथा तात्पर्य।

प्रयोजन—मंगलरूप प्रथमकारिकामें धर्मरूप जिस तीर्थके अनुष्ठाता एवं वक्ताको नमस्कार किया था उसी तीर्थरूप धर्मके व्याख्यानकी गत कारिकामें प्रतिज्ञा की गई है। उसमें प्रतिज्ञा करते हुए धर्मका स्वरूप एवं फलका सामान्यतया निर्देशमात्र किया गया है। सर्वसाधारणको इतने परसे ही नहीं मालुम हो सकता कि धर्म शब्दसे किस चीजको ग्रहण किया जाय और वह भी किस युक्तिसे जिससे कि वह सहज ही समझमें आ सके। इन दोनों बातोंको ध्यानमें रखकर विचार करनेसे गत कारिकाके बाद इस पद्य द्वारा प्रतिज्ञात विषयके विशेष निर्देश तथा उसके समझानेकी सरल युक्तिकी आवश्यकता दृष्टिमें आ सकती है। धर्मके वर्णनकी प्रतिज्ञा करते हुए केवल इतना कह देनेमात्रसे कि "जो समीचीन है, कर्मोंका उच्छेद करने वाला है, और सम्पूर्ण संसारके दुःखोंसे छुटाकर उत्तम सुखको प्राप्त करा देता है वह धर्म है।" नहीं समझमें आता कि वह क्या वस्तु है। साथ ही यह भी विचारणीय है कि वह धर्म यदि इस तरहका परोक्ष है कि सर्वसाधारण संसारी जीवोंकी दृष्टिके प्रायः अगोचर है तो वह किस युक्तिसे समझमें आ सकता है। अतएव इन बातोंको ध्यानमें रखकर धर्मके विशिष्ट स्वरूपका निर्बाध सरल युक्तिके द्वारा बोध कराना ही इस कारिकाका प्रयोजन है।

कारिकाके पूर्वार्धमें धर्मके असाधारण स्वरूपका निर्देश है, और उत्तरार्धमें वह किस तरहसे सहज ही समझमें आ सकता है इसके लिये युक्तिका उल्लेख किया गया है। अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका नाम ही धर्म है। और वह उत्तम सुखका वास्तविक साधन है यह बात उनके ही प्रत्यनीक भावोंके द्वारा समझमें आसके इस तरहसे सुगमतासे समझाया गया है।

यह सभी समझते हैं या समझ सकते हैं कि किसी भी कार्यकी उत्पत्ति जिस कारणसे हुआ करती है उस कारणके अभावमें उस कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। सृष्टि अथवा संसारका स्वरूप और उसके कारण अनुभव सिद्ध एवं प्रायः दृष्टिगोचर हैं। भव शब्द संसार या सृष्टिका ही पर्यायवाचक है। उसके मूलभूत तथा असाधारण कारण मिथ्यादर्शन मिथ्या ज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं। जिनका कि अनादि कालसे यह जीव अनुभव कर रहा है। फिर भी वह जन्म मरण आदिके दुःखोंसे अथवा तापत्रयसे रंचमात्र भी उन्मुक्त नहीं हो सका है। अतएव स्पष्ट है कि सभी तरहके दुःखोंसे छूटनेका वास्तविक उपाय इनसे विपरीत ही होना चाहिये। इन्हींका नाम सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है तथा इन्हींका नाम धर्म है। और ये ही संसार एवं संसारके दुःखोंसे छुटाकर उत्तम सुख रूप अवस्थामें जीवको अवदने-परिवर्तित कर देने की सामर्थ्य रखते हैं।

संसार और उसके कारण दुःख रूप हैं यह बात प्रायः सभी मतवालोंने स्वीकार की है।

अधिक क्या ? जीव एवं परलोकको न मानने वालों तकने भी संसारका त्यागकर प्रव्रज्या धारण करनेका उपदेश दिया है और तदनुसार वे संसारसे प्रव्रजित होते हुए देखे भी जाते हैं। यदि उन्हे संसार सुख रूप प्रतीत होता या दुःखरूप प्रतीत न होता अथवा संसारके परित्याग कर देने पर ही वास्तविक सुखशान्तिका लाभ हो सकता है यह बात उन्हें मान्य न होती तो वे क्यों तो स्वयं प्रव्रजित होते और क्यों दूसरोंको वैसा उपदेश ही देते।

दुःख तथा सुख जीवकी अवस्थाएं है। इनका जीवके साथ सम्बन्ध जितना अति सन्निकट है उतना अन्य किन्हीभी बाह्य पदार्थोंके साथ नहीं। दुःख जीवका भाव होकर भी विभाव रूप ही है। तथा सुखरूपभाव स्वभाव भी है और विभाव भी है। सातावेदनीय आदि पुण्य कर्मोंके उदयसे इष्ट विषयोंकी जो अनुभूति होती है वह विभावरूप सुख है और किसी विवक्षित कर्मके या किन्हीं कर्मोंके अथवा सभी कर्मोंके अभावसे निज शुद्ध चैतन्य स्वरूपकी जो अनुभूति होती है उसको स्वभावरूप सुख[१] समझना चाहिये। इनमें से विभाव रूप दुःख तथा सुख प्रायः सभी संसारी जीवोंके अनुभवमें नित्य आने वाले है। शुद्ध स्वभावरूप सुखका अनादि कालसे इस जीवको अनुभव अभी तक कभी भी नहीं हुआ है। उसका अनुभव वास्तविक धर्मके प्रकट होने पर ही हुआ करता है। किन्तु इस धर्मकी उद्भूति भी सांसारिक सुख दुःख और उसके कारणोंमें हेयताका प्रत्यय हुए विना नहीं हो सकती अतएव संसार और उसकी प्रवृत्तिके कारणोंमें हेयताका प्रत्यय कराते हुए युक्ति पूर्वक वास्तविक सुखके कारणभूत धर्मके स्वरूप एवं भेदोंका बोध करा देना इस कारिकाका प्रयोजन है। सुखको प्राप्त करने तथा दुखोंसे छुटकारा पानेकी इच्छा रखते हुए भी स्वरूप और यथार्थ उपाय की अज्ञानताके कारण अभीष्ट लाभ न होनेसे आकुलित हुए संसारी जीवोंको परोपकारिणी बुद्धिसे प्रेरित आचार्यका प्रयोजन इस कारिकाके निर्माणमें वास्तविक सुखके उपाय भूत धर्मसे अवगत करादेना ही है।

इस तरह युक्ति अनुभव और आगमके आधार पर वास्तविक दुःख और उसके कारणों की तरफ दृष्टि दिलाते हुए उसके प्रतिपक्षभूत वास्तविक[२] सुखके कारणभूत धर्मके विशिष्ट भेदोंका बोध करानेके उद्देशसे ही आचार्यने इस पद्यकी रचनाकी है। जो कि सर्वथा उचित एवं आवश्यक भी है। इस पद्यमें प्रयुक्त सम्यग्दर्शनादि पदोंकी व्याख्या स्वयं ग्रन्थकार आगे चल कर करने वाले है। फिर भी सर्वसाधारण पाठकोंके हितकी दृष्टिसे यहां प्रयुक्त शब्दोंका सामान्य एवं कुछ विशिष्ट अर्थ लिखनेका प्रयत्न किया जाता है।

शब्दोंका सामान्य—विशेष अर्थ—

सत् शब्दका अर्थ समीचीन अथवा प्रशंसा है। तत्त्वार्थ सूत्र आदि में सम्यक् शब्द

१—केवल मोहनीय कर्म या उसके दर्शनमोह भेदके या चार घातिया कर्मोंके अभावसे अथवा आठों कर्मोंके क्षय से उत्पन्न सुख।

२—अनन्तचतुष्टय अथवा अनन्त वीर्य तीर्थंकरत्व तथा ऋद्धि आदिका सामर्थ्य प्रभृति।

का[१] प्रयोग जिस अर्थ[२] में किया गया है उसी अर्थ में यहां सत् शब्दका प्रयोग किया है। यह शब्द दृष्टि आदि तीनों का विशेषण है जिससे मतलब यह हो जाता है कि वे ही दृष्टि—दर्शन आदिक वस्तुतः धर्म की परिभाषा के अंतरगत लिये जा सकते हैं और वेही उसके कार्य और फल को उत्पन्न करनेमें समर्थ हो सकते हैं जो कि यथार्थ है एवं निर्दोष हैं क्योंकि जो दर्शन आदिक अपने विषयरूप अर्थ[३] से व्यभिचरित अथवा सदोष[४] हैं वे अपने वास्तविक कार्य[५] को सम्पन्न नही कर सकते।

दृष्टि शब्दका अर्थ नेत्र अथवा सामान्य अवलोकन—देखना आदि न करके स्वानुभूति या श्रद्धान आदि करना चाहिये। क्यों कि यही अर्थ प्रकृतमें उपयोगी एवं संगत सिद्ध हो सकता है। ज्ञान शब्दका जानना अर्थ प्रसिद्ध है। वृत्त शब्दसे प्रवृत्ति आचरण तथा चारित्र अर्थ लेना चाहिये। धर्म शब्दका अर्थ स्वयं ग्रन्थकार पहले की कारिका में कर चुके हैं। धर्मेश्वर शब्दका मुख्य अर्थ वही लेना चाहिये जो कि पहली कारिका में श्रीवर्धमान शब्दका किया गया है। क्यों कि श्रीवर्धमान भगवान ही इस युग में अंतिम तीर्थकर होनेके कारण धर्मके साक्षात् पूर्ण अधिनायक और अर्थतः उपज्ञ वक्ता तथा शास्ता होने के कारण ऐश्वर्य-धार्मिक शासन करने की सम्पूर्ण सामर्थ्य रखनेवाले है। विदुः इस क्रियापद का अर्थ 'जानते हैं' या 'मानते हैं' ऐसा करना चाहिये 'यदीयप्रत्यनीकानि' का अर्थ 'जिनसे उल्टे' ऐसा होता है। भवन्ति क्रियापद का 'होते हैं' और 'भवपद्धतिः' का 'संसारके मार्ग' यह अर्थ स्पष्ट है।

इस तरह शब्दों का जो सामान्य अर्थ है उन सब विषयों में कुछ भी लिखनेकी आवश्यक्ता नहीं मालूम होती फिर भी कतिपय शब्दों के आशय के सम्बन्ध में स्पष्टीकरणार्थ लिखना थोडासा उचित एवं आवश्यक प्रतीत होता है।

आगम में दर्शन आदि शब्दों का अनेक तरह से निरुक्ति पूर्वक तथा भिन्न २ अपेक्षाओंको दृष्टि में रखकर नाना प्रकार से अर्थ किया गया है। सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थ वार्तिक में मुख्यतया चार तरह से निरुक्ति की गई है[६]। कर्तृ साधन, कर्म साधन, करण साधन, और भाव-साधन। किंतु इसका यह अर्थ नही कि अन्य साधन उनको अभीष्ट या मान्य नहीं हैं कारकोंकी प्रवृत्ति विवक्षाधीन हुआ करती है अतएव अन्य साधनरूपमें भी निरुक्ति यदि की जाय तो वह उनके कथन के विरुद्ध नही मानी जा सकती। यही कारण है कि तत्त्वार्थसारमें अमृतचन्द्रआचार्य ने कर्ता कर्म करण सम्प्रदान अपादान सम्बन्ध और अधिकरण की अपेक्षा से भी साधनरूपमें निरुक्ति की है। और द्रव्य गुण पर्याय एवं उत्पाद व्यय ध्रौव्यको दृष्टिमें रखकर भिन्न२ तरहसे

१—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१-१॥ सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः क्वन्तोवा॥ राज १-१-१
२—समंचति सम्यक् अस्यार्थः प्रशंसा। स. सि.। ३ विषय सात तत्त्व, देवशास्त्रगुरु, शुद्धात्मस्वरूप आदि अर्यते—निश्चीयते इति अर्थः। ४ शंका कांक्षा आदि वक्ष्यमाण सम्यक्त्वके दोष, संशयादिक ज्ञानके दोष, और माया मिथ्यानिदान शल्यादि चारित्र सम्बन्धी दोप हैं। ५—संसार और उसके कारणो से परम मोक्ष।
६—पश्यति इति दर्शनम्, दृश्यते तद् दर्शनम्, पश्यति अनेना दृश्यते येन तत् दर्शनम्, दृष्टिर्वा दर्शनम्।

भी अर्थ करके बताया है[1]। दर्शन शब्दके लिए जो बात है वही ज्ञान और चारित्रके लिए भी समझनी चाहिये। यद्यपि इनके साधनभाव की विवक्षामें कहीं २ गौण मुख्यता भी मालुम होती है[2]।

"सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि" और 'धर्म' में जब विशेष्य विशेषण भाव है तब सामानाधिकरण को स्पष्ट करने तथा व्याकरण के नियम को ध्यानमें रखते हुए समान लिंग और विभक्ति का होना जरूरी है; ऐसी शंका हो सकती है। परन्तु इसका उत्तर या समाधान सर्वार्थसिद्धि आदिमें जो दिया गया है वही यहांपर भी समझ लेना चाहिये[3]। क्योंकि 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' और 'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं,' इनमें केवल शब्द सादृश्य ही नही, अपितु अर्थमें भी एकता ही है इसके सिवाय एक बात और भी है—वह यह कि—यद्यपि सम्यग्दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन गुण आत्माके भिन्न भिन्न कहे जाते हैं। फिर भी ये तीन भेद जिस धर्मके बताये गये है वह वास्तव में तीनोंका अखण्ड समुदायरूप एक ही है। वही मोक्षका एक मात्र समर्थ तथा असाधारण कारण है जिसके होते ही अव्यवहित उत्तर क्षण में ही मोक्षरूप कार्यकी निष्पत्ति हो जाया करती है। अतएव संसारनिवृत्ति या निर्वाण प्राप्ति के उपाय भूत धर्मके निश्चय व्यवहार प्रकारों, समर्थ असमर्थ भेदों, अभिन्न भिन्न रूपों को प्रकट करनेकेलिए 'धर्म' यह एक वचन और 'सम्यक्दृष्टिज्ञानवृत्तानि' यह बहुवचन उचित एवं संगत ही प्रतीत होता है।

'धर्मेश्वराः' इस पदसे अर्थतः श्रेयोमार्गरूप धर्मके उपज्ञ वक्ता श्रीवर्धमान भगवान ही मुख्य-तया अभीष्ट है जैसा कि ऊपर कहा गया है। फिरभी उनकी देशनाका अवधारण कर ग्रंथरूपमे उसे रचनेवाले बारह सभाओं को धारण करने में समर्थ, तथा सम्पूर्ण ऋद्धियोंसे युक्त श्री गोतम आदि गणधर देव एवं उनके उपदेशकी परम्पराको प्रवाहित करने वाले तथा असद्भाव स्थापना करनेवाले इतर आचार्योंका भी ग्रहण किया जा सकता है जिनके कि रचित या ग्रथित आगम ग्रन्थोंका अध्ययन प्रकृत रचनामें आधारभूत है। क्योंकि धर्मके स्वरूपका वर्णन करनेमें जिनको ऐश्वर्य प्राप्त है वे सभी धर्मेश्वर शब्दसे कहे जा सकते है। तीर्थंकर भगवान तो सर्वोत्कृष्ट धर्मेश्वर हैं ही परन्तु गौतम आदि भी अपनी २ योग्यतानुसार धर्मेश्वर ही हैं। साथही यहबात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि यह धर्मका ऐश्वर्य केवल उसके वर्णन करने के ही अपेक्षासे नहीं अपितु उसके भावरूप में अर्थतः परिणमन की भी अपेक्षा से है। जो रत्नत्रयरूपमें स्वयं परिणत हो चुके हैं उनका ही वर्णन वास्तवमें तथा स्वतः प्रमाण माना जा सकता है और उनका वह रत्नत्रय जितना अधिक एवं विशुद्ध है उनके वचन भी उतनेही अधिक प्रमाण माने जा सकते हैं। तीर्थंकर भगवानको परमावगाढ, सम्यग्दर्शन केवलज्ञान और पूर्ण यथाख्यात चरित्र प्राप्त

१—देखो तत्त्वार्थसारके अन्तिम उपसंहारकी कारिका नं० ८ से १४ तक। २—राजवार्तिक। ज्ञानदर्शनयोः करणसाधनत्वं, कर्मसाधनश्चारित्रशब्दः अ० १ सू० १ वा० ४। ३_उपात्तलिंगसंख्याव्यतिक्रमो-न भवति इति तथा समस्तस्य मार्गभावज्ञापनार्थः इति।

है। परन्तु श्री गौतम गणधर देवको अवगाढ सम्यग्दर्शन, चारों ही क्षायोपशमिक ज्ञानों की ऋद्धियां तथा सामायिक छेदोपस्थापनारूप निर्दोष चारित्र प्राप्त है। उनके बादके अन्य आचार्योंकी योग्यता इससे भी कम हो सकती है फिर भी रत्नत्रयरूप धर्म के सभी सामान्यतया अधिपति हैं। उनके ही वचन स्वतःप्रमाण माने जा सकते है। अतएव ग्रन्थकारने लिखा है कि जो धर्मेश्वर हैं वे रत्नत्रयों (सम्यग्दर्शनादि) को ही धर्म मानते हैं।

और यह ठीक भी है कि जो स्वयं उन गुणोंसे रहित है उसके तद्विषयक उपदेशको किस तरह प्रमाण माना जा सकता अथवा उसपर किस तरह पूर्णतया विश्वास किया जा सकता[१] है।

सम्यग्दर्शनादिके प्रत्यनीक भाव मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र हैं। सम्यग्दर्शनादि के उत्तर या उत्तरोतर भेद अनेक हैं। इसी तरह मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र के विषय में भी समझना चाहिये। जिनको कि यथावसर आगे लिखा जायगा। इतनी बात यहां जरूर ध्यान में लेलेनी चाहिये कि इन मिथ्यादर्शनादिक और सम्यग्दर्शनादिक की पारस्परिक अनुकूलता में बहुत बडा अंतर है। अर्थात् जिसतरह सम्यग्दर्शन जहां होगा वहां ज्ञान भी सम्यक् होजायगा और चारित्र भी समीचीनता को अवश्य प्राप्त करलेगा यह नियम है इसके विपरीत जहां २ सम्यक् चारित्र है वहां २ सम्यग्दर्शनादिक भी हों हीं यह नियम नहीं है। क्योंकि नव ग्रैवेयक तक जानेवाले मुनियोंका चारित्र समीचीन तो होता है परन्तु वह कदाचित् सम्यक्त्व सहित और कदाचित् सम्यक्त्वरहित भी हुआ करता है क्योकि मुनि एवं श्रावक दोनोंमें ही व्रत चारित्र की अपेक्षा द्रव्य लिंग और भावलिंग दोनों ही अवस्थाएं मानीगई हैं। यह बात मिथ्या चारित्र के विषय में नहीं कही जा सकती। द्रव्य रूपमें मिथ्या चारित्रका पालन करनेवालें के अन्तरंग में सम्यग्दर्शन के अस्तित्वकी संभावना या कल्पना भी नहीं की जा सकती।

शंका—ऊपर अपने कहा है कि नवग्रैवेयक तक जानेवाले मुनियोंका चारित्र समीचीन होता है। वह कदाचित् सम्यक्त्वसहित और कदाचित् सम्यक्त्वरहित होता है। सो सम्यक्त्वरहित चारित्र को समीचीन किस तरह कहा जा सकता है? जो ज्ञान या चारित्र सम्यक्त्वरहित है उसको तो आगम में सर्वत्र मिथ्या ही कहागया है।

उत्तर—ठीक है। मोक्ष मार्गके प्रकरणको लक्ष्यमें रखकर वर्णन करते समय अन्तरंग भावों को ही मुख्य रक्खा गया है।

उसदृष्टिसे जिसके अन्तरंगमें मिथ्याभाव–मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय यदि पायाभी जाताहै तो उसका ज्ञान और चारित्रभी निश्चयसे मिथ्या ही है। क्योंकि न तो वह मोक्षको ही सिद्धकर सकता है और न मोक्षके कारण भूत संवर निर्जराके ही सिद्ध करने में समर्थ है। और जैनागममें मोक्ष तथा उसका साधन जिससे कि संवर निर्जरा सिद्ध होती है वही मुख्य माना गया है।

१—स्वयं पतन्तो न परेषामुद्धारकाः। लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है कि आप खांय काकडी दूसरोंको दे आखडी।

किन्तु वाह्यदृष्टिसे विचार करने पर उक्तप्रकारके मुनियोंका चारित्र मिथ्या नहीं कहा जा सकता अंतरंग भाव प्रत्यक्षज्ञान के विषय है और वाह्य चारित्र व्यवहारका विषय है। सर्व साधारण में जिसका आचरण जैनागम के प्रतिकूल नहीं अपितु अनुकूल ही दृष्टि गोचर होता है और जो भाव लिंगियोंके ही समान है उसका व्यवहार भी समीचीन रूपमें ही हो सकता है नकि मिथ्या रूप में। इसदृष्टि से उसे समीचीन ही कहना या मानना तथा उसका यथायोग्य सम्मान आदि करना उचित है इसके विरुद्ध द्रव्य रूपमें जो मिथ्या चारित्र है वह अंतरंग से तो मिथ्या है ही साथ ही वाह्यरूपसे –व्यवहारसे भी मिथ्या ही है। अत एव दोनों में बहुत वडा अन्तर है।

शंका—ठीक है; मतलब यह कि द्रव्यलिंगी मुनिका आचरण केवल अंतरंगमें मिथ्यात्व कर्म का उदय रहनेके कारण ही मिथ्या कहा जाता है बाहरसे उसका आचरण भावलिंगीके ही समान और जिनोक्त मार्गके अनुसार रहनेके कारण समीचीन ही माना जाता है। परन्तु ऊपर आपने कहा है कि जहां सम्यग्दर्शन होगा वहां ज्ञान और चारित्र भी समीचीन होजाते हैं। सो यह कथन तो आगमके विरुद्ध मालुम होता है। क्योंकि श्री तत्त्वार्थ वार्तिकजी[१] में सम्यग्दर्शनके प्रति सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञानके प्रति सम्यक्चारित्र भजनीय कहा है अर्थात् होय भी और कदाचित् न भी होय। सो इसका क्या समाधान है ?

उत्तर—श्रीतत्त्वार्थवार्तिक जी में जहां यह बात कही है वहीं इसका आशय भी स्पष्ट कर दिया है। कहा है कि यह कथन नयापेक्ष[२] है। अर्थात् शब्दनयके अनुसार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र शब्द परिपूर्ण विषयको ग्रहण करते हैं। मतलब यह है कि ज्ञान शब्दसे जब श्रुतकेवल या प्रत्यक्ष केवल ज्ञान विवक्षित हो तो वह भजनीय है। इसीतरह चारित्रशब्दसे एकदेश अथवा पूर्ण यथाख्यात चारित्र विवक्षित है सो वह भी अवश्यही भजनीय है। क्षायिक सम्यग्दर्शनके होनेपर पूर्ण श्रुतकेवल या क्षायिक केवलज्ञान भी उसी समय होजाय या नियमसे उसके साथ पाया जाय यह नियम नहीं है। इसीतरह जहां श्रुतकेवलज्ञान हो वहां पूर्ण यथाख्यात चारित्र, अथवा जहां२ सम्यग्दर्शन है वहां२ देशसंयम या पूर्णसंयम अथवा यथाख्यात चारित्र भी हो ही यह नियम नहीं है। इस दृष्टिसे भजनीय कहा है। नकि सम्यग्व्यपदेशकी अपेक्षा। वास्तवमें जिस समय सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसी समय ज्ञान भी जो जैसा और जितने प्रमाणमें भी हो वह अवश्य ही सम्यग्व्यपदेशको प्राप्त करलेता है। इसी तरह चारित्रके विषयमें भी यथायोग्य आगमानुसार समझलेना चाहिये।

भवशब्द भूधातुसे बनता है परन्तु इसका अर्थ सत्ता जन्म उत्पत्ति शिव आदि हुआ करता है। अरिहंतका भी वाचक है। निरुक्तिके अनुसार केवल "होना" ऐसा अर्थ होना है अतएव जो होता रहता है, एक अवस्था—गति आदिमें परिणत होकर फिर२से अन्य२ अवस्थाओंमें जो

१—तत्त्वार्थराजबार्तिक अ०१सू१वार्तिक६९,७० । यथा–एषांपूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम् ।उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः । २—तथा यावति ज्ञानमित्येतत्परिसमाप्यते तावतो ऽसंभवान्नयापेक्षंवचनम् ।।७४।।

परिणाम होता रहता है ऐसे—भवी संसारी जीवमें इस शब्दका अर्थ मुख्यतया घटित होता है। किंतु अरिहंतका वाचक इसलिये है कि वे इस तरहकी—होकर होते रहनेकी—भूत्वाभवित्वरूप पद्धतिको समाप्त करचुके है। अब उनको केवल वह अवस्था प्राप्त करना है जोकि ध्रुव[१] है, जिसके बाद फिर दूसरी कोई विसदृश अवस्था प्राप्त नहीं हुआ करती, न हो ही सकती है। ऐसी अवस्थाएं सिद्धगति[२] आदि हैं जिनकेलिये कहागया है कि "सा गतिर्यत्र नागतिः[३]"। इन अवस्थाओंको अरिहंतही प्राप्त किया करते हैं। अतएव उनका भी नाम भव[४] है। यही कारणहै कि उनका नाम जहा भव है वहीं अपुनर्भव[५] भी है। परन्तु यहांपर चतुर्गति एवं उनके अन्तर्गत ८४लाख योनियों आदिमें जो परिवर्तन अनादिकालसे होरहा है जीवका वह निवर्तक्रम ही भवपद्धतिशब्दसे आचार्य को अभीष्ट है। उसके मुख्य कारण मिथ्यादर्शनादिक हैं, अतएव इनके प्रत्यनीक सम्यग्दर्शनादिक भाव जोकि अपुनर्भवताके साधक हैं वे आत्माके निज भाव है अतएव वे ही उस भवपद्धतिके नष्ट करने वाले तथा उसके फल स्वरूप नानाविध दुःखोंसे परिमुक्त करने वाले हैं। इसलिये वे ही वास्तवमें धर्मशब्दके भी वाच्यार्थ हैं और उन्हींको आचार्यने यहां धर्मशब्दसे बताया है।

तात्पर्य—सम्यग्दर्शनादिके समूहका नाम धर्म है। इस धर्मकी पूर्णता आर्हन्त्य अवस्था प्राप्त होनेपर ही हुआ करती है। जबतक ये तीनों ही सर्वांशमें पूर्ण नहीं होते तबतक उनमें मोक्ष रूप कार्यको सिद्ध करनेकी समर्थ कारणता भी नहीं आती। इस विषयमें पहिले संकेत किया जा चुका है। अतएव मुमुक्षुका यह कर्तव्य होजाता है कि जबतक सम्यग्दर्शनादि प्रकट नहीं हुए हैं तबतक उनको प्रकट करनेका-पूर्ण करनेका प्रयत्न करे। और प्रकट होनेपर उनके प्रत्येक अंशको पूर्ण तथा निर्मल बनानेका प्रयत्न करे। इसकेलिये उन-उनके भेद, अंश, अवस्थाएं एवं उनके बाधक साधक कारणों आदिको भी अवश्य जानलेना चाहिये। क्योंकि ऐसा किये बिना वह बाधक कारणोंको दूर करने और साधक कारणोंको प्राप्त करते जानेकेलिये जो उसे उत्तरोत्तर पुरुषार्थ करते जाना चाहिये वह नहीं कर सकता और नहीं वास्तविक सफलता ही प्राप्त कर सकता है। इस विषयमें यहां अधिक लिखनेसे ग्रन्थका विस्तार बहुत अधिक बढ़ जायगा अतएव नहीं लिखा जाता। जाननेकी इच्छा रखने वालोंको ग्रन्थान्तरोंसे समझलेना चाहिये।

किन्तु इतनी बात संक्षेपमें अवश्य समझलेनी चाहिये कि सम्यग्दर्शनादिके निरुक्तिभेदके अनुसार, द्रव्यक्षेत्रादिकी अपेक्षा भेदके अनुसार, आगम—अनुयोग भेदके अनुसार, तथा प्रमाण नय निक्षेप अनुयोग आदिके अनुसार जो आगममें भिन्न२ लक्षण किये हैं वे सब सापेक्ष होनेके कारण सत्य होते हुए भी आंशिक हैं। वे सब अरिहंत अवस्थामें इस तरह अन्तर्भूत होजाते हैं जिस तरह से कि सूर्यके प्रकाशमें जुगुनू, दीपक आदिका प्रकाश। अतएव जहां तक वह अवस्था प्राप्त

१—धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते। स० सा०   २—सिद्ध गति, अनिन्द्रियत्व, अकायत्व, अयोग आदि।
३ पञ्चाध्यायी, यशस्तिलक। ४ जिनसहस्रनाम "भवो भावो भवान्तकः। २-७। ५—विश्वभूरपुनर्भवः॥ ३२। जि० स०।

नहीं होतीं, वहां तक सम्यग्दर्शनादिको सराग--वीतराग या निश्चय--व्यवहार रूप जितनी भी अवस्थाऐं हैं वे सब साधन रूप होती हुई भी अंतमें उसी पूर्ण मोक्षमार्गको सिद्ध किया करती हैं। इन सब साधन अवस्थाओंमेंसे कोई भी विवक्षित अवस्था अपनी पूर्व अवस्थाका साध्य और उत्तर अवस्थाका साधन है। अन्तमें स्नातक अवस्था प्राप्त होनेपर तीनोंके समुदायमें वह सामर्थ्य प्राप्त होजाती है उससे संसारका अन्त एवं परम निर्वाणका उद्भव हुआ करता है। इस तरहसे आत्माको संसारसे छुटाकर मोक्षरूपमें उपस्थित करनेवाला धर्म वही है और वह एक रूपही है वहां नानाविधता नहीं है किंतु उसके पहले उनमें अनेक प्रकार पाये जाते हैं। इस अभिप्रायको स्पष्ट करनेकेलिये "धर्म" यह एक वचनका और "सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि" यह बहु वचनका प्रयोग कियागया है। इसके विपरीत मिथ्यादर्शनादिके भी अनेक प्रकार हैं। किंतु वे सब संसरणके ही कारण हैं। उनमें जन्म मरणकी संततिका उच्छेदन करनेकी सामर्थ्य नहीं है। अतएव मुमुक्षुकेलिये वे हेय ही हैं। सम्यग्दर्शन प्रकट होजानेपर जीवको संसारके पांच[1] प्रकारोंमेंसे छोटेसे छोटे एक[2] प्रकारको भी पूर्ण न कराकर--उतने कालतक भी संसारमें न रखकर उससे सर्वथा रहित बना देता है। अतएव संविग्न भव्योंकेलिये वही उपादेय है; और वही सत् है। तथा वही मुख्य मोक्षमार्गरूप धर्म है। क्योंकि वह ज्ञान तथा चारित्रको भी अपने उत्पन्न होते ही सम्यक् बनादेता है। इसलिये आचार्य भी यहां अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार एवं प्राणियोंके वास्तविक हितकेलिये उसी धर्मके भेदाभेदरूपको दृष्टिमें रखकर उसका निर्देश कर रहे हैं।

एक अखण्ड-अभेदरूप धर्मके तीन भेद करके जो उनके नामोंका यहां उल्लेख कियागया है, अब उनमेंसे सबसे पहिले और उक्त प्रधानभूत सम्यग्दर्शनका स्वरूप बताते हैं।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ ४॥

सामान्यार्थ---परमार्थरूप आप्त--आगम और तपोभृत् (तपस्वी साधु- गुरु) का तीन मूढताओंसे अपगत, आठ मदोंसे रहित तथा आठ अंगोंसे युक्त जो श्रद्धान उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं।

प्रयोजन---अन्य अनेक वस्तुओंमें मिली हुई किसी भी विवक्षित वस्तुको पृथक् करके ठीक रूपमें यदि जानना या समझना हो तो वह उसके लक्षण द्वारा ही जानी जा सकती है। चिन्ह लक्ष्म लक्षण ये पर्याय वाचक शब्द हैं। जिसके द्वारा विभिन्न वस्तुओंमें मिली हुई किसी वस्तुको पृथक् जाना जा सके उसीको उसका लक्षण समझना[3] चाहिये। लक्षण दो प्रकारके हुआ करते हैं

१---द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव। २---पुद्गल द्रव्य परिवर्तन। ३---परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वलक्ष्यते तल्लक्षणम्।

एक आत्मभूत दूसरा अनात्मभूत[४]। लक्षणके विना किसीभी वस्तुका सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। यह बात आगे चलकर[५] स्पष्ट की जायगी, अतएव यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। किंतु इतनी बात जरूर समझलेनी चाहिये कि लक्षणके मुख्यतया तीन दोष बतलाये हैं—अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असंभव[६]। इनमेंसे एकभी दोषसे यदि लक्षण युक्त है तो वह अपने लक्ष्यका ठीक२ परिज्ञान नहीं करा सकता। क्योंकि इस तरहके सदोष लक्षणके द्वारा जो वस्तुका ज्ञान होता है या होगा वह सम्यक नहीं हो सकता।

ऊपरकी कारिकामें धर्मका जो स्वरूप बताया उसीमें उसके तीन प्रकार या भेद कहे हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। तीनोंको धर्म शब्दसे कहा है। अतएव मिले हुए तीनोंमे से क्रमानुसार एक२ का पृथक२ स्वरूप बताना जरूरी है। उसका ठीक २ परिज्ञान जैसा कि ऊपर कहागया है निर्दोष लक्षणके द्वाराही हो सकता है। इसीलिये इस कारिकाका निर्माण हुआ है। मतलब यह है कि यह कारिका सम्यग्दर्शनके स्वरूपका समीचीन परिज्ञान करानेवाला लक्षण वाक्य है। इसके द्वारा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे पृथक् सम्यग्दर्शनके स्वरूपका ठीक२ बोध कराया गया है यही इस कारिकाका प्रयोजन है।

शंका—आगममें सम्यग्दर्शनके अनेक लक्षण बताये हैं। जैसा कि ऊपर आपने कहा ही है। यहां जो लक्षण है वह भी उनमेंसे एक प्रकारका है अतः सम्यग्दर्शनका वह ऐसा सामान्य लक्षण किस तरह माना जा सकता है कि जिसमें अन्य सब लक्षणोंका भी समावेश हो सके? और यदि यह बात नहीं है तो इस लक्षणको आंशिक ही क्यों न माना जाय? अर्थात् इसे सम्यग्दर्शनका सामान्य लक्षण न मानकर उसके अनेक भेदोंमेंसे एक भेदको दृष्टिमें रखकर— सम्यग्दर्शनके अनेक भेदोंके कारणभूत अंशोंमेंसे एक अंशको लेकर कहागया क्यों न माना जाय? या फिर इसे अव्याप्ति दोषसे युक्त क्यों न कहा जाय?

उत्तर—यह न तो अव्याप्त लक्षण ही है और न आंशिक ही है। क्योंकि इसमे जिन शब्दोंका एवं विशेषणोंका प्रयोग किया है वे इन दोनों ही दोषोंका वारण करनेमें समर्थ है। श्रद्धान शब्द की साधनभेदोंके अनुसार भिन्न२ प्रकारकी निरुक्ति करनेपर प्रायः सभी लक्षणोंका समावेश हो जाता है। दूसरी बात यह है कि "श्रद्धान" क्रियाके कर्म और उसके विशेषणका प्रयोग एवं तीनों क्रियाविशेषणोंका उल्लेख भी निरर्थक नहीं है। इससे भी अनेक लक्षणोंका समावेश होजाता है। अतः यह लक्षण आंशिक या अव्याप्त नहीं है। साथही विशेषणोंका फल इतर व्यावृत्ति हुआ करता है। इसलिये यहां अतिव्याप्ति दोषकी भी संभावना नहीं रहती। क्योंकि उन विशेषणोंके विना जिन अलक्ष्योंमें लक्षणके जानेकी संभावना थी उन सबका वारण भी कर दिया गया है। असंभव दोषकी तो कल्पना भी नहीं होसकती। अतएव यह लक्षण पूर्ण निर्दोष है। इसके कहे विना

४—लक्ष्यवस्तुका ही जो स्वरूप हो वह आत्मभूत और उससे जो भिन्न हो वह अनात्मभूत लक्षण समझना चाहिये। ५..ज्ञानाधिकारमें। ६..संशय विपर्यय और अनध्यवसाय। इस तरह असंभव दोष तीन तरहसे होता है।

"सद्दृष्टि" शब्दके कहनेमात्रसे धर्म अथवा मोक्षमार्गके प्रकरणमें उसका क्या आशय या रहस्य है यह भलेप्रकार समझमें नहीं आ सकता था। अतएव इस लक्षणवाक्यका कहना आवश्यक है यह कारिका निरर्थक नहीं; अपना असाधारण प्रयोजन रखती है।

शब्दोंका सामान्य-विशेष अर्थ—

श्रद्धान शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है कि—श्रु धातुसे श्रत् बनता है जिसका अर्थ है विश्वास। धा धातुका अर्थ धारण करना है। अर्थात् विश्वासके धारणको श्रद्धान कहते हैं।

मूलमें धर्मके भेद बताते हुए "सद्दृष्टि-सम्यग्दर्शन" शब्दका प्रयोग किया है। यहां उसका अर्थ "श्रद्धान" शब्दके द्वारा बताया है। कारण यह कि इन्द्रियोंके द्वारा किसी भी मूर्त पदार्थको देखनेके अर्थमें ही दर्शन शब्द लोकमें प्रसिद्ध है किन्तु वह संसार निवृत्तिका कारण नहीं हो सकता। श्रद्धान आत्मपरिणाम होनेसे निर्वाणका कारण हो सकता है। अतएव प्रसिद्ध अर्थ न लेकर आगमोक्त—आम्नाय प्रसिद्ध एवं युक्ति पूर्ण विशिष्ट अर्थ की तरफ दृष्टि दिलाई है[1]। और ऐसा करना व्याकरण शास्त्रके भी विरुद्ध नहीं है। क्योंकि शब्द शास्त्रमें धातुओं को अनेकार्थ माना है[2] अतएव प्रकरणके अनुसार अर्थ करना उचित एवं संगत ही है। प्राचीन आचार्योंको भी यही बात अभीष्ट है[3]।

शंका—षड्दर्शन, सर्वदर्शन आदि शब्दभी लोक प्रसिद्ध है। क्या वहां भी इन्द्रियोंसे देखना अर्थ ही लिया जाता है?

उत्तर—प्रथम तो जैनेतर आचार्योंने प्रायः ऐसी कोई परिभाषा नहीं की है कि जिससे दर्शन शब्दका समीचीन श्रद्धानरूप आत्मपरिणाम अर्थ लियाजाय। दूसरी बातयह है कि उनकी मान्यतानुसार श्रद्धेय विषयके स्वरूपमें अन्तर होनेसे श्रद्धानमें भी अन्तर पडता ही है। अतएव स्वरूप विपर्यास तथा विषय विपर्यास स्पष्ट है। तीसरी बात यह है कि श्रद्धान या सम्यग्दर्शन शब्दसे शुद्धात्माका अवलोकन अर्थ अभीष्ट है। और दिगम्बर जैनागमके सिवाय अन्य किसी भी दर्शनकारने आत्माका वास्तविक शुद्ध स्वरूप माना या बताया ही नही है। ऐसी अवस्थामें दर्शनशब्द का प्रयोग यदि अन्य लोगोंमें पाया जाता है तो वह आगन्तुक—कहीं न कहींसे आया हुआ ही समझना चाहिये। अथवा रूढिवश वे उस शब्दका प्रयोग करते हैं किन्तु युक्ति युक्त और वास्तविक अर्थसे वे अनभिज्ञ है। यद्वा कहना चाहिये कि जैनागममें इस शब्दका जो अर्थ अभीष्ट है अन्य लोक उस अर्थमें उस शब्दका प्रयोग नहीं करते।

प्रश्न—जैनागममें दर्शन शब्द सामान्य अवलोकन अर्थमें भी प्रसिद्ध है वह अर्थ भी यहां क्यों न लिया जाय?

उत्तर—शब्दसादृश्य मात्रको देखकर एक अर्थकी कल्पना करना ठीक नहीं है जिसका

१—दृशेरालोकार्थत्वादभिप्रेतार्थासंप्रत्यय इति चेन्न, अनेकार्थत्वात् ॥ ३ ॥ मोक्षमार्गप्रकरणाच्छ्रद्धानगतिः ॥ ४ ॥ राज० १-२ ॥ २—धातूनामनेकार्थत्वात्। ३- स०सि० आदि।

अर्थ सामान्य अवलोकन किया जाता है वह दर्शनोपयोग है। उससे यह सम्यग्दर्शन जिसका कि अर्थ यहां बताये गये प्रकारका श्रद्धान किया जाता है वह सर्वथा भिन्न है। दोनोंके निर्देश स्वामित्व साधन अधिकरण स्थिति विधान तथा सत् संख्या आदि अनुयोगों के प्रकरणको देखनेसे यह बात अच्छी तरह समझमें आसकती है कि इनमें अन्तरं महदन्तरम् है।

शंका—श्री अरिहंत भगवान्‌का दर्शनभी मोक्षका कारण कहा जाता है। अतएव सम्यग्दर्शनके प्रकरणमें देखना अर्थ भी यदि लिया जाय तो क्या आपत्ति है?

उत्तर—जिन दर्शन या जिनमहिमदर्शनको सम्यग्दर्शनके कारणोंमें अवश्य ही बताया है। किन्तु शुद्ध आत्मस्वरूप बताये गये श्रद्धान परिणामसे रहित जिनदर्शनादिक मोक्षके कारण नहीं हो सकते और न माने ही हैं। जिनदर्शनादिक स्वयं श्रद्धानरूप न होकर उसके कारण हैं। इसलिये वे भी धर्म हैं। किन्तु वे स्वयं सम्यग्दर्शन नहीं हैं। इसलिये मोक्षमार्गरूप धर्म नहीं हैं। उक्त श्रद्धान परिणामसे युक्त जिनदर्शनादिक मोक्षके कारण कहे जा सकते हैं। परन्तु वे भी प्रथम तो मोक्षके साक्षात् कारण नहीं हैं। दूसरी बात यह कि इस कथनसे भी श्रद्धानरूप परिणामकी ही मोक्षके प्रति वास्तविक कारणता सिद्ध होती है।

शंका—श्रद्धान तो ज्ञानकी ही एक पर्याय विशेष है। क्योंकि तत्त्वार्थके अभिमुख बुद्धि को ही श्रद्धा कहा[१] है। इससे तो सम्यग्दर्शन ज्ञानसे भिन्न नहीं ठहरता।

उत्तर—श्रद्धान शब्दकी निरुक्तियों पर ध्यान देनेसे दोनोंकी भिन्नता सहज ही समझ में आसकती है। क्योंकि यहां पर जो यत तत्[२] शब्द दिये गये हैं वे भिन्न अर्थोंको स्पष्ट कर देते हैं। परन्तु साधन भेदके अनुसार इस शब्दका सम्यग्दर्शन अर्थ भी विरुद्ध नहीं है जिसके होने पर—प्रकट होजाने पर तत्त्वार्थादि विषयक श्रद्धान हुआ करता है उसको कहते हैं सम्यग्दर्शन। इस तरहसे अर्थ करने पर श्रद्धान और सम्यग्दर्शनमें जहां भिन्नता प्रतीत होती है वहीं सम्यग्दर्शनका श्रद्धान लक्षण सुसंगत है यह बात भी स्पष्ट होजाती है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन और श्रद्धान जब कि दोनों भिन्न २ परिणाम है। तब क्या इनमें व्यभिचारकी संभावना नहीं है? क्या यह नियम है कि जहां श्रद्धान हो वहां सम्यग्दर्शन भी अवश्य हो? सम्यग्दर्शनके वास्तवमें न रहते हुए भी श्रद्धान रहा करता है यह कहना क्या युक्ति-युक्त अथवा वास्तविक नहीं है?

उत्तर—सामान्यतया श्रद्धान सम्यग्दर्शनसे व्यभिचरित भी हो सकता है। क्योंकि वह सत्-समीचीन और असत्-असमीचीन दोनों ही तरहका पाया जाता है। अतएव श्रद्धान विशेषका सम्बन्ध यदि सम्यग्दर्शनके साथ माना जाय तो कोई भी आपत्ति नहीं है। यहां पर सम्यग्दर्शन के लक्षण रूपमें जिस श्रद्धानका उल्लेख किया है वह श्रद्धान विशेष है। जैसा कि उसके कर्म पदके

१—तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा॥ पँचाध्यायी। २—यद्भावात् यथाभूतमर्थं गृह्णात्यात्मा तत्सम्यग्दर्शनम्॥ राज० १-२-२८।

उल्लेख से स्पष्ट होजाता है। क्योंकि परमार्थ और परमार्थ विशेषणविशिष्ट आप्त आगम तपोभृत्को विषय करने वाले श्रद्धानको ही यहां सम्यग्दर्शनका लक्षण बताया है नकि श्रद्धान सामान्यको अथवा अपरमार्थ विषयक श्रद्धानको।

आगममें प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्यको सम्यग्दर्शनका लक्षण बताया है। यह भी अनन्तानुबन्धी कषायके उदयके अभावसे सम्बन्ध रखता है। मतलब यह कि अनन्तानुबन्धी कषायके उदयके अभावसे होने वाले प्रशमादिक भाव ही वास्तवमें सम्यग्दर्शनके लक्षण माने[1] हैं और वे ही संगत भी हैं। साथ ही इन प्रशमादि भावोंसे युक्त आस्तिक्या[2] भी लक्षणमाना है उसी प्रकार श्रद्धानके विषयमें भी समझना चाहिये। अनेक द्रव्य मिथ्यादृष्टि साधुओंमें क्रोधके अनुद्रेक को देखकर प्रशमभाव सम्यग्दर्शनका व्यभिचरित लक्षण कहा जा सकता है परन्तु उनमें पाये जाने वाले अनन्तानुबन्धी मानके भावको देखकर यह स्पष्ट[3] हो जाता है कि वास्तवमे वह लक्षण व्यभिचरित नहीं है। इसीतरह श्रद्धानके विषयमें भी घटित करलेना चाहिये।

परमार्थ शब्द— श्रद्धान क्रियाके कर्मरूपमें कहे गये आप्त आगम और तपोभृतका विशेषण है। यह अपरमार्थ भूत आप्तादिके श्रद्धानकी निवृत्ति करता है साथ ही परमार्थभूत आप्तादिके स्वरूपका बोध भी संक्षेपमें कराता है। यह आप्तादि तीनोंका विशेषण है। अतएव तीनों में ही घटित हो तथा तीनोंके ही असाधारण गुण धर्मका जिससे बोध हो इस तरहसे इसका अर्थ करना चाहिये। यथा—

पर-उत्कृष्ट-सर्वोत्कृष्ट है मा-प्रमाणरूप-सर्वथा प्रमाणभूत केवल ज्ञान; तथा अर्थ शुद्ध अशुद्ध आत्मद्रव्यादि प्रतिपादित विषय-अथवा जिसके द्वारा उनका-प्रतिपादन हो ऐसी दिव्यध्वनि यद्वा स्याद्वाद पद्धति जिनकी उनको कहते हैं परमार्थ। यह अर्थ आप्त की दृष्टिसे करना चाहिये। आगमके पक्ष में अर्थ शब्द से अभिधेय अर्थ लेना चाहिये। तथा तपस्वी–गुरुके अपेक्षासे अर्थ करनेमें अर्थ शब्द का प्रयोजन अर्थ करना चाहिये क्यों कि अभिधेय विषय–छह द्रव्य सात तत्त्व पंचास्तिकाय तथा नवपदार्थ सर्वोत्कृष्ट है वे पूर्वापर अविरुद्ध, प्रत्यक्ष और युक्तिसे अबाधित, मिथ्यामान्यताओंके विरुद्ध एवं इन्द्रादिकों द्वारा भी अनुल्लंघ्य है। इसी प्रकार संसार पर्यायके विरुद्ध निर्वाण अवस्थाको सिद्ध करने के लिए बद्ध परिकर साधुओं का प्रयोजन भी सर्वोत्कृष्ट–सर्वथा विशुद्ध केवलज्ञानमय आत्मद्रव्यरूप अर्थ को सिद्ध करना ही है। इस तरह परमार्थ शब्द का अर्थ तीनों के ही साथ संगत होता है। और साथही उनकी असाधारणताको भी वह स्पष्ट करता है। विशेषण के प्रयोगका आशयभी यही है कि अपने विशेष्यकी विशेषता

१–२-- रागानामनुद्रेकः प्रशमः संसाराद्भीरुता संवेगः, सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा। जीवादयोऽर्थाः यथास्वं सन्तीति मतिरास्तिक्यम्। राजवार्तिक। ३—अतत्त्वज्ञानके विषयमे जो उनके अन्तरगमें आहंकारिक भाव और तत्वज्ञानके प्रति विचिकित्साकी भावना रहा करती है वह मिथ्यादृष्टियोके प्रशमको व्यभिचरित प्रमाणित करदेती है। देखो–श्लोक या०।

को प्रगंट करे।

यद्यपि यहांपर परमार्थ शब्द आप्तादि तीनों के विशेषणरूपमें प्रयुक्त हुआ है; जैसा कि ऊपर बताया गया है। टीकाकारोंने भी विशेषणरूप ही इसका अर्थ भी किया है। किन्तु इस विषय में हमारी समझ है कि यदि इस-शब्दका स्वतन्त्र अर्थ भी कीया जाय तो कोई हानि अथवा आपत्ति नहीं मालूम होती। मतलब यह कि पर- सर्वोत्कृष्ट मा केवलज्ञान रूप अर्थ-निज आत्मद्रव्य या पदार्थ का अर्थात् ज्ञानमय सर्वोपाधिविविक्त निज शुद्धात्मद्रव्यका जो श्रद्धान उसको सम्यग्दर्शन कहते है ऐसा भी अर्थ किया जाय तो किसीतरह अनुचित असंगत एवं बाधित नही है। प्रत्युत एक विशेष अर्थका बोध होता है। इससे निश्चय और व्यवहाररूप साध्य साधन अवस्थाओंकी तरफ भी लक्ष जाता है। क्योंकि-निश्चयसे अपनी परमार्थ अवस्था साध्य है और व्यवहारसे उसके साधन आप्त आगम तपोभृत् है उन सभीका श्रद्धान हो तो वही समीचीन कार्यकारी हो सकता है।

दूसरी बात यह कि इस शब्द को विशेषण रूपसे मानकर ऊपर जैसा कुछ अर्थ किया गया है उसके सिवाय इसका आशय छह अनायतनों का वारण भी हो सकता है। यह अर्थ हमारी समझसे उचित और आवश्यक भी है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के २५ मल[1] दोषोंमेंसे ३ मूढ़ता ८ शंकादि दोष और ८ मद इस तरह १९ मलदोषों का ही यहां कण्ठोक्त उल्लेख पाया जाता है। शेष छह अनायतनोंका भी निर्देश होना चाहिये उसका बोध परमार्थ विशेषणसे कराया गया है ऐसा समझना चाहिये। अपरमार्थ भूत आप्तादि तीन और उनके ३ ही आश्रय इसतरह छह अनायतनोंका[1] निवारण भी इस विशेषण का अभिप्राय है ऐसा समझ में आता है।

कारिका में प्रयुक्त अन्य शब्दों—आप्त आगम तपोभृत्, तीन मूढ़ताऐं, आठ अंग, और आठ मदके अर्थका स्वयं ग्रन्थकार आगे चलकर उल्लेख करेंगे। अतएव इनके विषय में यहां अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। संक्षिप्त आशय यह है कि—

आप्त शब्दका सामान्यतया प्रसिद्ध अर्थ यह है कि 'यो यत्रावञ्चकः स तत्र आप्तः'। अर्थात् जो जिस विषयमें अवञ्चक है वह उस विषय में आप्त है। किंतु तात्पर्य यह है कि जिसने अपने वास्तविक गुणों के घातक चार घातियां कर्मोंको नष्ट करके अपने शुद्ध ज्ञानादि गुणोंको प्राप्त कर लिया है उसको कहते हैं आप्त। अन्य प्रकारसे आप्तपना बनही नहीं सकता यह बात स्वयं ग्रन्थकार आगे चलकर कहने वाले हैं। और यह इसलिए भी ठीक है कि इसके बिना वह परमार्थतः अवञ्चक नही माना जा सकता। इसी तरह आगमका आशय भी यह है कि 'आ—समन्तात् गम्यते बुध्यते वस्तु तत्त्वं येन यस्माद्वा'। प्रत्येक दृष्टिसे जिसके द्वारा समस्त वस्तु तत्त्वका परिज्ञान हो उसको कहते हैं आगम। क्योंकि श्रुतका विषय सामान्यतया केवलज्ञान की समकोटीमें बताया है, केवल प्रत्यक्ष और परोक्ष का उनमें अन्तर है ऐसा आगम

१—मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्। अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः ॥ यशस्तिलक।

में कहा गया[१] है। तपोभृत शब्द का अर्थ है कि जो तप को धारण करें अथवा उसका पोषण करें। तपका आशय है कि जिसके द्वारा तपाया जाय जिस तरह अग्नि के द्वारा तपाया गया अशुद्ध सुवर्ण दोषोंसे रहित—पूर्णतया शुद्ध बन जाता है उसी तरह जिस क्रियाके द्वारा आत्मा अपने समस्त दोषों से रहित होकर सर्वथा विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करले उसको कहते है तप इस तप का सामान्य स्वरूप मन शरीर और इन्द्रियों के प्रवृत्तिका विरोध है इसके द्वाराही संवर पूर्वक पूर्वबद्ध कर्मों की मुख्यतया निर्जरा हुआ करती है।

मूढ़ता का अर्थ है कि मोह के उदय से आक्रांत अविवेक विशेष। इन तीन भेदों का वर्णन आगे किया जायगा। इन आठ अंगोंको छोडकर शरीर पृथक् नही दिखाई देता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के आठ अंग है। स्मय नाम गर्व का है। यहां गर्व अनन्तानुबन्धी कषायसे सम्बन्धित लेना चाहिये। इसके भी विषय की अपेक्षा आठ भेद है जिनका कि उल्लेख आगे किया जायगा। परमार्थ स्वरूप आप्तादिके विषय के श्रद्धानमें इनमें से तीनो मूढताओं तथा आठ मदों का सम्बन्ध नही रहा करता। और यदि रहता है तो वहां वास्तविक श्रद्धान अथवा सम्यग्दर्शन नहीं है, ऐसा समझना चाहिये।

तात्पर्य—यह कारिका जो कि सम्यग्दर्शनके लक्षण रूप है, इस स्थान पर अपना सर्वथा औचित्य रखती है। साथही यह लक्षण सर्वथा निर्दोष है श्रद्धानरूप क्रिया के कर्म रूपमें अथवा क्रिया विशेषण रूपमें जिन जिन शब्दोंका प्रयोग किया है वे सब लक्षण में आनेवाले दोषों का वारण करने में समर्थ है उनके द्वारा संभव व्यभिचारों का निराकरण हो सकता है। सम्यग्दर्शनके अन्य स्थानोंपर जो भिन्न २ प्रकारके किये गये लक्षण उपलब्ध होते हैं उन सबका भी इसमें समावेश हो सकता है।

परमार्थ शब्द आप्तादि तीनो का विशेषण है अतएव इस विशेषण के द्वारा तीनों की असाधारणताका जिस तरह से बोध हो उस तरह से तीन अर्थ करना उचित एवं आवश्यक है। इसके सिवाय परमार्थ शब्द को विशेषण न मानकर श्रद्धानरूप क्रिया का सीधा कर्मरूप में ही माना जाय तो यह भी एक अवश्य ही उचित एवं संगत विषय है।

श्रद्धान क्रिया के विशेषण दिये गये हैं वे दो प्रकारके है। एक विधिरूप और दो निषेधरूप पहला और तीसरा निषेधरूप हैं; और बीच का एक विधि रूप है। इस विधिरूप क्रियाविशेषण का देहलीदीपक न्यायसे दोनों निषेधरूप क्रियाविशेषणों पर प्रकाश पडता है, जिसकी विधिही नहीं उसमें किसीभी विशिष्ट विषय का निषेध किसतरह संभव हो सकता हैं और किसतरह किया

मिथ्यात्व, कुज्ञान, और मिथ्याचरित्र इस तरह ३ और कुदेव कुशास्त्र तथा कुगुरु इस तरह ६ अनायतन होते हैं। इनमेंसे मिथ्यात्वादिका 'यदीयप्रत्यनीकानि' शब्दसे और कुदेवादि तीनका इस परमार्थ विशेषणसे ग्रहण करलेने पर छह अनायतनोंका भी संग्रह हो जाता है।

१—सुद-केवलँ च णाणं दोण्णवि सरिसाणि होंति बोहादो। सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं।

जा सकता है। यही कारण है कि विधि को सूचित करनेवाला यह मध्यस्थ विशेषणही तीनोंमें मुख्य माना गया है यदि ऐसा न होता तो आगे चलकर इन तीनों ही विशेषणोंका जो वर्णन किया गया है उसमें आचार्यको क्रमभंग करनेका कोई कारण न था। किंतु हम देखते हैं कि आचार्यने पहले आठ अंगोंका वर्णन किया है और उसके बाद तीन मूढ़ताओं का और उसके बाद आठ मदोंका वर्णन किया है इससे यही तात्पर्य निकलता है कि ग्रंथकारको विधिपूर्वक ही निषेध करना उचित प्रतीत होता है।

सम्यग्दर्शनको ग्रंथकारने भिन्न २ अनेक शब्दोंके द्वारा इस ग्रंथमें भी सूचित किया है। यथा—सद्दृष्टि ३, श्रद्धान ४, रुचि ११, श्रद्धा १२, गुणप्रीति १३, दृष्टि १४, दर्शन २१, सम्यग्दर्शन २८, धर्म २६, सम्यक् ३२, निर्मोह ३३, जिनेन्द्रभक्त ३७, स्पष्टदृट् ३८, दृष्ट्या सुनिश्चितार्थ ३६, दर्शन शरणा ४०, जिनभक्त ४१, आदि इनमेंसे यहांपर श्रद्धान शब्दका प्रयोग है इस शब्दका क्या आशय है यह पहले लिखा जा चुका है परन्तु इन भिन्न २ शब्दो के प्रयोग का क्या अभिप्राय है, संक्षेपमें इस विषयमें भी यहां कुछ लिखना उचित प्रतीत होता है।

सम्यग्दर्शन आत्माका एक ऐसा सर्वसामान्य गुण है जोकि त्रैकालिक अखण्ड अथवा निर्विकल्प सत्रूप आत्मद्रव्य को, बिना किसी भी तरह के गुणधर्म अवस्था अथवा पर्याय की अपेक्षासे भेद किये विषय करता है। यही कारण है कि उसको निर्विकल्प अथवा अवक्तव्य कहा है। और इसीलिए उसका प्रभाव आत्माके सभी गुणधर्मो अथवा अवस्थाओंपर पड़ा करता है सम्यक्त्व सहचारी और मिथ्यात्व सहचारी गुणधर्मों अथवा अवस्थाओं के सामान्य स्वरूपको देखकर अथवा उसकी अपेक्षासे भलेही उनको व्यभिचारी मान लिया जाय और यह कह दिया जाय कि श्रद्धादिक सम्यक्त्व के अव्यभिचारी लक्षणरूप भाव नहीं हैं। परन्तु जब उनको लक्षणरूपमें कहा जाता है उस समय उसकी सम्यक्त्व सहचारिणी असाधारणता प्रकट करने के लिए जो विशेषण दिये जाते है उनकी तरफ खास करके दृष्टि देनेकी आवश्यकता है। उन विशेषणों के द्वारा जो विवक्षित लक्षणरूप में कहे गये गुणधर्म या पर्याय अथवा अवस्था की विशेषताएं प्रकट की गई हों उनको साथ में लेकर विचार करनेपर वे गुण धर्मादिक अथवा अवस्थाएं अव्यभिचरित मानी जा सकती है। यही बात यहां कहे गये श्रद्धान लक्षणके विषय में समझनी चाहिये। श्रद्धानरूप क्रियाके परमार्थादिक कर्म तथा त्रिमूढापोढता आदि विशेषणों के द्वारा जो उसका असाधारण स्वरूप प्रकट किया है वह निःसंदेह सम्यग्दर्शन के अव्यभिचारी लक्षणपने को प्रकट करता है। जो बात श्रद्धान के लिये है वही बात रुचि आदिके विषयमें भी समझनी चाहिये। जैसा ऊपर कहा गया है कि सम्यग्दर्शन का सामान्यतया आत्माके सभी गुण धर्मोंपर प्रभाव पड़ता है तदनुसार एक श्रद्धान ही नहीं अपितु रुचि आदि सभी धर्म सम्यक्त्वके साहचर्य को प्रकट करनेवाले यथायोग्य तत्तद्विशेषणों के द्वारा अव्यभिचारी लक्षणके रूपमें कहे जा सकते हैं।

आगममें सर्वत्र प्रशमादिक को तथा आस्तिक्यादि को सम्यक्त्वका बोधक लक्षण माना[1] है। यह भी कहा है कि छठे प्रमत्त गुणस्थान पर्यंतके जीवों को परकीय सम्यग्दर्शनका ज्ञान औपशमिकादि हेतुओं द्वारा अनुमानसे[2] हो सकता है। ध्यान रहे यह अनुमान केवल अंदाज अथवा व्यभिचरित भाव नहीं है। अन्यथानुपपन्न समीचीन हेतु के द्वारा होनेवाला अनुमान नामका सम्यग्ज्ञान है। हां! कदाचित यह संभव है और कहा जा सकता है कि इस तरहका अनुमान वही व्यक्ति कर सकता है जिसको कि सम्यक्त्वसहचारी और मिथ्यात्व सहचारी प्रशमादिक अथवा श्रद्धा आस्तिक्य आदिके वैशिष्ट्य यद्वा अन्तरका स्वयं अनुभव है। क्योंकि स्वयं सम्यग्दृष्टि जीव ही इस तरह के साध्यसे अविनाभाव रखने वाले हेतु के वास्तविक अन्तरको समझ सकता है। यही कारण है कि चौथे पांचवे व छठें गुणस्थानवाले जीवों के लियेही यह कहा गया है कि प्रशमादिक हेतुओं के द्वारा यह जीव दूसरेके भी सम्यग्दर्शन के अस्तित्वका अनुमानसे ज्ञान प्राप्त कर सकते है।

आगममें जहां श्रुतज्ञान को सकलादेश तथा विकलादेश इस तरह दो भागोंमें विभक्त किया है वहीं सकलादेशका अर्थ यह बताया है कि जो सम्पूर्ण वस्तु को विषय करे। अर्थात् एक गुण के द्वारा जो विकल्प या गुणभेद न करके पूर्ण वस्तुको ग्रहण किया जाय उसको कहते है सकलादेश[3] अथवा प्रमाण। ऐसा कहने और करने का भी कारण यह है कि वास्तव में वस्तु विधि-प्रतिषेधात्मक अनन्त गुण धर्मों का अखण्ड—अविश्वग्भावी एवं अयुक्तसिद्ध पिंड है। इस तरह के द्रव्यके पूर्णस्वरूप का बोध कराने की शक्ति किसी भी शब्द में नहीं है। कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जो कि इस तरहके द्रव्यका पूर्णतया ज्ञान करासके। वह शब्द स्वभावतः अपने निश्चित अथवा संकेतित अर्थ या अर्थोंकाही बोध करा सकता है। ऐसी अवस्थामें द्रव्यके पूर्ण रूप का ज्ञान कराने के लिए इसके सिवाय और कोई मार्गभी नही है कि किसी भी गुणधर्म के वाचक विवक्षित शब्दकी उस वाचकता को गौण करके उस धर्मसे संबन्धित सम्पूर्ण द्रव्यका उसे वाचक बताया जाय। यही कारण है कि जीवादिक द्रव्योंको किसी भी योग्य गुणधर्मके वाचक शब्दके द्वारा ही जताया जाता है।

यही बात सम्यग्दर्शन के विषयमें समझनी चाहिये। सम्यग्दर्शन के प्रकट होतेही आत्माके सभी गुणधर्मों पर अभूतपूर्व एवं असाधारण विशिष्ट प्रभाव पडा करता है। इन्हीं गुणधर्मों में से कुछ को सम्यग्दर्शन का योग्य बोधक समझकर लक्षणरूपमें कहा जाता है। और उनकी उस अभूत पूर्व असाधारण विशिष्टता को विशेषणों द्वारा स्पष्ट कर दिया जाता है। यही बात

१—प्रशमाद्यभिव्यक्तलक्षणम् प्रथमम् (सराग सम्यक्त्वम्)।

२—अनगार धर्मामृत अ० २–तैः स्वसंविदितैः सूक्ष्मलोभान्ताः स्वां दृशं विदुः। प्रमत्तान्ता अन्यगां तज्जवाक् चेष्टानुमतैः पुनः॥ ५२॥

३—एकगुणमुखेन अशेषवस्तुकथनं सकलादेशः। सकलादेशः प्रमाणाधीनः।

यहांपर भी समझनी चाहिये। सम्यग्दर्शनका बोध श्रद्धान शब्दके द्वारा कराते हुए साथमें कहे गये विशेषणों के द्वारा उसकी इस तरहकी असाधारणताका भी परिचय करा दिया है जिससेकि वह सम्यग्दर्शनका अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असंभव दोषोंसे रहित लक्षणवाक्य माना जा सके।

आप्तादि शब्दोंका सामान्यतया अर्थ यह है कि संसारातीत सिद्ध अवस्था जिस पदसे प्राप्त की जा सकती हैं उसको जिसने प्राप्त कर लिया है उसको कहते हैं आप्त। इसीतरह प्रत्येक पहलुसे ज्ञेय पदार्थ जिसके द्वारा जाना जासके उसको कहते हैं आगम। और कर्मोंकी असाधारण निर्जराके कारणभूत तपके करने वालों को कहते है तपस्वी। किंतु यह सामान्य शब्दार्थ है। जब तक इनके असाधारण स्वरूपको प्रकट करने वाले लक्षण न कहे जांय तब तक उनका यथेष्ट और निर्भ्रान्त ज्ञान नहीं हो सकता। इस बातको ध्यानमें रखकर आचार्य आप्त आदि तीनोंका यहां क्रमसे लक्षण कहते हैं। अथवा तीनोंकी उस परमार्थताको बताते हैं कि जिससे युक्त होने पर वे सम्यग्दर्शनके विषय कहे जासकते हैं। यद्वा जिन २ विशेषणोंसे युक्त आप्तादिका श्रद्धान सम्यग्दर्शन माना जा सकता है उनमें सबसे प्रथम क्रमानुसार ५ कारिकाओंमें आप्तके स्वरूपका प्रतिपादन करते है।—

> आप्तेनोत्सन्नदोषेण[१] सर्वज्ञेनागमेशिना।
> भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत ॥५॥

सामान्य अर्थ—निश्चयसे आप्तको उत्सन्नदोष (छूटगये हैं समस्त दोष जिसके ऐसा) और सर्वज्ञ तथा आगमका ईश होना चाहिये। क्योंकि इसके सिवाय अन्य प्रकारसे आप्तपना बन नहीं सकता।

प्रयोजन—इस कारिकाके निर्माणका वास्तविक प्रयोजन क्या है, इस सम्बन्धमें यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं मालुम होती। क्योंकि इस विषयमें कारिकाकी उत्थानिकामें ही कहा जा चुका है कि उक्त सम्यग्दर्शनके लक्षणमे श्रद्धानरूप क्रियाके कर्मरूपमें जिन आप्त आगम और तपस्वीका उल्लेख किया है उनका क्रमसे इस तरहका वर्णन करना जरूरी है कि जिस से उसकी परमार्थताका बोध हो सके। श्रोताओंको यह भले प्रकार परिज्ञान हो सके कि सम्यग्दर्शनके विषयभूत आप्तादि किस तरहके होने चाहिये। यद्वा किन २ असाधारण विशेषताओंसे युक्त आप्तादिके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा जा सकता है। ऐसी अवस्थामें श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनके विषयभूत आप्तादिकी वे असाधारण विशेषतायें बताना आवश्यक हो जाता है। उनको स्पष्टकरके यह कारिका अपनी प्रयोजनवत्ताको स्वयं दिखादेती है।

दूसरी बात यह है कि जगत्में भिन्न २ सम्प्रदायवालोंने आप्तका स्वरूप भी भिन्न २ प्रकारसे ही माना है। यद्यपि ये मान्यताएं अनेक हैं; फिरभी इनको सामान्यतया सात भागोंमे विभक्त

१—उच्छिन्नदोषेण इत्यपि पाठः।

किया जा सकता है। यहांपर आप्तके जो तीन विशेषण दिये हैं उनमेंसे एक २ तथा दो २ और तीनोंहीके न माननेसे या तीनोंके पृथक२ निरपेक्ष माननेसे सात भंग हो जाते हैं[1]। ध्यान रहे कि ये सातो ही भंग मिथ्या हैं। इन मान्यताओं के अनुसार सच्चे आप्तका स्वरूप लक्षित नहीं होता।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि प्रकृतमें आप्तसे आशय श्रेयोमार्गरूप धर्मके उपज्ञ वक्तासे है। साथ ही यह कि इस तरहके वक्तामें इन तीनों ही विषयोंका रहना भी अत्यावश्यक है। यही कारण है कि ग्रन्थकारने जोर देकर कहा है कि अन्यथा आप्तपना हो ही नहीं सकता बन ही नहीं सकता। यह अन्यथानुपपन्नत्व हेतु आप्तमे तीनों विशेषणोंकी आवश्यकताको सिद्ध करता है।

संसारमें आप्तके स्वरूपके विषयमें जब अनेक तरहकी मिथ्या मान्यताएं प्रचलित हो रही हों, और जगत्के प्राणी उधर आकर्षित होरहे हों, अथवा उनको मानकर गृहीत मिथ्यात्वके द्वारा दुःखरूप संसारमें भ्रमण कर रहे हों तब वास्तविक दयालु भगवान् और आचार्योंका स्वाभाविक कर्तव्य होजाता है कि वे उनकी भ्रांत धारणाको दूर करने केलिये—उनके अज्ञान अंधकार को नष्ट करनेके लिये उनके सामने तथाभूत—यथार्थ वस्तुस्वरूपके प्रकाशको उपस्थित करें जिसमे कि वे श्रेयोमार्गमें निर्विघ्नतया चलकर शुद्ध सत्य स्वतंत्र और शाश्वत सुख—कल्याणको प्राप्त कर सकें। इस कारिकाके निर्माणका यह भी एक प्रयोजन है कि आप्तके स्वरूपमें वास्तविक निर्दोषता कब प्राप्त हो सकती है यह उन संशयित विपर्यस्त मिथ्याधारणाग्रस्त भव्य श्रोताओंके सम्मुख उपस्थित करदिया जाय। इसीलिये आप्तके तीन असाधारण विशेषताओंको प्रकट करने वाले तीन विशेषण देकर बताया है कि इनमेंसे कोई भी विशेषता यदि न मानी जाय तो निश्चित है कि आप्तपना नही बन सकता।

आप्त शब्दका लोकमे प्रसिद्ध अर्थ यह है कि—जो सत्यका ज्ञाता हो और रागद्वेषादिसे रहित सत्यका उपदेश करनेवाला हो। किन्तु आप्तपन दो तरहका हो सकता है १- लौकिक २-पारलौकिक। लोकप्रसिद्ध अर्थ लौकिक आप्तके विषयमें समझना चाहिये। इस कारिका में जो आप्तका स्वरूप बताया गया है वह पारलौकिक आप्तका है। यह बात आगेकी कारिकाओंसे स्पष्ट होजायगी जिनमें कि इस पद्य में कहेगये तीनो विशेषणोंका स्पष्टीकरण किया गया है।

आप्त शब्द का एक प्रसिद्ध अर्थ यह भी है कि जो जिस विषयमें अवञ्चक है वह उस विषयमें आप्त माना जाता है। यह बात पहले भी कही जा चुकी है। किन्तु यह बात भी दृष्टि में रहना जरूरी है कि अवञ्चकता केलिये वास्तवमें अज्ञान कषाय और दौर्बल्य इन तीनों दोषों

१—किसी भी विषयके अपुनरुक्त भंग निकालनेके लिये उतनी जगह दोका अंक रखकर परस्परमे गुणा करना इससे जो संख्या उत्पन्न हो उसमे एक कम करदेना चाहिये। इस हिसाबसे दोके तीन-तीनके सात, चारके पन्द्रह पांचके ३१ भग होते है।

का निर्हरण अत्यावश्यक है।

इस कारिकाने जो पारलौकिक आप्तका स्वरूप बताया है वह लौकिक अर्थों का विरोधी नहीं है फिर भी इस कथन से यह बात अवश्यही स्पष्ट होतीहै कि लोकप्रसिद्ध अर्थ पर्याप्त नहीं है वह लौकिक विषयोंतक ही सीमित हैं और अत एव आंशिक है। पारलौकिक आप्तका जो यहां स्वरूप बताया है वह पूर्ण है, निर्दोष है, और लौकिक तथा पारलौकिक सभी विषयोंकी प्रामाणिकता पर प्रकाश डालता है। जिस तरह[१] श्रुतिसे अविरुद्ध ही स्मृतियां[२] प्रमाण मानी जाती हैं, न कि स्वतंत्र अथवा श्रुतिसे विरुद्ध। इसी तरह प्रकृतमें भी समझना चाहिये। पारलौकिक आप्तसे जो अविरुद्ध है वे ही लौकिक आप्त प्रमाण माने जा सकते है न कि स्वतंत्र तथा पारलौकिक आप्तके विरुद्ध भाषण करनेवाले। यह बात पारलौकिक आप्तका असाधारण सत्य निर्बाध और पूर्ण लक्षण कहे विना नहीं मालुम हो सकती थी। इसलिये भी इस कारिकाका जन्म अत्यावश्यक सिद्ध हो जाता है। क्योंकि ऐसा हुए विना साधारण जीव लोक प्रसिद्ध अर्थको ही पूर्ण मानकर ठगे जा सकते थे—धोखेमें आसकते थे और वास्तविक अर्थसे अज्ञात रहकर श्रेयोमार्गके विषय से वञ्चित रह जाते।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—

आप्त शब्दका सामान्य अर्थ ऊपरके कथनसे ही मालुम होजाता है और विशिष्ट अर्थ वह है जो कि इस कारिकामें दियेगये तीन विशेषणोंसे मालुम होता है। तीनों ही विशेषणोंका आशय आगे बताया गया है। तथा अन्य ग्रन्थोंसे[३] भी जाना जा सकता है कि इन तीन विशेषणोंके विना किस तरह आप्तपना बन नहीं सकता। उन सबका निष्कर्ष यही है कि पूर्ण वीतरागता प्राप्त किये विना अज्ञानका सर्वथा विनाश हो नहीं सकता—सम्पूर्ण ज्ञान अथवा सर्वज्ञता प्राप्त नहीं हो सकती और उसके विना श्रेयोमार्गका यथार्थ वर्णन नहीं हो सकता। अतएव जो पूर्ण वीतराग और सर्वज्ञ है वही वास्तवमें मोक्षमार्गका यथार्थ वक्ता हो सकता है। और उसीको वास्तविक आप्त कह सकते है।

आप्तत्वके लिये सर्व प्रथम जिस गुणकी आवश्यकता है वह है उत्सन्नदोषता—जिसका अर्थ है कि छूट गये हैं दोष—सर्वसाधारण संसारीजीवोंमें पाये जानेवाले सभी दोष[४]—त्रुटियां जिनकी। वे दोष प्रकृतमें कौन२ से लेने चाहिये यह बात आगेकी कारिकामें बताई जाएगी। "उत्सन्नदोष" की जगह "उच्छिन्नदोष" ऐसा भी पाठ-पाया जाता है। दोनों ही शब्दोंके आ-

---

१— द्वादशांग वेद अथवा अंग-अंगोंसे उद्धृत सिद्धान्त शास्त्र। २——स्मृति-संहिता धर्म शास्त्रादि।

३— तत्त्वार्थ सूत्रकी टीकाऐं, आप्तमीमांसा आप्तपरीक्षा, एवं प्रमेयरत्नमाला प्रमेयकमलमार्तण्ड अष्टसहस्री आदि न्यायग्रन्थ। ४—क्षुत्तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्। जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदः मदो रतिः॥ विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः। त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे॥ एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोयमाप्तो निरंजनः। विद्यते येषु ते नित्यं तेत्र संसारिणो मताः॥

शयमें विशेष अन्तर नहीं है।

सर्वज्ञ शब्दका अर्थ स्पष्ट और प्रसिद्ध है। फिरभी लोक प्रसिद्ध अर्थोंसे जैनागममें माने गये इस शब्दके अर्थमें क्या विशेपता है; यह आगे चलकर लिखी जायगी। सर्वमान्य सामान्य अर्थ यही है कि जो सबको जानता[१] है। और विशिष्ट अर्थ वह समझना चाहिये जो कि स्वयं ग्रन्थकारने कारिका नं ७ में बताया है।

आगमेशी—शब्दका अर्थ है कि आगमपर अधिकार रखनेवाला—आगमका स्वामी। मतलब यह कि आगमका जो मूल या मुख्य–उपज्ञ[२] वक्ता है उसको कहते है आगमेशी। इस विषयमें भी स्वयं ग्रन्थकार आगे चलकर अपना आशय स्पष्ट करेंगे।

तात्पर्य—यह कि श्रेयोमार्गरूप धर्म के व्याख्यान और उसकी प्रामाणिकता का मूल आप्त ही है। जिस तरह नींव के विना मन्दिर या जड के विना वृक्ष टिक नही सकता उसीतरह तथाभूत आप्तके विना धर्म के वास्तविक स्वरूप का न तो किसीको परिज्ञानही हो सकता है और न उसके विपयमें प्रामाणिकता का विश्वास ही हो सकता है। जगतमें इस सम्बन्धमें अनेक मिथ्या मान्यताएं प्रचलित हैं जिनको कि न तो युक्तियोंकाही समर्थन प्राप्त है और न जिनको अनुभव ही स्वीकार करता है। इसके सिवाय इस कथन के करनेवाले वे शास्त्र ही स्वयं पूर्वापर विरोध एवं भिन्न २ प्रकारका अर्थ करनेवाले आचार्योंकी विरुद्ध निरूपणाओ के कारण अप्रमाण ठहर जाते हैं।

कोई २ धर्म के व्याख्यान करनेवाले आगम—वेद को अनादि मानते है; जब कि यह बात स्पष्ट है कि कोई भी शब्दविशेप विना उसके वक्ताके प्रवृत्त नही हो सकता। कोई २ उसको अशरीर ईश्वरकृत बताते हैं। किंतु यह कोई भी विचारशील समझ सकता है कि शरीरके विना एसे शब्दों की इसतरह की रचना उत्पत्ति किस तरह हो सकती है। कोई २ उसको हिंसा जैसे महापाप का विधायक स्वीकार करते हैं। और कोई २ उन्ही वाक्योंका भिन्न २ प्रकारका अर्थ करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी अवस्थामें जब कि उसका मूल वक्ता ही सिद्ध न हो अथवा जिसमें संसार भ्रमण एवं महान दुःखपरम्परा के कारणभूत हिंसा जैसे पाप का समर्थन पाया जाता हो उसका वक्ताही सशरीर नही है यद्वा उसका वक्ता निर्दोष है यह बात कौन विचक्षण स्वीकार करेगा, कौन प्रमाण मानेगा और किसके अनुभव में आ सकेगा।

इसके सिवाय लोगोंने आप्तका जैसा कुछ स्वरूप माना या बताया है उसको देखते हुए न तो उनकी सर्वथा निर्दोषता ही सिद्ध होती है और न सर्वज्ञता ही, क्योंकि कोई भी विद्वान् इस बात को स्वीकार करेगा कि वीतरागता एवं सर्वज्ञता के बिना यदि कोई भी व्यक्ति कुछ भी

१—जिसका आशय यह होता है कि अपने२ समयके प्रचलित सब विषयोंका सबसे बडा विद्वान।
२—किसीके कथनका अनुवादादि न करके स्वतंत्रतासे सर्वप्रथम वक्ता। ईश ऐश्वर्ये। आगमम् ईष्टे। आगमपर ऐश्वर्य रखनेवाला।

बोलता है तो उसके वचनोंमें स्वतः प्रामाणिकता कभी भी नहीं मानी जा सकती। फिर धर्म जैसे विषय का तो प्रामाणिक वक्ता माना ही उसे किस तरह जा सकता है। क्यों कि धर्मका सम्बन्ध इन्द्रियागोचर आत्मासे है जिसका कि सत्यपूर्ण एवं स्पष्ट ज्ञान सर्वज्ञको ही हो सकताहै। एवं वह सर्वज्ञता भी जिसके कि द्वारा मूर्त अमूर्त सभी पदार्थ उनके गुणधर्म और उनकी त्रैकालिक सम्पूर्ण अवस्थाओंका साक्षात्कार हुआ करता है तब तक प्राप्त नही हो सकती जब तक कि वह व्यक्ति साधारण संसारी जीवोंमे पाये जानेवाले दोषोंसे सर्वथा रहित नहीं हो जाता। अस्तु यह बात युक्तियुक्त और अच्छीतरह अनुभवमें आनेवाली है कि इन दोनो ही गुणोंको प्राप्त किये विना कोई भी व्यक्ति आगमसिद्ध विषयोंके प्रामाणिक वर्णनका वस्तुतः अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव मोक्षमार्गके वक्ता आप्तमे इन तीनोंही गुणोंका रहना अत्यावश्यक है इन तीन गुणोंका आप्तमें रहना दिगम्बर जैनागममें ही बताया गया है। अतएव उसका ही प्रतिपादित धर्म निर्दोप एवं सत्य होनेके कारण विश्वसनीय, आदरणीय तथा आचरणीय है।

आप्त परमेष्ठी के प्रकृत तीन विशेषणोंमें यह बात भी जान लेनी चाहिये कि इनमें उत्तरोत्तरके प्रति पूर्व २ कारण है। मतलब यह कि निर्दोपता (वीतरागता) सर्वज्ञताका कारण है। दोषोंका (जिनका कि आगेकी कारिकामें उल्लेख किया जायगा) नाश हुए विना सर्वज्ञता प्राप्त नहीं हो सकती। और सर्वज्ञता हुए विना आगमेशित्व बन नही सकता। क्योंकि इन दोनों गुणों को प्राप्त किये विना यदि कोई आगमके विषयका प्रतिपादन करता है तो वह यथार्थ एवं प्रमाणभूत नही माना जा सकता। आगमका विषय परोक्ष है। न तो वह इन्द्रियगोचर है और न अनुमेय ही है। ऐसे विषयमे प्रत्यक्ष—पूर्ण प्रत्यक्षही प्रवृत्त हो सकता है। एकदेश प्रत्यक्ष भी विषयके सर्वांशोंको ग्रहण नहीं कर सकता। अतएव श्रेयोमार्ग या धर्माधर्म तथा उसके फलका यथार्थ वर्णन सर्वज्ञताके द्वारा ही हो सकता है और वही प्रमाण माना जा सकता है। किंतु यह सर्वज्ञता तबतक प्राप्त नही हो सकती जब तक कि वह व्यक्ति समस्त दोषोंको निर्मूल नहीं कर देता। इसलिए पूर्व पूर्व को कारण और उत्तरोत्तरको काय मानना उचित एवं संगत ही है। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि उत्तरोत्तरके प्रति पूर्व २ की व्याप्ति नियत है। अर्थात् जहां आगमेशित्व है वहां सर्वज्ञताभी अवश्य है। और जहां सर्वज्ञता है वहां निर्दोपता (वीतरागता) भी नियत है। किंतु इसके विपरीत यह नियम नहीं है कि जहां २ निर्दोपता (वीतरागता) है वहां २ सर्वज्ञता भी है और जहां २ सर्वज्ञता है वहां २ आगमेशित्व भी नियत है। क्योंकि क्षीणमोह निर्ग्रन्थ निर्दोप वीतराग तो कहे जा सकते हैं परन्तु वे सर्वज्ञ नही माने या कहे जा सकते हैं। यद्यपि वह वीतरागता सर्वज्ञता का साधन अवश्य है। हां! यह बात ठीक है कि राग द्वेष और मोह का अभाव होजानेसे प्राप्त हुई निर्दोपता (वीतरागता) के विना घातित्रय का अभाव अथवा सर्वज्ञता की सिद्धि नही हो सकती। इसी तरह यह भी नियम नहीं है कि जो २ सर्वज्ञ हों वे सब आगम के ईश—उपज्ञ वक्ता हों ही। इस सम्बन्धमें पहले भी लिखा जा चुका

है अतएव पुनः उल्लेख की आवश्यकता नहीं है ।

आप्तका लक्षण इस तरह का भी प्रसिद्ध है कि "यो यत्रावंचकः स तत्र आप्तः" । अर्थात् जो जिस विषयमें अवञ्चक है वह उस विषय में आप्त है । जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है । किंतु इस विषयमें विचारणीय बात यह है कि वञ्चना ज्ञान पूर्वक या उद्देश पूर्वक ही हो ऐसा नियम नहीं है । संभव है—हो सकता है कि किसीकी अज्ञानपूर्वक चेष्टासे भी सामनेवाला वञ्चित हो जाय अथवा वक्ता का उद्देश्य—हेतु तो श्रोताओंको धोका देना न हो परन्तु उसके उपदेशका परिणाम श्रोताओंपर इस तरहका पडे जिससे वे वास्तविक अपने हितके विषयमें प्रतारित हो जांय । किन्तु यह तभी संभव हो सकता है जबकि वक्ता या तो सदोष है—राग द्वेष मोहसे युक्त है अथवा अज्ञानी है, यद्वा शक्तिहीन—दुर्बल है—ज्ञातविषयका ठीक ठीक प्रतिपादन करनेमें असमर्थ है । अतएव प्रकृतमें आप्तका जो लक्षण आचार्यने बताया है वही निर्बाध—निर्दोष प्रतीत होता है । क्योंकि यहां दिये गये तीन विशेषणोंसे इन तीनो त्रुटियों का वारण हो जाता है । पहले विशेषणसे रागद्वेष मोह आदि दोषोंका, और सर्वज्ञ विशेषण से शेष दोनों त्रुटियों का[1] भी निराकरण हो जाता हैं। कारण कि मोहका क्षय हो जानेके बाद तीनों घातिक कर्मोंका युगपत् विनाश होते ही सर्वज्ञता प्राप्त हुआ करती है । अतएव सर्वज्ञपद अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन के सिवाय अनन्त वीर्यका भी बोध करा देता है । अतएव श्रेयोमार्गके वक्ता आप्त का यहां जो लक्षण बताया गया है वह सर्वथा उचित युक्त और उपयुक्त ही नहीं, पूर्णतया निर्दोष भी है इसकी निर्दोषता और आवश्यकता के विषयमे विशेष जिज्ञासुओं को मोक्ष शास्त्र तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्रके मंगलपद्य—'मोक्षमार्गस्य नेतारम्" आदिकी टीकाओंको[2] वाचना चाहिये ।

ऊपर यह बात कही गई है कि यहां पर जो आप्तके तीन विशेषण दिये गये हैं उनमें उत्तरोत्तर के प्रति पूर्व २ कारण हैं; साथही यह बात भी स्पष्ट कर दी गई है कि पूर्व २ के साथ उत्तरोत्तरका अस्तित्व सर्वथा नियत नहीं है । क्योंकि किसी समर्थ[3] कारण विशेषके सिवाय साधारण कारणोंके विषयमें यह नहीं कहा जा सकता कि इसके होनेपर नियमसे कार्य होगाही । किंतु जो जो कारण हैं उनके विषयमें यह अवश्य कहा जा सकता है कि इनके विना कार्यकी निष्पत्ति हो नही सकती । उदाहरणार्थ—

ऐसा कोइ साधु[4] जो कि आहार संज्ञासे मुक्त है, उत्तम संहनन[5] से युक्त है, अबद्धायुष्क[6]

१—अज्ञान और असमर्थता ।

२—सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक । इनमे विवक्षितमंगल पद्यके एक एक भागपर ग्रन्थकर्ताओने प्रकाश डाला है । ३—यद्व्यापारानन्तरमव्यवहितांतरक्षणे कार्यनिष्पत्तिः । अथवा प्रतिबन्धकाभावविशिष्ट समस्तसहकारित्वम् । ४—जो दिगम्बर जैन मुनि है वही क्षपकश्रेणी चढ सकता है । ४. ५—६ दिगम्बर जैन मुनि होकर भी जो प्रथम संहननसे युक्त है और किसी भी नवीन आयुकर्मके बन्धसे रहित है वही सर्वज्ञता का साधक क्षीण मोह निर्ग्रन्थ हो सकता है ।

है, जातिमद एवं दीनता आदि हीनताओंसे रहित है, वही क्षपक श्रेणिका आरोहण कर सकता है। इस विषयमें ध्यान देने की बात यह है कि ये सब क्षपक श्रेणीके आरोहणमें कारण अवश्य है। किंतु ये ऐसे असाधारण कारण नहीं हैं कि केवल इन योग्यता प्रकट करने वाले गुणोंसे ही उस जीव के मोहका क्षपण हो जाय। उस क्षपणके लिए साधकतम कारण तो जीव के वे अन्तरंग परिणाम विशेष है जिनको कि आगम में "करण"[१] इस नामसे कहा है। उसके होनेपर ही क्षपक श्रेणीका कार्य या आरोहण हो सकता है। हां, यह बात सत्य है कि इन बताई गई योग्यताओं के विना वे कारणरूप परिणाम हो नही सकते किंतु यह बात भी निश्चित है कि इन योग्यताओंकेही बलपर वे करणरूप परिणाम हो ही जांय यह नियम नहीं है। अतएव इन योग्यताओंके विषयमें इतनाही कहा जा सकता है कि मोहके क्षपणके लियेभी कारण अवश्य हैं। क्यों कि इनके विना यह कार्य होता नही है। परन्तु इन योग्यताओंको ऐसा समर्थ कारण नहीं कहा जा सकता कि इनके होनेसे प्रकृत कार्य होही जायगा। किंतु क्षीणमोह[२] निर्ग्रंथ योग्यताके विषय में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इसके होनेपर घातित्रय का अभाव अथवा सर्वज्ञता का प्रादुर्भाव नियम से होकर ही रहेगा।

इस तरह आप्तके विषयमे जो ग्रन्थकारने यह कहा है कि प्रकृत निर्दोषता आदि तीन विशेषणोंसे युक्त ही आप्त हो सकता है, अन्यथा आप्तपना बन नहीं सकता सो सर्वथा युक्तियुक्त है किंतु इस तरह आप्त कहां और कौन संभव है इस विषयमें विचारशील विद्वानोंको तत्तत् आप्तों के प्रवाहरूपसे चले आये तथाकथित वचनोंका निष्पक्ष एवं सूक्ष्मेक्षिकाके द्वारा परीक्षण करना चाहिये। क्योंकि उन वचनोंके द्वारा ही उनके वक्ताकी वास्तविक योग्यताका परिचय मिल सकता[३] है।

ग्रन्थकारने आप्तके जो तीन विशेषण दिये हैं उनमेंसे पहिला विशेषण उत्सन्नदोष है। इस विषयमें पाठकोंको यह जिज्ञासा होसकती है कि वे दोष कौन२ हैं जिनसे कि आप्तको सर्वथा रहित होना ही चाहिये। इस तरहकी जिज्ञासाका कारण भी है। क्योंकि धर्मके स्वरूपके मूल वक्ताके विषयमें आजकल अनेक तरहकी मान्यताएं प्रचलित हैं। भिन्न२ प्रकारकी इन मान्यताओंके अध्ययनके बाद यह अवश्य ही शंका उपस्थित होती है या हो सकती है कि वास्तवमें आप्त किस तरहका होना चाहिये? और उसमें तथाकथित गुणोंका अस्तित्व संभव है या नहीं? साथ ही यह कि यहांपर जो ग्रन्थकारने आप्तको सर्वथा दोषोंसे रहित रहना बताया है इस तरह का आप्त-कौन हो सकता है या कौन है? इस तरहकी सब शंकाओंका निरास अथवा जिज्ञासाओंका समाधान तभी संभव होसकता है जबकि उन दोषोंका परिज्ञान हो जाय—यह मालुम हो

१—असाधारणम् कारणम् करणम्।

२—बारहवां गुणस्थान। ३ पूर्वापराविरोधेन परोक्षे च प्रमाण्यताम्। अथवा—स त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति शास्त्राविरोधिवाक्। अविरोधो यदिष्टम् ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥ इत्यादि॥

जाय कि वे दोष ये है और साथही यह कि येही ऐसे दोष हैं जिनके कि रहनेपर वास्तवमें आप्त-पना बनही नहीं सकता। अथवा इनके न रहनेपर ही आप्तपना बन सकता है। यही कारण है कि ग्रन्थकार यहांपर आप्तकी वास्तविक निर्दोषताकी परीक्षाके लिये स्वयं उन दोषोंका नामोल्लेख करके बताते हैं।—

क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥६॥

अर्थ—विद्वानों अथवा आचार्योंके द्वारा प्रकृष्ट यद्वा प्रशंसनीय आप्त वही बताया गया है जिसमें कि ये दोष नहीं पाये जाते—

क्षुधा-भूख, पिपासा-प्यास, जरा-बुढ़ापा, आतंक-रोग, जन्म-आयुकर्मके उदयसे भवान्तरका धारण—चार गतियोंमेसे किसी भी गतिमे उत्पन्न होना, अन्तक—मरण—वर्तमान आयुका इस तरह से पूर्ण हो जाना कि जिसके समाप्त होनेसे पूर्वही नवीन आयुकर्मका चार गतियोंमेंसे किसीमें भी अवश्य ही उत्पन्न होनेके असाधारण अन्तरंग कारणरूप कर्मका बन्ध होगया हो, भय--मोहनीय कर्मका वह भेद जिसके कि उदय अथवा उदीरणासे ऐसी मानसिक दुर्बलताएं[१] उत्पन्न हुआ करती हैं जिनको कि लोकमें डर शब्दसे कहा करते है, और जो आगममें इहलोकभय परलोक-भय अत्राणभय अगुप्तिभय मरणभय वेदनाभय और आकस्मिकभयके नामसे संख्यामें सात गिनाई गई हैं, स्मय--जाति कुल आदिके विषयमें गर्व जिसकी कि संख्या आठ विषयभेद अनुसार परिगणित हैं। (आगममें बताई है) और जिनका कि स्वयं ग्रन्थकार आगे[२] चलकर नामोल्लेख करेंगे, राग- ऐसी कषाय जिसके कि कारण विषयमें इष्टताका भाव जागृत हुआ करता है और ऐसे अप्राप्त विषयको प्राप्त करनेकी तथा प्राप्त विषयसे वियुक्त न होनेकी अन्तरंगमें भावना उत्पन्न हुआ करती हैं, द्वेष--ऐसी कषाय जिसके कि निमित्तसे रागसे विपरीत भाव हुआ करता है विषयमें अनिष्टताकी कल्पना तथा वह मुझे कभी प्राप्त न हो या उससे मेरा सम्बन्ध कब छूटे इस तरहकी भावना हुआ करती है, मोह -आत्माके शुद्ध एवं वास्तविक रूपमें अथवा तत्त्वोंके विषय में मूर्छाभावका रहना। इस तरह ये ग्यारह दोष हैं। इनके सिवाय "च" शब्दसे जिनको यहां बताया है वे सात दोष और भी है। यथा--चिंता अरति निद्रा विस्मय विषाद खेद और स्वेद। इस तरह कुल मिलाकर दोषोंकी संख्या अठारह होती है जो कि आप्तमें नहीं रहा करते--आप्त के द्वारा इनको उच्छिन्न करदिया जाता है। जो कि कारणके अभावसे या उसके दुर्बल हो जानेसे या तो स्वयं ही नहीं हुआ करते। यद्वा यह भी कह सकते है कि आप्तमें इनके उत्पन्न होने की योग्यता ही नहीं रहा करती।

"च" शब्दसे जिनका ग्रहण किया गया है उन उपर्युल्लिखित सात-दोषोंका अर्थ प्रसिद्ध

१—अल्पशक्तिक ही भयातुर हुआ करता है। 'ओसमसत्तीए' । गं०जी०। २—ज्ञानं पूजां कुलं जाती" आदि।

है फिर भी स्पष्ट प्रतिपत्तिके लिये संक्षेपमें यहां लिख दिया जाता है। चिन्ता-इष्ट या अनिष्ट विषयमें प्राप्ति या वियोगके सम्बन्धको लेकर बार बार व्यग्र होना अथवा शोचा करना, अरति-चित्तका न लगना, निद्रा-स्वाप-सोना, विस्मय आश्चर्य, विषाद-खिन्नता शोक संक्लेश या चित्त में घबडाहट, खेद-थकावट या कमजोरी स्वेद-पसीना।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—

शब्दोंका अर्थ ऊपर प्रायः सब लिखा जा चुका है। अतएव सामान्य अर्थके विषयमें अब यहां लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु हम अपनी समझके अनुसार यहां इन दोषों के विषयमें कुछ अपने विचारों या अनुभवको भी स्पष्ट करदेना चाहते है।

पाठक देखेंगे कि इस कारिकाके पूर्वार्धमें आठ और उत्तरार्धके तृतीय चरणमें तीन इस तरह ग्यारह दोषोंके नाम कण्ठोक्त है-ग्रन्थकर्त्ता आचार्यने उनका स्पष्ट नामोल्लेख किया है। बाकी रहे सात दोषोंके नाम सो "च" शब्दसे सूचित किये है जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। इन सभी दोषोंका प्रसिद्ध अर्थ जो कुछ है वह सभी ऊपर बताया जा चुका है। किन्तु विचारणीय बात यह है कि ऐसा ग्रन्थकारने क्यों किया? इसके उत्तरमें हमारी जो समझ है वह यहां हम लिख देना उचित समझते है जिससे कि विद्वान् पाठकोंको विचार करनेका अवसर प्राप्त हो। हमारी समझसे पूर्वार्धमे जिन आठ दोषोंका नाम गिनाया है उनका सम्बन्ध मुख्यतया अघाति कर्मों से है। यथा क्षुत् पिपासा ये दो दोष वेदनीयसे, जरा और आतंक नाम कर्मसे, जन्म और अन्तका मरण आयु कर्मसे तथा भय और स्मय गोत्र कर्मसे सम्बन्धित है। इसीप्रकार उत्तरार्धमें गिनाये गये तीन दोष राग द्वेष और मोह तथा "च" शब्दसे सूचित किये गये सात दोषोंका सम्बन्ध घातिकर्मोंसे है। राग द्वेषमोहका सम्बन्ध मोहनीय कर्मसे स्पष्ट ही है। इनके सिवाय चिन्ता और आश्चर्यका सम्बन्ध ज्ञानावरणसे, निद्राका दर्शनावरणसे शोक और अरति का सम्बन्ध मोहनीयसे और स्वेद तथा खेदका सम्बन्ध अन्तराय-वीर्यान्तरायकर्मसे है।

प्रश्न—क्षुत् पिपासा वेदनीयजन्य, जरा और आतंक नामकर्म निमित्तक, तथा जन्म और अन्तक आयुकर्म सम्बन्धित हैं, यह बात तो प्रतीतमें आती है। किन्तु भय और स्मय गोत्रकर्मसे सम्बन्धित बताये सो यह समझमें नहीं आया? आपने भी ऊपर इसी श्लोकका अर्थ करते हुए जो लिखा है उससे भी स्पष्ट है कि ये दोनो ही दोष मोहकर्मसे सम्बन्धित है। फिर आप यहां इनको गोत्रकर्मसे सम्बन्धित किस तरह बताते हैं?

उत्तर—ठीक है। हमने ऊपर इन दोनो दोषोंको मोह निमित्तक अवश्य ही बताया है। प्राचीन टीकाकर्त्ता श्री प्रभाचन्द्रने जो कुछ अर्थ लिखा है उन्हीके आधार पर हमने भी वह अर्थ लिखा है और वह सर्वथा सत्य है। परन्तु इस विषयमें कुछ विचारणीय बात भी है।

प्रश्न—इसमें विचारणीय बात क्या है? आपका कथन मनमाना है, पूर्वाचार्योंके यदि विरुद्ध है तो प्रमाण किस तरह माना जा सकता है?

उत्तर—सर्वथा सत्य है। पूर्वाचार्योंके विरुद्ध हमारा कोई भी कथन प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता। परन्तु विरुद्ध हो तब न?

प्रश्न···विरुद्ध किस तरह नहीं है?

उत्तर—इस तरह। कारण यह कि इन आठ दोषोंमें से दो दोका एक २ अघातिकर्म विशिष्ट कारण है। और आठोंका ही सामान्य कारण मोहनीय है। जहां तक मोहनीय कर्मके उदयका सम्बन्ध है वहांतक वेदनीयादिक कर्मोंके उदय अथवा उदीरणाका कार्यभी एक विशिष्ट प्रकारका हुआ करता है जिससे कि नवीन कर्म बन्धमें भी अन्तर पडजाता है मोहनीयके उदय का सम्बन्ध हट जाने पर इन कर्मोंके उदयका कार्यभी उस तरहका नहीं हुआ करता। मोहनीयको अघातिकर्मोंके फलदानमें जो सामान्य कारण कहा है सो इस विषयमें भी यह ध्यानमें लेना चाहिये कि इस सामान्य कारणके द्वारा भी फलमें जो अन्तर पडता है वह सर्वत्र समान नहीं है। चारो ही अघातिकर्मोंके इन कार्योंमें मोहके निमित्तसे जो अन्तर पडता है वह सर्वत्र एक प्रकारका न होकर भिन्न २ प्रकारका ही है। क्षुत् पिपासाके लिये मोहकर्मोदय जनित भाव वेदनीयकी उदीरणामें कारण है। जरा और आतंकके लिये नामकर्मके भेद अस्थिर प्रकृतिके उदय उदीरणामें निमित्त हैं। जन्ममरणके लिये नवीन आयुकर्मके बन्धमें कारण है। क्योंकि जन्मसे यहां आशय नवीन आयुका बन्ध होकर उसके उदयजनित भावसे है; नकि वर्तमान पर्यायकी उद्भूतिसे जो कि हो चुकी। इसी तरह मरणसे मतलब वर्तमान शरीरके वियोगसे नहीं अपितु नवीन आयुके उदय और भुज्यमान आयु सत्त्वके अभावसे है। इसी तरहजरा और आतंक-रोग जो हुआ करता है वह अस्थिर प्रकृतिके उदयसे वर्तमान शरीरकी धातु उपधातुओंके स्थानसे विचलित हो जाने पर अथवा स्वभावके विकृत हो जानेसे हुआ करता है उसीसे यहां प्रयोजन है। इसी तरह भय और स्मयके विषयमें भी समझना चाहिये। जिसका तात्पर्य यह है कि गोत्रकर्मके दो भेद है। एक उच्च और दूसरा नीच। जिसके उदयसे लोकपूजित कुलमें जीव जन्म धारण करें उसको उच्चगोत्रकर्म और जिसके उदयसे लोकगर्हित कुलमें जीव जन्म धारण करें उसको नीचगोत्रकर्म कहते हैं। नीचगोत्रमें उत्पन्न हुआ जीव महाव्रत धारण नहीं कर सकता; क्योंकि उसकी अन्तरंग मनोवल आदिकी तथा वहिरंग शारीरिक वल आदिकी दुर्वलताएं उसमें जिसतरह की कायरता पैदा किया करती है उनके कारण उसके प्रत्याख्यानावरण कर्मका क्षयोपशम नहीं होने पाता नहीं हो सकता इस तरहकी कायरता एवं कायरताके कारण वह जीव हमेशा भयातुर रहा करता है और माना जाता है। मतलब यह कि नीचगोत्रकर्मके उदयसे प्राप्त हुई जीवकी अवस्था[१] उसके भय कषायके तीव्रउदय एवं उदीरणामें नोकर्मका कार्य किया करती है जिस तरह भयसंज्ञामें

१—क्योंकि गोत्रकर्म जीवविपाकी है। अतएव उसके उदयका कार्य जीवके परिणाम रूप अवस्था में ही माना जा सकता है।

वीर्यान्तराय कर्मका उदयभी एक कारण[१] है। उसी तरह नीचगोत्र कर्मका उदय भी उसमें एक कारण है यह बात अंजनचोरकी कथामें[२] आये हुए आकाशगामिनी विद्याके साधनमें असमर्थ मालीके दृष्टान्तसे समझमें आ सकती है, इसके सिवाय उच्चगोत्रकर्मका जिनके उदय है उनके भी भयनोकषायके तीव्रउदय एवं उदीरणामें अन्य अन्य अनेक और भी कारण हैं। जैसे कि स्त्री का शरीर संहननकी हीनता आदि। जिससे कि उच्चगोत्री भी जीव कायर भयभीत रहा करते हैं। यद्यपि भयरूप परिणामके होनेमें मुख्य कारण भय नामका नोकषाय ही है फिर भी उसके तीव्रोदय सततोदय तथा उदीरणामें कारण अन्य२कर्मोंके उदयसे उत्पन्न अवस्थाएं अथवा विभिन्न प्राप्त वस्तुएं भी हैं। ऐसी अवस्थामें उनकी कारणताका अभाव नहीं कहा जा सकता। यह बात अनेक दृष्टांतों से समझमें आसकती है। आहार संज्ञामें असातावेदनीयकी उदीरणाके सिवाय मोहनीयका उदय तथा वीर्यान्तरायका क्षयोपशम[३] आदि भी कारण हैं। इसी तरह अन्य संज्ञाओंके विषयमें भी समझना चाहिये।

मतिज्ञानादिकी उत्पत्तिमें जिस तरह मुख्य कारण तत्तत् आवरण कर्मका क्षयोपशम है उसी तरह सहवर्त्ती कारण वीर्यान्तरायकर्मका क्षयोपशम एवं यथायोग्य उपकरणादिके लाभमें आंगोपांगादि कर्मोंका उदय भी है ही। इस तरहसे यह बात भले प्रकार समझमें आ सकती है कि जहां२ भी किसी भी विवक्षित परिणामके सम्बन्धमें मुख्यतया एक कर्मको कारण बताया है वहां दूसरे २ कर्म--उनकी उदयादि अवस्थाएं और तज्जनित परिणाम भी कारण रहा ही करते है। वहांपर मुख्यरूपमें एकको कारण कहदिया जाता है परन्तु कारण अन्य भी रहा ही करते हैं अतएव भय और स्मयके सम्बन्धमें गोत्र कर्मको भी कारणता अवश्य प्राप्त है। नीच गोत्रकर्मके उदयवाला जीव भले ही ऊपरसे भयातुर मालुम न पडे परन्तु अन्तरंगमें वह अवश्य ही भयभीत रहा करता है। साधारण उच्चगोत्री भी उच्चगोत्रके निमित्तसे प्राप्त हुई सम्पत्ति कुलीनता आदिके सम्बन्धको लेकर सदा ही प्रायः[४] चिन्तित एवं भीत रहा करता है। मोहनीय कर्मको जो कारण कहा जाता है सो वह तो सामान्य कारण है।

जिसतरह राजाका राज्यके प्रत्येक विभागपर अधिकार रहा करताहै,तथा किसीभी विभागका कार्य उसकी मनीषाके विपरीत नहीं हुआ करता परन्तु उसउस विभागके गौणमुख्यरूपमें अन्यान्य व्यक्ति भी कारण हुआ ही करते है। इसी तरह भय एवं स्मयके विषयमें मोहनीय और गोत्र दोनों को ही कारण समझना चाहिये। जिस तरह उच्चगोत्रके निमित्तसे प्राप्त वैभव--अधिकार कुल

१—अइर्भीमदंसणेणय तस्सुवजोगेण ओमसत्तीए। भयकम्मुदीरणाए भयसण्णा जायदे चदुहिं ॥ गो० जी० ॥

२—यह कथा आगे निःशंकित अंगके व्याख्यानमें दी गई है।

३—क्यों कि भोजन को पचानेका सामर्थ्य वीर्यान्तरायके क्षयोपशम पर निर्भर है।

४—भोगे रोगभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयं। शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं मौने दैन्यभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं। सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयं ''भर्तृहरि''

जाति आदि स्मयके उत्पन्न होनेमें कारण है उसी तरह उसके प्रतिपक्ष भयभावकी उत्पत्तिमें नीच गोत्र अथवा उच्चगोत्रके उदयकी अल्पता भी कारण अवश्य है। हां, मोहकर्मकी एक प्रकृति मान कषाय जिस तरह स्मयकी उत्पत्तिमें कारण है उसी तरह भयके होनेमें भयनोकषाय भी कारण है। जिस तरह भयके होनेमें वीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी न्यूनताकी कारणता मान्य है उसी तरह गोत्रकर्मको भी एक कारण अवश्य मानना चाहिये। यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि भय और स्मय एक ही प्रकारके नहीं हुआ करते। वे कारण भेदों तथा विषयभेदों आदिके अनुसार नाना प्रकारके हुआ करते है। अतएव पूर्वार्धमें बताये गये आठ दोषोंके सम्बन्ध में सामान्य कारण मोह और विशेष कारण क्रमसे वेदनीय आदि चारों अघातिकर्मोंको भी समझना चाहिये जैसा कि ऊपर बताया गया है। यह हमारा कथन न तो अयुक्त-युक्तिविरुद्ध ही है और न आगम-पूर्वाचार्योंके विरुद्ध ही है।

राग द्वेष और मोह ये तीनों स्पष्टही मोहोदयजनित दोषहै जिनकाकि मोहके अभाव हो जाने पर अभावहो जाया करताहै। पूर्वार्धमें बताये गये आठ दोषों और 'च' शब्दके द्वारा सूचित सात दोषोंके मध्यमे इन तीन दोषोंका उल्लेख इस बातकोस्पष्ट करता हैकि देहली दीपकन्यायके अनुसार मोहके इन भावोका प्रभाव दोनों ही तरफ पड़ता है। अघाति कर्म जिस तरह मोहके उदयकी अवस्थामें अपना फल देनेमें पूर्णतया समर्थ रहा करते है उस तरह उसके अभावकी अवस्थामें नहीं। मोहका अभाव होजानेपर वेदनीय आदि अघातिकर्म अपना फल देनेमें जली हुई रस्सीके समान सर्वथा असमर्थ होजाया करते है। इस बलवत्तर अन्तरंग सहायक निमित्तके विना ये अघातिकर्म अपना कुछ भी कार्य नहीं कर सकते। जिस तरह गद्दीसे उतरा हुआ राजा नाम मात्रके लिये राजा रह जाता है परन्तु वह सत्ताके विना कार्य करनेमें समर्थ नहीं हुआ करता इसीतरहकी अवस्था इन अघातिकर्मोंकी होजाया करताहै। तथा मोहका क्षय होजानेपर शेष तीनों घातिकर्मोंका भी क्षय होजाया करता है। अघाति कर्मोंका अस्तित्व तो बना रहता है परन्तु वे कार्य करनेमें असमर्थ होजाया करते है; किंतु घातिकर्म तो अपना अस्तित्व ही खो बैठते हैं।

प्रश्न—जिस तरह मोहका क्षय होते ही घातित्रयका क्षय हो जाया करता है उसी तरह अघातिकर्मोंका भी क्षय क्यों नहीं हो जाता? जब सब कर्मोंका राजा या शिरोमणि मोह ही है तब इसके नष्ट होते ही इसका सारा सैन्य ही नष्ट होजाना चाहिये। घातिकर्म तो नष्ट हों परन्तु अघातिकर्म नष्ट न हो इसका क्या कारण है?

उत्तर—यद्यपि आठोंही कर्मोंका मूल मोहही है फिरभी इनमेसे दो कर्मोंका विषय सम्बन्ध विभिन्न प्रकारका है। आठों ही कर्मों पर मोहका आधिपत्य रहनेपर भी घातिकर्मोंके साथ उसका सीधा और निकट संबन्ध है क्यों कि मोहके समान वाकीके तीनों घातिकर्म भी आत्माके अनु-जीवी गुणोंका घात करनेवाले है। अतएव कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध रखनेवाले अनुजीवी गुणों

का घातक घातिकर्मोंपर जैसा सीधा और तत्काल प्रभाव पडता है वैसा अघाति कर्मोंपर नहीं। अघाति कर्मोंका मुखिया आयुकर्म है। जबतक आयुकर्म विद्यमान है—उसका निःशेष अभाव नहीं हो जाता तबतक अघाति कर्मोंका भी प्रलय नहीं हो सकता। जिस तरह युद्ध भूमि में शत्रुके आघात से धड और शिरके पृथक२ हो जाने परभी केवल धड—रुण्ड भी कुछ काल तक लड़ता रहता है। उसी प्रकार यद्यपि घाति कर्मोंके नष्ट हो जाने से कार्मणशरीर के धड और शिर पृथक२ हो चुके है फिर भी रुण्डके समान ये अघाति कर्म आयुकर्मकी स्थिति पर्यंत अपना अस्तित्व किसी तरह बनाये रखते है। आयुके अभाव के साथ ही इनका भी अभाव हो जाया करता है। इस व्यवस्थासे आयुकर्मका अघाति कर्मोंके ऊपर जो प्रभाव है तथा मोहकी उसे जैसी कुछ आधीनता प्राप्त है वह सब स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि मोह या घातिकर्मोंका क्षय हो जाने पर एक निश्चित समयतक स्थिर रहकर भी अन्तमें स्वयं निःसंतान ही क्षय को प्राप्त हुए बिना नही रहता।

प्रश्न—मोहकर्म का सीधा सम्बन्ध जिनके साथ आपने बताया उनके निमित्त से होनेवाले दोषोंको 'च' शब्दसे सूचित किया और जिनके साथ आयुकर्मका साक्षात् एवं मोहका परम्परा सम्बन्ध आपने बताया उन अघाति कर्म निमित्तिक आठ दोषोंको सबसे प्रथम नाम लेकर गिनाया, इसका कारण?

उत्तर—कारण ऊपरके कथनसेही मालूमहो सकता किंतु इसका कारण है यहभी है कि अघाति निमित्तक आठ दोषोंके विषयमें जैसाकुछ विसम्वाद आजकल पाया जाता है वैसा घातिनिमित्तक दोषोंके विषयमें नहीं। अतएव भव्य श्रोता मिथ्या—असंगत तत्त्वके विषयका उपदेश सुनकर श्रद्धाविहीन न हो जांय अथवा मिथ्यादृष्टि न वनजांय तथा वास्तविक आत्मकल्याणसे वंचित होकर अनन्त सांसारिक दुःखोंका पात्र न बन जांय इसलिये परम अनुकम्पाजन्य हितबुद्धि तथा सद्भावनासे आचार्यने विसम्वादसे सम्बन्धित आठ दोषोंका नाम स्पष्ट रूपसे नाम लेकर गिना दिया है। जिससे श्रोता इस वातपर विचार कर सकता है कि सर्वसाधारण संसारी जीव जिन दोषोंसे ग्रस्त हैं उन्ही दोषोसे यदि आप्त भी युक्त है तो दोनोंकेही समान हो जानेपर एक को मोक्षमार्गका नेता या शासक माना जाय और दूसरों को नेय या शास्य; यह किस तरह बन सकता या युक्तियुक्त माना जा सकता है। नेतृत्व के लिए शास्य संसारी जीवमात्रमें पायेजाने वाले दोषोंसे रहित होना अत्यावश्यक ही नही परमावश्यक है।

देखा जाता है कि आजकल जगत्में जितने मत प्रचलित हैं उनमेसे किसी२ ने तो परमात्माको मानाही नही है। किसी २ ने माना भी है तो उसका उन्होंने जैसा कुछ स्वरूप बताया है उससे उसकी सर्वथा निर्दोषता सिद्ध नही होती। यद्यपि वे उसकी निर्दोषता सिद्ध करने के लिए अनेक युक्ति प्रयुक्ति भी करते हैं परन्तु तत्त्व विचारकों की दृष्टि में वे सब युक्त्याभास ही प्रमाणित होते है।

यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं कि ये दोष किसी न किसी कारणजन्यही हो सकते हैं। विना किसी योग्य कारणके शुद्ध परमात्मामें यदि माने जाते है तो उनकी सत्यता या प्रमाणता को कोईभी यौक्तिक विद्वान स्वीकार नहीं कर सकता। कारण कि कल्पनाभी कहांतक विचारोंकी कसौटीपर खरी उतरती है; यह भी एक बहुत बडा विचारणीय विषय है। और युक्ति वही मान्य हो सकती है जो कि अनुभव की तराजूमें तुल जाती है।

ईश्वरका अवतार माननेवाले को[१] जहां जन्ममरण मानने प्रडते हैं वहीं दूसरे बाह्य दोष क्षुधा पिपासा जरा आतंक भी मानने ही पडेंगे। क्यों कि वे सभी आपसमें सम्बन्धित विषय है। साथ ही अवतार-जन्म धारण करने के हेतुका विचार करनेपर असुरों, दैत्यों आदिके संहारादिकी चिंता आश्चर्य आदि अन्तरंग दोषोंका सम्बन्ध भी आकर उपस्थित हो ही जाता है। इन दोषों से उसे मुक्त नहीं कहा जा सकता और ऐसी हालत में उसे वास्तव में मुक्त ही कौन कहेगा फलतः इन दोषोंसे सकल परमात्मा को भी रहित मानने के लिए स्याद्वाद सिद्धांत तथा कर्म सिद्धांत को उसी रूपमें मानना उचित हैं जैसा कि श्री वर्धमान भगवानके उपदेशकी परम्परा में अबतक मान्य चला आरहा है। इसके विनाकोई भी तत्त्व सम्यक् प्रमाणित नहीं हो सकता।

इसके सिवाय जिन्होंने अवतारवाद नहीं माना है; और जो श्रीवर्धमान भगवानूका अपनेको अनुयायी भी कहते है, अतएव जो जगतमें जैननामसे प्रसिद्ध भी हैं उन्होंनेयद्यपि आयुर्निमित्तक जन्म मरण दोषोंको नहीं माना है फिर भी वेदनीय नामकर्म और गोत्रकर्म यद्वा मोहनिमित्तक अनेक दोषोंको जीवन्मुक्त अवस्थामें किसी न किसी रूपमें माना है। उनका कथन भी तात्त्विक नहीं है अपथमें लेजानेवाला ही है। यह ठीक है कि वे भी अरिहंतको अष्टादश दोषोंसे रहित मानते हैं परन्तु वैसा मानकर भी जो भिन्न प्रकारसे ही उन अठारह दोषोंकी कल्पना करते हैं वह युक्ति आगम और अनुभव तीनों ही तरहसे विरुद्ध अयुक्त, निराधार एव कल्पनामात्र ही ठहरती है।

मोहोदयके निमित्तके विना वेदनीय अपना फल नहीं दे सकता इस सद्युक्तिका खण्डन या निराकरण करनेमें वे सर्वथा असमर्थ हैं, भुक्ति क्रियामें प्रवृत्ति मान लेनेपर आगमोक्त अन्तराय प्रायश्चित्त आदि दोषोंकी आपत्तिका भी वे समाधान नहीं कर सकते। क्षुद्बाधाके सिवाय रोगको भी जो कि नामकर्मनिमित्तक है, तथा उपसर्ग और मरणभयको भी वे स्वीकार करते हैं, इतना ही नहीं, इनके फलस्वरूप मांसभक्षण जैसे अभक्ष्य कर्ममें प्रवृत्तिके बतानेवाले आगमको भी वे निर्दोष सत्य श्रेयस्कर मानते हैं। अतएव इस तरहकी मान्यता और प्रतिपादनकी प्रामाणिकताको भला कौन अनुभवी स्वीकार कर सकेगा। फिर उपसर्गके निमित्तसे होनेवाले भयंकर रोगके शमनार्थ मांसभक्षणकी प्रवृत्तिमे जो मरणभय दिखाई पडता है उस पर कितने ही पर्दे डाले जांय

१—सृष्टि कर्तृत्व एवं दुष्टोके निग्रह और शिष्टो के अनुग्रह तथा 'धर्म संस्थापनार्थ' ईश्वरके अवतार वाद आदि के विषयमें दी जानेवाली युक्तियोके खण्डन में देखो प्रमेय कमलमार्तडा द न्यायग्रंथ तथा आदिपुराण यशस्तिलक आदि।

छिप नहीं सकता। इस तरहके कथनसे जहां आप्तका वास्तविक स्वरूप सदोष ठहरता है वहीं उस वर्णनके अवर्णवादरूप होनेके कारण कथन करनेवालोंके मिथ्यात्वका बंध होता है। उसके मानने वाले भी सन्मार्गसे वञ्चित होजाते हैं। इसके सिवाय इन दोषोंको न माननेवाला भी समाज नाम साद्दश्यके कारण अपवादका विषय बन जाता है।

ये सब ऐसे विषय हैं कि जिनपर निष्पक्ष विचारशीलताके होनेपर ही दृष्टि जा सकती है।

प्रकीर्त्यते—इसका अर्थ प्रकर्षतया कीर्तन होता है। मतलब यह है कि इन दोषोंसे जो रहित है वास्तवमें वही आप्त—श्रेयोमार्गका उपज्ञ वक्ता माना जा सकता है। विचारशील निष्पक्ष विद्वानोंकी दृष्टिमें उसकी आप्तता प्रशंसनीय एवं सम्मान्य हो सकती है। क्योंकि वही युक्ति अनुभव तथा आगमसे अविरुद्ध प्रमाणयुक्त ठहरती है। न कि अन्य अथवा अन्य प्रकारसे।

तात्पर्य—यह है कि इस कारिकामें जिन अठारह दोषोंका उल्लेख किया है उनसे रहित होनेपर ही वास्तवमें आप्तकी आप्तता मानी जा सकती है। जो इनसे रहित नहीं है वह यदि अन्य दोषोंसे रहित कहा भी जाय तो भी वास्तवमें आप्त नहीं ठहर सकता। क्योंकि इन दोषोंका सम्बन्ध आठों ही कर्मोंसे है। इनमें कुछ घातिकर्मनिमित्तक है और कुछ अघातिकर्म निमित्तक। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। अतएव यदि इनसे रहित नहीं माना जाता है तो निश्चित है कि अन्य संसारी जीवोंके ही समान वह भी उन कर्मोंके फलको भोगनेवाला है। और इसीलिये वह मोक्षमार्गका नेता—शासक—प्रदर्शक नहीं बन सकता। नेता वही हो सकता है जो स्वयं उस मार्गपर चलकर मार्गकी यथार्थता बतानेकेलिये कृतिपूर्वक योग्यता प्राप्त करचुका है। क्योंकि ऐसा ही नेता अपने अनुयायियोंको वास्तविक मार्गसे अभीष्ट स्थानतक लेजा सकता है अथवा मार्गकी यथार्थता बता सकता है। कोई शासक यदि शास्योंके ही समान है तो वह भी अपने विषयका वास्तवमें शासन नहीं कर सकता। जिसने स्वयं मार्गको नहीं देखा है वह अन्य अनुयायियोंकेलिये उसका प्रदर्शक तो हो ही किस तरह सकता है?

जिस किसी भी व्यक्तिमें आप्तताका निदर्शन करना है उसमें सबसे पहिले निर्दोषताका सद्भाव दिखाना जरूरी है। जिस तरह मलिन वस्त्रपर ठीकर रंग नहीं चढ़ सकता उसी तरह समस्त कर्मोंके उदयजनित दोषोंसे मलिन आत्मामें आप्तताका वास्तविक रंग नहीं आ सकता है।

वेदनीय कर्म यथायोग्य कर्मोंके उदयसे उत्पन्न अवस्थाका वेदन कराता है। जहांपर जिस कर्मका उदय नहीं अथवा सत्त्व भी नहीं है वहांपर तज्जनित अवस्थाका वह वेदन किस तरह करा सकता है? "मूलं नास्ति कुतः शाखा"।

भोजन पानमें प्रवृत्ति संज्वलन कषायके तीव्रउदय या उदीरणा तक ही होसकती है। ऐसी

अवस्था छठे गुणस्थानमें मानी गई है। फलतः वहीं तक भूख प्यासकी बाधा हो सकती है और ऐसे ही जीव अपनी उस बाधाको दूर करनेकेलिये भोजनमें प्रवृत्ति किया करते है। इस तरहके जीवोंमें छठे गुणस्थान वाले जीव अन्तिम हैं जिनको कि प्रमत्त–प्रमादी–इस तरहकी प्रवृत्तिके कारण प्रमाद सहित माना गया है। इसके ऊपर जब कि उन कर्मों की उस तरहकी उदयोदीरणावस्था ही नहीं है तब वहांपर वेदनीय कर्म उसका वेदन किस तरह करा सकता है। छठेसे ऊपर नौवें दशवेंतक सभी अप्रमत्त है वहांपर उन कर्मों के उदयकी अवस्था ऐसी नहीं हुआ करती जिससे कि वह जीव प्रमादवाले कार्योंमें प्रवृत्ति करने लगे। वहां तो ध्यान अवस्था ही है बारहवें आदि गुणस्थानोंमें तो उन कर्मोका-मोह प्रकृत्तियोंका अस्तित्व भी नहीं रहता। फिर वेदनीय कर्म किस अवस्थाका वहां वेदन करावेगा। अतएव सयोगी भगवानूकी आहारमें प्रवृत्ति होती है यह कहना और मानना नितान्त असंगत और मिथ्या है एवं अवर्णवादरूप होनेसे मिथ्यात्वके बन्धका तथा संसारभ्रमणका कारण है।

मोहनीय कर्मकी किन२ प्रकृतियोंका कहां२ किस२ गुणस्थानमें बन्ध उदय और सत्त्व पाया जाता है और किन२ की व्युच्छित्ति हुआ करती है, ये बात मालुम होजानेपर, साथ ही इस बातपर भी ध्यान देनेसे कि जहांतक उनका बन्ध उदय सत्त्व पाया जाता है वहांतक अघातिकर्मोकी बन्धादि अवस्थामें भी किस२ तरहका क्रमसे परिवर्तन होताजाता है; एवं मोहकी इन प्रकृतियोंके बन्धादिके अभावमें अघातिकर्मोंके बन्धादिके स्वरूपमें भी किस२ तरहका परिवर्तन होताजाता है; ये सब मालुम होजानेपर क्रमसे होनेवाले तज्जनित दोषोंके अभावका भी स्पष्टतया परिज्ञान हो सकता है। ग्रन्थविस्तारके भयसे यहां अधिक नहीं लिखा जा सकता। किंतु ग्रन्थान्तरों—गोमट्टसारादिसे इस विषयका बोध हो सकता है।

ऊपर यह बात बताई जा चुकी है कि सम्पूर्ण कर्मों का राजा या शिरोमणि मोहनीय कर्म है अतएव जहांतक उसका अस्तित्व बना हुआ है वहांतक सभी कर्म बने रहते हैं। किंतु उसके हटते ही सभी कर्म नष्ट हो जाया करते है। जब कि मोह के साथ सभी कर्मों का इस तरह का सम्बन्ध है तब मोह का निमित्त न रहनेपर अन्य कर्म वास्तविक अपने फल देने में असमर्थ हो जांय, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। स्पष्ट है कि मोहका क्षय होतेही तीनों घातिकर्म—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अर अन्तराय एक साथ ही क्षीण हो जाया करते हैं। विद्यमान आयु कर्मको छोडकर क्षपक श्रेणी चढनेवाले जीवके अन्य किसी आयुका सत्त्व नहीं रहा करता। और न चारोंही आयुओंमेंसे किसीकाभी बन्ध हुआ ही करता है। शेष तीन अघातिकर्मोंका भी बन्ध नहीं हुआ करता। केवल वेदनीय कर्मका जो बन्ध बताया है वह भी उपचरित है वास्तविक नहीं क्यों कि वास्तविक बन्ध के प्रकरण में कमसे कम अन्तरमुहूर्तकी स्थिति का पडना जरूरी है। परन्तु क्षीणमोह अथवा उपशान्त मोह व्यक्तिके जो वेदनीय कर्मका बन्ध बताया है उसमें एक समय मात्रकी ही स्थिति पडा करती है। फलतः मोहके नष्ट होने पर सभी कर्म नष्ट प्राय होजाते हैं

यह स्पष्ट है। आयु कर्म जो विद्यमान है उसके नष्ट न होने तक तीन अघाति कर्मों में से जिन २ कर्मोंका उदय जिसरूप में और जितने प्रमाणमें उचित आवश्यक है उतना अवश्य रहा करता है। किन्तु निम्न दशामें-मोहके तीव्रोदय की अवस्थामें जैसा कुछ ये कर्म अपना फल दिया करतेहैं वैसाही मोहके अभावमें भी मानना 'बिना कारणके कार्यका होना' बताना है जो कि नितान्त असंगत है। अतएव मोहके तीव्रोदय या उदीरणा आदिके साहचर्यके निमित्तसे होनेवाले अघातिक कर्मोंके कार्य— क्षुधा, पिपासा, रोग, उपसर्ग भय आदिको मोहसे सर्वथा रहित जीवन्मुक्त अनन्तचतुष्टय युक्त अप्रमत्तदशाकी भी सर्वोपरि अवस्थाको प्राप्त सर्वज्ञ भगवान के बताना अयुक्त ही नही मोहके विलाससे अपनेको सर्वथा ग्रस्त प्रमाणित करना है। और वास्तविक तत्त्व की दृष्टि एवं ज्ञानसे रहित सूचित करना है।

मोहनीय कर्मके तीन विभाग हैं। दर्शन मोह, कषाय वेदनीय और नोकषाय वेदनीय। इनमें पूर्व २ कारण और उत्तरोत्तर कार्य हैं। फलतः नोकषाय अपना फल देने या कार्य करनेमें कषाय वेदनीय का और कषाय वेदनीय दर्शनमोहका अनुसरण किया करती है, भय नोकषाय अथवा सभी हास्यादिक, नो कषायोंका कार्य दर्शनमोहसहचारी, अनन्तानुबन्धी कषाय सहचारी, अप्रत्याख्यानावरण सहचारी, प्रत्याख्यानावरण सहचारी, तथा संज्वलन कषाय सहचारी इसतरह पांच प्रकारका और एक इन सभीके साहचर्य से रहित इस तरह मुख्यतया छह तरहका हुआ करता है। इनमेंसे किसीभी ऊपरकी दशामें नीचेकी अवस्था वाले कार्यको मानना या बताना जिनेन्द्र भगवानकी प्ररूपणाके अनुकूल नही है।

ऊपरके इस कथनसे यह बात ध्यानमें आ सकती है कि भय नामकी नोकषाय सर्वत्र एक सरीखाही फल नहीं दिया करती और न देही सकती है। मिथ्यादृष्टि जीवके भयनोकषाय जिस तरह जीविताशंसा या मरण भय को उत्पन्न करके मांस भक्षण जैसे अवद्य कार्य में प्रवृत्ति करा दिया करती है उस तरह सम्यग्दृष्टि आदिको नहीं। इसी तरह श्रावक आदिके विषयमेंभी समझना चाहिये। इस अन्तरका कारण सहचारी मिथ्यात्व या अनन्तानुबन्धी आदि कषायोंका सद्भाव एवं अभाव ही है। अतएव जहां सभी मोह प्रकृतियोंका विनाश हो चुका है वहां तत्सहचरित कार्योंका निरूपण किसी भी तरह उचित नहीं है। इसके सिवाय यदि यह बात न मानी जायगी तो घातिकर्मके निमित्तक जितने दोष है उन सबके भी वहां रहने की या पाये जाने की आपत्ति का प्रसंग अपरिहार्यरूपमें उपस्थित हुए विना नहीं रह सकेगा।

इस विषयमें अधिक लिखनेसे ग्रन्थविस्तार का भय है तथा बुद्धिमानके[१] लिए संक्षेपमें संकेतमात्र कथन ही पर्याप्त हैं; अतएव अधिक न लिखकर विशेष जिज्ञासुओंसे यह कहना ही उचित[२] प्रतीत होता है कि उन्हें आचार्योंके इस विषयके अन्य प्रकरण देखकर विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये।

१—"परेंगितज्ञानफला हि बुद्धयः"। २—प्रमेय कमलमार्तण्डादि।

इस तरह आप्तके तीन विशेषण जो दिये थे उनमेंसे पहले विशेषण 'उत्सन्नदोषेण' का सम्बन्ध लेकर यह बात इस कारिकामें आचार्यने स्पष्ट कर दी कि किन २ दोषोंसे रहित आप्त को होना चाहिये। जिनका कि अभाव हुए विना न तो उसमें सर्वज्ञता ही बन सकती है, और न आगमेशित्व ही। आप्तत्व या मोक्ष मार्ग का नेतृत्व भी सिद्ध नहीं हो सकता और न मानाही जा सकता है।

अब आप्तके दूसरे और तीसरे विशेषण का आशय स्पष्ट करनेके लिए दो कारिकाओंका उल्लेख करते हैं—

परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—परमेष्ठी, परंज्योति, विराग, विमल, कृती, अनादिमध्यान्त और सार्व इतने विशेषणोंसे युक्त सर्वज्ञ को गणधर देव या आचार्य अथवा भगवान धर्मका यद्वा मोक्षमार्गका शास्ता बताते हैं।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—

इन्द्रों के द्वारा भी जो वंदनीय है ऐसे परम उत्कृष्ट पदमें जो स्थित है-ऐसे पदको जिसने प्राप्त कर लिया है उसको कहते हैं परमेष्ठी। अन्तरंग और बाह्य ज्योति—तेज जिसका सर्वोत्कृष्ट है उसको कहते हैं परंज्योति। विराग शब्दमें राग यह उपलक्षण है। अतएव जो राग द्वेष और मोहरूप विभावपरिणामोंसे रहित है उसको कहते हैं विराग। जो त्रेसट प्रकृतियों—द्रव्यकर्मो से रहित और शेष कर्म भी जिनके नष्टप्राय है उनको कहते हैं विमल। कृती शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—कुशल विवेकी काम करनेवाला या कर चुकनेवाला पंडित पुण्यवान साधु कृतार्थ आदि। यहांपर इसका अर्थ योग्य कुशल अथवा कृतकृत्य या समर्थ ऐसाकरना चाहिये जो तीन लोक और तीन कालवर्ती समस्त द्रव्यों और उनके सम्पूर्ण गुणधर्म तथा पर्यायोंको युगपत् प्रत्यक्षरूपमें ग्रहण करता है—जिसकी विशुद्ध चेतनामें सभी द्रव्यगुण पर्याय एकसाथ प्रतिभासित होते हैं उसको कहते हैं सर्वज्ञ। जिसका न आदि है न अन्त है और न मध्य है उसको कहते हैं अनादिमध्यांत। जो सबके लिए हितू है-संसार के प्राणीमात्रमेंसे किसीकाभी जो विरोधी नहीं है—उसकी शारीरिक वाचनिक आदि प्रवृत्ति सभी के लिए हितरूप ही होनी है उसको कहते हैं सार्व। शास्ताका अर्थ शासन करनेवाला और उपलाल्यतेका अर्थ है प्रेमकरना या पसंद करना।

विशेषार्थ—विद्वान निस्पृह विवेकी यौक्तिक व्यक्ति मोक्षमार्गके शासक—उपज्ञ वक्ता या नेता के रूपमें जिसको पसंद करते है— जिसकी भक्ति आराधना उपासना या स्तुति आदि करते हैं ऐसा आप्त इन आठ विशेषणों—विशेषताओंसे युक्त होना चाहिये।

पाठक महानुभावोंसे यह अविदित न होगा कि अर्हंत अवस्थाको प्राप्त तीर्थंकर भगवानकी

आगममें[1] चार तरहकी विशेषताएं बताई गई हैं। आत्मा, वाणी, भाग्य और शरीर। इन चारके असाधारण अतिशयसे वे युक्त रहा करते हैं। इस कारिका में जो आठ विशेषण दिये हैं उनका इन चार अतिशयोंसे सम्बन्ध है ऐसा समझकर यथायोग्य घटित कर लेना चाहिये।

परंज्योति यह विशेषण शारीरिक अतिशयको प्रकट करता है। क्योंकि उनके शरीरकी प्रभा कोटि सूर्यके समान हुआ करती है। परमेष्ठि विशेषण भाग्यके अतिशयको प्रकट करता है। क्यों कि तीर्थंकर प्रकृती जो कि पुण्य कर्मोंसें सबसे महान है उसके उदयसे आनेपर अथवा तत्सम अन्य असाधारण पुण्य कर्मों के उदयसे रहित यह पद नहीं हुआ करता। सर्वज्ञताके प्राप्त होतेही उन पुण्य प्रकृतियों का उदय हुआ करता है। और इसलिये वह पद तीन लोक के अधीश्वर शत-इन्द्रों[2] द्वारा भी वन्दनीय होजाया करता है। सार्वः यह विशेषण शास्ताके वाणी सम्बधी अतिशय को प्रकट करता है। भगवान की वाणी यदि इसतरहके असाधारण अतिशयसे युक्त न होती तो तीन जगत के जीवोंका हित असंभव ही था। भगवानकी उस सर्वाधिक अतिशय वाली वाणीका ही यह प्रभाव है कि आजतक सब जीव सुरक्षित हैं और सदा रहेंगे। क्योंकि वास्तविक अहिंसा तत्त्वकी आज जगत में जो मान्यता[3] है—उसका जो प्रसार है, जिसके कि कारण प्रायः सभी जीव निर्भय पाये जाते है वह सब उनकी वाणी—देशनाके प्रभावका ही फलहै। शेष पांच विशेषण उनके आत्मातिशयको प्रकट करते हैं। इन पांचमें भी एक "विमल" विशेषण द्रव्य कर्मों के अभावसे उत्पन्न आत्मविशुद्धि और बाकीके चार विशेषण चार घाति कर्मों के क्षयसे प्रकट हुए अनन्त चतुष्टय को प्रकट करते हैं। क्योंकि विराग से मतलब केवल रागसे रहित बतानेका ही नही है। इसका आशय गतकारिकामें बताये गये मोह सम्बन्धी तीन दोष— राग द्वेष और मोह के अभावसे एवं तज्जनित सम्यक्त्वादि गुणोंसे ग्रहण करना चाहिये। रागको उपलक्षण मानकर रागादि तीनों रहित ऐसा अर्थ करना अधिक सुन्दर उचित एवं संगत प्रतीत होता है।

इस तरह करने पर यह विशेषण सम्पूर्ण मोहके अभावजनित सम्यक्त्व प्रशम अनन्त सुख रूपताको सूचित कर देता है। कृती शब्दका कृतार्थ अर्थ फलितार्थ है ऐसा मानकर विचार करने से प्रतीत होगा कि यह शब्द अन्तरायके अभावको सूचित करता है। क्योंकि मोहका अभाव हो जाने पर भी जब तक ज्ञानावरण दर्शनावरणके साथ २ अन्तरायका भी अभाव नहीं होजाता तब तक उस जीवको कृतकृत्य नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि अन्तरायके अभावसे अनन्तवीर्य गुणका आविर्भाव माना है। परन्तु विचारशील महानुभावोंकी दृष्टिमें यह बात भी

१—आदिपुराण।

२—भवणालय चालीसा वितरदेवाण होंति बत्तीसा। कप्पामरचउवीसा चंदो सूरो णरो तिरओ।

३—स्वर्गीय लोकमान्य तिलक आदि प्रसिद्ध विद्वान भी स्वीकार करते हैं कि अन्य मतोंमें जो अहिंसा दिखाई देती है वह जैन धर्म की देन है।

आये बिना न रहेगी कि कृतार्थताका मूल या प्रतीक भी यह अनन्तवीर्य गुण ही है। अनन्तवीर्य नामका ऐसा महान् गुण है जो कि केवल ज्ञान केवल दर्शन और अनन्त सुखके रूपमें ही नहीं कृतकृत्यता के रूपमें भी स्पष्ट प्रतीतिमें आता है। पाठक सोचें कि जब तक विघ्नका कारण बना हुआ है या उसकी सम्भावना भी बनी हुई है तब तक संसारके सभी कार्योंके विषयमें उसको वास्तवमें कृती-कृतार्थ-कृतकृत्य किस तरह कहा जा सकता है। विघ्नका कारण जहां तक दूर नहीं हो जाता—विघ्नकी सम्भावना ही जबतक निर्मूल नहीं हो जाती तबतक सर्वथा निष्काम और पूर्ण ज्ञान हो जाने पर भी कृतार्थ किस तरह कहा जा सकता है। किसी भी कार्यका ज्ञान और उसके सिद्ध करनेका सामर्थ्य रहते हुए यदि यह कहा जाय कि इस व्यक्तिको विवक्षित कार्यके करनेकी इच्छा नहीं है अतएव यह निष्काम है तो वह कथन जिस तरह या जैसा कुछ सर्वथा प्रमाणभूत माना जा सकता है वैसा ज्ञान और सामर्थ्यके अभावमें नहीं। अतएव ग्रन्थकारका आशय कृती शब्दसे अन्तराय कर्मके अभावसे प्रकट होने वाले अनन्त सामर्थ्य एवं कृतकृत्यता को सूचित करनेका है ऐसा समझना चाहिये।

सर्वज्ञ शब्द स्पष्ट ही ज्ञानावरणके निःशेष क्षयको सूचित करता है। अनादिमध्यान्त शब्द दर्शनावरणके अभावका सूचक है। कारण यह कि दर्शन अनन्त है तथा वह निर्विकल्प भी है और अनाद्यनन्त चैतन्य सामान्यको विषय करने वाला है। अतएव उसमें आदि अन्त और मध्यकी कल्पना ही नहीं हो सकती। अनादिमध्यान्त शब्दका अर्थ इतना ही है कि जिसका न आदि है, न अन्त है और न मध्य है। आदि अन्तका अभाव मध्यके अभावको स्वयं सूचित कर देता है। अनादिमध्यान्तता चार - तरहसे सम्भव है। द्रव्यकी अपेक्षा, क्षेत्रकी अपेक्षा, कालकी अपेक्षा और भावकी अपेक्षा। द्रव्यकी अपेक्षासे पुद्गलपरमाणु अनादिमध्यान्त है क्योंकि वह अप्रदेशी है। उसमें द्वितीयादि प्रदेशोंकी कल्पना न है न हो सकती है। यदि उसमें आदि अन्त या मध्यकी कल्पना की जाय तो वह अविभागी एवं अप्रदेशी नहीं कहा जा सकता। क्षेत्रकी अपेक्षा आकाश द्रव्य अनाद्यनन्त है। दशो दिशाओंमें कहीं से भी उसको सादि या सान्त नहीं कहा जा सकता। जब आदि और अन्त नहीं तब उसका मध्य भी नहीं कहा जा सकता। प्रश्न हो सकता है कि यदि आकाशमें आदि मध्य और अन्तकी कल्पना नहीं है अथवा नहीं हो सकती तो लोकको आकाशका ठीक मध्यवर्ती जो कहा है सो कैसे? या वह किस तरह घटित होता है? उत्तर स्पष्ट है कि जब आकाश दशों दिशाओंमें अनन्त है तब उसके किसी भी भागमें रहने वाली वस्तुको उसके मध्यवर्ती कहा जा सकता है। मतलब यह कि जहां लोक है वहां से प्रत्येक दिशामें समान रूपमें अनन्त आकाश विद्यमान है। अतएव लोकको आकाशका मध्यवर्ती कहने में और इसी कारणसे आकाश की अनादिमध्यान्ततामें कोई बाधा नहीं आती। कालकी अपेक्षा उसकी समय पर्यायोंका समूह अनादिमध्यान्त है। इसी तरह अभव्य जीवकी संसार पर्यायोंका समूह भी अनादिमध्यान्त कहा जा सकता है। भावकी अपेक्षा केवलज्ञानके अंशों—अविभाग प्रतिच्छेदोंका प्रमाण अनादि

मध्यान्त हैं। केवल ज्ञानके अंशोंका प्रमाण सबसे अधिक है। सम्पूर्ण द्रव्य गुण पर्याय उनके अंश और समस्त अक्षय अनन्त राशियोंके सम्मिलित प्रमाणसे भी केवल ज्ञानके अंशोंका प्रमाण अधिक अधिक है। केवल दर्शन सामान्य चैतन्यको विषय करता है अतएव वह निर्विकल्प है और इसीलिए उसको भी अनादिमध्यान्त कहना अयुक्त नहीं है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ शब्दसे केवलज्ञानके साथ साथ उपलक्षण से केवलदर्शन को भी ग्रहण करना चाहिये और अनादि मध्यांत शब्द दोनोंकेही स्वरूपका परिचायक है।

अथवा वस्तु विधिनिषेधात्मक है। स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुसार किसीभी गुणधर्मकी विधि सप्रतिपक्ष हुआ करती है। अन्य दर्शनकारोंने अभाव नामका पदार्थ स्वतन्त्र[1] माना है। परन्तु यह एक अयुक्त सिद्धांत है इस विषयकी आलोचना न्यायशास्त्रोंमें पर्याप्त की गई है। उसके यहां लिखनेकी आवश्यकता नही है। जैनदर्शनमें आगमको स्वतंत्र पदार्थ न मानकर वस्त्वात्मक ही माना है। जैन दर्शनका कहना है कि जिस किसीभी द्रव्यगुण या पर्याय का विधान किया जाता हैं वह अपनेसे भिन्न सभी द्रव्यगुणपर्यायोंसे पृथक ही है। अतएव विवक्षित द्रव्य गुणपर्याय अपनेसे भिन्न अविवक्षित द्रव्यादिसे भिन्न होनेके कारण अभावात्मक है। यही कारण हैं कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक क्षण सत् असत्, एक अनेक, नित्य अनित्य, और तत् अतत् रूप है। स्वभावसेही उत्पाद व्ययध्रौव्यात्मक हैं। इस सिद्धांतको दृष्टिमें रखकर अनन्तज्ञान दर्शनके संबन्धमें जब विचार करते हैं तो सर्वज्ञता—केवल ज्ञान और केवलदर्शन दोनों अनादिमध्यान्त ही ठहरते है। क्योंकि ज्ञानदर्शन सामान्य अपेक्षासे अनादि अनन्त हैं, पर्याय विशेषकी अपेक्षा सादिसान्त हैं। कारण यह कि ऐसा न हुआ न है न होगा जब कि इनका अभाव कहा जा सके। यद्यपि संसार पर्याय—छद्मस्थ अवस्था में पाये जानेवाले क्षायोपशमिक ज्ञान दर्शनकी अपेक्षा क्षायिक ज्ञान और दर्शन पर्याय अवश्यही साद्यनन्त हैं। परन्तु नाना जीवोंकी अपेक्षा केवलज्ञानदर्शन युक्त जीवोंका न कभी सर्वथा अभाव हुआ है न होगा। क्योंकि केवल ज्ञानियोंका विदेह में तो सदाही सद्भाव रहा करता है। अतः इस दृष्टि से भी सर्वज्ञताको अनादिमध्यांत कहा जा सकता है। स्याद्वाद दृष्टिसे देखनेपर यह विषय किसीभी तरह अनुपपन्न नहीं है।

वाणीके सम्बन्धमें अनेक तरहके दोषोंका सद्भाव लोकमें पाया जाता है। व्याकरण संबन्धि त्रुटियां, उच्चारण की अयुक्तता उदात्त अनुदात्त स्वरितका ठीक ठीक प्रयोग न करना तथा यति भंग आदि। एवं स्वरकी रूक्षता कठोरता आदि, ग्राम्य अश्लीलता हीनादिकोपमा आदि, ये अथवा अन्य भी अनेक दोष सर्वसाधारण में पाये जाते हैं। किंतु यह सब बाह्य दोष हैं। इनके सिवाय अन्तरंग दोष जो संभव हैं अथवा लोकमें पाये जाते है जिनका कि सम्बन्ध राग द्वेष मोहसे है। वे सबसे अधिक हीन एवं हेय तथा सबसे विचारणीय प्रथम माने गये हैं। इस तरहके दोष चार भागों में विभक्त किये जा सकते है। १—सत्प्रतिषेध २—असदुद्भावन, ३—विपरीत

१—वैशेषिक दर्शनमें सात तत्त्व माने हैं यथा—द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय और अभाव।

और ४–निंद्य[1]। इनका विस्तार बहुत अधिक है। अतएव यहां उनका लिखाजाना ग्रंथविस्तार भयसे अशक्य है। संक्षेपमें इतनाही समझ लेना चाहिये कि जितने अपसिद्धांतोंका कथन करने वाले तथा स्व और परका इस लोक या परलोकमें अहित करनेवाले शब्द अथवा वाक्य हैं उन सभीका इन चार भागोंमें समावेश हो जाता है।

इन बाह्य और अंतरंग सभी दोषोंसे भगवान सर्वथा उन्मुक्त हैं। छद्मस्थावस्थामेंभी तीर्थंकर भगवान के जो जन्मजात दश अतिशय[2] गिनाए है उनमें एक वचनका अतिशय भी है। उसके अनुसार उस समय में भी उनके वचन प्रिय हित मधुर ही प्रकट हुआ करते हैं। फिर अर्हंत अवस्थाकी प्राप्ति होजाने पर तो कहना ही क्या है जब कि वे अष्टादश दोष रहित सर्वज्ञ वीतराग होकर समस्त विद्याओंके ऐश्वर्य[3] को भी प्राप्त कर चुके है। और उनके वचन अष्टादश महाभाषाओं व सात सौ क्षुल्लक भाषाओंमें[4] परिणत होनेकी क्षमता प्राप्त कर चुके है। तीर्थंकृत भावना[5] के बल पर जिस समय तीर्थंकृत प्रकृतिका बन्ध होता है उस समय अपाय विचय[6] नामक धर्म्यध्यानविशेषके निमित्तसे जो संस्कार उत्पन्न होता है वह उसके उदयकालमें उनकी देशनाको सर्व हितकर बनाकर रहता है। भगवान को सार्व कहनेका आशय यही है कि उनकी अन्तरंग बहिरंग समस्त योग्यताएं ही इस तरह की हैं कि उनके वचन प्राणिमात्रके लिए हितकर ही हुआ करते हैं। यह उनकी पुण्य कर्म सापेक्ष अवस्थाजन्य स्वाभाविक योग्यता है जो कि अन्यत्र दुर्लभ ही नहीं असंभव है।

इस तरह आप्त के लक्षणमें जो तीन विशेषण दिये हैं उनमेंसे सर्वज्ञता और हितोपदेशकता विशेषणका आशय स्पष्ट करनेके लिए यह कारिका कही गई है। इसमें यह बता दिया गया है कि आप्त अवस्थाको प्राप्त आत्माकी स्थिति किस तरह हुआ करती है।

यह कहनेकी आवश्यकता नही है कि अनादिकालसे यह जीवात्मा पुद्गल जड कर्मसे आबद्ध है। पुराने कर्म अपने स्थिती के अनुसार फल देकर झडते है—आत्मासे सम्बन्ध या कर्मत्वको छोड देते हैं और नवीन कर्मबन्धको प्राप्त होते हैं। यह परम्परा अनादिकालसे चली आरही है। जब योग्य निमित्त को पाकर और अपने रत्नत्रयके बलपर यह आत्मा उन कर्मोंके बन्धन से निकलनेका प्रयत्न करता है तब यही जीवात्मा क्रमसे परमात्मा बन जाता है। यही कारण है कि संसारी जीव की तीन दशाएं बताई गई हैं। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जब तक इसकी दृष्टि कर्मबन्धसे सर्वथा मुक्त होनेकी नहीं होती तबतक इसको बहिरात्मा या मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। किंतु जब उसकी दृष्टिमें यह बात आ जाती है कि संसार में भ्रमणका व उसके

१—नाकालेस्ति नृणां मृतिरिति सत्प्रतिषेधनं शिवेन कृतं। क्षमारोत्थसदुद्भावनमुत्ता वाजाति विपरीतम् ३८॥ सावद्याप्रियगर्हितभेदात्त्रिविधं च निन्द्यमित्यनृतं। दोषोरगवल्मीक त्यजेच्चतुधापि तत् त्रेधा॥३९॥ अन०अ० ४॥ २—अतिशयरूप सुगन्ध तनु नाहि पसेव निहार। प्रियहित वचन अतुल्य बल रुधिर श्वेत आकार। लक्षण सहस रु आठ युत समचतुष्क संस्थान। वज्रवृषभनाराचयुत ये जनमत दश जान॥ ३—देखो देव-कृत १४ अतिशय। ४—राजवर्तिक आदि ५—आदिपुराण।
६—अनगारधर्मामृत अ०१ श्लोक २।

निमित्तसे होनेवाले जन्म जरा मरण आदि दुःखोंका मूलकारण यह कर्मबन्धन ही है अतएव सर्वथा हेय है। मैं कर्मोंसे सर्वथा भिन्न ज्ञानदर्शन सुखरूप हूँ। कर्मोंसे सम्बन्ध छूट जानेपर मैं अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकता हूँ। और इसीलिये जो कर्मों के बन्धन से मुक्त होने के प्रयत्न में भी लग जाता है तब उसको अन्तरात्मा कहा जाता है। तथा प्रयत्नके द्वारा जब कर्मों में मुख्य घातिया चार कर्मों से एवं कुछ अन्य[1] भी कर्मोंसे मुक्त हो जाता है. तब उसको परमात्मा कहा जाता है। परमात्मा दो तरह के हुआ करते हैं। एक सकल—सशरीर और दूसरे विकल—अशरीर। अशरीर को परम मुक्त कहते हैं जो कि सभी कर्मों और शरीर के सम्बन्ध से भी सर्वथा रहित हो जाता है सशरीर परमात्मा को जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्त परमात्माको ही आप्त शब्दसे यहां बताया है। चार घाति कर्मों का सम्बन्ध सर्वथा छूट जानेसे और शेष अघाति कर्मों में से भी कुछ[1] प्रकृतियों के सर्वथा निर्जीर्ण होजाने एवं बाकी की प्रकृतियोंमें से पाप प्रकृतियोंके सर्वथा असमर्थ हो जाने आदिके[2] कारण आर्हन्त्य अवस्थापन्न तीर्थंकर भगवानकी जो कुछ अवस्था या जैसा कुछ आध्यात्मिक और आधिभौतिक शारीरिक स्वरूप निष्पन्न होता है वही यहां पर शास्ताके आठ विशेषणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। यह ऐसी अवस्था है जिसमें कि बनावटीपन नही चल सकता[3]। क्यों कि वह कर्मों के उदय या क्षय आदिसे सम्बन्धित होनेके कारण स्वाभाविक तथा सत्य है यद्यपि सांसारिक होनेसे कुछ कर्मों के उदय तथा सत्तामें रहने के कारण वह अवस्था भी हेय है। और जैसा कि पहले कहा गया है कि उन कर्मों की स्थिति पूर्ण होते ही वह भी उसी पर्यायमें सर्वथा समाप्त होकरही रहती है।

ऊपर के कथनसे और विद्वानों को स्वयं विचार करने से यह बात मालुम हो जायगी कि परमेष्ठी आदि शब्दोंके अर्थमें किन किन कर्मों की एवं कैसी २ अवस्था कारण पडा करती है।

प्रश्न—ऊपर परंज्योतिः शब्दका अर्थ करते हुए आपने लिखा है कि उनके शरीरकी प्रभा कोटि सूर्यके समान हुआ करती है। सो इसका क्या कारण है? किस कर्मके उदयसे ऐसा हुआ करता है? आतप उद्योत प्रकृतियोंके उदय की तो उनके संभावनाही नहीं है। फिर यह किस कर्मका कार्य है?

उत्तर—यह वर्ण नामक पुद्गलविपाकी नाम कर्मके उदय का कार्य[4] है।

तात्पर्य—यह कि संसारमें रहते हुए भी जो मुक्त हैं ऐसे जीवन्मुक्त परमात्मा ही आप्त माने गये हैं। यह पद सर्वोत्कृष्ट होनेके कारण परमपद कहलाता है। इस पदकी सर्वाधिक असाधारणता दो विशेषणोंसे व्यक्त की जाती है। एक तो अष्टादशदोषरहित और दूसरा षट्च-

१—नामकर्मकी १३ और आयुष्यक।

१, २—इसकेलिये देखो गोम्मटसारका बन्धोदयसत्त्व व्युच्छित्ति प्रकरण।

३—देखो आप्तमीमांसाकी "मायाविष्वपि दृश्यन्ते" की अष्टसहस्री।

४—पंचेन्द्रिय मनुष्योंके इनका उदय नहीं होता। देखो गोम्मटसार कर्मकाण्ड।

५—देखो धवला।

त्वारिंशद्‌गुणविराजमान। उत्सन्नदोष शब्दके द्वारा पहले विशेषणका आशय गत कारिकाके द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। इस कारिकामें आवश्यक विशेषणोंके कथनसे सर्वज्ञता और आगमेशित्वका दिग्दर्शन करके दूसरे विशेषणका अभिप्राय[1] व्यक्त कियागया है। आप्तके छयालीस गुण प्रसिद्ध हैं जो कि इस प्रकार हैं।—जन्मजात १० अतिशय, केवलज्ञाननिमित्तक दश अतिशय, १४ देवकृत अतिशय, अष्ट प्रातिहार्य, और अनन्तचतुष्टय[2]। इनमेंसे अनन्तचतुष्टय अपने प्रतिपक्षी चार घाति कर्मोंके क्षयसे प्रकट हुआ करते हैं। और बाकीके पुण्यप्रकृतियोंके उदयसे प्राप्त होनेवाले सम्बद्ध तथा असम्बद्ध[3] विभूतिरूप हैं। यहांपर आप्तके जितने विशेषण दियेगये हैं वे सब उक्त गुणोंको व्यक्त करने वाले हैं। चार घातिकर्मोंके क्षयसे उद्भूत चार गुण, विराग कृती सर्वज्ञ और अनादिमध्यान्त शब्दके द्वारा क्रमसे अनन्तसुख अनन्तवीर्य सर्वज्ञता और केवल दर्शन होते हैं। जो कि मोहनीय अन्तराय ज्ञानावरण और दर्शनावरणके क्षयसे अभिव्यक्त हुआ करते हैं। अथवा सर्वज्ञताशब्द उपलक्षणसे अनन्तदर्शनका बोध कराता है और अनादिमध्यान्त शब्द दोनोंका ही विशेषण है, ऐसा भी कहा जा सकता है।

परमेष्ठी शब्द सद्वेद्य सद्‌गोत्र और आयुके साथ२ तीर्थकर नामकर्म प्रकृतिकी सर्वोत्कृष्टता एवं तज्जन्य लोकातिक्रान्त पुण्यातिशयको प्रकट करता है और परंज्योतिशब्द पुद्‌गलविपाकी नामकर्मकी सर्वाधिकमहत्ताको सूचित करता है। यहांपर यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि विवक्षित पुण्यकर्मोंके उदयसे प्राप्त होने वाले ये उपर्युक्त सम्बद्ध असम्बद्ध अतिशय जो तीन लोककी अधीश्वरताके साथ२ परभागको प्राप्त प्रभुता[4] को प्रकट करते हैं अन्तरायकर्मके क्षयके विना प्राप्त नहीं हुआ करते। परमेष्ठी शब्द चारों अघातिकर्मोंमेंसे जिन पुण्यप्रकृतियोंके उदयको बताता है वे सब जीवविपाकी हैं। फलतः उस जीवन्मुक्त आप्त जीवकी पुण्यकर्म सापेक्ष सर्वोत्कृष्ट महत्ताको व्यक्त करते हैं जिनको कि यहांपर संक्षेपमें चार शब्दोंके द्वारा कहा जा सकता है।—अर्थात् अनंतसुख, परमाजाति, अनपवर्त्यआयु, और प्रभुता। इन चारों ही विषयोंमे वर्णनीय विषय बहुत अधिक है अतएव ग्रन्थविस्तारके भयसे यहां नहीं लिखा जा सकता। फिर भी अतिसंक्षेपमें थोडासा आशय प्रकट कर दिया जाय यह उचित और आवश्यक प्रतीत होता है। मतलब यह कि—

यद्यपि अनन्त सुख मोहनीयकर्मके अभाव से होता है, ऐसा सर्वत्र बताया गया है और जिसका कि ऊपर भी उल्लेख किया गया है जो कि सर्वथा सत्य है किंतु इसमें जो कुछ विशेषता है वह भी समझना जरूरी है।—

सुख शब्दके आगममें मुख्यरूपसे चार[5] अर्थ बताये हैं—विषय वेदनाका अभाव विपाक और मोक्ष साथ ही यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि सिद्ध भगवान और अर्हत परमेष्ठीके जो आगममें

१—षट्चत्वारिंशद्‌गुणविराजमान। २—अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वार्य ३—देवकृत तथा प्रातिहार्य।
४—तित्थयराण पहुत्तं, णेहो बलदेवकेसवाणं च। दुक्खं च सवित्तीणं तिण्णिवि परभागपत्ताइं॥
५—लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते। विषये वेदनाभावे विपाके मोक्षएव च। त० सा०॥

गुण गिनाये हैं उनमेंसे सिद्धोंके आठकर्मोंके अभावसे प्रकट होनेवाले आठगुणोंमें मोहके क्षयसे व्यक्त होनेवाला गुण सम्यक्त्व नामसे बताया है। परन्तु अर्हत् परमेष्ठीके गुणोंमेंसे अनन्तचतुष्टयमें मोहके अभावसे उद्भूत होनेवाला गुण अनंत सुख नामसे बताया है। इस तरहकी अवस्था में एक ही कर्मके अभावसे प्रकट होनेवाले गुणको एक ही नामसे न कहकर दो भिन्न२ नामोंसे कहना सर्वथा निरपेक्ष या निष्कारण नहीं कहा जा सकता या नहीं माना जा सकता। वह अपेक्षा या कारण यही है कि अरहन्त परमेष्ठीके मोहका अभाव तो सर्वथा होगया है परन्तु साथ ही वेदनीयका उदय भी बना हुआ है, उसका अभी सर्वथा अभाव नहीं हुआ है। अतएव उसके विपाकसे लोकमें सुखशब्दके द्वारा कही जानेवाली पुण्य सामग्री भी उनको आकर प्राप्त होती है। यद्यपि मोहके अभावके कारण उसका उन्हें वेदन नहीं हुआ करता। पुष्पवृष्टि सिंहासन आदि भोगोपभोगसामग्रीसे उनका स्पर्श भी नहीं हुआ करता। भोजन आदिमें प्रवृत्तिकी तो बात ही क्या है? अतएव आप्त परमेष्ठीका यह अनन्त सुख वेदनीय कर्मके उदयकी अपेक्षाके साथ२ मोहकर्मके अभावकी भी अपेक्षा रखता है। यही कारण है कि यह सुख अनन्त एवं सर्वोत्कृष्ट मानागया है। क्योंकि वास्तविक सुख त्याग या उपरतिकी अपेक्षा रखता है और उसकी मात्रा ज्यों२ अधिकाधिक होती जाती है त्यों२ सुखका प्रमाण भी बढ़ता जाता है। अरहंत अवस्थामें यह सर्वोत्कृष्ट सुख प्रकट हुआ करता है सहचारी पुण्यविपाककी अपेक्षाको प्रधान मानकर सम्यक्त्वको ही सुख शब्दसे कह दिया गया है।

परमाजातिका सम्बन्ध गोत्रकर्मकी अपेक्षा रखता है। आगममें[१] चार तरहकी जातियां बताई है।—परमा विजया ऐन्द्री और स्वा। परमा जाति तीर्थंकर भगवान्की हुआ करती है। अघातिकर्मोंमेंसे गोत्र कर्मके निमित्तसे पाई जानेवाली उनकी यह असाधारण विशेषता है। इसी तरह आयुके विषयमें समझना चाहिये। उनकी आयु सर्वथा अनपवर्त्य ही हुआ करती है। उपसर्ग विष वेदना रक्तक्षय आदि कारणोंसे उनकी आयुका अपवर्तन नहीं हुआ करता। तीर्थंकर नामकर्मके निमित्तसे उनकी प्रभुता लोकोत्तर[२] हुआ करती है। जिसके कि कारण उनका शासन अजय्यमाहात्म्यवाला, समस्त कुशासनोंका निग्रह करनेवाला और भव्यजीवोंको संसारके समस्त दुःखों एवं उनके कारणोंसे उन्मुक्त होनेके असाधारण उपायको बतानेवाला हुआ करता है जिसका कि पालन कर वे स्वतंत्र अनन्त अविनश्वर ऐकान्तिक अनुपम अलौकिक सुखके उपभोक्ता हो जाया करते है। कारिकामें आप्तका सार्व विशेषण जो दिया है वह भी इस तीर्थंकर प्रकृतिको लक्षमें रखकर ही दिया है ऐसा मालुम होता है। क्योंकि उसका बंध जिस अपायविचय नामक धर्मध्यान विशेषके द्वारा हुआ करता है वह सर्वोत्कृष्ट दयारूप परिणामका प्रकार है। यद्यपि सर्वज्ञ होजानेपर सभी सराग भावोंके छूट जानेसे दया परिणाम भी नहीं हुआ करता। किंतु दयाभावसे बंधी हुई तीर्थंकर प्रकृति उदयमें आनेपर प्राणीमात्रके उद्धारका

१—आदिपुराण। २—तित्थयराण पहुत्तं आदि।

कार्य अवश्य किया करती है। अतएव उनकी यह भी असाधारण विशेषता है कि वे दयालु और निर्दय दोनों शब्दोंके द्वारा कहे जाते हैं।

इस तरह घाति और अघातिकर्म निमित्तक अतिशयोंसे युक्त परम पदमें जो स्थित हैं उनको परमेष्ठी कहते हैं।

परंज्योति शब्द पुद्गलविपाकी कर्मों के निमित्तसे प्राप्त होनेवाली असाधारण लोकोत्तर महिमायोंका उपलक्षण है। जिसके कि कारण उनका परमौदारिक शरीर बन्धन संघात तथा समचतुरस्रसंस्थान वज्रर्षभनाराच संहनन अलौकिक स्पर्श रस गंध वर्ण आदिसे विशिष्ट हुआ करता है।

आप्त परमेष्ठीका यह अन्तरंग एवं बहिरंग स्वरूप कर्मसापेक्ष होनेके कारण स्वाभाविक है और सत्य है। तथा इस बातको स्पष्ट करदेता है कि इतनी योग्यताओंसे जो संम्पन्न है वही वास्तवमें मोक्षमार्गका उपज्ञ वक्ता हो सकता है। इसके सिवाय आप्ताभासोंके अयुक्त स्वरूपका निराकरण भी इन्हीं विशेषणोंके द्वारा स्वयं हो जाता है। किस किस वि-शेषणोंके द्वारा किस किस आप्तविषयक मिथ्या मान्यताका खण्डन होजाता है। यह स्वयं विद्वानोंको ही समझलेना चाहिये।

साथ ही "देवागमनभोयानचामरादि विभूतयः" आदि कारिकाओंका आशय[1] भी यहां यथायोग्य घटित कर लेना चाहिये।

ऊपर आप्त के जो तीन विशेषण दिये गये हैं उनमेंसे सर्वज्ञता और आगमेशिता दोनोंका स्वरूप इसकारिका में बताया है। अतएव इस कारिकामें उल्लिखित उक्त दोनोंही विशेषणों को यहां विशेष्य मानकर सब विशेषण दोनों ही तरफ घटित करना चाहिये। क्योंकि दोनों में परस्पर अजहत् संबंध भी है। सर्वज्ञताके विना आगमेशित्व बन नहीं सकता और आगमेशित्व के विना आप्तकी सर्वज्ञता भी तीर्थंकरता से शून्य हो जाती है। क्योंकि जो तीर्थंकर है वे ही सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेनेपर नियमसे आगमके ईश बनते हैं। तीर्थंकर प्रकृतिका उदय उसके पहले नहीं हुआ करता। तीर्थ जो चलता है वह वास्तवमें तीर्थंकर प्रकृतीके उदय सहित सर्वज्ञकाही चलता है नकि सभी सर्वज्ञोंका, यह बात पहले भी कही जा चुकी है। आगमेशित्व का सम्बंध तीर्थंकर करतासे है। अतएव दोनोंमें अजहत्सम्बंध बन जाता है। और इसीलिए अनादि मध्यांतता भी दोनोंमेंही घटित होती है। जिसतरह अनादिमध्यांत सर्वज्ञ है उसी तरह आगमेशित्व भी अनादिमध्यांत है। क्योंकि सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान और उनका उपदिष्ट आगम अनादिकालसे हैं और अनन्त कालतक रहेगा। इन दोनोंकेही सतत रहनेमें एक दिनका भी विच्छेद नहीं पडता न कभी पडा है और न कभी पडेगा। हां क्षेत्र की अपेक्षा यह संभव है कि इन दोनोंका अस्तित्व कभी किसी क्षेत्रमें पाया जाय और कभी किसी क्षेत्रमें नहीं पाया जाय। परन्तु काल की अपेक्षा इनमें कभीभी अन्तर नही पडता। दोनों की ही सत्ता बनी रहती है। देहली दीपक न्याय से

१—आप्तमीमांसा का भाष्य अष्टसहस्री।

अनादिमध्यांत शब्दको सर्वज्ञ और सार्व एवं आगमेशी के बीचमें रखना इस आशयको स्पष्ट कर देता है।

इस कारिकामें दिये गये विशेषणों के सम्बन्ध में ऐसा जो कहीं २ कहा गया है कि यह सर्वज्ञकी ही वाचक नाममाला है। सो इससे यह नहीं समझना कि ये शब्द या विशेषण अपने२ सर्वथा असाधारण विशिष्ट अर्थका ज्ञापन नहीं करते हैं। मतलब यह कि जिस तरह नामनिक्षेप में अर्थकी अपेक्षा न रखकर केवल व्यवहार सिद्धिके लिए संज्ञा विधान हुआ करता है वैसा यहां नहीं है। ये सभी शब्द अन्वर्थक हैं, सहेतुक हैं, और सप्रयोजन हैं। जैसा कि ऊपर के दिग्दर्शनसे समझमें आसकता है।

इस तरह आप्तके दोनों विशेषणोंका इस कारिकामें स्पष्टीकरण किया गया है। फिर भी जिस तरह सृष्टि कर्तृत्वके सम्बन्धको लेकर ईश्वरके विषय में शंका खडी रहती है कि यह सर्वज्ञ वीतराग होकर पुनः सृष्टि रचनाके प्रपंच में क्यों पडता है उसी प्रकार यहांभी शंका हो सकती कि जब वह आप्त सभी दोषोंसे रहित है, उसको न किसी प्रकारकी आशा ही है और न किसीसे रागद्वेष ही है फिर वह तीर्थप्रवर्तन में क्यों प्रवृत्त होता है? इसका समाधान भी आवश्यक है। अतएव ग्रन्थकार आगमेशित्व विशेषण का ही दृष्टांतपूर्वक अर्थान्तरन्यास अलंकारके द्वारा आशय अधिक स्पष्ट करके शंकाका समाधान करते हैं।—

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥ ८ ॥

अर्थ—वह शास्ता आगमका ईश जिसका कि स्वरूप ऊपर की कारिकामें बताया गया है बिना अपने किसी प्रयोजनके ही और बिना किसी अनुरागके ही भव्य पुरुषोंको हितका—धर्मका मोक्ष मार्गका उपदेश दिया करता है। शिल्पी—मार्दंगिक—मृदंग बजानेवाले के हाथका स्पर्श पाकर बजने वाला मृदंग क्या कुछ अपेक्षा रखता है?

प्रयोजन—संसारी प्राणी अधिकतर अपना कोई न कोई प्रयोजन रखकर ही कुछ भी काम करता हुआ देखा जाता है। यहां तक कि बिना मतलब के कोई भी काम करना बुद्धिमत्ता का सूचक नहीं माना जाता। अतएव यह कहावत भी प्रसिद्ध है कि "प्रयोजनमन्तरा मन्दोऽपि न प्रवर्तते[१]" फलतः मोक्ष मार्गके वक्ताका यहां जैसा कुछ स्वरूप बताया गया है उसको दृष्टिमें लेनेके बाद तत्त्वरूपसे अपरिचित साधारण संसारी जीवोंको यह शंका या जिज्ञासा उत्पन्न होजाना स्वाभाविक है। जब वह आप्त शास्ता पूर्ण वीतराग है—सम्पूर्ण रागद्वेष और मोहसे सर्वथा अतीत है तब उपदेश देनेके कार्यमें भी क्यों प्रवृत्ति करेगा? यद्यपि प्रयोजन अनेक तरहके हुआ करते हैं फिर भी उनको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक स्वार्थ और दूसरा परार्थ। इसमेंसे कोई भी प्रयोजन तो उपदेश देनेमें आप्तका भी होना ही चाहिये। अन्यथा जिसतरह सृष्टिरचना

१—बिना प्रयोजनके मन्द पुरुष भी प्रवृत्ति नहीं किया करता।

व कर्तृत्वके सम्बन्ध को लेकर ईश्वर के विषयमें यह आक्षेप उत्पन्न होता है कि विना प्रयोजन कृतकृत्य ईश्वर सृष्टि रचना के कार्यमें क्यों प्रवृत्त होगा ? उसी तरह क्या कारण है कि प्रकृतमें भी आक्षेप उपस्थित नही हो सकता।

इस शंकाका समाधान करना इसलिये आवश्यक हो जाता है कि आप्तके वास्तविक एवं तात्त्विक स्वरूप से प्रायः प्राणीमात्र अनभिज्ञ है। मोही संसार जब तक उसके स्वरूपके विषयमें संशयित विपर्यस्त या अनध्यवसित बना हुआ है तब तक दुःखोंसे छूटकर उत्तम सुखरूपअवस्था में उपस्थित नहीं हो सकता। जिस हेतुसे परम करुणावान भगवान समन्तभद्र स्वामीने इस ग्रन्थ के निर्माण का आरम्भ किया है उसकी सिद्धि उन आप्त परमेष्ठी के स्वरूपके परिज्ञानपर ही निर्भर है। अतएव उसके सम्बन्ध में यह बताना अत्यन्त आवश्यक है कि वह आप्त पूर्णतया निर्मोह और निर्दोष होकर विना किसी प्रयोजन के ही श्रेयोमार्गके उपदेश कार्यमें क्यों और किस तरह प्रवृत्त हुआ करता है। इसी प्रयोजनसे इस कारिका का निर्माण हुआ है। इसके द्वारा ग्रन्थ-कार को यही बताना अभीष्ट है कि यद्यपि यह कहना सर्वथा सत्य है कि संसारका कोईभी कार्य प्रायः स्वार्थ या परार्थ अथवा दोनों इनमेंसे किसी भी प्रयोजनके विना नहीं हुआ करता फिर भी आप्त परमेष्ठी के इस धर्मोपदेश कार्य में यह नियम या मान्यता लागू नहीं होती—व्यभिच-रित हो जाती है। किस तरह व्यभिचरित हो जाती है यह बात दृष्टांत द्वारा स्पष्ट कर दी है।

शब्दोंका सामान्य विशेषार्थ—

अनात्मार्थम् का अभिप्राय है कि जो अपने किसीभी प्रयोजनसे[१] न हो और विना रागैः कहनेसे मतलब यह है कि जो दूसरेके हित को सिद्ध करनेकी अनुग्रह रूप भावना आदि से सर्वथा रहित हो।

"विना" के योगमें व्याकरणके नियम के अनुसार राग शब्द में तृतीया विभक्ति हुई है। और इस विना रागैः वाक्यांश का सम्बन्ध शास्ति क्रियाके साथ है। अतएव अथवा अनात्मा-र्थम् की तरह यह भी "शास्ति" क्रिया का ही विशेषण है। इन दोनों विशेषणों द्वारा आप्तभगवान के शासन की असाधारण विशेषता व्यक्त की गई है। शास्ता शब्द आप्तके लिए शासन क्रियाके कर्ता रूपमें प्रयुक्त हुआ है। अतएव यह शब्द, आप्त की शासन क्रियाके करनेमें स्वतन्त्रता[२] को सूचित करता है।

शास्ति क्रिया है जिसका अर्थ है शासन करना[३]। शासनका मतलब है कि जो शास्य है अपने से छोटे हैं अथवा रक्षण की इच्छा रखते है। यद्वा हित मार्गमें अनभिज्ञ रहने के कारण उसको जानना चाहते है उनको उपदेश देकर हित में लगाना और अहित से बचाना।

१—आत्मनः– स्वस्य अर्थः– प्रयोजनम् (अर्थोऽभिधेयरैवस्तु प्रयोजननिवृत्तिषु) इति आत्मार्थः। न आत्मार्थो यस्मिन् कर्मणि तत् अनात्मार्थम्।

२—"स्वतन्त्रः कर्ता। विवक्षित क्रियाके करने या न करनेमें तथा उसके साधक कारकोंको उपयोग में लेने न लेने के लिए जो स्वाधीन है वह कर्त्ता है। ३—यहां शासनसे मतलब है आगमका। और आगम

लोकमें दण्ड देकर शासन किया जाता[1] है किंतु आप्त परमेष्ठी भगवान केवल उपदेश देकरही शासन किया करते हैं। उनके उपदेश में क्योंकि वे निर्दोष तथा सर्वज्ञ हैं अतएव दो विशेषताए पाई जाती हैं। प्रथम तो यह कि वह उपदेश किसी भी प्रयोजन से प्रेरित नहीं हुआ करता। जैसा कि इस कारिकामें दोनोही क्रियाविशेषणों द्वारा बताया गया है। दूसरी विशेषता आगे चलकर कारिका नंबर ९ के द्वारा बताई जायगी कि उनका शासन आदेश किन किन विशेषताओं से युक्त रहा करता है।

सतः और हितम् ये दोनो ही शब्द शास्ति क्रिया के कर्म हैं। क्योंकि शास धातु द्विकर्मक है। अतएव इन दोनोंका कर्म कारक के रूपमें प्रयोग किया गया है। और इसीलिए सतः यह षष्ठी विभक्ति का एक वचन न मानकर द्वितीयाका बहु वचन समझना चाहिये। जिसका अर्थ होता है सत्पुरुषोंको–भव्यों या मुमुक्षुओंको। क्योंकि उनके पास समवसरणमें असत् पुरुष, अभव्य तथा जिनको मोक्ष की आकांक्षा ही नही है ऐसे तीव्र मिथ्यादृष्टि–दीर्घ संसारी पहुँचतेही[2] नहीं है। हितसे मतलब है कि आत्माकी समस्त कर्मों से आत्यन्तिक निवृत्ति[3]।

प्रकृत कारिका के उत्तरार्धमें दृष्टांत गर्भित अर्थान्तरन्यास[4] अलंकार के द्वारा पूर्वार्ध में कथित विषय का समर्थन किया गया है। 'किमपेक्षते' यह काकूक्ति है[5]। अतएव उसका अर्थ होता है कि वह किसीकी भी अपेक्षा नहीं करता।

तात्पर्य यह कि इस कारिकाके द्वारा आगमेशित्वके वास्तविक स्वरूपका और उक्त आप्तके प्ररूपित आगम के प्रामाण्यका दिग्दर्शन—संक्षेपमें किंतु बहुतही सुन्दर ढंगसे युक्तिपूर्वक कराया गया है। यदि यह नही बताया गया होता तो अधिक संभव था कि लोगों को इस विषयमें भ्रम या विपर्यास अथवा अज्ञान बना रहता। या तो वे विपरीतबुद्धि होजाते अथवा बने रहते। जिस तरह कृतकृत्य ईश्वर के विषयमें अवतार लेने आदि के हेतु अथवा प्रयोजनकी कल्पित एवं मिथ्या उक्तियोंको सुनकर भी लोग विपरीत दृष्टि बन जाते या बने हुए हैं उसी तरह यहां पर भी बने रहते।

आज हम देखते हैं कि सर्वज्ञ वीतराग निर्दोष तीर्थंकर भगवान के अनुयायियों में भी यह एक बहुत बडा तात्त्विक अज्ञान पाया जाने लगा है कि वे भी मिथ्यादृष्टि की तरह भगवान महावीर स्वामी आदि के विषयमें कुछ भ्रमोत्पादक अथवा विपर्यास पैदा करनेवाले ऐसे वाक्य बोल

का अर्थ है—"आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः"। १—दण्डो हि केवलं लोकमिमं चामुं च रक्षति। राज्ञा शत्रौ च पुत्रे च यथा दोषसमं धृतः ॥ यशस्तिलक ॥ २—हरिवंश पुराण अ० ५७-१७३ ॥

३—सर्वार्थसिद्धि।

४—उक्तसिद्ध्यर्थमन्यार्थन्यासो व्याप्तिपुरःसरः। कथ्यतेऽर्थान्तरन्यासः श्लिष्टोऽश्लिष्टश्च स द्विधा ॥ ४-९२ ॥ वाग्भटालंकार।

५—इसको आक्षेपालंकार कहते हैं। यथा-उक्तिर्यत्र प्रतीतिर्वा प्रतिषेधस्य जायते। आचक्षते तमाक्षेपालंकारं विबुधा यथा ॥ ७५ ॥ लोके विनिंद्यं परदारकर्म मात्रा सहैतत् किमुकोऽपि कुर्यात्। मांसं जिघत्सेद्यदि कोपि लोलः किमागमस्तत्र निदर्शनीयः ॥ यशस्तिलक।

दिया करते या लिख दिया करते हैं जो कि स्वरूप विपर्यास अथवा कारण विपर्यासको सूचित करते है। उदाहरणार्थ यह कहना कि उन्होने फैली हुई हिंसावृत्ति को दूर करनेके लिए सर्वस्वका त्याग किया दीक्षा धारण की और उपदेश दिया। इत्यादि। क्यों कि इस कथनसे उनके दीक्षा धारण में परोपकार करनेकी सराग भावना मुख्यतया हेतु रूपसे व्यक्त होती है जो कि यथार्थ नहीं है। क्योंकि वास्तवमें उन्होंने जो दीक्षा धारणकी वह तो आत्म कल्याणके ही लिये ली थी तथा रागादिसे युक्त उपयोग तो वन्धका ही कारण है। और उनका उपयोग उससे सर्वथा रहित होता है। हां, यह कहा जा सकता है कि उनके उपदेशके कारण हमारा कल्याण हुआ, जगत् का कल्याण हुआ और फैली हुई हिंसा वृत्ति दूर हुई। उनके उपदेशसे ये कार्य हुये यह कहना और इन कार्योंके लिये उन्होंने उपदेश किया यह कहना इन दोनोंमें आकाश पाताल जैसा अन्तर है। परोपकारकी भावना यह ठीक है कि पुण्य बन्धका कारण है परन्तु इससे बन्धकी कारण रूप उनकी अवस्था ही तो सिद्ध होती है जो कि आगम युक्ति और अनुभवके सर्वथा विरुद्ध है। यही कारण है कि इस तरहके भ्रमका परिहार करनेकेलिये आचार्यने यहांपर यह कहदिया है कि भगवान्का जो शासन--उपदेश प्रवृत्त होता है उसमें न तो किसी तरहका अपना ही ख्याति लाभ पूज्यता आदि प्रयोजन निमित्त है और न रागादिके द्वारा—परोपकारादिकी भावनासे ही वह प्रवृत्त हुआ करता है। ध्यान रहे कि इसीलिये अरिहन्त भगवानको निर्दय[१] कहा गया है। क्यों कि वे वीतराग होनेके कारण परोपकारकी सराग भावना-दयासे रहित हैं जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है। उनकी दिव्यध्वनि होनेमें कारण भव्य श्रोताओंके भाग्यके निमित्तकी विवशता और उनके तीर्थंकर प्रकृति आदिके उदयरूप[२] नियतिके कारण उनकी किसी भी तरहकी इच्छाके विना ही वचन योगकी प्रवृत्तिका होना है अतएव वे उपदेश करते हैं—देते है इस तरहका वचन कोई कहता है तो उसका अर्थ यही समझना चाहिये कि उनसे—उनके शरीरसे कर्मोदय[३] वश तथा संस्कारवश[४] और श्रोताओंके भाग्यवश[५] दिव्य ध्वनिका निर्गम हुआ करता है। वस्तुतः---निश्चय नयसे वे उसके कर्त्ता नहीं हैं। इसलिये आचार्यने कारिकाके उत्तरार्धमें मार्दङ्गिकके जड़ हाथ—थापके निमित्तका और उससे होनेवाली जड मृदंगकी ध्वनिका अर्थान्तरन्यासके द्वारा उल्लेख कर दिया है। अथवा इस जगह कीचक जातिके वांससे होनवाले शब्दका[६] भी उदाहरण दिया जा सकता है मतलब इतना ही है और यही है कि निमित्तोंकी प्रबलतासे उनके उपदेश-दिव्यध्वनिरूप वचनकी तथा तन्निमित्तक वचनयोगकी प्रादुर्भूति होजाती है किंतु वे उसको उत्पन्न नहीं करते।

ग्रन्थकर्त्ताकी इस उक्तिसे आगमकी उत्पत्तिके विषयमे जो अनेक तरहकी मिथ्या मान्यताएं प्रचलित हैं उन सबका निराकरण हो जाता है।

१—स्वयंभूस्तोत्र। २—ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं। प्र० सा०॥ ३—तीर्थकर सुस्वर आदि। ४—तीर्थकर कर्म बन्धके समय उत्पन्न हुई तीर्थकृत्व भावना का संस्कार। यथा अन ध. १-२॥ ५—भविभागनि वच जोगे वशाय, तुम धुनि सुनि मन विभ्रम नशाय॥ ६—कीचका वेणवस्ते स्वनन्त्यनिलोद्धताः॥

इस अवसर पर यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि आप्त भगवान्की सर्वज्ञता और आगमेशिता दोनों ही बातोंका गत कारिकामें संयुक्त वर्णन कियागया है। उसमें अनेक सार्थक विशेषणों से युक्त सर्वज्ञको ही शास्ता कहा गया है। अतएव सर्वज्ञ और शास्ता दोनोंको ही परस्परमें विशेष्य विशेषण माना या कहा जा सकता है। और इसीलिये सर्वज्ञ तथा उनके ज्ञानकी तरह देहली-दीपकन्यायसे दोनोंके मध्यमें निक्षिप्त अनादिमध्यान्तताका सम्बन्ध भी सार्व शास्ता और उनके शासन आगमेशित्वसे भी जुड़ जाता है। ऐसा कहना अयुक्त भी नहीं है। विचार करनेपर युक्त ही मालुम होता है। क्योंकि तीर्थंकरोंकी तरह उनका तीर्थ भी प्रवाह रूपसे अनादि-मध्यान्त ही है।

इस तरह सम्यग्दर्शनके विषयभूत आप्त आगम और तपोभृत में से प्रथम निर्दिष्ट आप्त के स्वरूप का चार कारिकाओं के द्वारा मिथ्या मान्यताओंका निरसन करने वाला और यथार्थ स्वरूप का बोध कराने वाला वर्णन पूर्ण करके अब ग्रन्थकर्ता आचार्य दूसरे विषय आगम के वर्णन का आरम्भ करते हैं—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य,—मदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम्॥ ९॥

अर्थ—आप्त परमेष्ठी भगवान् जिसके मूल वक्ता है, जो किसीके भी द्वारा उल्लंघन करने योग्य नहीं है, जो दृष्ट—इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य तथा इष्ट-अनुमेय विषयका विरोधी नहीं है—ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनुमान से जानने योग्य विषयके साथ जिसके कथनका कोई विरोध नहीं पडता, जो तत्त्वस्वरूप का प्रतिपादक है, और जो प्राणिमात्रके लिये हितकर तथा कुमार्गका खण्डन करने वाला है उसको शास्त्र समझना चाहिये।

प्रयोजन—ऊपर यह वताया जा चुका है कि संसारके दुःखों से छुटाकर संसारातीव परमोत्तम सुख रूपमें जीवको परिवर्तित करदेने वाला धर्म रत्नत्रयात्मक है—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है। सम्यग्दर्शन के विषय आप्त-आगम और तपोभृत है। इनमें से आप्तके स्वरूपका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। उसके बाद क्रमानुसार आगमका और वर्णन करना न्याय प्राप्त है। अतः एव इसकारिका के द्वारा उसके यथार्थ स्वरूपका निर्देश किया गया है। यह तो एक प्रयोजन है ही।

इसके सिवाय कुछ और भी प्रयोजन है।—आजकल इस भरत क्षेत्रमें हुँडावसर्पिणी[1] काल प्रवर्तमान है, आगममें इस कालकी अनेक विशेषताएं ऐसी बताई गई हैं

१—असंख्यात कल्पकाल के अन्त मे एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है। देखो त्रिलोक प्रज्ञप्ति गाथा १६१५। किन्तु चर्चासमाधान (भूधरदास जी) चर्चा नं० १६८ के उत्तर में लिखा है कि दशाध्याय त, सू०;अ० १-१ की वनककीर्ति (?) ने भाषा टीकामे लिखा है कि १४८ चौबीसी के वाद १ हुंडक और इतने ही हुंडक के बाद १ विरहकाल आता है। यथा-एक्कसया अडियाला, चौबीसि गया य हुंति हुंडकॅ। तेत्तिय हुंड गयाइं। विरहकालो होदि मोक्खस्स।

जो कि सामान्यरूप से सदा चलने वाले किसी भी अवसर्पिणी काल में नहीं पाई जातीं। यथा—तीसरे ही कालके कुछ अन्तिम भागमें वर्षा आदिका होना, विकलेन्द्रियों की उत्पत्ति, कल्पवृक्षों का अन्त होकर कर्म भूमिका व्यापार, इसी समयमें तीर्थंकर एवं चक्रवर्तीका उत्पन्न होजाना। चक्रवर्तीका मानभंग, थोडेसे ही जीवों को निर्वाण प्राप्ति, ब्राह्मणसृष्टि, शलाका पुरुषों की संख्यामें न्यूनता, नारद रुद्रकी उत्पत्ति, तीर्थंकरोंपर उपसर्ग, चाण्डालादि जातियों तथा कल्की उपकल्कियों का उत्पन्न होना आदि। जिस तरह ये सब हुण्डावसर्पिणी कालकी विशेषताएं हैं उसी तरह इस कालकी एक सबसे बडी विशेषता यह भी है कि इस कालमें अनेक प्रकार के द्रव्यरूप मिथ्याधर्मों[१] की भी प्रादुर्भूति होजाया करती है।

इस अवस्था में प्राणीमात्रके हितकी सद्भावना से ग्रन्थप्रणयन में प्रवृत्त आचार्यके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि मुमुक्षु जीव भ्रममें न पडजांय अथवा विपरीत मार्गका आश्रय लेकर अकल्याणको प्राप्त न होजांय, इसके लिये अपसिद्धान्तोंका निरसन करने और सत्सिद्धान्त के वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान कराने वाला उपदेश दें यही कारण है कि परमकारुणिक भगवान समन्तभद्र स्वामीने भी यहां पर आगमका स्वरूप इसी तरह से बताया है।

प्रकृत कारिकामें आगम-शास्त्र अथवा शासनके जितने भी विशेषण है वे सब इसी उपर्युक्त प्रयोजनको सिद्ध करते हैं। यद्यपि यह प्रयोजन एक विशेषण "कापथघट्टनम्" से भी सिद्ध हो सकता है; तथापि यह विशेषण तो सामान्यतया आगम के निषेधात्मक[२] स्वभावको प्रकट करता है। और बाकीके विशेषण विशेषरूप से "क्षत्रिया आयाताः सूरवर्मापि" इस कहावत के अनुसार कुछ विशिष्ट अपमान्यताओं का निरसन करने वाले हैं। उदाहरणार्थ आगमके विषयमें लोगोंके जो स्वरूपविपर्यास, फल विपर्यास, भेदाभेदविपर्यास, विषय विपर्यास आदि अनेक तरहके विपर्यास बैठे हुए हैं उन सबका ये विशेषण परिहार करते हैं। इसी तरह और भी अनेक प्रयोजन हैं जिनको कि दृष्टि में रखकर ग्रन्थकर्त्ता ने आगमके लक्षण का प्रतिपादन करनेवाली इस कारिकाका निर्माण किया है।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—

आप्त शब्दका अर्थ स्वयं ग्रन्थकर्ताने कारिका नं० ५ के द्वारा बतादिया है और उसका अर्थ भी यथास्थान किया जा चुका है। उपज्ञशब्दका अर्थ किसी भी विषयके मूल ज्ञाता या कथन करनेवाला है। उक्तलक्षणवाले आप्तपरमेष्ठी की दिव्यध्वनिको सुनकर जो ज्ञान प्राप्त होता है उसका प्रवाह गणधरदेव आदिके द्वारा सामान्यतया तब तक प्रवृत्त रहता है जबतक कि उसी तरह के लक्षण से युक्त दूसरे आगेके आप्तरूप तीर्थंकर परमेष्ठी उत्पन्न नहीं हो जाते। यह कथन सामान्यतया प्रवाह की अपेक्षा से है, विशेषतया कारण वश इसमें विच्छेद भी हो जाया

१—देखो हुंडावसर्पिणीके विशेष कार्यों के बताने वाले प्रकरणमें त्रिलोक प्रज्ञप्तिका गाथा नं० १६२१,
२—क्योंकि वस्तुका स्वभाव विधिनिषेधात्मक है और इसीलिये ग्रन्थ कर्ता कभी विधिमुखेन कभी निषेध मुखेन और कभी उभयमुखेन कथन किया करते है।

करता है। अस्तु इस तरह से प्रत्येक सर्वज्ञ तीर्थंकर अपने २ समयके आगम का उपज्ञ है। आजकल इस भरत क्षेत्र में जो आगम प्रवर्त्तमान है उसके उपज्ञ श्री वर्धमान भगवान् हैं। इनके पहले श्री ऋषभादिक अपने २ समयके आगमके उपज्ञ हुए हैं। यह कथन इस अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से समझना चाहिये। इनके भी पहले भूतकालीन तीर्थंकर[१] और आगे भविष्यत्[२] तीर्थंकर उपज्ञ हुए हैं और होंगे। इस तरह सामान्यतया प्रवाह की अपेक्षा आगम द्रव्यार्थिक नयसे अनाद्यनन्त है। परन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा वही आगम तत्तत् तीर्थंकरोंकी उपज्ञताकी दृष्टि से सादि और सान्त भी है। यह कथन स्याद्वादसरणी के अनुसार अविरुद्ध और सत्य है। किन्तु जो स्याद्वाद को नहीं मानते उन एकान्तवादियोंका कथन सद्युक्तिपूर्ण नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि "आप्तोपज्ञ" इस विशेषण के द्वारा स्वरूप विपर्यासके मूलभूत उस एकान्तवाद का निरसन हो जाता है जिसके द्वारा "वेद" आदि की अनादिता[३] का एकान्ततः समर्थन किया जाता है। क्योंकि न तो उनका मूल वक्ता आप्त है और न कोई कथन सर्वथा अनादि अकृत्रिम अनुत्पन्न हो ही सकता है[४]।

अनुल्लंघ्य—शब्दका सामान्यतया अर्थ इतना ही है कि जो उल्लंघन करनेके योग्य न हो। किन्तु यहां पर विचारणीय बात यह है कि किसी भी प्रकारका कोई भी शासन क्यों न हो फिर चाहे वह लौकिक हो अथवा पारलौकिक तब तक वास्तविक नहीं माना जा सकता या आदरणीय नहीं हो सकता जब तक कि उसके अनुकूल तथा प्रतिकूल प्रवृत्तिमें लाभ और हानि नियत[५] नहीं है। यह हानि लाभ की नियति दो प्रकार से हो सकती है। एक तो किसी भी तरह के दण्ड प्रयोग द्वारा, और दूसरी प्रकृति या स्वभाव अनुसार। लौकिक शासन पहले प्रकार[६] में आता है और धार्मिक अथवा पारलौकिक के शासन दूसरे प्रकार के अन्तर्गत हैं। अत एव इस विशेषण का आशय यह हो जाता है कि स्वभाव से ही यह संसारी प्राणी इसलिये दुःखी है कि इस आगम के अनुसार वह प्रवृत्ति नहीं करता, उसका उल्लंघन करके चलता[७] है। जो इसका उल्लंघन नहीं करता वह स्वयं ही अनेक अभ्युदयोंका पात्र बनजाता[८] है। और जो उसके अनुसार ही सर्वथा एवं सर्वदा अपनी प्रवृत्ति करता है वह अवश्य ही संसार के दुःखों से छूटकर परमनिःश्रेयस अवस्थाको प्राप्त कर लेता[९] है। इस तरह से देखा जाय तो आगमकी सफलता उसकी अनुल्लंघ्यता है। और इसीलिये समझना चाहिये कि भगवान के उपदेश के

१—निर्वाण आदिक। २—महापद्म आदि।

३ वेदों की अनादिता या अपौरुषेयत्ता और तत्सम्बन्धी हेतुओंकी निःसारता एवं अयुक्तताको जानने के लिये देखो वेदवाद, प्रमेयकमलमार्तण्डादि न्याय ग्रन्थ तथा आदिपुराण आदि। ४—इस विशेषणसे स्वरूप विपर्यास और कारण विपर्यास दोनों का परिहार हो जाता है।

५—जैसाकि लौकिक कवियों का कहना है। यथा न च विद्विषादरः भारवी किरातार्जुनीय।

६—"दण्डो हि केवलं लोकमिहामुत्र च रक्षति।"

७—मिथ्यादृष्टि जीव। ८—मुख्यतया औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि श्रावक या मुनि या गौणतया द्रव्यलिंगी श्रावक अथवा मुनि। ९—क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रावक मुनि।

फलदान सम्बन्ध में जो अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियां[1] संभव हैं उन सबका इस "अनुल्लंघ्य" विशेषण के द्वारा परिहार हो जाता है।

अदृष्टेष्ट विरोधकं—इस का भी सामान्य अर्थ प्रारम्भ में लिखा जा चुका है। किन्तु इसका समास या निर्वचन अनेक तरह से किया गया[2] है। तदनुसार इस शब्द के अर्थ भी अनेक प्रकार के ही हो जाते हैं। संक्षेपमें उन सबका आशय यह है कि इस आगम के इष्ट विषयका न तो कोई विरोध कर ही सकता है और न अबतक कोई कर ही सका है। अथवा इसमें कोई भी इष्टका विरोध करने वाला विषय देखने में ही नहीं आता। यद्वा यह आगम दृष्ट—इन्द्रियगोचर तथा इष्ट-अभिलषित एवं अनुमेय विषयों का विरोध नही करता।

यह तो सभी समझ सकते हैं कि दृष्ट और इष्ट दोनों ही स्वतन्त्र विषय हैं। जो दृष्ट विषय हैं वे इष्ट भी हो सकते हैं और अनिष्ट भी। इसी तरह जो इष्ट विषय है वे दृष्ट भी हो सकते हैं और अदृष्ट भी। यही कारण है कि ग्रन्थकारने दोनों का ही उल्लेख किया है। फिर भी विवेकियोंको चाहिये कि वे औचित्य[3] से ही काम लें और विचारें कि क्या सभी दृष्ट और इष्ट विषय ऐसे हैं कि जिनका आगम विरोध नहीं करता? विचार करने पर उन्हे मालूम होगा कि सर्वथा ऐसा नहीं है। दृष्ट विषयों में भी जो निन्द्य हैं सावद्य हैं अन्याय पूर्ण हैं उन सबका आगम सर्वथा विरोध करता है। इसी तरह जो अदृष्ट हैं वे सभी उपादेय है ऐसा भी आगम प्रतिपादन नहीं करता। क्योंकि नरक गति अथवा निगोदादि तिर्यग्गति अथवा कुत्सित मनुष्य पर्याय एवं देवदुर्गतिको आगममें पापका कार्य बताकर हेय ही बताया है—उसका विरोध ही किया है। फलतः इस वाक्यका अर्थ इस तरह करना चाहिये कि जो विषय दृष्ट होकर भी इष्ट हैं—पुण्यरूप हैं, शुभोपयोग रूप होकर पुण्यबंध के कारण है उनका आगम विरोध नहीं करता।

दूसरी बात यहहै कि किसी विषयका विरोध न करना अथवा किसी विषयका समर्थन करना ये दोनों ही बातें भिन्न भिन्न है। दृष्ट और इष्ट विषय का आगम विरोध नहीं करता, इतना कहदेने पर भी यह नहीं मालूम होता कि आगमका वास्तवमें मुख्य विषय क्या है? यद्यपि इस जिज्ञासा का समाधान "तत्त्वोपदेशकृत्" विशेषण से होता है। परन्तु "अदृष्टेष्टविरोधक" विशेषण से आगमके फलके सम्बन्ध में जो एकान्त अथवा भेदाभेद विपर्यास पाया जाता है उसका निरास होता है। क्योंकि आगम के प्रतिपाद्य धर्मका फल क्या है इस विषय में लोगोंकी भिन्न २ मान्यताएं हैं। कोई २ शरीरादि सम्पत्तिका अथवा पंचेन्द्रियोंके भोगोपभोगरूप विषयों का लाभ ही धर्म का फल मानते है। और कोई २ परम निःश्रेयसपदका लाभ ही धर्मका फल है और यही आगमप्रतिपाद्य विषय है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं। किन्तु दोनों ही एकान्तरूप कथन

१—'ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा'। अथवा तुष्टाः प्रयान्ति च राज्यमेवे। यद्वा 'सर्वज्ञ तीर्थङ्करका उपदेश सुनकर भी जीव मिथ्यादृष्टि बना रहता है। इत्यादि अनेक तरहकी मिथ्या मान्यताएं।
२—देखो सिद्धांत शास्त्री पं गौरीलालजी की मुद्रित टिप्पणियां। रत्नकरण्ड श्रावकाचार पृ० सोला।
३—विवेकपूर्णबुद्धिसे। 'औचित्यमेकमेकत्र गुणानां राशिरेकतः। विषायते गुणग्राम औचित्य परिवर्जितः अ० ध०

प्रमाणभूत नहीं है दोनोंमें मैत्री भाव ही धर्म है और वही संसार निवृत्तिका मार्ग है। क्योंकि उस व्यवहार मार्ग रूप धर्मका आश्रय लिये विना जोकि ऐहिक अभ्युदयों का भी साधन है, निश्चय धर्मकी सिद्धि नहीं हो सकती। और निश्चय को छोडकर केवल व्यवहार धर्म से आत्म-सिद्धिका लाभ नहीं। वह निश्चय धर्म की सिद्धि में साधन होने से और पुण्यसम्पत्तिका कारण होने से धर्मरूपमें मान्य अवश्य है।

पुण्य सम्पत्ति दो भागोंमें विभक्त की जा सकती है एक तो दृष्ट मनुष्यादि पर्यायसे सम्बन्धित राजाधिराज मंडलेश्वर महामण्डलेश्वर नारायण बलभद्र चक्रवर्ती तीर्थंकर अथवा गणधर कामदेव आदिका पद या तत्सम्बद्ध विषय। दूसरे अदृष्ट—भोगभूमि, एवंस्वर्गों के पद और उनके सचित्त अचित्त भोगोपभोगरूप मनोहर विषय। निश्चय धर्म इन फलोंका विरोधी नहीं है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि ये उसके वास्तविक फल हैं। वास्तवमें तो निश्चय धर्म के सहचारी अथवा क्वचित् उसके साहचर्यसे रहित रूपमेंभी पाये जानेवाले शुभोपयोग रूप परिणामों और तदनुकूल प्रवृत्तियोंके फल हैं। फिर भी जिसका फल दृष्ट और इष्ट विषयों का लाभ है ऐसे शुभोपयोगरूप धर्म का निश्चयधर्म विरोधी नहीं है। इसी बातको "अदृष्टेष्टविरोधकं" विशेषण स्पष्ट करता है और फलविप्रतिपत्तिके साथ साथ इस सम्बन्ध की ऐकान्तिक अपमान्यताओंका खण्डन करके निश्चय और व्यवहार धर्म की मैत्री रूपताको सिद्ध करता है।

तत्त्वोपदेशकृत्—भाव और भाववान् दोनोंका ग्रहण है। और कोई भी वाक्य विना अवधारणके अपने अर्थके विषयमें यथावत् निश्चय नहीं करा सकता। अत एव इस वाक्यका अर्थ यह होता है कि जिनेन्द्र भगवान्का शासन ही ऐसा है जो कि वस्तु और उसके स्वरूपका ठीक २ निश्चय करा सकता है। साथ ही यह कि जिनेन्द्र भगवान् के शासन को छोडकर अन्य जितनेभी शासन हैं वे तत्त्वका उपदेश नहीं करते। अत एव उनका विषय और वे स्वयं अतत्त्वरूप ही है—अवास्तविक हैं। विशेषणका फल इतरव्यावृत्ति होता है। अत एव इस विशेषणके द्वारा उन सभी शासनोंकी अतत्त्वरूपता बता कर हेयता प्रगट करदी गई है।

"तस्य भावस्तत्त्वम्" इस निरुक्तिके अनुसार और क्योंकि तत्शब्द सर्वनाम है अत एव तत्त्वशब्द सभी विवक्षित पदार्थों के भावको सूचित करता है। जहां जो पदार्थ विवक्षित हो उसी के भावको यह शब्द व्यक्त करदेता है। आगममें यद्यपि सभी जीवादि पदार्थ वर्णित हैं फिर भी उन सबमें जीव द्रव्य मुख्य मानागया है और उसी को प्रधानतया उपादेय मानकर वर्णन का लक्ष्य बनाया गया है। अत एव अन्य तत्त्वोंकी अपेक्षा जीवका तत्त्व यहां पर मुख्यतया समझना चाहिये आगममें उसके पांच भेद बताये हैं—औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक औपशमिक और पारणामिक। जो कि स्वतत्त्व[1] नामसे कहे गये हैं॥

भाव और भाववान् में कथंचित् अव्यतिरेक होनेके कारण तत्त्वशब्द से जीवादिसात तत्त्व

१—"औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च" त० सू० २-१

भी लिये जाते हैं। यथा जीव अजीव आस्रव बन्ध सम्वर निर्जरा और मोक्ष[1]। इनका विशेष वर्णन आगममें देखना चाहिये।

इस तरह तत्त्वशब्द से औदयिकादिक पांच स्वतत्त्व और जीवादिक सात तत्त्वोंका ग्रहण हो जाता है। इनका जितना और जैसा सर्वाङ्गपूर्ण युक्तियुक्त वर्णन जैनागममें पायाजाता है उस के एक अंशमात्र भी अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। अत एव यह कहना अत्युक्त न होगा कि वास्तविक तत्त्वोपदेश जिनेन्द्र भगवान् के शासनसे ही प्राप्त हो सकता है और वही उसका अधिकार रखता है।

सार्व—इस शब्दका अर्थ बताया जा चुका है और प्रसिद्ध है कि जो सबकेलिये हितकर हो उसको कहते हैं सार्व। जिन भगवान्का शासन प्राणी मात्रके हितको सिद्धकरनेवाला है। उसकी यह विशेषता ही इस सार्व विशेषणके द्वारा स्पष्ट की गई है। प्रश्न हो सकता है कि जिनेन्द्र भगवान् "भव्यसम्बुद्धि" हैं। वे भव्योंको सम्बोधन करके उपदेश दिया करते हैं। फलतः अभव्योंका[2] अथवा जो उनके समवसरणमें पहुचते नहीं या पहुच नही सकते, यद्वा जो उनके उपदेशको सुननेकी योग्यतासे रहित हैं उनके लिये उनका शासनोपदेश हितकर किसतरह कहा जा सकता है? अथवा कहना चाहिये कि वह सबकेलिये हितकर नहीं है। परन्तु विचार करने पर यह शंका निर्मूल सिद्ध हुए विना नहीं रह सकती। क्योंकि यह तो कोई भी समझ सकता है कि सुनने वाले की अयोग्यताके कारण वक्ताकी या उसके वचनकी असमर्थता सिद्ध नहीं होती। जिस मोक्ष पुरुषार्थको सिद्ध करनेवाले असाधारण उपायरूप रत्नत्रयका जिन भगवान्ने उपदेश किया हैं उसकी उद्भूति की योग्यता जिसजीवमें नहीं पाई जाती उसको कहते है अभव्य। इससे स्पष्ट हैं कि भगवान् की वाणी में जो सर्व हितं करता है उसमें कोई भी बाधा नहीं आती। तथा वह अभव्य भी अपनी योग्यताके अनुसार भगवान् के उपदिष्ट मार्ग पर चलकर यथायोग्य अपना लौकिक हित सिद्ध कर सकता है। और करता भी है। इसी तरह अन्य उनव्यक्तियोंके विषयमें भी समझना चाहिये कि जो समवसरणमें नहीं पहुंचसकते। क्योंकि वे भी अपनी अन्तरङ्ग या वहिरङ्ग पर्यायाश्रित अयोग्यताओं से रहित होकर यदि जिनभगवान् के कथित धर्म को धारण करलें तो वे भी अवश्य ही अपना हित सिद्ध कर ले सकते है। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवोंमें तो उपदेशको सुनने या ग्रहण धारण करनेकी योग्यता ही नही है। फिर भी भगवान् के अहिंसाप्रधान उपदेश के कारण जो तीन जगत् के जीवोंकी रक्षा होती है, हो रही है, हुई है और होतीरहेगी इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि भगवान् के उपदेशके कारण ही वे निर्भय हैं, और बचे हुए हैं। यह उनका कितना अधिक महान् हित[3] हैं। फलतः प्राणीमात्रके विषयमें

१—"जीवाजीवास्रवबंध संवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्" त० सू० १—४।

२—भव्यकूटाख्ययास्तूपा भास्वत्कूटास्ततोऽ परे। यानभव्या न पश्यन्ति प्रभावान्धीकृतेक्षणाः॥१०४। हरिवं०५७

३—तीन भुवनमें भरि रहे, थावरजंगम जीव। सब मत भक्षक देखिये, रक्षक जैन सदीव॥८४॥ भ० न०

और समीचीन सभी तत्त्वों की यथार्थता को निष्पक्षरूपसे प्रकाशित कर जीवोंको अहितसे बचा कर सम्पूर्ण शास्वत निर्बाध सुखको प्राप्त करानेवाले वास्तविक मार्ग को बताता—दिखाता है।

अब क्रमानुसार सम्यग्दर्शनके विषयभूत तपस्वी— गुरुका लक्षण या स्वरूप बताते हैं।—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी[1] स प्रशस्यते ॥ १० ॥

अर्थ—जो विषयोंके आशा के आधीन नहीं है। जो असि मसी आदि जीविका के उपायभूत आरम्भ से रहित है जो अन्तरंग तथा बाह्य किसीभी परिग्रहसे युक्त नहीं है और जो ज्ञान ध्यान तथा तपमें अनुरक्त है वही तपस्वी प्रशंसनीय है। सच्चा तपोभृत्–साधु–अनगार–मुनि वही है।

प्रयोजन—आगम में उसकी प्रामाणिकता और उपादेयता को स्पष्ट करने के लिए चार बातों पर विचार किया गया है। सम्बन्ध अभिधेय शक्यानुष्ठान और इष्ट प्रयोजन। जिसमें यह चार बाते नहीं पाई जातीं ऐसा कोई भी शास्त्र न तो प्रमाण ही माना जा सकता और न उपादेय ही। जिसका कथन पूर्वापर सम्बन्धरहित है वह[2] उन्मत्तवचन के समान है। वह प्रमाण नही माना जा सकता। इसी तरह जिसका कोई वाच्यार्थ ही नही है। वह[3] भी आदरणीय किस तरह हो सकता है। एवं जिस उपदेश का पालन[4] नहीं हो सकता। अथवा जिसका पालन तो हो सकता हो परन्तु प्रयोजन अभीष्ट न हो वह[5] भी मान्य और उपादेय किस तरह हो सकता हैं। फलतः किसी भी कथन की प्रमाणता और आदरणीयता इन चार बातों पर निर्भर है।

आप्त भगवान के जिस आगमका ऊपर वर्णन किया गया है वह इन चारो ही दोषोंसे रहित है। वह पूर्वापर विरुद्ध या असम्बद्ध नहीं है और न वाच्यार्थ हीन ही है। इसी तरह उसमें जिस विषयका वर्णन किया गया है वह अशक्य अथवा अनिष्ट प्रयोजन हो सो यह बात भी नहीं है।

अज्ञान अथवा तीव्र मोहके उदयके वशीभूत प्राणियोंमें इस तरह की शंकाएं पायी जाती है कि जिनेन्द्र भगवान ने जिस श्रेयोमार्गका वर्णन किया है उसका पालन शक्य नही है। वह अत्यन्त दुर्धर क्लिष्ट और संक्लिष्ट है अतएव उसका यथावत पालन नही हो सकता। खासकर इस दुःषम कालमें जब कि नग्न दिगम्बर जिन मुद्रा के धारण पालन में अनेक अंतरंग बहिरंग कठिनाइयां पाई जाती हैं। अतएव इस तरह के वर्णन या आगमको अशक्यानुष्ठान समझना चाहिये।

१—रक्तः की जगह रत्नः भी पाठ पाया जाता है अर्थात् ज्ञान ध्यान और तप ही हैं रत्न जिसके।
२—दशदाडिमादिवत्—दशदाडिम नदी घोडा आदमी शकट आदि की तरह असम्बद्ध प्रलाप।
३—एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः। इत्यादिवत्। ४—अपने घरमे प्रकाश बनाए रखनेके लिए चन्द्रमा को लाने की उपदेश की तरह। ५—विधवा मा बहिन बेटीके विवाह के उपदेश की तरह।

कुछ लोगोंकी समझ है कि नग्न दिगम्बर जिन मुद्रा रूप में आप्तोपज्ञ शासन का पालन प्रयोजनीभूत नहीं है। क्योंकि उसके बिना भी केवल आत्मध्यानसे ही कर्मों की निर्जरा, संसार की निवृत्ति और निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है क्यों कि कर्मोंका बन्ध और मोक्ष अपने परिणामोंपर निर्भर है अतएव इस तरह के तपश्चरण की आवश्यकता नहीं है।

इस तरह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को ही आत्मसिद्धिका साधन मानकर जो तपश्चरण को अनावश्यक समझते हैं उनको भी यह बताने के लिए कि तपश्चरण के बिना न तो श्रेयोमार्ग ही सिद्ध हो सकता है और न निर्वाण ही प्राप्त हो सकता है। साथही जो जिनशासनके अनुसार मोक्ष मार्गका पालन अशक्य समझ रहे है उनको यह स्पष्ट करने के लिए जैनागममें जो कुछ वर्णन किया गया है उसका न तो अनुष्ठान अशक्य है और न प्रयोजन ही अनिष्ट है। इस कारिका के द्वारा तपस्वीका स्वरूप बताकर जैनागम के प्रतिपाद्य विषय श्रेयोमार्ग की शक्यानुष्ठानता एवं इष्ट फलवत्ता प्रकट करना कारिकाका प्रयोजन है क्योंकि इस कारिकामें जो तपस्वीका स्वरूप बताया गया है, वह जैनागमके सम्पूर्ण वर्णन का मूर्तिमान सार ही है। अथवा जिस समीचीन धर्मका इस ग्रन्थ में वर्णन किया जायगा तपस्वी उसके साक्षात पिंड ही है। मानों वे मूर्तिमान रत्नत्रय ही हैं। सम्पूर्ण जैनागमकी सफलता भी तपस्वितापर ही निर्भर है। यह बात दृष्टिमें आसके यह इस कारिकाके निर्माण का प्रयोजन है।

शब्दार्थ—विषयसे मतलब पंचेन्द्रियोंके इष्टानिष्ट बुद्धि सरागभावपूर्वक सेव्य या असेव्य समझे जानेवाले विषयोंसे है, १ क्योंकि किसी भी विषयका चाहे वह ऐन्द्रिय हो अथवा अतीन्द्रिय ज्ञान होना न तो हेय ही है और न हानिकारक ही। ज्ञान तो आत्माका निज स्वभाव है, वह तो छोड़ा नहीं जा सकता। और न वह छूट ही सकता है। वास्तवमें छोड़ी जाती है उन विषयोंमें रागद्वेषकी भावना। अतएव कहागया है कि विषयोंकी आशाके वशमें नहीं है।

इन्द्रियां पांच हैं। उनके द्वारा जो ग्रहण करनेमें आते है वे विषय सामान्यतया पांच है किंतु विशेषतया सत्ताईस हैं। पांच रूप, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श और सात स्वर। एक अनिन्द्रिय–मनके विषयको भी यदि सामिल किया जाय तो अट्ठाईस विषय होते है। इनमेंसे जिनको इष्ट समझता है उनको संसारी प्राणी सेवन करना चाहता है और उन्हें प्राप्त करना चाहता है फलतः उन विषयोंके सेवन करने और तदर्थ प्राप्त करनेकी जो आकांक्षा होती है वही संसार है और वही दुखोंका मूल है। जो जीव इस विषयाशासे अनुवासित हैं। इसके अधीन बने हुए हैं वे ही भवभ्रमण और तज्जनित समस्त दुःखोंके पात्र बने हुए हैं। इसके विपरीत जो इस विषयाशा रूप कषायवासनाके अधीन नहीं रहे हैं। —जिन्होंने इस आशाको अपने अधीन बना लिया वे ही मोक्षमार्गी हैं। इसी अभिप्रायको दृष्टिमें रखकर कहागया है कि—

१—"मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच" तत्त्वार्थसूत्र।

आशाया ये दासाः ते दासाः सन्ति सर्वलोकस्य ।
आशा येषां दासी तेषां दासोऽखिलो लोकः[1] ॥

जो भव्य भवभ्रमणसे भयभीत होकर उससे सर्वथा मुक्त होना चाहते हैं उनको सबसे प्रथम इन विषयोंकी अधीनतासे मुक्त होना चाहिये । इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये मोक्षमार्गका रत्नत्रयरूप धर्मका सर्वथा साधन करनेवाले तपस्वियोंको सबसे प्रथम विषयाशावशातीत होना चाहिये यह कहागया है।

पांचों ही इन्द्रियोंके अवलम्बनसे अपने२ नियत विषयका क्रमसे ग्रहण होता है। अतएव अवलम्बन और उनके नियत विषयके भेदकी अपेक्षा विषयके मूलमें पांच भेद होते हैं जिनके उत्तर भेद सत्ताईस और मनके विषयको भी सामिल करनेपर २८ भेद बताये गये हैं इनकी रागके वश होकर आशा करना—अप्राप्तमें प्राप्तिकी, और प्राप्तमें वियोग न होनेकी जो आकांक्षा लगी रहती है उससे यह जीव न करने योग्य कर्मोको करनेकेलिये भी विवश बना रहता है अतएव इस विवशताका छूट जाना मोक्षमार्गमें चलनेकेलिये पहला साधन है ।

ज्ञानकी अपेक्षाको गौण करके उन विषयोंके सेवनकी दृष्टिसे इन्हीं विषयोंको दो भागोंमें विभक्त कियागया है।—भोग और उपभोग । जो एक ही वार भोगनेमें आवें उन्हें भोग और जो वारवार भोगनेमें आवें उन्हें उपभोग कहते हैं । ऐसा स्वयं ग्रन्थकार आगे चलकर बताने वाले हैं ।

इन इन्द्रिय विषयोंको भोगोपभोग संज्ञा इसलिये दी गई है कि इनके ग्रहणके साथ२ रागपूर्वक इनके सेवन करनेकी आशाका भाव पाया जाता है जो कि कर्म बन्ध और संसारका कारण है। जो इससे रहित है—कदाचित् निम्न दशामें उस कषायसे युक्त होते हुए भी उनको हेय समझ उसका निग्रह[2] करनेमें प्रवृत्त हैं, अतएव जो उसके आधीन नहीं, अपितु उस कषायको ही जिन्होंने अपने अधीन करलिया है, उस कषायको निर्मूल करनेकेलिये दृढसंकल्प होकर साधनामें प्रवृत्त हैं वे ही साधु परमेष्ठी वास्तवमें गुरु हैं—मूर्तिमान रत्नत्रय धर्म हैं—अन्य मुमुक्षुओंके लिये मोक्षमार्गके आराधनमें आदर्श हैं।

निरारम्भः—विषयोंकी आशाके वशीभूत प्राणी उन विषयोंका संग्रह करनेकेलिये अनेक तरहके आरम्भमें प्रवृत्त होता है । असि मषि कृषि आदि जो भी इसकेलिये व्यापार करता है उसमे सावद्यताका सम्बन्धभी अवश्य रहा करता है । द्रव्य हिंसा या भावहिंसा अथवा दोनोंका यद्वा झूठ चोरी आदिका किसी न किसी प्रमाणमें सम्बन्ध आये विना नहीं रहता । अतएव जो विषयोंकी आशा ही छोड चुका है वह इन सावद्य कर्मोमें प्रवृत्ति करना भी क्यों पसन्द[3] करेगा । अतएव जो विषयोंकी आशाको छोडकर उनका संचय भी नहीं करता, संग्रह करनेके

१—यही बात गुणभद्राचार्यने आत्मानुशासनमें भी अनेक तरहसे स्पष्ट की है।

२—"इदमनिंदियगायार्य देवाण तहिंदियाण पंचण्हं धारणपालणणिग्गाहधारजओ संजमो भणिदे गो० जी०

३—मूलं नास्ति कुतः शाखा ।

लिये किसी भी तरहका व्यापार उद्योग धन्धा आदि बिलकुल नहीं करता उसको कहते हैं निरारम्भः।

अपरिग्रहः—आरम्भ–उद्योग धन्धा आदि न करके भी जो अपने पास उन विषयों और उनके साधनोंको– वस्त्र, भूषण, रुपया, मकान, जमीन, वाहन, सोना, चांदी आदि को रखता है उसको कहते हैं परिग्रही। इस तरहके समस्त परिग्रहसे जो रहित है उसको कहते हैं अपरिग्रह।

ज्ञानध्यानतपोरक्तः—यों तो ज्ञानका अर्थ जानना मात्र है। और रागद्वेषसे रहित होकर यदि किसी भी विषयको जाना जाय तो तत्त्वतः उससे किसी तरहका पाप अथवा कर्मबन्ध होता भी नहीं है[१]। अन्यथा केवली भी उससे मुक्त न हो सकेंगे। फिर भी यहां ज्ञानसे मतलब निरन्तर श्रुतका अभ्यास करते रहनेसे है। क्योंकि मोक्षमार्गीको उसीसे आवश्यक एवं उपयोगी तत्त्व प्राप्त हो सकते हैं जैसा कि कहा भी है कि—

सद्दर्शनब्राह्ममुहूर्तदृप्यन्मनःप्रसादास्तमसां लवित्रं। भक्तुं परं ब्रह्म भजन्तु शब्दब्रह्माजस्रं नित्यमथात्मनीनाः ॥३–१॥ अन०। तथा चाहुर्भट्टाकलंकदेवाः।

श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः। परीक्ष्य तांस्तांस्तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान् ॥
नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने। विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ॥
अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिदांगतैः। द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशतः॥
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित्। तपोनिर्जीर्णकर्मायं विमुक्तः सुखमृच्छति ॥

अन०ध० पृ० १६६ ॥

ज्ञानकी स्थिर अवस्थाका नाम ध्यान है। कोई भी ज्ञान यदि अन्तर्मुहूर्त्त तक अपने विषयपर स्थिर रहता है तो उसको कहते हैं ध्यान। आगममें ध्यानके चार भेद बताये है–आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल। इनमें मुमुक्षुके लिये अन्तिम दो ध्यान ही उपादेय है। ध्यानका तत्त्व विशेषरूप से जाननेकी इच्छा रखनेवालोंको ज्ञानार्णव, यशस्तिलक, आदिपुराण, भावसंग्रह आदि ग्रन्थ देखने चाहिये।

तप—कर्मोंकी निर्जराकेलिये मन इन्द्रिय और शरीरके भलेप्रकार निरोधको कहते हैं तप[२] जिस तरह किट्ट कालिमासे युक्त सुवर्ण पाषाणको शोधनविधिके अनुसार अग्निमें डालने आदि प्रयोग करनेपर सम्पूर्ण दोष निकलकर सुवर्ण शुद्ध होजाता है। उसी तरह जिस प्रयोग के द्वारा कर्मकलंक दूर होकर झडकर आत्मा निर्दोष शुद्ध बन जाता है उसीको कहते हैं तप। इसमें मन इन्द्रियों और शरीरका समीचीनतया–विधिपूर्वक निरोध करना आवश्यक है।

१—येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति॥ पुरु०

२—अनिगूहितवीर्यस्य कायक्लेशस्तपः स्मृतं। तच्चमार्गाविरोधेन गुणाय गदितं जिनैः। अथवा–अन्तर्बहिर्मलप्लोषादात्मनः शुद्धिकारणं। शरीरं मानसं कर्म तपः प्राहुस्तपोधनाः॥ यशस्ति० तथा देखो अनगारधर्मामृत। अ० ७ श्लोक २,३।

इस तपके मूलमें दो भेद है , बाह्य और अन्तरंग। इनमें भी प्रत्येकके छह२ भेद हैं।—यथा अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश। ये छह बाह्य तपके भेद हैं। तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अन्तरंग तपके भेद हैं।

अथवा तपका अर्थ समाधि करना चाहिये। ध्यानकी पुनः २ प्रवृत्ति अथवा अत्यन्त दृढ और अधिक कालतक स्थिर रहने वाली अवस्थाका नाम है समाधि। जैसाकि प्रायः श्रेण्यारोहण के सम्मुख सातिशय अप्रमत्त और शुक्लध्यानकी अवस्था में पाया जाता है।

इस प्रकार चार विशेषणों से जो युक्त है वही तपस्वी प्रशंसनीय है। यह प्रशंसा वास्तविक मोक्षमार्ग के आराधन की अपेक्षा से है। क्योंकि तत्त्वतः मोक्षमार्ग का साधन इन चार विशेषणों में से किसी भी एक के विना नहीं हो सकता, चारों ही विषयों से जो युक्त है वही निर्वाणका साधन करने वाला वास्तव में साधु माना जा सकता है। उसके लिये तपोभृत अथवा तपस्वी शब्दका जो प्रयोग किया है उसका कारण यह है कि आगम के अनुकूल चलने में यद्वा मोक्षमार्ग के साधन में तपश्चरण मुख्य हैं क्योंकि निर्वाणकी सिद्धि संवर और निर्जरा पूर्वक ही हो सकती हैं। इनमें से मुख्यतया संवर के कारण गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा परीषहजय और चारित्र हैं। किन्तु तपश्चरण गौणतया संवर का कारण होकर भी मुख्यतया निर्जराका कारण है। अत एव मुमुक्षु के लिये तपश्चरण प्रधान और आवश्यक है।

तात्पर्य—श्री जिनेन्द्र भगवान के आगमका मुख्य ध्येय अथवा विषय मोक्षमार्ग है। इसका जो यथावत् पालन करते हैं उनको ही साधु मुनि यति अनगार आदि शब्दों से कहा है। उस श्रेयोमार्ग के पालन करने की तरतमरूप अवस्था भेद के अनुसार उनकी पुलाक बकुश कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक१; अथवा ऋषि मुनि यति अनगार आदि संज्ञाएं कही,गई हैं। फिर भी कमसे कम उनको कितना चारित्र पालन करना चाहिये इस बातको भी आगम२ में निश्चित कर दिया गया है। उतना पालन करने पर उनका चारित्र पूर्ण चारित्र की कोटि में गिनलिया गया है।

आगम में इस चारित्र के निर्देश स्वामित्व आदि३ अनुयोगों का कथन करते हुए विधान के सम्बन्धमें एक दो तीन चार पांच संख्यात असंख्यात और अनन्त भेद भी अपेक्षा भेदों के अनुसार बताये गये हैं। इनमें चार चार प्रकार का जो वर्णन है यह चार आराधनाओं४ की अपेक्षा अथवा इस कारिका में कहे गये चार विशेषणों के द्वारा विधिनिषेधात्मक चतुर्विध५ आचरण की अपेक्षा समझना चाहिये। क्योंकि यहां पर तपस्वीके जो चार विशेषण दिये हैं उनमें से पूर्वार्ध में तीन त्याग या निषेधरूप और उत्तरार्ध में एक विधिरूप या कर्तव्यको बताने वाला

१—इनका विशेष अर्थ जानने के लिए देखो तत्त्वार्थसूत्र अ० ९-४६ की टीकाएं—सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक आदि। २—मूलाचारादिमें।

३—राजवार्तिक १-७-१४, यथा—"चतुर्धा चतुर्यमभेदात्। ४... दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्राराधना और तप आराधना। ५—विषयत्याग, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, और ज्ञानादिमें प्रवृत्ति। ये ही चतुर्यम हैं।

है। तदनुसार साधुको विषय भोगों से सर्वथा विरक्त एवं अलिप्त और असंस्पृष्ट रहना चाहिये। साथ ही आरम्भ और परिग्रह से भी सर्वात्मना दूर ही रहना चाहिये उसको केवल ज्ञान ध्यान और तपमें ही अनुरक्त रहना चाहिये। ऐसा करने पर हीं वह अपनी आत्माको परम मुक्त सिद्ध कर सकता है।

ध्यान रहे उत्तरार्ध में कही गई तीन बातें—ज्ञान ध्यान और तप ये उत्तरोत्तर उत्कृष्ट एवं साध्य हैं और पूर्वार्धमें कहे गये तीन विषय उनके क्रमसे साधन हैं। यद्यपि इन तीन विशेषणोंसे ब्रह्मचर्याश्रमी गृहस्थ और वानप्रस्थाश्रमियोंसे चतुर्थाश्रमी इस तपस्वीका पृथक्करण होजाता है। फिर भी जहांतक उस आश्रमके विशिष्ट कर्तव्यका बोध न कराया जाय तब तक शेष तीन आश्रमोंसे पृथकता बता देने मात्रसे प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती। अतएव चौथे विशेषणके द्वारा चतुर्थाश्रम सन्यासके असाधारण कर्तव्यका ज्ञान कराया गया है। क्योंकि इस आश्रमको धारण करके भी उसकी सफलता वास्तवमें ज्ञान ध्यान और तपके ऊपर ही निर्भर है।

हां, यह ठीक है कि विषयाशाका परित्याग ज्ञानाभ्यासमें, आरम्भका त्याग ध्यानमें और परिग्रहका असम्बन्ध तपश्चरणमें कारण है। परन्तु विचार करने योग्य बात यह है कि ब्रह्मचर्याश्रममें ज्ञानाभ्यास करनेका जो उपदेश या विधान[४] है वह साधारण है न कि असाधारण। तथा गृहस्थाश्रमियोंके ध्यान होना अत्यन्त कठिन[५] और उच्चकोटिका तपश्चरण वीरचर्या आतापन योग आदि वानप्रस्थाश्रमियोंकेलिये भी निषिद्ध[६] है। अतएव पारिशेष्यात् साधुकेलिये ही इन तीनों विषयोंकी असाधारण योग्यता सिद्ध होती है। क्योंकि वे तीनों आश्रमोंमें पाई जाने वाली त्रुटियोंसे सर्वथा उन्मुक्त हैं।

इस तरह सम्यग्दर्शनके लक्षणका विधान करनेवाली कारिका नं० ४ में श्रद्धानरूप क्रियाके कर्म आप्त आगम और तपोभृत्का यहांतक स्वरूप बतायागया। अब क्रमानुसार उसी श्रद्धान क्रियाके विशेषणोंका वर्णन अवसर प्राप्त है। उनमें सबसे पहिला क्रिया विशेषण है "त्रिमूढापोढ" अतएव उसीका वर्णन होना चाहिये। लेकिन आचार्य पहले उसका वर्णन न करके सबसे प्रथम दूसरे विशेषण "अष्टाङ्ग" का यहां वर्णन करते है।

ऐसा करनेका हमारी समझसे संभवतः कारण यह है तीन क्रिया विशेषणोंमें पहला और तीसरा निषेधरूप है और दूसरा उसके स्वरूपका विधान करता है। अतएव स्वरूपाख्यानके अनन्तर ही विशिष्टनिषेधके योग्य विषयका बताना उचित एवं ठीक समझागया हो। यद्यपि निःशंकित आदि भी निषेधरूप है परन्तु ये दोषोंका निषेध करके गुणरूपताका विधान करते हैं। अस्तु। अब यहां आचार्य सम्यग्दर्शन अथवा श्रद्धानके आठ अंगोंका वर्णन कर उसका स्वरूप बताते हैं। आठ अंगोंमें भी चार निषेधरूप और चार विधिरूप है। पहिले चार निषेधरूप अंगों में से यहां सबसे प्रथम पहले निःशंकित अंगका वर्णन करते हैं।—

४.... देखो आदिपुराण। ५....गृहाश्रमे नात्महितं प्रसिद्ध्यति। तथा "ढिकुलिका भवति तस्स तेज्झाणं।"
६—श्रावको वीरचर्याहःप्रतिमातपनादिषु। स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च॥

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्नचान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत् सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥११॥

अर्थ—तत्त्व यही है, इसी प्रकारसे है, अन्य नहीं, अन्य प्रकारसे नहीं, इस प्रकारकी सन्मार्ग—मोक्षमार्गके विषयमें तलवारके पानीकी तरह जो निष्कम्प रुचि होती है वह असंशया कहाती है।

प्रयोजन—संसार और उसके दुखोंसे सर्वथा उन्मुक्त करनेवाला धर्म रत्नत्रयात्मक है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है। इनमेंसे सम्यग्दर्शनका लक्षण और उसके विषयभूत आप्त आगम तपोभृतका स्वरूप ऊपर कहा जा चुका है। अब उस सम्यग्दर्शनका विशिष्ट स्वरूप बताना आवश्यक है। वस्तुका स्वरूप विधिनिषेधात्मक[१] है। और सम्यग्दर्शन की विधि अष्टांगरूप है। अतएव उनमेंसे क्रमानुसार पहले अंगका स्वरूप बताकर सम्यग्दर्शनके विधिरूप प्रथम अंगका वर्णन करना ही इस कारिका का प्रयोजन है।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ...इस कारिकामें प्रायः सभी शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ स्पष्ट है। अतएव इस विषयमें यहां लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। फिर भी कुछ शब्दोंके विषय में थोडासा स्पष्टीकरण करदेना उचित प्रतीत होता है। "इदम्" शब्द आगमके वाच्य तत्त्वके स्वरूप या निर्देशकी तरफ संकेत करता है। और एव शब्द अवधारणार्थक है जो कि तत्त्वस्वरूप के विषयमें दृढ निश्चयको बताता है।

"ईदृश" शब्द तत्त्वके विशेष प्रकार और उसके आशय एवं अपेक्षाविशेषको सूचित करता है। इसके साथ भी एवशब्दका प्रयोग है। अतएव उस प्रकार और उसकी अपेक्षाके विषयमें भी निश्चित दृढताको प्रकट करता है। न अन्यत् और न अन्यथा कहकर भिन्न स्वरूप तथा भिन्न प्रकार विशेष या भिन्न अपेक्षाका वारण किया गया है। क्योंकि वस्तुतत्त्व स्वात्माके ग्रहण और परात्माके त्यागरूप है। केवल स्वात्माके ग्रहण या केवल परात्माके त्यागरूप कथनसे मिथ्या एकान्तरूप होनेके कारण वस्तुके स्वरूपका ठीक२ न तो बोध ही हो सकता है और न निश्चय ही। यही कारण है कि स्वात्माके ग्रहण और परात्माके निर्हरणरूपमें आचार्यने कहा कि—'तत्त्वके विषयमें इस तरहकी भावना होनेपर ही कि तत्त्व यही है और इसी प्रकारसे है, न कि अन्य या अन्य प्रकारसे' रुचि अथवा श्रद्धानमें निःशंकता मानी जा सकती है। निःशंकतामें अकम्पता का रहना आवश्यक है। श्रद्धा अथवा प्रतीतिमें चलिताचलित वृत्ति यदि पाई जाती है, तो वह अपने विषयमें अकम्प अथवा दृढ नहीं है यह सुनिश्चित है। क्योंकि जहां उभयकोटिका समान रूपसे ग्रहण होता है वही शंका—संदेह या संशय कहा अथवा माना जाता है। यही कारण है कि श्रद्धाकी निःशंकताको सूचित करनेकेलिये ही "अकम्पा" यह विशेषण दिया है।

आयसाम्भोवत्— कहकर जो दृष्टान्त दिया है उससे केवल साहित्यमें बतायागया अलंकार विशेष सूचित होता है इतना ही नहीं, अपितु अर्थ विशेषका स्पष्टीकरण भी होता है

१—स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यं हि खलु वस्तुनो वस्तुत्वम्। रा० वा०

आयससे मतलब तलवार ही नहीं किंतु लोहेकी बनी हुई ऐसी किसी भी चीजसे जिसपर कि विशेषप्रकारसे पानी चढ़ायागया हो। फिर चाहे वह तलवार हो या छुरी चाकू कटार हंसिया आदिमें कुछ भी हो। इस दृष्टान्तसे अभिप्राय तो इतना ही सूचित करनेका है कि जिस प्रकार तलवार आदि में चढाया हुआ पानी पर्याप्त चमकता है-चलचलाता है, जिससे ऐसा मालुम भी होता है कि वह चलायमान हो रहा है, परन्तु वह अपने स्थानसे रंचमात्र भी चलायमान नहीं होता। वह तो जहां जिसप्रमाण में जैसा भी है वहां उसी प्रमाणमें और वैसा ही रहा करता है और वह अपना तेजी एवं शीघ्रताके साथ ठीक२ कामभी किया ही करता है। सम्यग्दर्शन की यह निःशंकता ही सब से प्रथम अपने कार्यकी साधिका है, जैसा कि अंजन चोरके दृष्टान्तसे स्पष्ट होता है। निःशंक सम्यग्दर्शन ही संसार और उसके कारणोंका उच्छेदक हो सकता है। यदि श्रद्धा में कुछभी शंका बनी हुई है तो फिर चाहे कितना ही तत्त्वज्ञान क्यों न हो उससे अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता [1]। यही बात इस अंगकी कथामें आये हुए माली की मनोवृत्ति से सूचित होती है। अत एव तत्त्वज्ञान और सन्मार्ग—रत्नत्रयरूप मोक्ष मार्ग के विषयकी श्रद्धामें अकम्पता का रहना ही निःशंकता है और वही सम्यग्दर्शन गुणका सबसे पहला अंग है। जोकि कर्मशत्रुओं के छेदन में सम्यग्दर्शन रूपी तीक्ष्ण खड्गके लिये दृढ दक्षिणभुजाका काम किया करता है क्योंकि मोथरी तलवार और बिना दृढताके साथ छोडे वह यथेष्ट काम नहीं कर सकती।

तात्पर्य—शंका मुख्यतया दो प्रकारकी हुआ करती है; एक तो अज्ञान मूलक और दूसरी दौर्बल्य मूलक। चलिताचलित प्रतीतिरूप संदेहको भी शंका कहते हैं और शंकाका अर्थ भय[2] भी होता है जिस में कि एक कारण दुर्बलता या अशक्ति है। जैसा कि भयसंज्ञाका स्वरूप बताते हुए उसके चार कारणों में से एक "ओमसत्तीए[3]" कहनेसे मालुम होता है।

आगममें कहा है कि—

रूपैर्भयंकरैर्वाक्यैर्हेतुदृष्टान्तसूचिभिः।
जातु क्षायिकसम्यक्त्वो न क्षुभ्यति विनिश्चलः॥

मतलब यह कि क्षायिक सम्यग्दृष्टी जीव इतना अधिक निश्चल अकम्प हुआ करता है कि वह कैसे भी भयंकर रूपको देख कर अथवा अनेक हेतुओं और दृष्टान्तोंसे अतत्त्वको सूचित करनेवाले वाक्योंके द्वारा कदाचित् भी चलायमान नहीं होता।

स्पष्ट ही इस कथनमें श्रद्धाकी चलायमानता के लिये दो कारण बतायेगये है। जिनमें से एक का सम्बन्ध दुर्बलता से और दूसरेका सम्बन्ध अज्ञानसे है। साथ ही यह बात भी स्पष्ट है कि

१—तत्त्वे ज्ञाते रिपौ दृष्टे पात्रे च समुपस्थिते। यस्य दोलायते चित्तं रिक्तः सोऽमुत्र चेह च॥ एकस्मिन् मनसः कोणे पुंसामुत्साहशालिनाम्। अनायासेन समायान्ति भुवनानि चतुर्दश॥ यशस्ति०।

२—शंका भीः साध्वसं भीतिः॥ पंचा०।

३—अयिभीमदंसणेणय तस्सुपजोगेण ओमसत्तीए। भयकम्मुदीरणाए भयसण्णा जायदे चदुहिं॥ जी० का०।

इसतरहकी विनिश्चलता यहां क्षायिक सम्यक्त्व में ही बताई है। जो कि विचार करनेपर ठीक ही मालुम होती है। क्योंकि सम्यग्दर्शनकी चलायमानता का सीधा सम्बन्ध यदि देखा जाय तो उस के प्रतिपक्षी कर्मोंमें से किसी भी एक या अनेकके अथवा उनमें से किसी के भी आंशिक उदय से है। सम्यग्दर्शन के तीन भेदोंमेंसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में तो प्रतिपक्षी कर्मके उदयका सम्बन्ध पाया ही जाता है। और औपशमिक सम्यक्त्व यद्यपि क्षायिकके समान ही स्वरूपतः निर्मल रहा करता है फिर भी वह कालकी अत्यल्पता और प्रतिपक्षी कर्मोंके अस्तित्व तथा बाह्य द्रव्यादिके निमित्तवश ही प्रतिपक्षी कर्मोंके उदय या उदीर्णा की संभावना के कारण क्षायिक सम्यक्त्वके समान विनिश्चल नहीं कहा या माना जा सकता। प्रायःकरके तो वह अपने अन्तर्मुहूर्त कालको पूरा करनेके पहले ही अनन्तानुबन्धी कषायमेंसे किसी भी एक का उदय आते ही अपने पद से गिर ही जाता है। फिर भी इस चलायमानता में उन कर्मोंके लिये सहकारी एवं सहचारी भाव अज्ञान और दौर्बल्य भी है। क्योंकि अन्तरंगमें इन भावों के रहने पर प्रतिपक्षी कर्म अपना कार्य बड़ी सरलता और शीघ्रतासे किया करते हैं। अत एव वास्तविक विनिश्चलता जो क्षायिक सम्यक्त्वमें संभव है वह अन्यत्र नहीं और इसी लिये निःशंकित अंगकी वास्तवमें पूर्णता भी उसी अवस्था में संभव है ऐसा समझना चाहिये १।

कारिकाके पूर्वार्धमें विनिश्चलता के आकारका उल्लेख है। और उस आकारकी अत्यन्त दृढ़ताको बतानेकेलिये ही स्वात्माके ग्रहण और परात्माके त्यागका भाव जिससे व्यक्त होता है इस तरहसे उसको बताया गया है। जिसका आशय यह है कि तत्त्व वही जो कि सर्वज्ञ वीतराग आप्त परमेष्ठी तीर्थंकर भगवान्ने कहा है, सत्य है; अन्य अनाप्त तीर्थंकराभास छद्मस्थ सराग व्यक्तियों का कहा हुआ नहीं। तथा श्री तीर्थंकर भगवान्ने जिस तरहसे जिस अभिप्रायसे जिसरूपमें जिस कारण से जिस लिये कहा है वही सत्य है अन्य प्रकारसे अन्य अभिप्रायसे अन्य रूपमें अन्य कारणसे या अन्य फलकेलिये नहीं। मतलब यह कि जिनोक्त तत्त्व भी यदि अन्य प्रकार आदि से कहाजाय तो वह सत्य या प्रमाणभूत नहीं, तथा अन्योंका प्ररूपित तत्त्व यदि जिनोक्त प्रकार आदि से कहा जाय तो वह भी सत्य, प्रमाणभूत और आदरणीय, आचरणीय नहीं है। जिनेन्द्र भगवान्ने जिसका उपदेश दिया है तत्त्व वही सत्य है और वही मान्य है एवं आदरणीय है। साथ ही जिस तरह से उन्होंने कहा है उसी तरहसे प्रमाण है उसीतरहसे हितकर है और उसी तरहसे पालनीय है। इस तरहकी विनिश्चलता जिसमें पाई जाती है वही श्रद्धा निःशंक माननी चाहिये। सम्यग्दर्शन में इस तरह की दृढताका रहना ही उसका पहला निःशंकित अंग है।

तत्त्व और सन्मार्ग के विषयमें जब इतनी अकम्प और निःसन्देह श्रद्धा हुआ करती है तब अवश्य ही उसमें उसी प्रमाणमें निर्मलता भी रहे यह स्वाभाविक है। अत एव अकम्पताका अर्थ

१—फिर भी अपने अन्तर्मुहूर्त कालमें क्षायिकके समानही पूर्ण निर्मल रहनेसे औपशमिक सम्यक्त्व भी उसी प्रकार अकम्प माना है। अतः क्षायिकको मुख्य तथा उपलक्षण मानकर औपशमिक को भी उसी प्रकार समझना चाहिये।

निर्भयता भी है। और इसीलिये सम्यग्दर्शन की निःशंकताका अर्थ भय और चलायमानता संदिग्ध प्रतीति इन दोनों से रहित ऐसा होता है और एसा ही समझना चाहिये।

आगममें भय सात माने हैं जिनकाकि आशय संक्षेपमें इस प्रकार है।—

"मेरे इष्ट पदार्थोंका वियोग न होजाय, अथवा अनिष्ट पदार्थोंका संयोग न हो" इस प्रकार से इसी जन्म में जो निरंतर आकुलता बनी रहती है, उसको अथवा यह ऐश्वर्य धन सम्पत्ति वैभव अधिकार आदि स्थिर रहेगा कि नहीं। कदाचित् यह सब नष्ट होकर मुझे दरिद्रता तो प्राप्त न होजायगी।" इस तरह की आधि—मानसिक व्यथा चिन्ता जोकि जलती हुई चिताके समान हृदयको दग्ध करती रहती है उसको कहते हैं[१] इहलोकभय।

आगे होनेवाली सांसारिक पर्याय का नाम ही परलोक है। उसके विषय में "मेरा स्वर्ग में जन्म हो तो अच्छा अथवा कहीं मेरा किसी दुर्गती में जन्म न हो जाय" इस तरह चित्तका सदा जो आकुलित, चिंतित—सकम्प या त्रस्त बने रहना इसको कहते हैं परलोक भय[२]।

वात पित्त कफ की विषमता हीनाधिकता अथवा धातु उपधातु मल उपमलों की प्रमाण या स्वरूपसे च्युति शरीर में जब होती है तब उसको कहते है—वेदना। इसके होनेसे पहले ही मोहोदय वश जो चित्तका व्याकुल रहना "मैं सदा निरोग रहूं, मुझे कभीभी कोई वेदना न हो" इस प्रकार से निरन्तर चिन्तित रहना अथवा मोहवश बुद्धिका मूर्छित—आत्मस्वरूपमें बेहोश रहना वेदनाभय[३] है।

वर्तमान पर्याय का नाश होने के पहलेही उसके विनाश की शंकासे और उसको सुरक्षित न रख सकने की भावनावश बौद्धों के क्षणिक वाद की तरह सर्वथा आत्मनाशकी जो कल्पना होती है उसको कहते हैं अत्राण भय[४]। मिथ्यात्वके उदयसे जो सत का विनाश या असत् की उत्पत्ति की बुद्धिमें मान्यता एकान्तिक भावना रहा करती है, जिससे अपने को सदा अरक्षित मानने के कारण सकम्पना या व्याकुलता बनी रहती है उसको कहते हैं—अगुप्ति भय[५]। प्राणोंके वियोग का नाम है मरण। सामान्यतया प्राण चार हैं। इन्द्रिय बल आयु और श्वासोच्छ्वास। ये अपनी निश्चित अवधि तक ही टिके रह सकते हैं। और उसके बाद इनका वियोग नियत है। परन्तु अज्ञानी जीव इनके वियोग से सदा डरता रहकर इस तरह विचार करता हुआ व्याकुल

१—तत्रेहलोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्र जन्मनि। इष्टार्थस्य व्ययो माभून्माभून्मेऽनिष्टसंगमः॥ ५८६॥ स्थास्यतीदं धनं नो वा दैवान्मा भूद्दरिद्रता। इत्याद्याधिश्चिता दग्धुं ज्वलितेवाऽदृगात्मनः॥५०७॥ पंचाध्यायी अ० २ अथवा सातों भयोके विषयमें देखो परमाध्यात्म तरंगिणी अंक ६-२२-२८॥ लोकः शास्वत एक एष इत्यादि।

२—पंचाध्यायी अं० २—परलोकः परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक्। ततः कम्प इव त्रासो भीतिःपरलोक-तोऽस्ति सा। भद्रं मे जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ। इत्याद्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम्॥ ॥५१६-५१७॥ ३—वेदनाऽऽगन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ। भीतिः प्रागेवकम्पः स्यान्मोहाद्वा परिदेवनम् ॥५२४॥ उल्लाऽघोहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचिद्। मूर्छेव वेदना भीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः॥ ५२५॥ ४—अत्राणं क्षणिकैकांते पक्षे चित्तक्षणादिवत्। नाशात्प्रागंशनाशस्यत्रातुमक्षमतात्मनः॥५३१॥ ५—दृङ्मोहस्योदयाद्बुद्धिर्यस्य चैकान्तवादिनी। तस्यैवागुप्तिभीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित्॥५३६॥

बना रहता है कि मेरा इनसे कभी वियोग न हो जाय मैं कभी मर न जाऊं मैं सदाही जीवित रहूं। इसी को कहते हैं मरण भय६। वज्रपात अग्निदाह, भूकम्प, समुद्र में डूबने हवाई जहाजके गिरने आदि आकस्मिक दुर्घटनाओंका विचार कर उससे मेरा कभी विनाश न हो मैं सदा ठीक और अच्छी अवस्थामें ही बना रहूँ इस प्रकार जो चिंतातुरता या भयातुरता बनी रहती है उसको कहते हैं—आकस्मिक भय७।

इन सातों ही भयों का सम्बन्ध जहांतक अतत्त्व श्रद्धा अज्ञान अथवा अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से बना हुआ है और इन कारणोंसे ही ये उत्पन्न होते हैं वहां तक तो ये सभी मिथ्या दृष्टिके ही संभव हैं न कि सम्यग्दृष्टिके, क्यों कि वह इन कारणों से सर्वथा रहित है।

सम्यग्दर्शन गुणकी चार अवस्थाएं पाई जाती हैं। शुद्ध, अशुद्ध, मिश्र और अनुभय। चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवे गुणस्थानतक और सिद्ध पर्याय में सम्यग्दर्शनकी शुद्ध अवस्था है। और प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में अशुद्ध अवस्था है। तीसरे गुणस्थानमें मिश्र तथा दूसरे गुण-स्थान में अनुभय अवस्था है। अतएव निःशंकता भी इसके अनुसार ही समझनी चाहिये। असं-यत सम्यग्दृष्टि के क्षायोपशमिक सम्यक्त्व रहने पर सम्यग्दर्शन का मूलमें घात नही होता। सम्यक्त्व कर्म प्रकृतिके उदयके कारण कुछ समलता ही संभव है। अतएव मूल में वह भी निःशंक ही रहा करता है। न तो उसकी तत्त्वप्रतीति ही चलायमान होती है और न उसमें भयवश ही किसी तरह की सकम्पता आया करती है।

प्रश्न हो सकता है कि श्रेणिक महाराज क्षायिक असंयत सम्यग्दृष्टि थे उनको वह कौनसा भय था जिसके कि कारण उन्होंने अपना घात कर लिया? मिथ्यादृष्टि के पाये जानेवाले इन सात भयों में क्या उनके कोईभी भय नही था? यदि नही था तो इसका क्या कारण है?

उत्तर—मिथ्यादृष्टि के जिस तरहका और जो भय पाया जाता है उस तरहका और वह भय श्रेणिक महाराज के नहीं था। जब उनके वे कारण ही नहीं रहे तब उनके उस तरह की कषाय और उसका कार्य भी किस तरह पाया जा सकता है। वास्तव में बात यह है कि सम्यक्त्व होनेके पहले उनके जो नरक आयुका बन्ध हो गया था उसके उदय का काल निकट आ जानेसे उनके इस तरह के परिणाम हुए तथा जिनसे कि संभावित पीड़ा सहन न कर सकने की मानसिक दुर्ब-लताकी भावना उत्पन्न हुई और उससे बचने के लिए उपायान्तर को न देखकर अप्रत्याख्याना-वरण क्रोधके तीव्रोदयवश उस तरह की प्रवृत्ति हुई। ध्यान रहे—नरक में जानेके पूर्व प्रायः इसी तरह की कोई न कोई घटना होही जाया करती है। अरविंद का अपनी छुरीसेही वध हुआ। लक्ष्मण चाहते तो तलाश कर सकते थे अथवा स्वयं जाकर भी देख सकते थे कि रामचन्द्र की मृत्यु हो

६—मृत्युः प्राणात्ययः प्राणाः कायवागिन्द्रियम् मनः। निःश्वासोच्छ्वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात् ॥५३६॥ तद्भीतिर्जीवित भूयान्मा भून्मे मरणम् क्वचित्। कदा लेभे नवा दैवाद्दित्यधिः स्वे तनुव्यये। ५४०॥ ७—अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम्। तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ५४३॥ भीतिर्भूर्यागथा सौस्थ्यं माभूद् दौस्थ्यं कदापि मे। इत्येवं मानसी चिंता पर्याकुलितचेतसाम् ५४४॥

गई या नही परन्तु वैसा न कर मोह एवं अनन्तानुबन्धी तीव्र राग के वश पच्चीस* वर्ष आयुको कम कर अन्तको प्राप्त हो मेघाभूमि में पहुँच गये। श्रेणिक महाराजके अनन्तानुबन्धी के उदय वश वह भावना नहीं हुई। यही कारण है कि वे प्रथम रत्न प्रभाके मध्यम पटल मेंही उत्पन्न हूए उनकी किसी तत्त्व या तात्त्विक मोक्ष मार्गके विषय में प्रतीति चलायमान नही हुई। यह घटना तो वेदना की असह्य भावना के साथ साथ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध द्वारा होनेवाले रौद्र[1] ध्यान के परिणाम स्वरूप अथवा पीडा चिंतवन नामक आर्त्तध्यानवश[2] यह घटना हुई ऐसा समझना चाहिये। मालुम होता है कि उन्होंने आत्मघात किया नहीं अपितु उनका आत्मघात हो गया[3]। क्यों कि उनका किसीने वध किया नही और स्वाभाविक[4] रूपसे भी मरण हुआ नही। क्षायिक सम्यक्त्व के कारण मोह और अनन्तानुबन्धी के उदयसे होनेवाला आत्मघात भी संभव नही। फलतः कारण कलाप पर विचार करनेसे यही समझमें आता है और उचित प्रतीत होता है कि उन्होंने आत्मघात किया नही किंतु तलवार पर गिर घुस जानेसे उनका स्वयंही घात हो गया। अथवा वह मोह और अनन्तानुबन्धी निमित्तक आत्मघात नहीं था। क्यों कि ऊपर जिन सात भयोंका उल्लेख किया गया हैं वे यदि सम्यक्त्व विरोधिनी कर्म प्रकृतियोंके उदयवश होते हैं तो ही वे सम्यक्त्व बाधक या घातक हो सकते हैं और नियमसे माने जा सकते हैं।

यह बात सुनिश्चित है कि श्रेणिक के सम्यक्त्व में इस घटना से कोई अन्तर नही पडा। उनका सम्यक्त्व तो तदवस्थ हीं रहा और उसीका यह परिणाम हुआ कि उनके उतना तीव्र दुर्ध्यान नही हो सका जिससे कि वे नीचे की भूमिमें से किसीमें उत्पन्न हो जाते। सम्यक्त्व की अवस्थिति तदवस्थ रहनेका ही यह परिणाम हुआ कि ३३ सागर की नरकायु से घटकर ८४ हजार वर्ष प्रमाण रह जाने के बाद पुनः उसमें कुछ भी उत्कर्षण नही हुआ या नहीं हो सका। अतएव स्पष्ट है कि उनके जो भी दुर्ध्यान हूआ वह मिथ्यात्व या अनन्तानुबन्धी निमित्तक नही अपितु अप्रत्याख्यानावरण निमित्तक ही था। अथवा तत्सहचारी[5] नरकायुका यह परिणाम समझना चाहिये जिसके कि उदय का समय आ चुका था। क्यों कि श्रेणिक की भुज्यमान मनुष्य आयुका प्रमाण कुल ८४ वर्ष था[6] और उस समय पूर्ण हो रहा था। आगे उदयमें आनेवाली

*—देखो पद्मचरित सर्ग ११६ श्लोक ४८, ४९, ५०

१—"पचत्तु लहे सहि रुद्दझाणि, पावे सहि तुहं पाणावसाणि" ॥ प्राकृत श्रेणिक चरित्र पृष्ठ ६८।

२—वितर्क्यैत्यसिधारायाम् पपातार्तिनमानसः। मृतिमा (प्तः) क्षणार्धेन श्रेणिको निरयंगतः ॥४॥ भट्टारक शुभचंद्र कृत श्रेणिक चरित्र। पृष्ट ८४।

३—टिप्पणी नं० २ में जो 'पपात' क्रिया है उसका अर्थ गिर पडना होता है। न कि "शिर मार लेना" जैसा कि इसके हिन्दी अनुवाद में पं० गजाधरलालजीने लिखा है कि 'इस प्रकार अपने मनमें अतिशय दुखी हो शीघ्रही तलवार की धारपर शिर मारा' ४—बिना किसी दुर्घटना के। ५—अप्रत्याख्याना-वरण सहचारी।

६—महावीर जिन मेरी आयु केता है गणधर कहो भाय ॥१२॥ गणधर बोलय सुणि राजाण, वर्ष बहत्तरी जिननी आंण (आयु)। बरस चौरासी थाहरा आस (आयु) तिणमें बीता बरस पचास ॥१३॥ ..... चौरासी बरस पूरण थया, कौणिकराय काढनेगया"" । ४६ श्रे० च० हिंदी।

नरकादिक आयुओंके अनुसार क्रोधादिक परिणामों का भुज्यमान आयुके अन्तमें हो जाना स्वाभाविक है।

सम्यग्दर्शनके विषय मुख्यतया चार है—आप्त, आगम, गुरु और तत्त्व अथवा धर्म। निशंकित अंगके भी ये ही विषय है। फिर भी यहांपर इनमेंसे भी मुख्य विषय देवको मानना चाहिये। आचार्य सोमदेव ने कहा है कि "देवमादौ परीक्षेत पश्चाद् वचनक्रमम्"१। पहले देव की परीक्षा करनी चाहिये पीछे उनके वचन की। देव पूजा आदिके पाठ से भी ऐसाही मालुम होता है कि सम्यक्त्व के लिए जिनभक्ति, सम्यग्ज्ञान के लिए श्रुतभक्ति और सम्यक्चारित्र के लिए गुरुभक्ति मुख्य कारण है २। और यह बात उचित तथा युक्तियुक्त एवं अनुभव में भी आने वाली है। क्यों कि आगम आदिकी प्रमाणता एवं यथार्थ सफलता आदि उसके वक्ताकी यथार्थता और प्रमाणता पर ही निर्भर है। वक्ता यदि सर्वज्ञ और वीतराग हैं तो उसके वचन भी प्रमाण माने जा सकते हैं और उसके अनुसार चलनेवाले के विषय में भी निःसंदेह और निशंक कहा जा सकता है कि यह वास्तविक हितरूप फलको अवश्य ही प्राप्त करेगा।

अतएव आयतनों में अथवा सप्त क्षेत्रों आदि में जिन प्रतिमाकीही मुख्यता समझनी चाहिये यही कारण है कि जिन चैत्यालय रहित गृह३ और ग्राम आदि धर्म की पात्रता तथा निरन्तर धर्म कार्यों के प्रवर्तन की अयोग्यता के कारण हेय अर्थात् अनार्य क्षेत्र के तुल्य४ माने जा सकते हैं। घरों में अथवा ग्राम आदिमें कितने ही सत्शास्त्र विराजमान रहैं—सरस्वती भंडार आदिभी क्यों न रहे फिर भी गृहस्थ श्रावकोंका मुख्य कर्तव्य जो कि अभिषेक पूजा ५ आदि है जिन चैत्यालय के बिना सिद्ध नहीं हो सकता६। यह श्रावक का घर है अथवा इस ग्राममें श्रावक निवास करते हैं इस बातका सहसा और स्पष्ट परिज्ञान जैसा जिन प्रतिमा या मन्दिरसे हो सकता है वैसा ग्रन्थ भंडारों से नहीं। ग्रन्थसंग्रह तो अजैनों में भी पाया जा सकता है। अतएव सम्यग्दर्शनका असाधारण सम्बन्ध देव—आप्त परमेष्ठी—जिन भगवान से है ऐसा समझना चाहिये।

इस तरह आगमका मूल वक्ता होनेके कारण और तीर्थका प्रवर्तक होनेके कारण तथा गुरुओंका भी परमगुरु—मार्गदर्शक होनेके कारण सबसे प्रथम देवके विषयमें और उसके बाद किंतु साथ ही आगम गुरु तथा तत्त्व स्वरूपमें भी सम्यग्दृष्टि अडिग रहा करता है; उसकी

१—देवमादौ परीक्षेत पश्चात्तद्वचनक्रम। ततश्च तदनुष्ठानं कुर्यात्तत्र मति ततः ॥१॥ येऽविचार्य पुनर्देवम् रुचिं तद्वचि कुर्वते। तेऽन्धास्तत्कन्धविन्यस्तहस्ता वाञ्छन्ति सद्गतिम् ॥२॥ पित्रोःशुद्धौ यथाऽपत्ये विशुद्धिरिह दृश्यते। तथाप्तस्य विशुद्धत्वे भवेदागमशुद्धता ॥३॥ यशस्तिलक आ० ६–२।

२—जिनेभक्तिर्जिनेभक्तिर्जिने भक्तिः सदास्तु मे। सम्यक्त्वमेव संसारवारणम् मोक्षकारणम् ॥ श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः सदास्तु मे। सज्ज्ञानमेव संसारवारणम् मोक्षकारणम ॥ गुरौभक्तिः चारित्रमेव संस्कृत देवशास्त्रगुरुपूजा पाठ। ३–४ देखो सागार धर्मामृत

५—दाणं पूजा मुक्खो सावयाण धम्मो। कुन्दकुन्द रयणसार।

६—प्रतिष्ठायात्रादिव्यतिकरशुभ स्वैरचरणस्फुरद्धर्मोद्धर्ष प्रसररसपूरास्तरजसः। कथं स्युः सागाराः श्रमणगणधर्माश्रमपदम् न यत्राह्र्द्गेहम् दलितकलिलीलाविलसितम्। सा० ४०

प्रतीति चलायमान नहीं हुआ करती। यही सम्यग्दर्शनका सबसे पहिला निःशंकनामा अंग है। इसका वर्णन करके अब क्रमानुसार दूसरे निःशंक अंगका वर्णन करते है।—

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापवीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥१२॥

अर्थ—जो कर्मोंके परवश है, अन्तसहित है, जिसका उदय दुःखोंसे अन्तरित है-घिराहुआ है मिश्रित है, एवं जो पाप वीज है जिससे पापकी संतति चलती है अथवा जिसका वीज पाप है पापसे उत्पन्न हुआ है ऐसे सुखमें अनास्था, आस्थाका न होना, न रहना, न पाया जाना श्रद्धाका—सम्यग्दर्शनका दूसरा निष्कांक्ष नामका गुण है।

प्रयोजन—आत्मद्रव्यकी मूलमें दो अवस्थाएं हैं। एक अशुद्ध दूसरी शुद्ध। जब तक वह पुद्गलद्रव्यसे आबद्ध है तब तक अशुद्ध है उसकी जितनी अवान्तर अवस्थाएं होती हैं वे भी सब अशुद्ध ही होती हैं। इसीको संसार कहते है। यह दो तरहका हुआ करता है। अनाद्यनन्त और अनादिसान्त। कर्म बन्धनसे जो सर्वथा रहित-मुक्त होजाते हैं वे शुद्ध हैं। उनकी जितनी अवान्तर अवस्थाएं होती है वे सब शुद्ध ही हुआ करती हैं। यह शुद्ध अवस्था साद्यनन्त है। जिनकी संसार अवस्था छूट कर शुद्ध अवस्था होगई है अथवा अवश्य ही होने वाली है उन केवलियों या सम्यग्दृष्टियोंकी संसार अवस्था अनादिसान्त कही जाती है। जब जिसका लक्ष्य अपनी शुद्ध अवस्थापर पहुँच जाता है तब वह उसीको प्राप्त करना चाहता है उसका ध्येय अपनी शुद्ध समीचीन अवस्था प्राप्त करना ही बन जाता है। अतएव उसको सम्यग्दृष्टि कहा गया है। इस दृष्टिकोणका ही नाम सम्यक्दर्शन है। इसके होजानेपर जो२ गुण या उस दृष्टि कोणमें असाधारणताएं प्रकट होती है वे ही यहां आठ अंगोंके नामसे बताये गये है। जिनमेंसे पहले निःशंकित अंगका वर्णन गत कारिकामें किया गया है। जिसका आशय यह है कि शुद्ध उसकी श्रद्धा बुद्धि जिनेन्द्रभगवान् द्वारा प्ररूपित आत्माकी अवस्था और उसके उपायके विषयमें चलायमान नहीं हुआ करती। जिस तरह संशयरूप ज्ञान अप्रमाण है—समीचीन विषयका ही ग्राहक न होनेके कारण उससे अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता[१] उसी तरह संशयरूप श्रद्धा[२] से भी अभीष्ट फल सिद्ध नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शनके विषयमें यह बात समझलेनेके बाद कि यदि वह अपने विषयमें स्वरूपसे चलायमान है तो उससे अभिमत फल प्राप्त नही हो सकता; यह जानलेना भी आवश्यक है कि यदि वह अपने विषयसे विरुद्ध विषयमें आस्थारूप है तो उससे भी वह फल प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसी अवस्थाके[३] रहते हुए उसको पूर्ण और वास्तविक सम्यग्दर्शन भी किस तरह कह सकते हैं। तथा उससे सम्यग्दर्शनका फल भी किस तरह प्राप्त हो सकता है? नहीं होसकता

१—तत्त्वे ज्ञाने रिपौ दृष्टे आदि। यशस्तिलक।
२—शल्यति सांशयिकमपरेषाम्॥ सा०ध०।
३—आत्माकी शुद्ध अवस्थाके विपरीत संसाररूप अथवा कर्मोदय सहित अवस्था।

क्योंकि "नहि कारणवैकल्यं कार्यं साधयति" अर्थात् जबतक कारण पूर्ण नहीं है तबतक कार्य भी किस तरह सिद्ध हो सकता है। नहीं होसकता। वास्तवमें तथा मुख्यतया सम्यग्दृष्टिकी रुचि अपने शुद्धपदमें और जबतक वह सिद्ध नहीं होजाता तब तक उसके वास्तविक उपायके विषयमें ही रत रहा करती है। और जबतक वह ऐसी नहीं रहती तबतक न तो वह अभीष्ट सम्यग्दर्शन ही है और नहीं उससे वास्तविक सम्यग्दर्शनका फल ही हो सकता है। क्योंकि "ध्यातो गरुडबोधेन नहि हन्ति विषं बकः"। बगलेको गरुड मानलेनेसे वह सर्पका विष दूर नहीं कर सकता। इस तरहका सम्यग्दर्शन अंगहीन है वह मुक्तिकन्याके अभीष्ट वरणमें कारण नहीं हो सकता[१] इस बातको बतानेकेलिये ही निःशंकित अंगके बाद उसके दूसरे निःकांक्षित अंगका स्वरूप बताना भी आवश्यक है और इसीलिये आचार्यने इस कारिका का निर्माण किया है। क्योंकि ये आत्माकी संसार और मोक्ष ये दोनों अवस्थाएं परस्परमें विरुद्ध है। ये ३६ के अंककी तरह, आकाश पातालकी तरह, दिन रातकी तरह परस्परमें भिन्न२ आकार भिन्न२ दिशा और भिन्न२ ही स्वरूप रखती हैं। अतएव जो जीव एकमें रुचिमान है तो वह दूसरीसे कुछ न कुछ हीनरुचि या विरुद्ध रुचि अवश्य रहेगा फलतः संसारका रुचिमान् वास्तवमें मोक्ष और मोक्षमार्गका पूर्ण एवं यथार्थ रुचिमान् नहीं माना जा सकता और इसीलिये वह उसका यथाभीष्ट फल भी प्राप्त नहीं कर सकता। संसारके सुखमें आस्था और उसके सर्वथा छूट जाने—परमनिर्वाणमें आस्था ये दोनो बातें एक साथ नहीं रह सकतीं। किसी कविने ठीक ही कहा है कि...

दो मुख सुई न सीवे कन्था, दो मुख पन्थी चले न पन्था।
त्यों दो काज न होइं सयाने, विषयभोग अरु मोक्षपयाने[२]॥

मतलब यह है कि जिस तरह मन्त्र आदि विद्या सिद्धिकेलिये निःशंकताकी आवश्यकता है उसी तरह संसारातीत अवस्था परमनिर्वाणको सिद्ध करनेकेलिये निःशंकताके साथ२ निःकांक्षता की भी आवश्यकता है। यह बताना ही इस कारिकाका प्रयोजन है।

शब्दोंका सामान्यविशेषार्थ—कर्म शब्दका अर्थ प्रसिद्ध है कि संसारी आत्मा के साथ लगे हुए वे पुद्गल स्कन्ध जो कि उसकी योग परिणतिके निमित्त को पाकर आकृष्ट होते और जीवकी ही सकषायताके कारण उससे सर्वतः आबद्ध होकर उसीको स्वरूपसे च्युत करके अनेक प्रकारसे विपरिणत किया करते हैं। यहां पर कर्म से मतलब क्रिया[३] आदि अथवा उस अदृष्ट[४] से नहीं लेना चाहिये जो कि वैशेषिक दर्शन आदि मे बतायागया है कि वह आत्माका एक गुण है। ये तो आत्मासे बद्ध पुद्गलद्रव्य की पर्याय विशेष हैं। ये क्रियारूप नही। किन्तु आत्मा के प्रत्येक प्रदे-

१—"नांगहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्" र० क०। २—लौकिकसूक्ति।

३—उत्क्षेपणअवक्षेपण आदि वैशेषिकदर्शनकारोंके द्वारा मानीगई पांच प्रकारक्रियाएं।

४—वैशेषिक दर्शनमे अदृष्टको गुण माना है। और गुणोंको द्रव्य से भिन्न तत्त्व स्वीकार किया है। साथ ही मुक्तावस्था में बुद्धिआदि नवगुणोंका उच्छेद बताया है।

शमें स्थित रहनेवाले पुद्गल स्कन्ध हैं। ये आत्माके गुण भी नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो वे छूट नहीं सकते थे और न आत्माके बाधक अथवा विपरिणमनमें कारण ही हो सकते थे। अपना ही स्वरूप अपना ही बाधक या घातक हो यह असंभव है। अत एव कर्मका अर्थ वही लेना चाहिये जो कि ऊपर बताया गया है और जैसा कि जैनागममें प्रसिद्ध है।

'परवश' का अर्थ परतन्त्र या पराधीन[३] है। जिसकी उत्पत्ति स्थिति वृद्धि आदि सभी कुछ कर्मोंके अधीन हैं—कर्मों पर निर्भर है वह अवश्य ही कर्म—परवश है। संसारमें जो सुखशब्दसे कहा या माना जाता है वह सभी कर्माधीन है। यद्यपि सुखशब्द से चार अर्थ लिये जाते है- विषय वेदनाका अभाव विपाक और मोक्ष; जैसा कि पहले लिखा जा चुका है फिर भी सामान्यतया यदि स्वाधीन और पराधीन इन दो भागोंमें विभक्त किया जाय तो पहले तीन अर्थ पराधीन और केवल मोक्षसुख ही एक स्वाधीन सुख गिना जा सकता है। क्योंकि पहले तीनोंही अर्थोंका सम्बन्ध कर्मापेक्ष है और एक मोक्षसुख ही ऐसा है जो कि कर्मोंके क्षयके सिवाय अन्य किसी भी प्रकार से कर्मोंकी अपेक्षा नहीं रखता।

कर्मोंके अनेक तरहसे भेद कियेगये हैं। उनमें पुण्य और पाप ये दो विभाग भी हैं। जिन का फल अभीष्ट है, संसारी जीव जिन कर्मों को या जिन के फल को चाहता है वे सब पुण्य कर्म कहे और माने जाते हैं। इसके विरुद्ध बाकीके बचे जितने भी कर्म हैं वे सब पापकर्म है। जिनका कि फल अनिष्ट है अथवा अभीष्ट नहीं है। कर्मों की कुल संख्या १४८ है। परन्तु उनमेंसे पुण्य कर्मों की संख्या ६८ और पाप कर्मोंकी १०० बताई है। इस भेदका कारण भी कर्मों के फलमें इष्टा-निष्टभावका पाया जाना ही है। क्योंकि नाम कर्मकी २०—प्रकृतियोंका फल किसी को इष्ट और किसी को अनिष्ट होता है अत एव उनको दोनों तरफ गिनलिया है यही कारण है कि दोनों पुण्य पाप की मिलाकर १६८ संख्या हो जाती है।

तत्त्वतः विचार करनेपर सभी कर्म आत्माके विरोधी हैं। उसके द्रव्य गुण पर्याय स्वभाव आदिका घात करनेवाले होनेके कारण एक ही जातिके हैं उनमें पुण्य पापका कोई विभाग नहीं है और न इस दृष्टिसे विभाग माना ही है और न हो ही सकता है। किंतु व्यवहारतः उस भेदको मान्य किया है और वह उचित सत्य समीचीन तथा अभीष्ट भी है फिर भी यहांपर यह बात अवश्य ध्यानमें रखनीं चाहिये कि जिस संसार सुखको यहांपर चार विशेषण देकर चार तरहसे उसकी उपेक्षणीयता या हेयताका निर्देश आचार्य कर रहे है वह सुख ऊपर बताईगई पुण्य प्रकृतियोंके ही आधीन है ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि कोई २ सुख ऐसा भी है जो कि पाप प्रकृतियोंके उदयकी भी अपेक्षा रखता है जैसे कि स्त्रीवेद, पुंवेद, हास्य, रति, निद्रा आदि। इसपरसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पुण्य पापके विभागमें कारणान्तरकी भी अपेक्षा है जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट किया जायगा। फिर भी यह बात निश्चत ही है कि जो

३—परतन्त्रः पराधीनः परवान् नाथवानपि ॥

सुख कर्माधीन है वह वास्तवमें आत्माका नहीं है और इसीलिये उसमें सम्यग्दृष्टिकी आस्था नहीं रहा करती और न रह सकती है। यदि उसमें किसीकी आस्था रहती है या पाई जाती है तो वह या तो मिथ्यादृष्टि है या उसका सम्यक्त्व अंगहीन लूला लंगडा है। मोक्षमार्गके शत्रु मोह-राज आदिके आधीन रहनेवाला उनका सेवक, मुक्तिरमारानी या उसके परिकरकी भी कृपा एवं अनुग्राह्यबुद्धिका पात्र किस तरह बन सकता है? नहीं बन सकता। अस्तु मुमुक्षुकेलिये वह सुख हेय ही है जो कि स्वाधीन नहीं है। और क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव नियमसे मुमुक्षु हुआ करता है अतएव उसको कर्माधीन सुखमें आस्था नहीं रहा करती।

सान्त शब्दका अर्थ है अन्तसहित, विनाशीक, नश्वर आदि। अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव को उस सुखमें भी आस्था नहीं रहा करती जो कि स्थिर रहने वाला नहीं है क्षणभंगुर वस्तुमें किसी भी स्थिरबुद्धिको आस्था हो भी किस तरह सकती है। जो सुख कर्माधीन है वह अवश्य ही अन्तसहित होगा। क्योंकि सभी कर्मोंकी स्थिति नियत है। कर्मोंका जब बंध होता[1] है तब नियमसे उसमें प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश इस तरह चारों ही प्रकारका बंध हुआ करता है। अतएव कर्मोंकी जो उत्कृष्ट स्थिति बताई है उससे अधिक कालतक तो वह कर्म टिककर रह ही नहीं सकता। फलतः उसके उदयसे माना जानेवाला सुख स्वभावतः अन्तसहित ही सिद्ध होता है। इसके सिवाय कितने ही कर्मोंका उदय अथवा फल गत्यधीन यद्वा पर्यायनिमित्तक हुआ करता है। जो कर्म मनुष्यगतिमें ही अपना फल प्रदान कर सकता है अन्यगतियोंमें नहीं, उसका फल या तज्जन्य सुख स्वभावसे मनुष्य पर्याय तक ही रह सकता है न कि अधिक। क्योंकि वहांपर अन्यत्र उस फलको भोगनेकेलिये आवश्यक निमित्तरूप बाह्यसामिग्री ही नहीं पाई जाती। इसलिये भी कर्मपरवश सुख नियमसे सान्त ही है। अनन्त सुख तो स्वभावतः कर्मातीत अवस्थामे ही पाया जा सकता है। फलतः सम्यग्दृष्टि जीवकी जिसका कि लक्ष्य अपने स्थिर शान्त सुख स्वभावपर ही लगा हुआ है क्षणभंगुरसुखमें आस्था किस तरह हो सकती है? नहीं हो सकती। कोई भी विवेकी स्थिर सुख-शान्तिकेलिये मेघकी छाया समान अस्थिर कारणको पसन्द नहीं कर सकता।

दुखैरन्तरितोदये—जिसका उदय--प्रकटता–उद्भूति दुःखोंसे अन्तरित विमित अथवा मिश्रित है उस सुखको दुखोंसे अन्तरितोदय समझना चाहिये। कर्मोंके अधीन होकर भी और अन्तसहित होनेपर भी ऐसा कोई भी सांसारिक सुख नहीं है जो कि अनेक दुखोंसे भी युक्त न हो। जगत्मे पाये जानेवाले सुखोंके प्रति सम्यग्दृष्टि की अनास्थाका यह भी एक बहुत बडा कारण है कि वह वास्तवमें शुद्ध सुख नहीं है। क्योंकि किसी भी जीवके यदि उस सुखके कारणभूत सावधिक भी एक या अनेक पुण्य कर्मोंका उदय पाया जाता है तो उसके साथ ही अनेकानेक पाप कर्मोंका उदय भी लगा ही हुआ है संसारमें ऐसा कोई भी जीव नहीं है जिसके

१—सकषाय जीवोंके होनेवाला बंध।

कि केवल पुण्य कर्मोंका ही उदय पाया जाय। घातिकर्म सब पाप रूप ही है उनके उदयसे रहित कोई भी जीव नहीं है चार घातिकर्मोंमेंसे एक मोहनीयका सर्वथा अभाव होजानेपर यह जीवात्मा उसी भवमें परमात्मा बन जाता है और सिद्धावस्थाको प्राप्त करलेता है किंतु जबतक उसका निर्मूल विच्छेद नहीं होता तबतक तो वह सम्पूर्ण घातिकर्मोंके उदयसे युक्त ही रहा करता है अतएव ऐसा कोई भी जीव संसारमें नहीं है जिसके कि केवल पुण्य प्रकृतियोंका ही उदय पाया जाय। संसारी जीवके पुण्य कर्मोंका उदय पाप कर्मोंके उदयसे मिश्रित ही रहा करता है ऐसी अवस्थामें शुद्ध आत्मसुखके रसका अभिलाषी सम्यग्दृष्टि बालूरेतसे मिले हुए या विषमिश्रित हलवाके समान पापोदयजनित दुःखोंसे मिश्रित पुण्यजन्य ऐन्द्रिय सुखको किस तरह पसन्द कर सकता है ? नहीं कर सकता।

इसके सिवाय कदाचित् ऐसा भी होता है कि पुण्य के उदयसे जीवको भोगोपभोग की यथेष्ट सामग्री प्राप्त है परन्तु अन्तराय कर्म के उदयवश वह उनको भोगनेमें असमर्थ ही रहा करता है। क्योंकि भोग्य सामग्रीका प्राप्त होना और भोगनेकी शक्तिका प्राप्त होना ये दोनों ही भिन्न २ विषय हैं और इसीलिये अन्तरंगमें पुण्य कर्म के उदय एवं अन्तराय कर्म के क्षयोपशम आदि भिन्न२ कारणों की अपेक्षा रखते हैं। अत एव दोनोंका एकत्र पाया जाना सुलभ[1] नहीं है। अतः सांसारिक सुख अन्तराय कर्म के उदय आदि के कारण दुःखमिश्रित- सविघ्न ही रहा करता है। भेडियाके साथ बंधाहुआ बकरीका बच्चा सुस्वादु और सुपोषक चारा पाकर भी हृष्ट पुष्ट नहीं रह सकता। इसीप्रकार सान्तराय सुख सामग्री को पाकर भी कोई भी अन्तरात्मा हर्ष संतोष एवं प्रसन्नताको प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये भी सम्यग्दृष्टिको इस तरह के सुख में आस्था नहीं रहा करती।

चौथा विशेषण "पापबीजे" है। व्याकरणके षष्ठीतत्पुरुष और बहुव्रीही समासके अनुसार इस शब्द के दो अर्थ हो सकते है। —पापका बीज अथवा पाप है बीज जिसका। पहले अर्थ के अनुसार पुण्योदयसे प्राप्त हुआ भी सांसारिक सुख—ऐन्द्रिय विषय वैभव ऐश्वर्य आदि पापके बीज हैं उनके सेवनसे भोगोपभोग द्वारा अथवा उनकी आकांक्षा मात्र से भी दूसरे नवीन पापकर्मोंका बंध होता है और इसतरहसे फिर उसकी सन्तति चलीजाती है। यद्यपि नारायणका पद सनिदान तपश्चरणके द्वारा संचित पुण्य के उदयसे ही प्राप्त हुआ करता है फिर भी नियम से उनको नरकमें जाना पडता[2] है। फलतः विचार करने पर अवश्य ही वह ऐश्वर्य साम्राज्य एवं भोगोपभोग पापका ही बीज है जिससे कि अनेक दुःखरूप भवोमें पुनः भ्रमण करना पड़ता है। आचार्योंने कहा है कि "अन्यथा पुनर्नरकाय राज्यम्"[3]। राज्यको पाकर यदि उसका ठीक २

१—"भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वरस्त्रियः। विभवो दानशक्तिश्च स्वयं धर्मकृतः फलम्" यशस्तिलक. .....। कोई २ चतुर्थ चरणकी जगह पर "नाल्पस्य तपसःफलम्" ऐसा भी पाठ बोलते हैं।

२—नारायण प्रतिनारायण नारद रुद्रकी अधोगति ही मानी है।

३—नीतिवाक्यामृत।

उपयोग न किया जाय तो वह नरक का कारण है। इसी तरह और भी अनेक निरतिशय पुण्यद्वारा प्राप्त विभूतियोंके विषयमें कहा जा सकता है।

दूसरे अर्थके अनुसार जिन कारणभूत पुण्यप्रकृतियों के उदय से वह सांसारिक सुख प्राप्त हुआ करता है उनके बन्धकी निदानपरीक्षा करने पर मूलमें पाप कर्म अवश्य ही एक प्रधान कारण है यह मालुम हुए विना नहीं रहता। क्योंकि मोह या सकषाय भावोंकी सहायता के विना भी कर्म में स्थिति एवं अनुभागका बंध नहीं हो सकता[४]। जब यह बात है तो पुण्य-फलके लाभमें भी पाप को कारण क्योंकर नहीं माना जा सकता। अवश्य माना जायगा। केवल प्रकृति प्रदेश बन्ध तो फलदेनेमें समर्थ नहीं है। अत एव सांसारिक सुखका बीज पाप है यह कथन भी अवश्य ही आगम और युक्तिसे संगत है। फलतः जिसका कार्य और कारण दोनों ही पाप रूप हैं उस सांसारिक सुख में सम्यग्दृष्टि को आस्था किस तरह हो सकती है? कदापि नहीं हो सकती।

इसके सिवाय पुण्य पापका विभाग कर्मापेक्ष है आत्माका शुद्ध पद—सुखस्वभाव दोनों के सम्बन्धसे सर्वथा रहित है। शुद्ध आत्मपदकी दृष्टिमें पुण्य भी पाप ही है। अतएव सांसारिक सभी सुख पापजन्य एवं पाप के जनक हैं। सम्यग्दृष्टि को जिसकी कि दृष्टि शुद्ध निश्चय नय के विषयको ही उपादेयतया वास्तवमें ग्रहण करती है, ये सब सुख अनास्थेय ही रहा करते हैं।

सुख शब्दसे यहांपर उसके कथित ४ अर्थोंमेंसे पहले तीन अर्थ ही लेना चाहिये, यह बात पहले कही जा चुकी है। पहले तीन अर्थ कर्मापेक्ष हैं। और कर्मापेक्ष होनेसे कर्मपरवश, सान्त, दुःखोंसे अन्तरितोदय, और पापबीज भी अवश्य हैं। क्योंकि इन चारो ही विशेषणोंमें परस्पर हेतु हेतुमद्भाव है।

अनास्था—आस्थाका न होना ही अनास्था है। आस्थाका आशय है स्थिति, विश्वास, आदरबुद्धि, भरोसा, प्रतिष्ठा, सहारा आदि। जिस श्रद्धा में चार विशेषणों से युक्त सुखके विषय में किसी प्रकारकी आस्था नहीं पाई जाती उसको कहते है अनास्था।

अनाकांक्षणा—का मतलब निःकांक्षितत्व है। सांसारिक सुखकी किसी भी प्रकारसे अभिलाषा न होना या न करना ही निःकांक्षितत्व है।

तात्पर्य—यह कि पूर्णशुद्ध सम्यग्दृष्टि अपने शुद्ध आत्मपदके सिवाय अन्य किसी भी पदको अपना स्वतन्त्र-स्वाधीन शास्वतिक सर्वथा निराकुल और उपादेय नहीं मानता। आत्मामें पर पुद्गलके सम्बन्ध से जो २ विकार हैं अथवा होते हैं वे वास्तवमें आत्माके नहीं हैं। शुद्ध आत्माका स्वरूप उन सभी विकारोंसे तत्त्वतः रहित है। ऐसी उसकी आस्था-श्रद्धा रहा करती है। और उसकी वह श्रद्धा निःशंक एवं निश्चल है यही कारण है कि वह अपने उसपदके सिवाय अन्य किसी भी पदकी आकांक्षा नहीं रखता। आत्माके वे विकार नहीं है यह कहनेका कारण यही है कि वे परके निमित्तको—संयोगसम्बन्ध विशेषको पाकर ही हुए हैं, होते रहे हैं और होते है। परके संबंध से रहितआत्मामें वे उत्पन्न नहीं होते, न कभी हुए हैं

४—ठिदि अणुभागा कसायदो होंति। द्रव्य सं०।

और न कभी होंगे। इसका प्रमाण यह कि परका सम्बन्ध सर्वथा हटजाने पर मुक्तात्माओं में से किसी में भी आजतक फिर विकार नहीं हुआ। और न हो ही सकता है; क्योंकि तत्त्वतः विचार करने पर मालुम होता है कि आत्मामें पर के साथ आत्मसाद्भाव करने की स्वाभाविक योग्यताही नहीं है। अन्यथा सिद्ध पर्यायके बाद भी उनमें बन्ध होता और पुनः उनके निमित्त से उसके जन्ममरण आदि विकार भी हुए बिना न रहते। जिस तरह अशुद्ध पुद्गल स्कन्धके विभक्त होजानेपर उत्पन्न हुआ शुद्ध भी परमाणु संयोग विशेषको पाकर फिरसे स्कन्धरूप अशुद्ध अवस्थाको प्राप्त कर लेता है वैसा आत्मा में नहीं पाया जाता। आत्मा शुद्ध होजानेपर फिर अशुद्ध नहीं हुआ करता।

प्रश्न हो सकता है कि संसार पर्याय होनेमें आत्मा यदि कारण नही है तो केवल पुद्गलमें भी वह क्यों नहीं पाई जाती ? क्या संसार पर्याय केवल पुद्गल की है ? उत्तर स्पष्ट है कि संसार पर्याय न शुद्ध पुद्गल की ही होती है और न शुद्ध आत्मा की ही। किंतु अशुद्ध द्रव्यकीही वह पर्याय है। किंतु देखना यह है कि इस अशुद्धि में मुख्य कारण कौन है। संसार पर्याय बन्धरूप है। बन्ध एक द्रव्य में नहीं हुआ करता। तथा बन्ध का कारण भी स्निग्ध रूक्षत्व है जो कि पुद्गल में ही पाया जाता है। आत्माको पुद्गल के सम्बन्ध के कारण मूर्त कहा और माना है किंतु यह कथन उपचरित है। प्रयोजन और निमित्तवश उपचार की प्रवृत्ति हुआ करती है। वास्तवमें आत्मा अमूर्त है। अतएव बन्धमें पुद्गलके सिवाय दूसरा द्रव्य जो कारण है वह शुद्ध आत्मा नहीं किंतु पुद्गलसम्बद्ध जीवात्मा है। यही कारण है कि पुद्गलका सम्बन्ध सर्वथा छूट जानेपर पुनः उसका बन्ध नही होता। शुद्ध आत्माका न तो पुद्गल के साथ ही बन्ध होता है और न अन्य शुद्ध अशुद्ध आत्मा अथवा धर्मादिक द्रव्यों में से किसी के भी साथ। पुद्गलका पुद्गल के साथ चाहे वह शुद्ध हो अथवा अशुद्ध बन्ध हो सकता है। इसके सिवाय अन्य किसी भी द्रव्यके साथ उसका बन्ध नहीं होता। यदि अन्य द्रव्यके साथ बन्ध होता है या हो सकता है तो केवल पुद्गल-सम्बद्ध जीवात्मा के ही साथ। इस तरह अन्वय व्यतिरेक से विचार करने पर मालुम होता है कि बन्ध में मुख्य कारण यदि कोई है तो स्निग्धरूक्षत्व विशिष्ट पुद्गल द्रव्य ही है। किन्तु गौण तया उससे बद्ध होने के कारण जीव भी उसका कारण कहा जाता है। जीवकी यह बन्ध पर्याय सामान्यतया अनादि है। अनादि कालसे यह जीव कर्मों से बन्ध होते रहने के कारण अशुद्ध बना हुआ है। यह जीवकी अशुद्धि पुद्गलकृत है। और वही नवीन २ बन्ध में कारण पडती रहती है। इस तरह यद्यपि परस्पर में एक दूसरे के प्रति विपरिणाम में निमित्त बनते आ रहे हैं फिर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सन्तति के चलने में मुख्य कारण यदि कोई है तो पुद्गल है न कि आत्मा। वह तो कर्मके वश में पडकर उसके अनुसार चाहे जैसा नाचता है। वह यदि पुण्य पर्याय का स्वांग भी रखता है तो स्वाधीनता से नही, कर्मपरवश होकर ही वैसा करता है। उसे यदि अभीष्ट भोगोपभोग की सामग्री भी प्राप्त होती है तो वह भी कुछ परिगणित दयालु पुण्य कर्मों के कृपाकटाक्ष पर ही संभव है।

कुल्हाडी वृक्षकी छेदन आदि क्रिया करती है। किंतु उसमें यदि बेंट न हो तो वह उस काम को नहीं कर सकती। इस तरह से छेदनादि क्रियामें वृक्ष की लकडी भी निमित्त अवश्य है फिर भी छेदन क्रिया का मुख्यतया कर्तृत्व कुल्हाडीको ही है नकि उसके सहायक निमित्तभूत बेंटको[१]। जिसतरह कोई व्यक्ति विवश होकर शत्रु का काम करता है तो उसका अपराध गुरु होनेपर भी गुरुतर या गुरुतम नही माना जाता। वह क्षम्य की कोटी में गिनलिया जाता है। इसी तरह-संसार रूप बन्ध पर्याय में दोनों ही परस्पर में एक दूसरे के परिणमनमें निमित्त होते[२] हुए भी एक को मुख्य और एक को गौण समझना चाहिये। क्यों कि कर्मपरवश जीवका अपराध क्षम्य है। सजातीय जीवके अपराध को पक्षपातवश क्षम्य बताया जा रहा है यह बात भी नहीं है। देखा जाता है कि जीव सर्वथा स्वतन्त्र हो जानेपर पुनः उस कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता परन्तु पुद्गल जीवोंको अपने आधीन बनाने के कार्य रूप अपराध से सर्वथा उपरत नहीं हुआ करता।

व्याकरण में मानी गई कर्म कर्तृ प्रक्रिया के अनुसार सुकरता[३] आदि कारणोंसे कर्म करण आदिको कर्तृत्व प्राप्त हो जाता है और कर्ता गौण बन जाता है। इसी तरह प्रकृतमें यदि विचार किया जाय तो यद्यपि जीवही पुद्गल कर्म के निमित्त से संसार रूप परिणमन करता है, उसीको कर्तृत्व प्राप्त है। फिर भी पुद्गल की मुख्यता के कारणोंपर जैसा कि ऊपर बताया गया है दृष्टि देनेसे जीव को गौणता और पुद्गल को मुख्यता एवं कर्तृत्व प्राप्त हो जाता है।

जिस तरह संसार में बडे बड़े नद ह्रद और समुद्र आदिके रहते हुए भी चातक मेघ को ही पसंद करता है उसीतरह सम्यग्दृष्टि जीवका परिणाम ही ऐसा होता है कि वह स्वतन्त्र सुख कोही पसंद करता[४] है। पराधीन सुखमें रुचि नहीं रखता। बन्धन में पडे हुए हस्ती सिंह पशु[५] पिंजडे में रक्खे गये तोता आदि पक्षी[६] भी जब सुस्वादु भोजन की अपेक्षा स्वतन्त्र विहार को ही पसंद करते हैं तब मनुष्य—सम्यग्दृष्टि जीव का तो कहना ही क्या? वह तो कर्म परवश रहकर वहां के सुखोंमें आस्था किस तरह रख सकता है।

सांसारिक सुखके जो चार विशेषण दिये हैं उनमें कर्मपरवश विशेषण मुख्य है। शेष तीन

१—कार्यायान्तो हि कुन्तस्य, दण्डस्त्वस्य परिच्छदः॥ यश०

२—तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः॥ पचा०। तथा—जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये। स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥ परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैः भावैः। भवति हि निमित्त मात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥ पु० सि०

३—प्रयोक्तुः सुकरक्रियत्वाल्लूयन्ते शालयः स्वयमेव विनीयन्ते कुशलाशयाः स्वयमेव इत्यादि वत, यश०।

४—स्वच्छाम्भःकलिता लोके, किं न सन्ति जलाशयाः। चातकस्याग्रहः कोऽपि यद्वाञ्छत्यम्बुदात्पयः ॥१३४॥ आदि० प० १८। ५—जीवितात्तु पराधीनाज्जीवानां मरणं वरम्। क्षत्र चू० १-४०। लोके पराधीनं जीवितं विनिन्दितम्। निजबल विभव समार्जित मृगेन्द्रपद संभावितस्य मृगेन्द्रस्येव स्वतन्त्रजीवनमविनिन्दितमभिनिन्दितमनवद्यमतिहृद्यम्॥ जी० च०। नादत्त कवलं दन्ती स्वामिकुण्डलताडितः। नहि सोढव्यतां याति तिरश्चां वा तिरस्कृतिः। क्षत्र चू० ५—३

६—रोवै और बिललाइ परो पिंजरामे तोता। लोकोक्ति

विशेषण इसी पर निर्भर रहने के कारण गौण है। क्योंकि यद्यपि द्रव्यदृष्टिसे कर्म अनादि है परन्तु पर्याय दृष्टिसे सादि सान्त[१] भी है। ऐहिक सुखकी कर्माधीनता बतानेमें द्रव्यदृष्टि प्रधान है। क्यों कि यहां पर यह बताना भी अत्यन्त आवश्यक है कि जीव अनादि कालसे ही कर्मों से आबद्ध है। किसी विवक्षित समयसे बन्धन नही पडा है। साथही यह भी बताना आवश्यक है कि कर्म बन्धन सन्तान क्रमकी अपेक्षा अनादि होते हुए भी कोई भी कर्म ऐसा नही है जो कि किसी विवक्षित समय में न बन्धा हो और अपनी नियत स्थिति के पूर्ण होते ही जीवसे सम्बन्ध न छोड देता हो। इसी बात को "सान्त" यह विशेषण स्पष्ट करता है। जिससे यह बात समझमें आजाती है कि पुण्यकर्म भी स्थिर नही है—न सदासे है न सदाही रहने वाला है। इसीलिए उसके उदयसे प्राप्त इष्ट विषय एवं तन्निमित्त सुखभी शाश्वतिक अथवा सदा स्थिर रहनेवाला नही है। जगत्मे ऐसा कोई उपाय ही नहीं है जिससे कि उस सुखको सदाके लिए स्थिर रक्खा जा सके[३]।

आयु कर्मको छोडकर शेष सातोंही कर्मोंका बन्ध प्रतिक्षण होता रहता है केवल आयुकर्मका बन्ध त्रिभाग के समय योग्यतानुसार होता है। परन्तु होता अवश्य है। यदि वह जीव चर्मशरीरी तद्भव मोक्षगामी नही है तो उसको परभवके आयुका बन्ध अवश्यम्भावी है। आठो ही कर्मोंके बन्धकी यह सामान्य व्यवस्था है। किंतु उदय तो प्रतिक्षण आठोंही कर्मोका रहता है। यह दूसरी बात है कि उपलब्ध पर्याय के अनुसार आठों ही कर्मोंकी कुछ कुछ अवान्तर परिगणित प्रकृतियों का ही उदय हो सके। परन्तु उदय रहता तो सामान्यतया प्रतिक्षण आठोंही कर्मों का है। इसमें ऐसा विभाग नही है कि अमुक २ कर्मों काही उदय हो और कुछ कर्मों का मूलमें ही उदय न हो। फलतः यह निश्चित है कि पुण्योदय जनित संसार का सुख दुःखों से अनन्तरित नहीं रह[२] सकता मालुम होता है कि यहां आचार्यों की दृष्टि कर्मोंकी अनुभाग शक्तिकी तरफ है। क्योंकि कर्मों के फलोपभोग में उनकी अनुभाग शक्ति मुख्य कारण है। साथ ही यह बताना है कि पुण्यफल को यह जीव इसीलिए यथा रत रूपमें नहीं भोग सकता कि वह शेष सहोदयी पापकर्मोंसे मिश्रित एवं विघ्नित है। या तो भोगनेकी सामर्थ्य प्राप्त नहीं या उसके अन्य सहायक साधन प्राप्त नहीं अथवा वह पुण्य ही हीनवीर्य एवं अल्पस्थितिक है। कदाचित् पापरूप में संक्रांत होकर भी उदय में आ सकता है। यद्वा परिस्थिति अनकूल न होनेपर विनाफल दिये भी निर्जीर्ण हो जाता है।

पुण्य का अर्थ होता है—पुनाति इति पुण्यम्। अर्थात् जो पवित्र बनादे। पापका अर्थ होता है—पाति—रक्षति इति पापम्। जो आत्माको हितसे बचाकर रक्खे। वस्तुस्वभाव ऐसा है कि

१—सतान क्रमसे अनादि और स्थिति बन्ध की अपेक्षा प्रत्येक कर्म सादिसान्त है। २—आहारकद्वय और तीर्थकरत्वके सिवाय।

३—नव वपश्चारुपयास्तरुण्यो रम्याणि हर्म्याणि शिवाः श्रियश्च। एतानि संसारतरोः फलानि स्वर्गः परोऽस्तीति मृषेव वार्ता। दोषस्त्वमीषां पुनरेक एव, स्थैर्याय यन्नास्ति जगत्युपायः। तत्संभवे तत्त्वविदां परं स्यात्खेदाय देहस्य तपः प्रयासः। यश०।

आत्मा पर पुद्गल—शरीर आदिको पवित्र रखता है किंतु पुद्गल सम्बन्ध विशेष के द्वारा अपने को भी अशुद्ध कर लेता है और आत्माको भी शुद्ध पवित्र स्वरूप से च्युत कर देता है। फलतः विचार करने पर मालुम होता है कि आत्मा पुण्य है और पुद्गल पाप है। आत्माके साथ लगे हुए कर्मोंके प्रदेश जो कि पौद्गलिक हैं सब पाप हैं। ये पापवीज हैं। जबतक संसारी जीवोंके इनका सम्बन्ध यत्किंचित भी विछिन्न नहीं हो जाता तबतक संसार की संतति भी बनी हुई है। और जबतक इनका सर्वात्मना विच्छेद नहीं हो जाता तब तक जीवात्मा परमात्मा नहीं बन सकता। और अपने शुद्ध स्वरूप भावमें सदाके लिए स्थिर नहीं हो सकता। अतः आत्माकी वास्तविक स्वरूपस्थिति में बाधक ये कर्म प्रदेश ही है। येही उसकी पराधीनता—चातुर्गतिक जन्म मरण—और प्रतिक्षण लगी हुई आकुलता रूप दुःख एवं परिताप का मूल है—सब पापोंका बीज है। इसलिये आत्माके साथ पुद्गल कर्मका जो विशिष्ट सम्बन्ध है और जो कि आज का—किसी विवक्षित समय से लगा हुआ नहीं अपितु अनादिकालीन है वही संसार का मूल है। इसतरहसे यह विशेषण कर्मों के प्रदेश बन्धकी तरफ दृष्टि दिलाता है।

मतलब यह कि सम्यग्दृष्टि के लिए जो ऐहिक सुख अनास्थेय है उसका कारण—सम्बन्ध कर्मोंसे है और कर्मों की बन्धकी अपेक्षा चार दशाए है—प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश। इनही चार दशाओंको दृष्टि में रखकर मालुम होता है कि संसारी जीवकी दुःखरूपताको व्यक्त करने के लिये आचार्यने सांसारिक सुखके चार विशेषण दिये हैं। जैसा कि ऊपरके कथन से स्पष्ट हो सकता है।

तीन लोक के समस्त वैभव जो कि कर्मों के ही फल हैं उन सबका मूल्य एक सम्यक्त्व रत्न के समक्ष नगण्य है—तुच्छ है। अतएव जो व्यक्ति सम्यक्त्व के बदलेमें किसीभी सांसारिक आभ्युदयिक फल की आकांक्षा रखता है तो वह अवश्य ही अविवेकी है अज्ञानी है मिथ्यादृष्टि है उसका सम्यग्दर्शन निर्मल एवं सांगोपांग नहीं माना जा सकता। पूर्ण सम्यग्दृष्टि है और कर्म एवं कर्म फलकी आकांक्षा रखता है यह कहना तो ऐसा समझना चाहिये जैसे किसी स्त्रीके विषयमें यह कहना कि यह पूर्ण सती है और पर पुरुष या पुरुषोंमें साकांक्ष है। जिसतरह अपने विवाहित के सिवाय अन्य किसी भी पुरुष के साथ मनसा वचसा कर्मणा किसी भी तरह से रमणकी अभिलाषा न होनेपर ही पूर्ण सती मानी जाती है, उसी तरह अपनेही शुद्धस्वरूपके सिवाय किसीभी परभावमें किसी भी तरह से अभिरुचिके न होने पर ही पूर्ण सम्यग्दृष्टि माना जा सकता है। जबतक यह बात नहीं होती—उस सम्यग्दर्शन में यह योग्यता नहीं आजाती तबतक वह सम्यग्दर्शन निःकांक्ष गुण से युक्त नहीं कहा जा सकता। निर्वाण फल की सिद्धिके लिए सम्यग्दर्शन गुणको इस अंग से पूर्ण होना ही चाहिये।

यद्यपि सम्यग्दशनके मुख्यतया श्रद्धेय विषय तीन हैं। आप्त आगम और तपोभृत्। किंतु इसके सिवाय एक विषय धर्म[1] अथवा तत्त्वार्थ भी है। यहांपर सम्यग्दर्शनके आठ अंगों का

१—"धम्मो वत्थुसहावो" में कहा गया धर्म शब्द और "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शन" में कहा गया

वर्णन कर रहे है। जिनमें पहले निषेधरूप चार अंगोमें ये सम्यग्दर्शन के चार विषयही क्रमसे मुख्यतया लक्ष्य है। पहले निःशंकित अगका मुख्यलक्ष्य आप्त है यह बात लिखी जा[१] चुकी है। तदनुसार इस दूसरे अंगका मुख्य लक्ष्य आगनको समझना चाहिये। क्यों कि आगम में सभी विषयोंका वर्णन पाया जाता है। स्वतत्त्व परतत्त्व कर्म उसके कारण भेद फल अधिकरण आदि, कर्मों के फलों आदि में हेय उपादेय उपेक्षणीय दृष्टि से विभाग कर तदनुकूल वर्तन आदि करने का उपदेश अथवा श्रेयोमार्गका विधान तीनों ही विषयोंका सत्यभूत दृष्टांतो द्वारा स्पष्टीकरण इत्यादि हैं। किंतु ये या इनके अवान्तर सभी विषय एकरूप नहीं है इनमें कोई श्रद्धेय कोई ज्ञेय और कोई पालनीय-हेय उपादेय उपेक्षणीय है।

मोह से आक्रांत जीव निवेकी नही हुआ करता। वास्तविक विवेक सम्यग्दृष्टि जीवके ही पाया जाता है वह भेदज्ञानके द्वारा पर या परनिमित्तक तत्त्वोंसे निजतत्त्व-शुद्धको दृष्टिमें ले सक्ता है किन्तु मिथ्यादृष्टि—मोही जीव मोह और अनन्तानुबन्धी कषाय की विवशता से जिसतरह पर-हेय तत्त्वों को अपना स्वरूप समझकर अनध्यवसाय या विपर्यास के कारण अपना लेता या उनमें रुचिमान हो जाता है अतएव विवेक रहित है, उसी तरह सम्यग्दृष्टि जीव भी कदाचित सम्यक्त्व प्रकृति अथवा कषायके तीव्रोदयवश प्राप्त विवेक को छोड देता और उन पर-इष्ट विषयोंको अपनाकर उनमें निदानादिके द्वारा अनुरंजित होकर विवेकभ्रष्ट हो सम्यक्त्वका अंग भंग कर डालता है।

ध्यान रहे सम्यक्त्वका सर्वथा अभाव अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय में आये विना नहीं हो सकता। जहांतक अप्रत्याख्यानावरणका उदय है वहांतक सम्यक्त्व छूट नहीं सकता। इस तरहका अव्रत सम्यग्दृष्टि जीव निदानबन्ध नहीं कर सकता। यदि निदानमें प्रवृत्त होगा तो उसका सम्यग्दर्शन भी छूट जायगा। क्योंकि निदानमें प्रवृत्ति करानेवाली कषाय अनन्तानुबन्धी ही संभव है।

प्रश्न हो सकता है कि निदान तो पांचवे गुण स्थान तक आगममें बताया[२] है। फिर आप निदान के होने से सम्यक्त्व का ही भंग किसतरह बता रहे हैं?

उत्तर-पांचवें गुणस्थानतक जिस निदानका अस्तित्व स्वीकार किया है वह आर्तध्यान का एक भेद है। और तीन शल्यों में जिस निदान का उल्लेख पाया जाता है वह एक मिथ्यात्वका सहचारी भाव है नकि सम्यक्त्व का। मतलव यह कि निदान आर्तध्यान संज्वलनके सिवाय तीनों ही कषायों से हो सकता है और निदानशल्य अनन्तानुबन्धी के ही उदय में संभव[३] है। फलतः जहांपर निदानशल्य रूपसे आकांक्षा होगी तब तो सम्यक्त्वका अभाव हुए विना नहीं रह सकता यदि आर्तध्यानरूपसे होगी तो सम्यक्त्वका सर्वथा अभाव नहो होकर आंशिक मलिनता या अंग-

तत्त्वार्थ शब्द प्रायः एक ही अर्थ को सूचित करते हैं। किंतु धर्म से मतलब दयारूप धर्मस भी है।

१—देखो निःशंकित अंगकी टीका।

२—देखो सर्वार्थसिद्धि अ ६ सू० ३४ की टीका, तथा राजवार्तिक।

३—इसकेलिये देखो श्लोकवार्तिक अ० ७ सू० १८ वा०

रूप ही भंगमात्र संभव है। किन्तु इस तरहका भी सम्यग्दर्शन निर्वाणका साधक नहीं हो सकता सर्वथा निःकांक्ष सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का साधक[1] बन सकता है। यह इसी से स्पष्ट है कि निदान आर्तध्यान भी पांचवे गुणस्थान तक ही पाया जाता या हो सकता है, इसके उपर नहीं। और मोक्ष के साक्षात् साधक तो संयतस्थान ही माने गये है।

अब क्रमानुसार सम्यक्त्वके तीसरे अंगका वर्णन अवसरप्राप्त है। अत एव उसीका कथन करते हैं।—

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥१३॥

अर्थ—स्वभावसे अशुचि किन्तु रत्नत्रय से पवित्रित शरीरमें जुगुप्सा—ग्लानि न कर गुणों में प्रीतिंकरना सम्यग्दर्शनका निर्विचिकित्सिता नामका गुण है।

प्रयोजन—दो अङ्गोंका वर्णन कर चुकनेपर तीसरे अंगका वर्णन क्रमप्राप्त तो है ही जैसा कि उत्थानिकामें भी बताया जा चुका है। इसके सिवाय कारण यह भी है कि सम्यक्त्व के विषय श्रद्धान रूप क्रिया के कर्म मुख्यतया तीन अथवा चार है। तीन का नाम तो कण्ठोक्त है—आप्त आगम और तपोभृत्। एक विषय अर्थादापन्न है—धर्म अथवा तत्त्वार्थ। ऊपर यह बात भी कही जा चुकी है कि यद्यपि सम्यग्दर्शन के सामान्यतया सभी विषय हैं किन्तु यहांपर जब उसके अंगोंका वर्णन करना है तब आदिके चार अंगोंमें से प्रत्येकमें क्रमसे एक२ विषय मुख्य बन जाता है

तदनुसार पहले अंगमें आप्त और दूसरे अंगमें आगम किस तरह मुख्य ठहरता है यह बात भी ऊपर कही जा चुकी है। अब यह बताना आवश्यक है कि तपोभृत्के निमित्त या विषयको लेकर सम्यग्दर्शनका यह तीसरा एक अंग किस तरह बनता है। इसलिये भी इस कारिकाका निर्माण यहां आवश्यक है तीसरी बात यह है कि धर्म मुख्यतया रत्नत्रयात्मक ही है सम्यग्दर्शनादिक तीनोंमेंसे कोई भी एक अथवा दो यद्वा निरपेक्ष तीनों भी धर्म नहीं है। तीनो गुणोंके आश्रय भी तीन हैं। आप्त आगम तपोभृत्। तपोभृत् शब्द स्वयं ही चारित्रमे तपश्चरणकी मुख्यताको सूचित करता है। क्योंकि वास्तवमें तपश्चरणके विना केवल व्रतादिके द्वारा कर्मो की यथेष्ट निर्जरा संम्भव नहीं है। मोक्षका मुख्य साधन संवरपूर्वक निर्जरा ही है। जो इस तरह का तपस्वी है वह अवश्य ही रत्नत्रयधर्मसे युक्त रहता है किन्तु यह कहनेकी आवश्यकता भी नहीं है कि ऐसी पवित्र आत्माका सम्बन्ध शरीरसे भी है। शरीर प्रकृतिसे ही अपवित्र है। ऐसी हालतमें शरीरकी अपवित्रताके कारण यदि कोई व्यक्ति उस सर्वोत्कृष्टगुण—रत्नत्रयधर्मकी अवहेलना करता है उसमें भक्ति न कर ग्लानि करता है तो अवश्य ही या तो वह बहिर्दृष्टि है या अविवेकी है अथवा तत्त्व ज्ञानसे दूर और कर्तव्यसे च्युत है। उसको अन्तर्-दृष्टि भेदज्ञानयुक्त तत्त्वरुचि और कर्तव्यनिष्ठ किस तरह कहा या माना जा सकता है।

---

[1]—जैसा कि इसी ग्रन्थकी कारिका नं० २१ "नांगहीनमलं छेत्तुं" आदिसे मालुम हो सकता है।

अतएव यह बताना जरूरी है कि सम्यग्दृष्टि जीव धर्मकी प्रत्यक्ष मूर्तियोंके प्रति किस तरह भक्तिपरायण रहा करता है जिससे कि उसकी अन्तरंग दृष्टि विवेक रुचि भक्ति और कर्तव्यपरायणताका पता चलता है और जिसके कि बिना उसका सम्यग्दर्शन वास्तविक साङ्गो-पाङ्ग नहीं माना जा सकता। इस अभिप्रायको स्पष्ट करना भी कारिका का प्रयोजन है।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—यों तो काय शब्दका अर्थ बहुप्रदेशी होता है। काल द्रव्य एक प्रदेशी होनेके कारण अकाय है। जीव, धर्म, अधम और आकाश ये चार काय द्रव्य तथा पुद्गल उपचारसे काय या बहुप्रदेशी द्रव्य है। शरीर भी अनेक पुद्गल स्कन्धोंका प्रचयरूप बहुप्रदेशी होनेके कारण काय शब्दसे कहा जाता है। आगममें काय शब्दसे पांच स्थावर और एक त्रस इस तरह संसारी जीवके छः भेद भी गिनाये हैं। किंतु इन भेदोंके बताने में काय शब्दका अर्थ शरीर बताना अभीष्ट नहीं है। वहां तो विवक्षित जीवविपाकी नामकर्म की प्रकृतियोंके[1] उदयसे होनेवाली जीवकी पर्याय विशेष अर्थ इष्ट है। अतएव इसके छः भेद हैं जिनका कि सिद्धान्त शास्त्रमें कायमार्गणाके वर्णनके अन्तर्गत गुणस्थान एवं समासस्थानोंके आश्रयसे विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। जो आगमके वर्णित इस कायका अर्थ शरीर करते हैं वे तत्त्व स्वरूपसे अपरचित भ्रान्तबुद्धि और सिद्धान्त—आगमसे अनभिज्ञ हैं।

प्रकृत कारिकामें कायका अर्थ शरीर है: इसके आगममें पांचभेद गिनाये हैं। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण। इनकी उत्पत्ति पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्मके उदयसे हुआ करती है। अन्तिम दोनों शरीर सभी संसारी जीवोंके पाये जाते हैं और जबतक वे संसार पर्यायसे युक्त हैं तबतक ये भी उनके साथ अवश्य रहा करते हैं। आहारक शरीर ऋद्धि-धारी विशिष्ट मुनियोंके ही रहा करता है। वह काचित्क और कादाचित्क है। आदिके दो शरीर परस्पर विरोधी हैं। इनमेंसे पर्याप्त अवस्थामें संसारी जीवोंके कोई एक अवश्य रहा करता है। या तो औदारिक रहता है या वैक्रियिक। दोनों एक साथ नहीं रहा करते। प्रकृत वर्णन करनेमें आचार्योंको औदारिक शरीर ही अभीष्ट है। और वह भी मनुष्यों--आर्य मनुष्यों--सज्जातीय व्यक्तियोंका ही विवक्षित है। जैसा कि "रत्नत्रयपवित्रिते" विशेषणसे स्पष्ट होता है। कारिकामें कायके दो विशेषण दिये हैं एक "अशुचि" और दूसरा "रत्नत्रयपवित्रित"।

स्वभावतोऽशुचौ।—अशुचिका अर्थ है अपवित्र। स्वभावतः यह हेतुवाचक शब्द है। जो कि अपवित्रताके हेतुको बताता है। स्वभावका अर्थ होता है स्व-अपना ही भाव-भवन, होना परिणमन। मतलब यह है कि जो अपने परिणमनसे ही अशुचि है, अपवित्र है। स्वयं शरीर, शरीरकी वतमान दशा, वह जिनसे उत्पन्न होता है और शरीरसे जो उत्पन्न होता है वे तीनो ही अपवित्र हैं। माताका रज और पिताका वीर्य, तथा माताके द्वारा भुक्त अन्नका वह रस जिससे कि वह शरीर बनता है और वृद्धिको प्राप्त होता है, सभी अशुचि है। इस शरीरके

१—त्रस और स्थावर नामकर्मकी प्रकृतिया है जिनके कि उदयसे ससारी जीवकी ये अवस्थाएं बनती हैं।

सम्बन्धको जो प्राप्त कर लेती हैं वे पवित्र भी वस्तुएं अशुचि बन जाती हैं। धातु* उपधातु या मल उपमलके रूपमें परिणत होजाती हैं। वर्तमानमें यह शरीर हड्डी चमडा मांस रक्त मल मूत्र आदि जिन२ के समुदायरूप है वे भी सब अशुचि ही हैं। अतएव स्वभावसे ही यह अशुचि है।

जिसकी उत्पत्ति असदाचारसे है -भ्रष्ट, है जो स्वयं असदाचारी है जिसकी संतान भी असदाचारसे उत्पन्न हो उस व्यक्तिके शारीरिक व्यवहारमें समीचीनता माननेका कारण ही क्या रह जाता है? इसी तरह शरीरकी अशुचिताके सम्बन्धमें समझना चाहिए। ध्यान रहे यह अशुचिता स्वभावतः कहकर नैसर्गिक एवं स्वाभाविक बताई है। जिससे यह अभिप्राय भी निष्पन्न हो जाता है कि अशुचिता स्वाभाविक भी हुआ करती है। जो कि यहां ग्रन्थकार को बताना अभीष्ट नहीं है। यहां तो शरीरके उपादान, मूलस्वरूप और कार्यके सम्बन्धको लेकर जो अशुचिता पाई जाती है केवल उसीका बताना अभीष्ट है।

मलोत्सर्ग[1] अशुचि द्रव्य अथवा अस्पृश्य स्त्री पुरुष पशु पक्षी आदिके स्पर्शादि सम्बन्ध से जो अशुद्धि होती है उसका बताना यहां अभीष्ट नहीं है। क्योंकि प्रथम तो अशुचिता और अशुद्धि अथवा पवित्रता और शुद्धि एक चीज नहीं है दोनों शब्द एकार्थक या पर्यायवाचक नहीं है। शुद्धि और पवित्रतामें स्वरूप विषय कारण और फल आदिकी अपेक्षा जिस तरह महान अन्तर है उसी तरह अशुचिता और अशुद्धिमें भी अत्यन्त भिन्नता है। दूसरी बात यह कि आगममें इन तात्कालिक अशुद्धियोंको दूर करनेका जो विधान है तदनुसार उनका निर्हरण होजाया करता[2] है। वास्तविक मुमुक्षु साधु उचित उपायोंके द्वारा विधिपूर्वक उन अशुद्धियोंको उसी समय दूर करलिया करते हैं।

शरीरकी द्रव्यपर्यायाश्रित जो अशुद्धि है उसका न तो कोई शुद्धि विधान ही है और न वैसा शक्य एवं संभव ही है। जहांतक अयोग्य पिंडोत्पत्तिका सम्बन्ध है वहांतक उस शरीर को भी आगममें दीक्षाके अयोग्य[3] ही बताया है। फलतः शरीरकी प्राकृतिक अशुचिताके सम्बन्धको लेकर ही वर्णन करना उचित समझकर आचार्यने कहा है कि वह तो स्वभावसे ही अशुचि है।

रत्नत्रयपवित्रित—रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र आत्माके धर्म हैं। अतएव वास्तवमें आत्मा ही उनसे युक्त रहनेके कारण पवित्रित कहा जा सकता है। किंतु यहां

*—वात पित्त कफ ये तीन अथवा रस रक्त मांस मेदा अस्थि मज्जा और शुक्र ये सात धातु कहाती है।
१—मलमूत्रादिका त्याग मलमूत्र मद्यमांस अस्थि चर्म शव आदि द्रव्य, रजस्वला आदि स्त्री अस्पृश्य शूद्र आदि पुरुष गधा सूअर आदि पशु काक गृद्ध आदि पक्षी।
२—इसकेलिये देखो प्रायश्चित्तशास्त्र ''' ''' तथा यशस्तिलक "संगे कापालिकात्रेयीचांडालशवरादिभिः। आप्लुत्य दण्डवत् स्नायाज्जपेन्मन्त्रमुपोषितः।
३—दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाः सुदेशकुलजात्यंग इत्यादि।

पर-यह शरीरका विशेषण है। इसका आशय यह है कि यद्यपि आत्मा ही रत्नत्रयसे वास्तव में पवित्रित है फिर भी रत्नत्रयपवित्रित आत्मासे अध्युषित रहनेके कारण व्यवहारसे शरीरको भी रत्नत्रयपवित्रित कहा जा सकता है।

प्रश्न—आत्मा रत्नत्रयसे जिनका पवित्रित नही है और द्रव्यतः जिनका शरीर जिनलिंगसे युक्त है, अर्थात् जो द्रव्यलिंगी हैं उनको या उनके शरीरको भी "रत्नत्रयपवित्रित" कहा जा सकता है क्या ?:और अपने सम्यग्दर्शनको निर्विचिकित्सा गुणसे युक्त रखनेवाले मुमुक्षु को ऐसे साधुओंके प्रति व्यवहार किस तरहका करना चाहिये ?

उत्तर—व्यवहार बाह्य द्रव्य पर्यायाश्रित है और वह निश्चय का विरोधी नहीं है। बल्कि निश्चयका साधक है। साथ ही छद्मस्थ जीवोंको आत्मधर्म के प्रत्यक्ष जानने का साधन नहीं है। फिर जब वह साधु भावलिंगी मुनिके ही समान सम्पूर्ण व्यवहार कर रहा है व्रत आवश्यक आदि गुणोंका यथावत् पालन कर रहा है, तब अन्य सागार एवं अनगारोंको भी उसके प्रति भावमुनिके ही समान व्यवहार न करनेका कोई कारण नहीं है। प्रत्युतः अपने पदके अनुसार कर्तव्यका पालन न करने पर अपराधी अथवा कर्तव्यच्युत माना जा सकता है। निश्चय साध्य है और व्यवहार साधन है। साधनके प्रसङ्ग में उसीको मुख्य मानकर उसके अनुकूल व्यवहार करना ही उचित है। अत एव जो द्रव्यलिङ्गी रत्नत्रय का साधन कर रहा है उसके उस गुणके प्रति भी सम्यग्दृष्टीको प्रीति होनी ही चाहिये। निर्दोष जिनमुद्रा का विनय सम्यग्दृष्टि न करे, यह संभव नहीं है ऐसा करने पर ही उसका निर्विचिकित्सा अंग सुरक्षित रह सकता है।

निर्जुगुप्सा—जुगुप्सा का अर्थ ग्लानि है। निर्जुगुप्सा यह गुणप्रीतिका विशेषण है। साधु का शरीर रत्नत्रयसे पवित्र है। और सम्यग्दृष्टि गुणग्राही एवं गुणोका समादर करनेवाला हुआ करता है। अत एव उसकी दृष्टि गुणोंकी तरफ रहा करती है। वह स्वाभाविक अशुचि शरीरके प्रति ग्लानि करके रत्नत्ररूपगुणों के प्रति उपेक्षा कर अविवेकद्वारा कर्तव्यसे च्युत हो अपनी—हानि सम्यग्दर्शन को अंगहीन अथवा मलिन बना नहीं कर सकता।

तात्पर्य—यह है कि इस कारिकामें सम्यग्दर्शन के जिस अंग अथवा गुणका दिग्दर्शन कराया गया है उसका सम्बन्ध गुरु अथवा तपोभृत् से है। श्रद्धान के विषयो में से आप्त और आगमके सम्बन्ध को लेकर जिसतरह क्रमसे पहले और दूसरे अंगका वर्णन किया गया है उसीप्रकार यह गुरु के सम्बन्ध को लेकर सम्यग्दर्शनका तीसरा अंग बताया गया है। इसके लिये अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है। कारिकाके पूर्वार्धमें शरीर के दो विशेषण जो दिये है वे गुरु में ही सम्भव है। पूर्वार्धमें वर्णित दो विशेषणोंको लेकर उत्तरार्ध मे बतायागया है कि सम्यग्दृष्टिका भाव—ऐसी अवस्थामें किसतरहका हुआ करता या किस तरहका रहा करता है। बतायागया है कि शरीर तो सभीका स्वभाव से ही अशुचि है परन्तु यदि इस शरीर से आत्मा का हित सिद्ध करलिया जाता है तो मनुष्य जन्म और इस शरीर का प्राप्त करना सार्थक एवं सफल होजाता है।

गुणग्राही एवं मुमुक्षु सम्यग्दृष्टि आत्महितकी दृष्टिसे प्रधानतया आत्मा के गुणोंमेंही आदरबुद्धि रखता है। अतएव गुरुके रत्नत्रयरूप आत्मधर्मों में ही उसकी प्रीति हुआ करती है। वह शरीर के दोषोंके कारण आत्मगुणों में उपेक्षित नहीं हुआ करता। शारीरिक अशुचिकी तरफ उपेक्षित रहकर आत्माके असाधारण रत्नत्रयरूप गुणों में ही प्रीतियुक्त रहना यही सम्यग्दर्शन का निर्विचिकित्सा अंग है। इस के विना वह पूर्ण अथवा सम्पूर्णाङ्ग नहीं माना जा सकता।

कारिकाके पूर्वार्धमें बताये गये शरीरके दो विशेषणों और उत्तरार्थ में किये गये दो विधानोंमें क्रमसे हेतु हेतुमद्भाव स्पष्ट ही समझ में आजाता है अत एव इस विषयमें अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि शरीरकी स्वाभाविक अशुचिताके कारण जुगुप्साका होना संभव है परन्तु वह सम्यग्दृष्टि के नहीं होती और नहीं होनी चाहिये। इसी तरह रत्नत्रयसे पवित्रित रहने के कारण सम्यग्दृष्टि को गुणोंमें प्रीति होती है सो वह रहनी चाहिये। ऐसा होने पर ही निर्विचिकित्सा अंग माना जा सकता है।

कारिकामें आये हुए "अशुचि, जुगुप्सा, और विचिकित्सा" इन तीनों ही शब्दों का आशय एक ही है। और उसका सम्बन्ध स्वभावसे है। स्वाभाविकताका मतलब पहले लिखा जा चुका है। परन्तु यहां इतना और भी ध्यानमें लेलेना चाहिये कि हेतु रूप से "स्वभावतः" इस शब्दका जो उल्लेख है वह सामान्य है अत एव उसके सभी विशेषों का यथायोग्य ग्रहण हो सकता है और वह करलेना चाहिये।

यद्यपि इस तरह की विचिकित्साके कारण अनेकों हो सकते है फिरभी उनको सामान्यतया तीन भागों में विभक्त कीया जा सकता है। जन्म जरा और रोग। शरीर में जन्मजात जो विचिकित्साकी कारण अशुचिता है उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वृद्धावस्था और रोगके निमित्तसे जो ग्लानीका कारण उपस्थित हो जाता है उसको भी स्वाभाविक ही समझना चाहिये इस तरह से विचिकित्सा के ये तीन स्वाभाविक विशेष संभव हैं। इनके सिवाय निंदा या अवर्णवादरूपमें जो साधुओं—निर्ग्रन्थ जैन मुनियों की मिथ्यादृष्टियों द्वारा विचिकित्सा की जाती है वह तो सम्यकूदृष्टि से संभव ही नही हो सकती। क्योंकि अवर्णवाद और उसका कार्य दर्शनमोहनीय कर्मका बन्ध मिथ्यात्वगुणस्थानमें ही पाया जा सकता है। एवं निंदा तथा तन्निमित्तक नीच गोत्र कर्म का बन्ध दूसरे सासादन गुणस्थान तक ही सीमित है। आगम में इसके ऊपर उनकी बन्धव्युच्छित्ति बताई गई है। इस तरह की विचिकित्सा केवल कल्पना है, अज्ञान मूलक है, और अतात्त्विक है। तत्त्वस्वरूप को समझे विना दोषोंका उद्भावन मिथ्यादृष्टियों द्वारा अनेक प्रकार से किया जाता है। या तो असमर्थता के कारण अथवा तीव्र मोहोदय वश यद्वा अज्ञान एवं कषाय के निमित्त से। साधुओंके व्रत तप के रहस्य को विना समझे या जानबूझकर असद्भूत दोषोंका उद्भावन हुआ करता है, अथवा अन्यथा रूपमें प्रगट किया जाता है। यह सम्यग्दृष्टि

के नहीं पाया जा सकता। मिथ्यादृष्टियों द्वारा ही हुआ करता[1] है। सम्यग्दृष्टि अन्तर्द्रष्टा तत्त्वज्ञ एवं विवेकी हुआ करता है। अतएव किसीके दोषको किसीभी दूसरे के मत्थे मढनेका अन्धेर नगरी जैसा अविवेक और अन्यायपूर्ण कार्य नहीं कर सकता। प्रत्युत कीच अथवा मलमें पड़े हुए सुवर्णको ग्रहण करने की समुचित प्रवृत्तिके[2] समान स्वभावतः अशुचि शरीर में विद्यमान रत्नत्रयरूप धर्म में समादर तथा प्रीति भक्ति और रुचिही धारण किया करता है। ऐसा होनेसे ही उसका सम्यग्दर्शन निर्विचिकित्सांगसे युक्त माना जाता और वह अपने वास्तविक फल के देने में समर्थ हो सकता है। मुक्तिरमणीके गुणों की तरफ, विरोधी के दोषोंके कारण उपेक्षा करनेवाला- प्रीति न करनेवाला उसका स्नेहभाजन किस तरह हो सकता है। वह उसका प्रेम पूर्वक किस तरह आलिंगन कर सकता है।

अब क्रमानुसार सम्यग्दर्शन के चौथे अंग अमूढ दृष्टि नामका वर्णन करते हैं—

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥ १४ ॥

अर्थ—जो दुःखोंका मार्गरूप है ऐसे कापथ—खोटे मार्ग—उपायमें एवं उस मार्गपर चलने वालोंके प्रति सम्मानका भाव न रखना उनको सत्य न समझना उनसे सम्पर्क न रखना और उनकी प्रशंसा न करना सम्यग्दर्शन की अमूढता कही गई है।

१—इस विषय मे निम्नलिखित वाक्य और श्लोक दृष्टव्य है—अन्तः कलुषदोषादसद्भूतमलोद्भावनमवर्णवादः शुद्धत्वाशुचित्वाद्याविर्भावनम् संघे। (श्लो० वा० ६—१३ तथा राजवार्तिक ६–१३, ७–१०)
तपस्तीव्रं जिनेन्द्राणां नेदंसंवादिमन्दिरम्। आगोऽपवादि चेत्येवं चेतः स्याद्विचिकित्सना ॥
स्वस्यैव हि स दोषोऽयं यन्न शक्तः श्रुताश्रयम्। शीलमाश्रयितुं जन्तुस्तदर्थं वा निबोधितुम ॥
स्वतःशुद्धमपि व्योम वीक्षते यन्मलीमसम्। नासौ दोषोऽस्य किंतु स्यात्स दोषश्चक्षुराश्रयः ॥
दर्शनाद्देहदोषस्य यस्तत्त्वाय जुगुप्सते। स लोहे कालिकालोकान्नूनं मुञ्चति काञ्चनम् ॥
स्वस्यान्यस्य च कायोऽयं बहिश्छायामनोहरः। अन्तर्विचार्यमाणः स्यादौदुम्बरफलोपमः ॥
तदैतिह्यं च देहं च याथात्म्यं पश्यतां सतां। उद्वेगाय कथं नाम चित्तवृत्ति. प्रवर्तताम् ॥ (यश० ६–६)
तथा—अमज्जनमनाचामो नग्नत्वं स्थितिभोजिता। मिथ्यादृशो वदन्त्येतन्मुनेर्दोषचतुष्टयं ॥
तत्रैष समाधिः—ब्रह्मचर्योपपन्नानामध्यात्माचारचेतसाम्। मुनीनां स्नानमप्राप्तं दोषे त्वस्य विधिर्मतः ॥
संगे कापालिकात्रेयीचाण्डालशबरादिभिः। आप्लुत्य दण्डवत् सम्यक् जपेन्मंत्रमुपोषितः ॥
एकान्तरं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके। दिने शुध्यन्त्यसन्देहमृतौ व्रतगताः स्त्रियः ॥
यदेवांगमशुद्धं स्यादद्भिः शोध्यं तदेव हि। अंगुलौ सर्पदष्टायां न हि नासा निकृत्यते ॥
निष्यन्दादिविधौ वक्त्रे यद्यपूतत्वमिष्यते। तर्हि वक्त्रापवित्रत्वे शौचं नारभ्यते कुतः ॥
विकारे विदुषां द्वेषो नाविकारानुवर्तने। तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ॥
नैष्किंचन्यमहिंसा च कुतः संयमिनां भवेत्। ते संगाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ॥
न स्वर्गाय स्थितेर्भुक्तिर्न श्वभ्रायास्थितेः पुनः। किंतु संयमिलोकेऽस्मिन् सा प्रतिज्ञार्थमिष्यते ॥
पाणिपात्रं मिलत्येतच्छक्तिश्च स्थितिभोजने। यावत्तावदहं भुञ्जे रहाम्याहारमन्यथा ॥
अदैन्यासंग वैराग्यपरिषहकृते कृतः। अतएव यतीशानां केशोत्पाटनसद्विधिः ॥ यश० ६–२

२—पर्यो अपावन ठौर में कंचन तजे न कोय। लोकोक्ति।

प्रयोजन—जिन्होंने मोक्ष के उपाय को सिद्ध करलिया–प्राप्त कर लिया है उन आप्तों और उन्होंने जो कुछ मार्ग बताया है उसको विषय करने वाले— प्रदर्शक आगम एवं तदनुसार चलने वाले—निर्वाणपथिकोंके प्रति श्रद्धा का अनुकूल रहना मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शनकी प्रथम आवश्यक विशेषता है। यह ऊपरकी तीन कारिकाओं द्वारा बता दिया गया है। अब इस पर प्रश्न उठता है अथवा उठ सकता है कि यथार्थताका परिज्ञान किस तरह हो? किसीके कहने मात्रसेही किसी को वास्तविक देव आगम या गुरु मान लेना कहां तक ठीक माना जा सकता[१] है। ग्रंथकारने भी तीनोंका 'परमार्थ' विशेषण देकर श्रद्धा के विशेषरूप आप्त आगम और तपोभृत को यथार्थ और अयथार्थ इस तरह दो भागों में विभक्त कर दिया है। क्यों कि विशेषण दिया जाता है वह इतर व्यावृत्ति के लिये ही दिया जाता है। अतएव यथार्थता को देखने के लिए उनके गुणदोषोंके तरफ दृष्टि देना आवश्यक हो जाता है। ऐसा करनेके बाद जो आप्त आगम और गुरु निर्दोष और गुणयुक्त सिद्ध हों और अपने अनुभवमें आवें उन्ही को यथार्थ मानकर उन्हींके उपदिष्ट मार्गपर चलना विवेक एवं बुद्धिमत्ता का कार्य माना जा सकता है। इसके विपरीत जो सदोष सिद्ध हो अथवा संसार के दुःखों से छुडाकर निर्बाध शाश्वत सुखके मार्ग में पहूँचाने के योग्य गुणोंसे युक्त सिद्ध न हों उन्हें परमार्थरूप आप्त आगम गुरु नहीं मानना चाहिये। तथा ऐसे आप्तादिके चक्कर में पडकर अपने कल्याण के मार्गको दुःखरूप बनाकर उसे अधिकाधिक दुखी बनाने से बचना चाहिये। ऐसे अपरमार्थरूप आप्तादिके द्वारा जो मार्ग बताया गया है वह दुःखरूप है। अतएव उससे सावधान करना उचित और आवश्यक समझकर इस कारिकाका निर्माण किया है।

इसके सिवाय श्रद्धानादि के विषय भूत अर्थ—द्रव्य तत्त्व एवं पदार्थ यदि युक्तिपूर्ण नहीं है-उनकी यथार्थता यदि निर्बाध सिद्ध नहीं होती तो विषय के विपरीत रहने के कारण उनके द्वारा कल्याणका यथार्थ मार्ग भी किस तरह सिद्ध हो सकता है। बगलेको गरुड कहने या मानलेनेसे बगलेसे गरुडका काम तो नही हो सकता। इसीप्रकार जड पुद्गलादि को जीवादिरूप या जीव को जड ज्ञानशून्य आदि मान लेनेसे भी जीव का प्रयोजन किस तरह निष्पन्न हो सकता है। वस्तुके यथार्थ स्वभावको धर्म कहा है। यदि वह यथार्थ नही है तो वह धर्म भी नही है। उससे वास्तविक सुख की प्राप्ति न होकर दुखका ही अनुभव हो सकता है। मोह अज्ञान और कषाय ये तीनों दुखरूप हैं। इन तीनोंके धारक व्यक्ति स्वयं दुःखी है और उनके सम्बन्ध से दूसरे भी वास्तवमें दुःख के ही पात्र बनते हैं। फलतः ये तीनों ही कुधर्म और उनके धारक अथवा आश्रय इस तरह छह अनायतन[२] माने गये हैं। जो मोहयुक्त है वह आप्त नहीं जो द्रव्यादिका ठीक २ स्वरूप दिखाने में असमर्थ है वह यथार्थ आगम नहीं और जो कषाययुक्त है वह सच्चा तपस्वी

१—मन्तस्तत्त्वं नहीच्छन्ति परप्रत्ययमागतः यशस्तिलक ॥

२—मिथ्यात्वका आश्रय प्रतिमा और मन्दिर, अज्ञान का आश्रय कुशास्त्र और कुचारित्र का आश्रय पाखण्डी साधु।

नहीं। इनसे धर्मका फल सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव मुमुक्षुको मन वचन कायसे इसतरह इन से बचकर चलना चाहिये जिससे कि अपना और दूसरों का भी किसीभी प्रकारका अहित न हो। उसको चाहिये कि अपनी बुद्धिको इन विषयोंमें मोहित न होने दे। मोही अज्ञानी और सकषाय व्यक्तियों के मोहक परिणाम वचन और प्रवृत्तियों से जैसे भी हो अपने को बचाकर रखनेसे ही सम्यग्दर्शन शुद्ध और परिपूर्ण रह सकता है और वास्तविक फलको उत्पन्न कर सकता है। अतएव इस अंगका भी बताना आवश्यक है।

प्रथम अंगमें देव, दूसरेमें आगम, और तीसरेमें गुरुकी मुख्यता है यह पहले यथावसर बताया गया है। सम्यग्दर्शनके विषय जिस तरह आप्त आगम और तपोभृत् हैं उसी तरह तत्त्वार्थ भी हैं। प्रथम तो जो आप्तादि हैं वे स्वयं ही तत्त्वार्थ हैं। मूर्तिमान तत्त्वार्थ होनेसे दोनों विषयोंमें भेद नहीं है। अथवा भेददृष्टिसे विचार करनेपर तत्त्वार्थसे प्रयोजन छह द्रव्य सात तत्त्व, नव पदार्थ, पंचास्तिकाय, इन सभी से है। इनके सिवाय सिद्धान्तके पालन–चर्या आम्नाय आदिसे भी है। क्योंकि सम्यग्दर्शनकी वास्तविकता सभी श्रद्धेय विषयोंकी यथार्थता पर अधिक निर्भर है।

कारिका नं० ४ में दियेगये परमार्थ विशेषणसे जिन२ विषयोंका वारण किया गया है उनमें मोहित होनेवाले व्यक्तिका सम्यग्दर्शन समल अपूर्ण अथवा अंगहीन माना जा सकता है। मुमुक्षु सम्यग्दृष्टिको जिनमें मोहित नहीं होना चाहिये वे विषय मुख्यतया दो भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं।—या तो कुपथ—कुमार्ग, और उसके अनुसार चलनेवाला। अथवा कुपथ और उसके आश्रय। अर्थात् मिथ्यात्व अज्ञान और कुचारित्र अथवा कुपथ और उसके धारण करने वाले मिथ्यादृष्टि अज्ञानी और कुगुरु—हिंसामय, दयाशून्य, विवेकरहित व्रत या तप करनेवाले। इस तरह ये छः अनायतन है। अथवा कुदेव—क्षुत्पिपासा आदि अठारह दोषोंसे युक्त मोही रागी द्वेषी एवं संसार प्रपञ्चमें पड़े हुए तीर्थकराभास आदि व्यक्ति विशेष एवं संशय विपर्यय अनध्यवसाय दोषोंसे युक्त युक्तिशून्य पूर्वापर बाधाओंसे पूर्ण असमीचीन द्रव्यादिको विषय करनेवाला मिथ्या-अप्रमाणभूत-ज्ञान, हिंसा अब्रह्म और परिग्रहसे युक्त चेष्टाएं-आचरण; इस तरह तीन और इनके आश्रयभूत तीन अर्थात् कुदेवों की प्रतिमा और मन्दिर तथा असत् तत्त्वका जिनमें निरूपण किया गया है ऐसा मिथ्याशास्त्र एवं असमीचीन धर्म व्रत आचरण तप आदिके धारण करनेवाले और उसका आग्रह रखनेवाले एवं समर्थक प्रचारक आदि।

इस तरहसे भी छह अनायतन है। ये अनायतन ऊपरसे कितने ही सुन्दर मालुम पड़ते हों परन्तु अन्तरंगमें दुरन्त हैं दुःखरूप हैं, दुःखरूप संसारके जनक एवं वर्धक हैं। अतएव सम्यक्–दृष्टि जीवको इनमें मोहित नही होना चाहिये[१]। कदाचित् मोहित करनेवाले प्रसङ्ग आकर

१—अन्तर्दुरन्तसंचारं बहिराकारसुन्दरम्। न श्रद्दध्यात् कुदृष्टीनां मतं किंपाकसन्निभं॥ यशस्तिलक ६-१०-१)

उपस्थित होजांय तो सम्यग्दृष्टि जीवको तत्त्वज्ञान और विवेकसे काम लेना चाहिये और रेवती रानीकी तरह श्रद्धानसे चलायमान न होकर दृढ रहना चाहिये। ऐसा होनेपर ही सम्यग्दर्शन पूर्ण माना जा सकता है यह बताना भी इस कारिका प्रयोजन है।

आचार्योंने सम्यग्दर्शनके पांच अतीचार[1] बताये है।—१ शंका २ कांक्षा ३ विचिकित्सा ४ अन्यदृष्टिप्रशंसा और ५ अन्यदृष्टिसंस्तव[2]। कहीं२ पर अन्यदृष्टिसंस्तवकी जगह अनायतनसेवा नामका अतीचार गिनाया है[3]। पाठक महानुभावोंको बतानेकी आवश्यकता नही है कि सम्यक्-दर्शनके आठ अंगोंमेंसे पहले तीन अंगोंका सम्बन्ध, इन पांच अतीचारोंमेंसे प्रथम तीन अतीचारोंके साथ स्पष्ट हैं—शंका कांक्षा विचिकित्सा इन तीन अतीचारोंके निर्हरणसे ही क्रमसे निःशंकित निःकांक्षित और निर्विचिकित्सा नामके सम्यग्दर्शनके पहले तीन अंग बनते हैं। इसके बाद अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव अथवा अनायतनसेवन नामके अतीचार शेष रह जाते हैं। अतएव इनके निवृत्त होनेपर ही सम्यग्दर्शनकी पूर्णता हो सकती है अन्यथा नहीं विषय अधूरा ही न रह जाय इस दृष्टिसे यह बताना भी अत्यन्त आवश्यक था। फलतः स्पष्ट मालुम होता है कि इन शेष अतीचारोंसे रहित सम्यग्दर्शनके चतुर्थ अंगभूत गुणको बताना भी आवश्यक है इस प्रयोजनको लक्ष्यमें रखकर ही ग्रन्थकर्त्ताने प्रकृत कारिकाका निर्माण किया है।

प्रशंसा और संस्तवमें मन और वचनकी अपेक्षा अंतर है। मिथ्यादृष्टियोंको मनमें अच्छा समझने या माननेको अन्यदृष्टिप्रशंसा और वचनसे उनको अच्छा बताना अन्यदृष्टिसंस्तव कहाजाता है। प्रकृत कारिकामें कापथ और कापथस्थोंकी मनसे प्रशंसा करने वचनसे उत्तमता के प्रतिपादन करने तथा शरीरसे सहयोग देनेका निषेध करके मन वचन काय एवं त्रियोग पूर्वक सम्यग्दर्शनको मोहित न होने देनेका उपदेश दियागया है। अतएव प्रश्न हो सकता है कि जब सूत्रकारने मन और वचनके द्वारा ही प्रशंसा एवं संस्तव किया जानेपर अतीचारका लगना बताया है तब यहांपर शरीरके सम्पर्कसे भी अतीचार अथवा अंगभंगका निरूपण करना क्या अतिव्याप्त कथन नही है?

उत्तर—यह कथन अतिव्याप्त नही है। क्योंकि मन और वचनकी प्रवृत्तिकी अपेक्षा शारीरिक प्रवृत्ति अत्यन्त स्थूल है। जब मन और वचनकी ही अन्यथा प्रवृत्तिका निषेध किया गया है तब शारीरिक विपरीत उक्त प्रवृत्तिका निषेध स्वयं हो जाता है। अथवा सूक्ष्म विपरीत प्रवृत्तिके निषेधमें ही स्थूल मिथ्यप्रवृत्तियोंके निषेधका अन्तर्भाव करलेना चाहिये।

प्रश्न—दूसरे आचार्योंने अनायतनसेवा नामका एक अतीचार स्वतंत्र बताया है जो कि

१—'अतीचारोंशभञ्जनम्,, अथवा "देशस्य भंगो ह्यतिचार उक्तः" अर्थात् सम्यग्दर्शन वा व्रतादिके अंशतः खण्डित होनेको अतीचार कहते है। २—शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः त० सू० ७ २३। ३—सम्मत्तादीचारो संका कंखा तहेव विदिगिच्छा। परदिट्ठीण पसंसा अणायदणसेवणा चेव ॥भ० आराधना। तथा अन० धर्मामृत।

सूत्रकार आदि आचार्योंने नहीं बताया। इसका क्या कारण है? क्या यह पूर्वापरविरुद्ध कथन नहीं है?

उत्तर—यह कथन पूर्वापर विरुद्ध नहीं है। जो कथन सापेक्ष नहीं है, जिसमें अन्य आगम से बाधा आती है, जो युक्तियुक्त नहीं है, ऐसा ही कथन विरुद्ध माना जाता है। जैनागम अनेकान्तरूप तत्त्वका स्याद्वाद पद्धतिसे वर्णन करता है। अत एव जैनाचार्योंके जितने भी वाक्य हैं या जो भी कथन हैं वे सब सापेक्ष हैं और इसीलिये विरुद्ध नहीं है। उनमें पूर्वापर विरोधकी शंका करना ठीक नहीं। मन्दबुद्धि के कारण अथवा आम्नायका ज्ञान न रहनेके कारण दो कथनों में यदि कदाचित् कहीं पर भी किसी भी विषयके प्रतिपादनमें विरोध मालुम पड़ता है तो वह वास्तविक विरोध नहीं है यह मानकर उसको विरोधाभास ही समझना चाहिये। ऐसे अवसरपर दोनों ही कथनोंको प्रमाणही मानना उचित है। और इसीलिये उन दोनोंको ही जिनेन्द्र भगवान्का कहा हुआ मानना और उनका उसीप्रकार श्रद्धान करना उचित है।

प्रकृत दोनों कथन भी सापेक्ष होनेसे विरुद्ध नहीं किन्तु दोनों ही प्रमाण है। क्योंकि यहांपर सामान्य विशेष की अपेक्षासे दोनों ही कथन श्रद्धेय एवं उपादेय है। अनायतन सेवा में शरीर के सम्बन्धकी मुख्यता है। फिर चाहे वह प्रशंसनीय समझ कर हो या न हो। मनसे प्रशंसा और वचन से संस्तव करने में प्रशंसनीय न समझनेका कारण ही नहीं है। शरीर से जहां अनायतनों की सेवामें सम्मिलित हुआ जाता है वहां दोनों ही भाव संभव हो सकते हैं। होसकता है कि उन अनायतनोंको प्रशंसनीय समझ कर-श्रद्धापूर्वक उनमें सम्मिलित हो और यह भी संभव है कि उनको प्रशंसनीय तो न समझे—उनमें श्रद्धा न रखकर भी किसीके अनुरोध आदि से उन में शरीरतः सम्मिलित होना पडे। क्योंकि लोकव्यवहार में देखा जाता है कि व्यापारादि सम्बन्ध के कारण, अथवा सजातीय किन्तु विधर्मियोंसे विवाहादिसम्बन्धोंके कारण, यद्वा विधर्मियों के राज्याश्रय आदिके कारण कापथमें श्रद्धा न रहते हुए भी लोगों को कापथस्थोंके साथ सम्पर्क रखना पडता है और उनका यथायोग्य विनय करना भी उनकेलिये आवश्यक होता है। ऐसी अवस्थामें शारीरिक सम्पर्क उस तरहका दोषाधायक नहीं हो सकता जैसा कि प्रशंसनीय समझकर किया गया सम्पर्क अथवा मानसिक प्रशंसा और वाचनिक संस्तव दोषाधायक होसकते हैं। मालुम होता कि संभवतः इसीलिये ग्रन्थकारने असम्मति और अनुत्कीर्तिके मध्यमें असंपृक्तिका उल्लेख करके यह सूचित किया है कि यदि सम्मति और उत्कीर्तिकी तरह ही सम्पर्क भी श्रद्धापूर्वक है—मोहितबुद्धिके कारण से है तो शारीरिक सहयोगके निमित्तसे भी सम्यग्दर्शन उसी प्रकार मलिन अथवा अंगहीन समझना चाहिये जैसा कि शंका कांक्षा विचिकित्सा यद्वा अन्यदृष्टि प्रशंसा और संस्तवके कारण हुआ करता है।

इस तरह विचार करनेपर सम्यग्दर्शन की निरतिचारता तथा सर्वाङ्ग पूर्णताको स्पष्ट करनेके लिये अमूढदृष्टि अंगके प्रतिपादन करनेवाली इस कारिकाके निर्माण का प्रयोजन अच्छीतरह समझ में आ सकता है।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—

कापथ—युक्तिविरुद्ध खोटे अथवा अहितकर उपायका नाम कापथ है। मार्ग उपाय साधन ये सब शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। जो वस्तु स्वरूप के विरुद्ध हैं वे सब कुमार्ग हैं। उन्हीको कापथ कहते है। अत एव जितने एकान्तवाद जितने विपर्यस्त कथन हैं, संशयात्मक या संशयको उत्पन्न करने वाले निरूपण है वे सब मिथ्या देशनाएं हैं और उनके द्वारा जो कल्याणका मार्ग बताया जाता है वह यथार्थ नहीं है—कापथ है। उससे जीवोंका वास्तविक हित सिद्ध न होकर अहित ही हो सकता है। यही कारण है कि आचार्यने कापथ का विशेषण "दुःखानां पथि" 'दुःखोंके मार्ग' ऐसा दिया है। अत एव यह कहना भी अयुक्त होगा कि जो २ दुःखोंके मार्ग साधन या उपाय है वे सभी कापथ हैं। वस्तुस्वरूप की इन अयुक्त अथवा विरुद्ध मान्यताओं के आचार्यों ने मुख्यतया ३६३ तीन सौ त्रेसठ भेद आगम[1] में बताये हैं।

कापथस्थ—ऊपर बतायेगये कापथपर जो यह विश्वास रखते हैं कि वह यथार्थ है सत्य है और हितकर है वे सभी कापथस्थ हैं। इनके सिवाय जो उसका जानकर या बिना जाने देखादेखी समर्थन करते हैं और उसके अनुसार आचरण करते कराते हैं वे भी कापथस्थ हैं। तथा जिनके निमित्त से उक्त कापथका प्रचार होता है वे भले ही अचेतन क्यों न हों वे भी कापथका आश्रय होनेके कारण कापथ ही हैं और उनके जो माननेवाले है वे भी सब कापथस्थ ही हैं। ऐसा समझना चाहिये।

असम्मति—यद्यपि सम्मति शब्द का अर्थ प्रसिद्ध है कि किसी भी विषयमें समान अभिप्राय प्रकट करना, समान रूपमें उसविषयकी मान्यता रखना या दिखाना। अथवा उसको स्वीकार करना। किन्तु यह शब्द सम् पूर्वक मनु अवबोधने धातुसे क्ति प्रत्यय होकर बनता है। अत एव सम् का अर्थ समान करनेके बदले समीचीन—प्रशस्त अर्थ करके सम्मति का अर्थ सम्यग्ज्ञान किया जाय तो अधिक उचित होगा। सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण माना है। इसलिये असम्मतिका अर्थ प्रमाण न मानना होना चाहिये फलतः कापथों और कापथस्थों को प्रमाण न माननेसे—उनके विविधआकर्षणोंके सम्मुख आनेपर भी उनमें मोहित न होनेसे सम्यग्दर्शन का यह चौथा अंग प्रसिद्ध होता है। प्रमाण मानना न मानना यह मनका विषय है। अत एव इस शब्द से मुख्यतया मन में मोहित न होना अर्थ ही व्यक्त होता है किन्तु मनके अनुसार शरीर और वचन से भी अमूढ भाव दिखाने के लिये असंपृक्ति और अनुत्कीर्ति शब्दका भी प्रयोग किया गया है।

तात्पर्य—यह कि देव शास्त्र गुरु के स्वरूप के सिवाय पदार्थ और आचरणके स्वरूप में भी अनेक प्रकारकी मिथ्या मान्यताएं हैं। सैद्धान्तिक मिथ्यामान्यताएं ३६३ आगममें बताई[2] हैं जो कि भावरूप से अनादि हैं। द्रव्यरूपसे, इनका बाह्य प्रचार हुंडावसर्पिणी कालके निमित्तसे आज

१—असीदि सदं किरियाणं अक्किरियाण च आहुचुलसीदी। सत्तट्ठण्णाणीणं वेणियाणं तु बत्तीसं ॥८७६॥ गो॰क॰ किन्तु इन ३६३ मिथ्यामतो के सिवाय भी दैवैकान्त पौरुषैकान्त आदि अनेक एकान्त रूप मिथ्या मान्यताएं भी प्रचलित हैं। देखो॰ गो॰ क॰ गाथा नं॰ ८९० आदि।

२—जैसा कि इसी कारिकाकी टिप्पणी नं॰ १ में गिनाया है। गोम॰क॰गाथा नं॰ ८७६।

कल इस भरत क्षेत्रमें पाया जाता[1] है। इनमें मोहित न होनेसे सम्यग्दर्शन निरतीचार रहा करता और अमूढदृष्टि अंगसे पूर्ण माना जाता है। अन्यदृष्टि प्रशंसा, अन्यदृष्टि संस्तव, और अनायतनसेवा इन अतीचारोंसे भी बचे रहनेपर ही इस अंगकी पूर्णता संभव है, अन्यथा नहीं।

ध्यान रहे आचार्यने यहां पर कापथ और कापथस्थ दोनोंसे ही मोहित न होनेके लिये उपदेश दिया है। अत एव जिस तरह मिथ्यात्वके सम्पूर्ण भेदोंसे और मिथ्या सिद्धान्तों—मतोंके भेदोंसे बचे रहने की आवश्यकता है उसी तरह मिथ्याचरणों में भी मोहित न होनेकी आवश्यकता है। साथही मिथ्यादृष्टियों मिथ्याज्ञानियों और मिथ्या चरणवान्—पाखण्डी तपस्वियोंसे भी सावधान रहने की आवश्यकता[2] है

ध्यान रहे महापण्डित आशाधरजीने मिथ्यादृष्टि अनायतन की संगतिका निषेध करते हुए त्रिलोक पूज्य जिनमुद्रा को छोडकर मिथ्यावेश धारण करनेवाले की तरह उन आर्हती मुद्राधारण करके विचरण करनेवालों की भी संगति का मन वचन कायसे त्याग करने का उपदेश दिया है जो कि अजितेन्द्रिय हैं, केवल शरीर मात्रसे जिनमुद्राके धारक हैं, परन्तु भूतकी तरह धर्मकाम लोगों में प्रवेशकर यद्वा तद्वा चेष्टा करते या कराया करते हैं। अथवा म्लेच्छों की तरह लोक शास्त्र विरुद्ध आचरण किया करते हैं[3]। पाखण्डियोंका सम्बन्ध न रखनेका उपदेश लोक[4] में भी पाया जाता है।

मान्यताओंके भेदसे मिथ्यादृष्टि सात प्रकारके हो सकते हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है। यह एक मान्यता सत्य और समीचीन है। किंतु इसके विरुद्ध इनमेंसे एक एक को न मानना—सम्यग्दर्शनकी मोक्षके लिए आवश्यक्ता है, यह बात न मानना, इसी तरह सम्यग्ज्ञान को अनावश्यक अथवा चारित्र को कारण न मानने से तीन मिथ्या मान्यताए होतीं हैं। इसी तरह दो दो के न माननेसे तीन और तीनों ही के न माननेसे एक, कुल मिलाकर सात मिथ्या मान्यताएं हो सकती हैं। अथवा तीनोंमेंसे एक एककोही कारण माननेसे तीन, दो दो को ही माननेसे तीन, एवं तीनोंकोही पृथक पृथक कारण माननेसे एक, इस तरह से भी मिथ्या मान्यताएं सात प्रकारकी हो सकतीं हैं।

इन मिथ्या मान्यताओंको रखनेवाले जीव सात प्रकारके मिथ्यादृष्टि है। अतएव उन सातों ही प्रकारके मिथ्यादृष्टि जीवों के वचन, व्यवहार वैभव आदिसे अपनी बुद्धि मन या विचारों को मोहित अथवा मलिन नहीं होने देना चाहिये, न वचन द्वारा उनकी प्रशंसा करनी चाहिये और

१—विदेहादिक क्षेत्रोंमे सदा द्रव्यरूपसे दिगम्बर जैन धर्म ही प्रवर्त्तमान रहता है।

२—क्योंकि कोई भी समीचीन या मिथ्या त्रिक (दर्शन ज्ञान आचरण) अथवा कोई भी धर्म व्यक्तिसे भिन्न अपना अस्तित्व नहीं रखता।

३—मुद्रां सांव्यवहारिकीं त्रिजगतीवन्द्यामपोह्यार्हतीं, वामां केचिदहंयवो व्यवहरन्त्यन्ये बहिस्तां श्रिताः। लोकं भूतवदाविशन्त्यवशिनस्तच्छायया चापरे, म्लेच्छन्तीह तकैस्त्रिधा परिचयं पुंदेहमोहैस्त्यज॥ अन० २-९६

४—पाखण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान्। हेतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत मनु० उद्धृत।

न शरीर से उनका सम्पर्क ही करना चाहिये। मिथ्यात्व और मिथ्यादृष्टियोंकी तरहसेही मिथ्या ज्ञान और मिथ्या ज्ञानियोंके विषयमें एवं मिथ्या चारित्र और उसका पालन करनेवालोंके विषय में समझना चाहिये।

हेत्वाभासों; अयुक्त अपेक्षाओं, और प्रकृत विरुद्ध उदाहरणों से प्रायः जगत मोहित हुआ करता है। संप्रति कलिकाल है। और लोग स्वभावसेही सकषाय हैं फिर यदि अयुक्त हेतु दृष्टांत आदिके द्वारा रोचक पद्धति से वर्णन करनेवालों का समागम हो जाय तो साधारण मनुष्यों का मन मूर्छित एवं विपाक्त क्यो नहीं हो सकता? अवश्यही हो जा सकता है। अतएव मिथ्याज्ञानियों की संगतिसे अपनी श्रद्धा बुद्धि को बचाकर रखनाही उचित एवं श्रेयस्कर है[1]।

इसी प्रकार जहांपर वास्तवमें हिंसा अहिंसा का और उसके फलस्वरूप दुख सुख के स्वरूप का, यद्वा मूल तत्त्व जीव अजीव आश्रव बन्ध संवर निर्जरा मोक्षका ही परिज्ञान श्रद्धान नहीं जो कि विवेक से भी सर्वथा परे हैं ऐसे सभी मिथ्या तप व्रत आचरणों और उसके प्रवर्तक मिथ्याचार्योंसे विवेकी सम्यग्दृष्टि को अवश्यहीं बचकर रहना चाहिये। ऐसा रहनेपर ही उसका सम्यक्त्व अमूढ़ माना जा सकता है और रह सकता है।

इस तरह इन चार कारिकाओंके द्वारा निवृत्ति रूपमें बताये गये सम्यग्दर्शनके चार अंगोंका वर्णन समाप्त होता है। क्योंकि शंका कांक्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशंसा अन्यदृष्टिसंस्तव अनायतनसेवा नामसे आगम मे कहे गये सम्यग्दर्शन के अतीचार रूप दोषोंका और उनके निमित्तसे होनेवाले मलिनता एवं अंग भंगोंका परिहार किया गया है। इनको गुण शब्दसे इसीलिये कहा जाता है कि ये दोषोंके अभावरूप है। जिसतरह उष्णताके अभावको शीत और अन्धकार के अभाव को प्रकाश कहा जा सकता है उसीतरह अंशतः भंगरूप अतीचारों या दोषों के अभाव को गुण कहा जा सकता है। सम्यग्दर्शनके २५ मलदोषोंमें इनके अभाव को अर्थात् शंका कांक्षा आदिको दोष गिनाया है। फलतः इन दोषों की निवृत्ति सम्यग्दर्शन के गुण हैं।

इसके सिवाय एक बात और है; वह यह कि—

आगम में सम्यग्दर्शन के चिन्हरूप प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इसतरह चार गुण बताये हैं। जिनको कि देखकर सम्यग्दर्शन का अनुमान किया जा सकता[2] है।

क्योंकि सम्यग्दर्शनके होनेपर ये गुण अवश्य होते हैं। निःशंकितादिक के साथ इनका संबंध

१—इस विषयमे निम्नलिखित पद्योंको उक्तियां ध्यानमें देने योग्य है।

कुहेतुनयदृष्टांतगरलोद्‌गारदारुणैः। आचार्यव्यञ्जनैः संगं भुजगैर्जातु न व्रजेत् (अन० २-६८)

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा। श्रोतुःप्रवक्तुर्वचनानयो वा। त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मीप्रभुत्वशक्तेर-पवादहेतुः॥ (युक्त्यनुशासन) दृष्टान्ताः सन्त्यसंख्येयाः मतिस्तद्वशवर्तिनी। किं न कुर्युर्महीं धूर्ताः विवेकरहिता-मिमाम्॥ यशस्तिलक। अथवा—राग उदै जग अन्ध भयो सहजे सब लोगन लाज गमाई। सीख बिना सब सीखत हैं विषयनिके सेवन की चतुराई। तापर और रचे रसकाव्य कहा कहिये तिनकी निठुराई। अन्ध असूझ-नको अंखियानमें झोंकत है रज रामदुहाई॥ जैनशतक .... पं० भूधरदासजी

२—इसके लिए देखो अनगार धर्मामृत अ० २ श्लोक ५२—५३।

विद्वान लोग भलेप्रकार समझ सकते हैं। विचार करनेपर मालुम हो सकता है कि आस्तिक्य का संबन्ध निःशंकित अंगसे है। निःशंकित अंग के समान ही आस्तिक्य से भी देवादि अथवा हेयोपदेय रूप स्वपर तत्त्व के सम्बन्ध में दृढताही अपेक्षित[1] हैं। वह देवके स्वरूप की तरह उनके वचन में भी शंकित–चलितप्रतीति नहीं हुआ करता। इसीतरह संवेग गुणके विषयमें समझना चाहिये। सम्यग्दृष्टि कर्म और कर्मफलको नही चाहता। संसार और उसके कारणोंसे भयभीत रहने को ही संवेग[2] कहते हैं। संसार और उसके कारण कमफल और कर्मसे भिन्न नही है फलतः निःकांक्षित अंगके साथ संवेग गुणका सम्बन्ध स्पष्ट है। परानुग्रह बुद्धिको अनुकम्पा या दया कहते है। सम्यग्दृष्टि जीव नियमसे अनुकम्पावान हुआ करते हैं। प्रत्युत दूसरे जीवोंकी अपेक्षा उनकी अनुकम्पा विशिष्ट होनेके सिवाय विवेकपूर्ण भी हुआ करती है। सम्यग्दृष्टि जीव निर्विचिकित्सित अंगसे युक्त होनेके कारण रत्नत्रय मूर्ति साधुओंपर बाह्य शरीरादिकी मलिनता आदिके कारण जुगुप्सा नहीं किया करता। ग्लानि, जुगुप्सा विचिकित्सा आदि भाव, द्वेष असूया या उपेक्षाके ही प्रकार हैं। और जब कि मोक्षमार्गके पथिक रत्नत्रयमूर्ति साधक औरों की अपेक्षा विशेषतः अनुकम्प्य है तब स्पष्ट है कि जो निर्विचिकित्सा अंगसे युक्त है, वह अनुकम्पावान भी अवश्य है। अतएव निर्विचिकित्सा और अनुकम्पा दोनों ही गुण परस्पर सम्बद्ध हैं यह स्पष्ट हो जाता है। कापथ और कापथस्थों में मोहित न होना एवं उनमे राग न करना ही अमूढ दृष्टि अंग है। प्रशमगुण भी रागादिके उद्रिक्त न होनेसे माना[3] है। अतएव सिद्ध है कि जो अमूढ़ दृष्टि है वह प्रशमगुणसे भी युक्त अवश्य है।

इस कथनसे निशंकितादि गुणोंका आस्तिक्यादि से जो अविनाभाव संबन्ध है उससे उनका जो गुणपना है वह ध्यान में आसकता है। फिर भी यह बात लक्ष्यमें रहनी चाहिये कि प्रशम संवेग अनुकम्पा में जो कषाय का अभाव दिखाई पडता या रहा करता या पाया जाता है वह स्थान के अनुसार ही संभव है। चतुर्थगुणस्थानवर्ती के अनन्तानुबन्धी कषायका ही अनुद्रेक हो सकता है। पांचवे गुणस्थान वाले के अप्रत्याख्यानावरण का, छठे सातवे आदिमे प्रत्याख्यानावरण का तथा आगे यथायोग्य संज्वलन का अनुद्रेक पाया जा सकता है। अतएव उसको आगमके अनुसार यथायोग्य घटित कर लेना चाहिये।

इस प्रकार दोषों या अतिचारोंके निर्हरण की अपेक्षा चार तरह से तथा चार विषयोंमें प्रवृत्ति होने के कारण उत्पन्न हो सकने वाली चार प्रकार के मलिनताओं के अभावके निमित्तसे सम्यक् दर्शन के जो चार अंग होते हैं उनका स्वरूप बताकर अब गुणवृद्धि अपेक्षा विधिरूपसे कहेजाने वाले चार अंगोंका स्वरूप आचार्य क्रमसे बताने का प्रारम्भ करते हुए सबसे पहले उपगूहनका स्वरूप बताते हैं।—

१—यथा "इदमेवेदृशमेव" इत्यादि। इससे आस्तिक्यगुण प्रकट होता है। क्योंकि 'जीवादयोऽर्था यथास्वं सँतीति मतिरास्तिक्यम्।॥ २—संसाराद् भीरुता संवेगः॥ ३—रागादीनामनुद्रेकः प्रशमः। स० सि०

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम् ।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥१५॥

अर्थ—रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग स्वभाव से ही शुद्ध है । यदि अज्ञानी अथवा असमर्थ लोगों के निमित्तसे उसकी वाच्यता–निंदा हो या संभव हो तो उसका जो प्रमार्जन–निराकरण अथवा आच्छादन करनेवाले है उनके उस गुणको आचार्य उपगूहन कहते हैं ।

प्रयोजन—ऊपर इस कारिका के प्रारम्भ में जो उत्थानिका दी गई है उससे इस कारिका का प्रयोजन ज्ञात हो जाता है । इसके सिवाय अनादि मिथ्यादृष्टि सादि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि इन सबकी प्रवृत्ति एक सरीखी नहीं हो सकती । उनकी बाह्य प्रवृत्तिके अंतरंग कारण भूत परिणामोंमें बलवत्तर स्वाभाविक और महान अन्तर अवश्य रहता है । यह बात युक्ति अनुभव और आगम से सिद्ध है जहां कार्य भेद है वहां कारण भेद भी अवश्य है यह कथन युक्तिसंगत है । एक व्यक्ति तो आनुवंशिक रोगके कारण प्रारम्भ से–जन्मसे ही पीडित है दूसरा स्वस्थ था, परन्तु मिथ्या आहार विहार के कारण रोगी होगया है । तीसरा वह है जो रोग से मुक्त होकर पुनः रोगग्रस्त हो गया है । इन तीनोंकी अंतरंग वहिरंग प्रवृत्ति एक सरीखी नही होसकती क्यों कि निदान भेदके अनुसार चिकित्सा और उसके फलमें अन्तर देखा जाता है । इसीतरह प्रकृतमें भी समझना चाहिये । निदान परीक्षामें प्रवृत्त वैद्य रोगीकी बाह्य प्रवृत्तियोंको देखता है कि इसकी किस विषय में रुचि है इसको किस तरह का चलना फिरना शयन स्नान आदि विहार पसंद है और वह अनुकूल है-अथवा प्रतिकूल । इस सब बातको समझ लेनेके बाद जो चिकित्सा की जाती है वही वास्तविक सफलता दे सकती हैं अन्यथा नहीं । इसी प्रकार किस तरहका सम्यग्दर्शन वास्तविक मोक्षरूप फलको उत्पन्न करने में समर्थ और सफल हो सकता है । इस विषयके विशेषज्ञ एवं संसाररोगके असामान्य चिकित्सक आचार्यने रत्नत्रयरूप औषधका यथाविधि–काल और क्रमके अनुसार सेवन करना आवश्यक बताया है । उसमें सम्यग्दर्शनरूप औषध २५ मलदोष रहित होनी चाहिये यह कहागया है । इस सम्बन्धमें जिन अतीचाररूप दोषोंसे उसे रहित होना चाहिये यह बात तो ऊपर चार कारिकाओंके द्वारा बता दी गई है । अब यह बताना भी जरूरी है कि उसमें किन२ गुणोंका पाया जाना उचित और आवश्यक है क्योंकि दोषोंका अभाव और गुणोंका सद्भाव सर्वथा एक चीज ही नहीं है, दोनोंका ही विषय भिन्न है । सम्यक्त्व सहित जीव विवक्षित गुणोंसे युक्त है या नहीं यह बात उसकी असाधारण प्रवृत्तियोंसे ही जानी जा सकती है यद्यपि प्रशमादि ४ भाव भी सम्यक्त्वके चिन्हरूपमें बताएगये हैं । किंतु वे सभी अन्तरङ्ग हैं ।

बाह्य क्रियाके साथ उनके अविनाभावको समझना सामान्य बात नहीं है । स्वयं अनुभव रखनेवाला ही सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके प्रशमादिके अन्तरको समझ सकता है । ये सम्यग्दृष्टिके वास्तविक प्रशमादि हैं और ये मिथ्यादृष्टिके आभासरूप प्रशमादि हैं यह बात अनुभव

रखनेवाले तज्ज्ञ व्यक्ति ही समझ सकते हैं। किंतु यहांपर जिन गुणोंको आचार्य बताना चाहते है उनका सम्बन्ध मुख्यतया बाह्य प्रवृत्तियोंसे है। जिनको कि देखकर सर्वसाधारण व्यवहारी जीव भी उस प्रवृत्तिके करनेवालेके सम्यग्दर्शनको जान सकें—समझ सकें और मान सकें। तथा वैसा मानकर उसके साथ सम्यग्दृष्टि जैसा व्यवहार कर सकें। ये बाह्य प्रवृत्तियां चार तरहसे संभव हैं जिनको कि यहां और अन्यत्र भी सर्वत्र आगममें उपगूहन अथवा उपबृंहण और स्थितीकरण वात्सल्य तथा प्रभावनाके नामसे बताया गया है। यद्यपि उपगूहनादिको स्वयं अपनेमें भी धारण करनेके लिये कहागया है और वह ठीक भी है। किंतु प्रशमादिकी तरह उपगूहनादिका विषय स्व ही न होकर स्व और पर दोनों ही है। तथा पर विषय प्रधान है। उसके द्वारा स्व तो स्वयं ही समझमें आ जा सकता है। क्योंकि जो परके उपगूहनादिमें प्रवृत्त होगा वह अपना उपगूहनादि क्यों न करेगा, अवश्य करेगा। अतएव यहां परके उपगूहनादिमें सम्यग्दृष्टि जीव अवश्य ही प्रवृत्ति करता है यह बताना अभीष्ट है। इसलिये इस कारिकाका निर्माण हुआ है जिससे सम्य-क्त्वका अविनाभावी कार्य एवं सम्यग्दृष्टियोंका आवश्यक कर्तव्य क्या है यह स्पष्टरूपसे समझमें आ सके यही इसका प्रयोजन है।

इसके सिवाय वस्तुके सामान्य विशेषात्मक स्वभावको ठीक२ न समझकर अथवा न माननेके कारण जो इस विषयमें एक प्रकारकी लोगोंमें भ्रान्त धारणा पाई जाती है उसका परिहारकर वास्त-विकताका निदर्शन करना भी इस कारिकाका प्रयोजन है। क्योंकि वस्तुमात्र जिस तरह सामान्य-विशेषात्मक है उसी तरह धर्मके भी सामान्य और विशेष दो प्रकार हैं। सामान्यके अभावमें उसके किसी भी विवक्षित विशेषका अभाव कहा जा सकता है। परन्तु इसके विपरीत किसी भी विवक्षित विशेषके अभाव या विकार अथवा न्यूनाधिकताको देखकर सामान्यमें भी वही दोष बताना या मानना युक्तिसंगत और उचित नहीं है।

धर्मका जो सामान्य स्वरूप है वह सिद्धान्ततः युक्त है, निर्बाध है, और यथाविधि पालन करनेपर अपने वास्तविक फलका जनक भी है। किंतु उसका पालन करनेवाले व्यक्ति हुआ करते हैं। और वे व्यक्ति सभी एक सरीखे नही हुआ करते। उनमे अन्तरङ्ग योग्यता या अयोग्यताके न्यूनाधिक रहनेसे अनेकों ही प्रकार हैं। और द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप बाह्य परिस्थि-ति अथवा निमित्त भी सबके समान नहीं हुआ करते। अतएव अन्तरंग और बहिरंग सभी परिपूर्ण कारण कलापसे युक्त व्यक्ति जिस तरह धर्मका यथावत् पालन कर सकता है वैसा अन्य नहीं। फलतः यदि कोई व्यक्ति धर्मका जैसा चाहिये वैसा पालन नहीं कर रहा है तो बुद्धिमान व्यक्तिको उचित है कि वह उस व्यक्तिकी वैयक्तिक त्रुटियों या कमजोरियों पर भी दृष्टि दे। परन्तु ऐसा न करके यदि वह उन वैयक्तिक दोषों या अपराधोंको सामान्य धर्मके मत्थे मढनेका प्रयत्न करता है तो वह कार्य न केवल अज्ञानमूलक ही है किंतु निन्दा और

अवर्ण वादके नामसे भी कहा जा सकता है। जो कि मिथ्यात्वका ही कार्य और कारण है[१]। तथा सबसे बडा भयंकर पाप[२] है। सम्यग्दृष्टि जीव इस तरहके कार्यको पसंद तो नही ही करता सहन भी नहीं कर सकता। वह शक्तिभर उसको दूर करनेका ही प्रयत्न करना अपना कर्तव्य समझता है। और वैसा ही करता भी है। अतएव वैयक्तिक दोषोंके बदले शुद्ध—निर्दोष एवं जगत्के परम हित रूप मार्गकी निन्दा छिपाना, दबाना निराकरण करना आदि अपना आवश्यक एवं पवित्र कर्तव्य समझकर यदि सम्यग्दृष्टि वैसा करता है तो वह अपने सम्यग्दर्शनकी स्थिति या विशुद्धिको ही प्रकट करता है। क्योंकि वैसा करनेसे कमसे कम इतना तो अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है कि इसका सम्यग्दर्शन इस विषयमें अंगहीन नहीं है अथवा गुणसहित है और अवश्य ही अपने वास्तविक फलको उत्पन्न करनेमें समर्थ है। इस तरह शुद्धमार्गके विरुद्ध फैलते हुए अवर्णवाद और उसकी निन्दाको दूर करनेके लिये अन्तरंगमें उस जीवको प्रोत्साहित करना सम्यक्दर्शनके जिस गुणका काम है उसीको उपगूहनअंग कहते हैं। यह स्पष्ट करना ही इस कारिकाके निर्माणका प्रयोजन है।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—

स्वयं—विना किसी पर सम्बन्ध के स्वभावसे अथवा स्वरूप से। शुद्ध—निर्मल, पवित्र या स्वच्छ। मार्ग—एक स्थानसे दूसरे स्थान तक पहुंचने का, एक अवस्थासे दूसरी अवस्था में परिणत होने का, अथवा किसी अन्य विवक्षित वस्तु को प्राप्त करनेका जो क्रम और कारण अथवा उपाय है उसको कहते हैं मार्ग। बाल शब्द का अर्थ है अज्ञ। जो जिस विषयमें नहीं समझता वह उस विषय में बाल कहा जाता[३] है। न्याय व्याकरण साहित्य छन्द शास्त्र आदि का जानकार भी हो यदि सिद्धान्त, दर्शन, धर्म का जानकार नहीं है तो वह उस विषयमें बाल है। फलतः बालका अर्थ थोडी या छोटी उम्रका नहीं करना चाहिये। जिस तरह वृद्धों की संगति करनेके

१—असद्भूत अर्थके प्रतिपादनको अवर्णवाद कहते है। यह अवर्णवाद यदि सम्यग्दर्शनके विषयभूत आप्त देव (केवली) आगम (श्रुत) तपोभृत् (संघ) और स्वयं मोक्षमार्ग—रत्नत्रय तथा उसके अविरुद्ध एवं साधनरूप प्रवृत्तियो (धर्म) अथवा उन प्रवृत्तियोंके फल (देवगति आदि) के वास्तविक स्वरूपके विरुद्ध असद्भूत दोषोके प्रख्यापनरूपमे होता है तो अवश्य ही उससे दर्शन मोह (मिथ्यात्व) का बन्ध होता है। अतएव अवर्णवाद मिथ्यात्वका असाधारण कारण है। यथा—
केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य। त०सू० ६-१३। अवर्णवाद जिस तरह मिथ्यात्वका कारण है, उसीतरह मिथ्यात्वका कार्य भी है। क्योकि कारणके विना कार्य नहीं होता। मिथ्यात्वका कारण अवर्णवाद है। और मिथ्यात्वका बन्ध प्रथम गुणस्थानमे ही सम्भव है। ऊपर उसकी बन्ध व्युच्छित्ति है फलतः जहांतक मिथ्यात्वका उदय है वहांतक अवर्णवाद भी हो सकता है। यह स्पष्ट होजाता है। इसीप्रकार निन्दा के विषयमे समझना चाहिये। सद्भूत दोषोंका परोक्ष कथन निन्दा है। उसका फल नीचगोत्र का बन्ध है जो कि दूसरे गुणस्थानतक ही सभव है। क्योंकि आगे उसकी व्युच्छित्ति है। सासादन भी मिथ्यात्वका ही प्रकार है। सारांश यह है कि ये दोनों—अवर्णवाद और निन्दा सम्यग्दृष्टिके नहीं पाये जा सकते। २—संसारका सबसे बडा कारणरूप पाप सब पापोंका बाप मिथ्यात्व है।
३—यो यत्रानभिज्ञः स तत्र बालः। यथा-अधीतव्याकरण साहित्य सिद्धान्तोऽप्यनधीत न्यायशास्त्रो न्याये बालः

उपदेशके प्रसङ्ग में वृद्ध शब्दका अर्थ वयोवृद्ध करने की अपेक्षा गुणवृद्ध करना उचित सुन्दर संगत और अभीष्ट है उसी प्रकार बालके अर्थ में भी समझना चाहिये। नव दीक्षित मुनि वयोवृद्ध होनेपर भी अपनी चर्या आदि के विषय में निष्णात अभ्यस्त दृढ निष्ठित जबतक नहीं हुआ है तब तक जिसतरह वह बाल मुनि कहा जा सकता है इसीप्रकार इसके विरुद्ध कुमार अवस्था अथवा अल्प अवस्था में जो दीक्षित है यदि वह अपने योग्य सभी विषयों में कुशल, पूर्ण, दृढ, अभ्यस्त तथा ज्ञान विज्ञान से युक्त, और आगम आम्नाय का जानकार है तो वृद्ध ही है। वह मुनिसंघका शासन भी करने योग्य माना जा सकता है। जरद कुमार अथवा वर्तमान २४ तीर्थंकरों में पांच तीर्थंकर[1] कुमार अवस्थामें दीक्षित हुए इसलिये उनको बाल शब्द से नहीं कहा जा सकता। वे तो दीक्षा अनन्तर ही जिनलिङ्गी हुए हैं और मानेगये हैं। अत एव बालका अर्थ गुणों की अल्पता करना ही उचित है। यदि कभी कहीं मिथ्यादृष्टि अज्ञानी के लिये बाल शब्दका प्रयोग किया जाता है तो वहां पर भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान की कमी ऐसा अर्थ समझना चाहिये। और कोई वयोवृद्ध अज्ञानी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान गुणकी कमीके कारण बाल न कहा जाय, यह बात नहीं है।

अशक्त—शब्दका अर्थ असमर्थ है। यह असमर्थता अनेक कारणोंसे और अनेक प्रकारकी हुआ करती है। अन्तरङ्ग में मोह कषाय अनुत्साह आदि मुख्य कारण हैं। और बाह्य मे शरीर की विकलता–अपूर्णता दुर्बलता, अयोग्यसंगति आदि परिस्थिति कारण हुआ करती हैं। कभी कहीं अन्तरङ्ग बहिरंग दोनों कारण रहा करते है और कहीं एक ही कारण रहाकरता है। तीव्र मोही अथवा तीव्र कषायाविष्ट प्राणी अपनी या अन्यकी वैयक्तिक कमजोरी, कायरता, मानसिक या शारीरिक दुर्बलता आदि को दृष्टि में न लेकर अथवा स्वीकार न करके सामान्यतया उस मार्ग को ही दूषित–अयोग्य सदोष, निरर्थक अथवा हानिकर बताने की चेष्टा किया करता है। लोगोंकी विभिन्न प्रकारकी चेष्टाओं के कारण जो अवर्णवाद एवं निन्दा लोगोंमें कुख्याति फैलती है उसी को कहते हैं "बालाशक्तजनाश्रया वाच्यता।" यों तो वाच्यताका अर्थ वर्णनीयता होता है परन्तु खासकर यह शब्द निन्दा अपकीर्ति अर्थ में रूढ अथवा प्रसिद्ध है। आश्रय शब्दका आशय कारण, निमित्त, आधार समझना चाहिये। बाल एवं अशक्त पुरुष हैं कारण, निमित्त, अथवा आधार जिसके ऐसी वाच्यताका यदि सम्यग्दृष्टि निराकरण करता है तो उसके सम्यग्दर्शन को उपगूहन गुणसे युक्त समझना चाहिये।

प्रमार्जन्ति–मृज धातुका पाठ अदादि और चुरादि दोनों ही गणोंमें पाया जाता है, प्र उपसर्ग के साथ दोनों हीका वर्तमान अन्यपुरुष बहुवचन में यह प्रयोग बनता है अदादिगणमें धातुका अर्थ शुद्धि और चुरादिगणमें शौच तथा अलंकार अर्थ बताया है। यहां पर प्रसङ्गानुसार अदादिगणकी शुद्ध्यर्थक धातुका प्रयोग मालुम होता है। जिसका आशय अच्छीतरह शुद्धीकरणसे है। मतलब यह कि अज्ञान अथवा असमर्थताके कारण किसी व्यक्ति में यदि कोई दोष दिखाई दे तो उसके

१–श्रीवासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर।

प्रकट करने से उस व्यक्ति के सुधारकी अपेक्षा बिगड़ने की कहीं अधिक संभावना रहा करती है। अत एव उसके दोषोंको प्रकट नहीं करना चाहिये। इसके सिवाय अनेक अज्ञानी लोग उस व्यक्ति के दोषको निदर्शन बनाकर मार्ग को ही सदोष बताने की चेष्टा किया करते हैं। इसलिये वैयक्तिक दोषके कारण मार्ग की वाच्यता न हो इस हेतुसे भी उस व्यक्ति के दोषको प्रकट न करना ही श्रेयस्कर है। अथवा वैयक्तिक त्रुटियोंको आधार बनाकर जो मिथ्यादृष्टि एवं स्वयं असमर्थोंके द्वारा सामान्यतया स्वतः शुद्ध रत्नत्रयधर्म की निन्दा होती हो तो उसका संशोधन करना भी उपगूहन अंग है।

उपगूहन[1]—गुह् धातु संवरणार्थक है। इसका भी आशय संवरण, प्रमार्जन, आच्छादन है।

तात्पर्य—सम्यग्दर्शन के इस पांचवे अंगका नाम उपगूहन है जिसका कि आशय आत्म-कल्याणकारी धर्म के विषय में किसी प्रकारकी निन्दा प्रवृत्त न होजाय इस सद् भावनासे उन दोषोंको छिपाना अथवा उनका परिहार आदि करना है जिससे कि विवक्षित वैयक्तिक दोषोंको देखकर अल्पज्ञानी उस मार्ग से ही पराङ्मुख होकर परमोत्तम कल्याण से ही वञ्चित न होजांय। अथवा दूषितहृदय मिथ्याज्ञानियों द्वारा स्वभावतः पवित्र एवं शुद्ध मार्ग का अवर्णवाद यद्वा निन्दा हो। कदाचित् कहीं वैसा होता हो तो उसका उचित परिहार कर सन्मार्गके विषयमें ग्लानि न होने देना सम्यक्त्वका प्रथम कार्य है।

आगममें उपगूहन की जगह उपबृंहण नामसे भी इस अंगको बताया[2] है। उपबृंहण का अर्थ बढाना है। अर्थात् रत्नत्रयात्मक अथवा उत्तम क्षमादि दशविध धर्म को बढानेका प्रयत्न करना उपबृंहण अंग है। और इसके विरुद्ध–प्रवृत्ति न बढाना सम्यग्दर्शन का दोष है।

उपगूहन और उपबृंहण भिन्न२ विषय तथा दिशा में प्रवृत्त होते हैं फिर भी वे सम्यग्दर्शनके ही गुण हैं। और एक ही गुण के दो प्रकार है। मतलब यह कि सम्यग्दृष्टि जीव सधर्माओं के अज्ञान अथवा असमर्थताके कारण उत्पन्न हुए दोषोंका तो आच्छादन करता है और उनके तथा अपने गुणोंको बढाने का प्रयत्न करता है। यदि इस तरहकी प्रवृत्ति उसकी नहीं होती सधर्माओंके दोषों का आच्छादन तथा अपने एवं अन्य सधर्माओंमें गुणों को बढानेका प्रयत्न यदि वह नहीं करता तो कहा जा सकता है कि अभी उसका सम्यग्दर्शन निष्फल है अथवा निर्गुण है। और यही बात उसकी अंगहीनता को स्पष्ट करदेती[3] है।

किसी के दोषोंका निर्हरण यदि वह अन्य व्यक्तियों के हितकी दृष्टिसे किया जाता है तो वैसा करनेवाला वैयक्तिक पक्षपात के दोषका भागी नहीं माना जा सकता। और यदि उस व्यक्तिके सुधारका हेतु है तो भी उसका कार्य अनुचित नहीं कहा जा सकता।

१—गुह् धातु से करण या अधिकरण अर्थ मे अनट प्रत्यय होकर और नियमानुसार ह्रस्व उकारको दीर्घ होकर यह शब्द बनता है। उपेत्य गुह्यते अनेन अस्मिन् वा उपगूहनम्॥

१—यथा—धर्मं स्वबन्धुमभिभूष्णु कषायरक्षः, क्षेप्तुं क्षमादिपरमास्त्रपरः सदा स्यात्। धर्मोपबृंहणधियाऽबलबालिशात्मयूथ्यात्ययं स्थगयितुं च जिनेन्द्रभक्तः॥ अन० ध० २—१०५॥ २—दोषं गूहति नो जातं यस्तु धर्मं न बृंहयेत्। दुष्करं तत्र सम्यक्त्वं जिनागमबहिःस्थिते॥ यश० ६—१७॥

मतलब यह कि चाहें तो उपगूहन नामसे इस अंगको कहा जाय चाहें उपबृंहण नाम से दोनोंमें विरोध नहीं है। एक जगह दोष निर्हरणकी अपेक्षा है, दूसरे में गुणों के बढानेकी। दोनों विषय तथा क्षेत्र भिन्न हैं। अत एव जहां सधर्मा के दोष दिखाई दें और उनका निर्हरण किया जाय तो वहां उपगूहन की प्रधानता होगी और जहां अपने अथवा अन्य सधर्मा के गुणों को बढाने मात्र की अपेक्षा है वहां सम्यग्दृष्टि की उस प्रवृत्तिको उपबृंहण नामसे कहा जायगा। जहां सम्यग्दर्शन साङ्गोपाङ्ग है वहां दोनों ही गुण पाये जांयगे। यही कारण है कि सोमदेव आचार्य इस अंगका व्याख्यान करते हुए न केवल दोनों शब्दोंका ही प्रयोग करते हैं किन्तु दोनों शब्दों के अनुसार दो तरहके कार्यों अथवा कर्तव्योंका भी उपदेश[१] देते हैं। और वैसा न करनेपर सम्यक्त्वकी हानिका भी ख्यापन करते हैं।

इसके सिवाय उपगूहन शब्द का अर्थ आलिंगन भी पाया जाता[२] है। तदनुसार तात्पर्य यह होगा कि जिसतरह माता अपने पुत्र पुत्री के दोषों को क्षमा करती है उनके दोषोंको प्रेमपूर्वक निकालने—दूर करने का प्रयत्न करती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की भी चाहिये—उसका भी कर्तव्य है कि सधर्माओंके दोषों को देखकर वह उनकी निन्दा—भर्त्सना आदि में प्रवृत्त न होकर उनका आलिंगन करे—गले लगाकर—प्रेमपूर्वक उनको निर्दोष बनाने की चेष्टा करे। और साथ ही उनके गुणोंको बढाने का भी प्रयत्न करे।

यथायोग्य प्रसंग पाकर वैसा करना सम्यग्दृष्टि को उचित है। जहां दोष दिखाई दें वहां उन के निकालने का यत्न करे और जहां गुणों को बढाने की आवश्यकता मालुम हो वहां गुणोंको बढाने का प्रयत्न करे। क्योंकि दोष और गुण परस्पर विरोधी हैं। दोनों बातें एक साथ नहीं रह सकतीं दोष दूर होनेपर गुण बढेंगे अथवा गुण बढेंगे तो दोष भी दूर होंगे। अथवा किसी व्यक्तिमें अनेक गुण हैं परन्तु एक साधारण अथवा असाधारण दोष है तो सबसे प्रथम उस दोष को निकालने का प्रयत्न होना चाहिये। कोई व्यक्ति अनेक दोषों से पूर्ण है परन्तु एक महान् उपयोगी गुण से युक्त है तो उसके उस गुणका आदर कर उन दोषों से भी वह सर्वथा रहित बन जाय ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। कदाचित् उस व्यक्तिका सुधार सभव न हो तो उस व्यक्ति की तरफ इस तरहसे उपेक्षा करनी चाहिये जिससे कि धर्म की वाच्यता—निंदा न हो। जैसाकि जिनेंद्रभक्त सेठने किया।

इन गुणोंके सम्बन्धमें विचार करनेपर मालुम होता है कि पूर्व कथित निरतीचारतारूप चार गुणोंके साथ इन विधि या कृतिरूप चार गुणोंका विशिष्ट सम्बन्ध है जो कि यथाक्रमसे मिलान करनेपर मालुम हो सकता है। तदनुसार निःशंकित का उपगूहन या उपबृंहणके साथ, निःकांक्षितका

१—उपगूहस्थितीकारौ यथाशक्ति प्रभावनम्। वात्सल्यं च भवंत्येते गुणाः सम्यक्त्वसंपदे ॥१॥ तत्र-क्षान्त्या सत्येन शौचेन मार्दवेनार्जवेन च। तपोभिः संयमैर्दानैः कुर्यात्समयबृंहणम् ॥ २ ॥ सवित्रीव तनूजानामपराधं सधर्मसु। दैवप्रमादसम्पन्नं निगूहेद् गुणसम्पदा ॥३॥ अशक्तस्यापराधेन किं धर्मो मलिनो भवेत्। नहि भेके मृते याति पयोधिः पूतिगन्धताम् ॥४॥ दोषं गूहति नो जातं यस्तु धर्मं न बृंहयेत्। दुष्करं तत्र सम्यक्त्वं जिनागमबहिः स्थिते ॥५॥

स्थितिकरणके साथ, निर्विचिकित्साका वात्सल्यके साथ, अमूढदृष्टिका प्रभावनाके साथ मुख्यतया सम्बन्ध समझना चाहिये।

उपगूहनादिके विषय स्व और पर दोनों ही हैं। जो स्वयं निःशंक नहीं है चलायमान प्रतीति है या भयाक्रान्त है तो वह अपनेमें भी उपगूहन एवं उपबृंहण नही कर सकता दूसरेमें तो करेगा ही क्या। कांक्षावान् व्यक्ति अपनेको या दूसरेको गिरनेसे बचा नहीं सकता। कांक्षाके छोडनेपर ही स्थितीकरण संभव है। कांक्षा—इच्छा—आशाके भाव तो गिरानेवाले हैं। सधर्माओंमें ग्लानि रखनेवाला उनमें वत्सलता भी किस तरह कर सकेगा! ग्लानि और निश्छल प्रेम दोनों भाव एक साथ संभव नहीं। जो स्वयं मूढदृष्टि है वह धर्मकी वास्तविक प्रभावना नहीं करसकता अन्तरंग या वहिरंग कैसी भी प्रभावना जब तक दृष्टि मूढ है तबतक नहीं हो सकती। इसतरह विचार करनेपर मालुम होता है कि जबतक सम्यग्दर्शन शंका आदि दोषोंसे दूषित है तबतक इन गुणोंमें भी यथार्थतः प्रवृत्ति नहीं हो सकती। निर्मल वस्त्र पर ही कोई रंग चढ सकता है। जो निरोगता प्राप्त है वही सबलताको सिद्ध कर सकता है। निर्व्यसन ही विद्याध्ययन में सफल हो सकता है और निरुत्साह व्यक्ति युद्धमें विजयी नहीं हो सकता। उसी तरह शंकादि दोषोंसे रहित ही व्यक्ति उपबृंहणादि गुणोंको प्राप्त कर सकता है। और जो निःशंक है वह तो अवश्य ही उपगूहन और उपबृंहणमें प्रवृत्त होगा अन्यथा यदि वह वैसी प्रवृत्ति नहीं करता तो समझना चाहिये कि उसका सम्यग्दर्शन भी अभी पूर्ण नहीं है—समल है अथवा अधूरा है।

महापण्डित आशाधरजीके कथनानुसार[१] भी मालुम होता है कि इस गुणसे विशिष्ट व्यक्ति उपगूहन और उपबृंहण दोनों कार्य किया करता है। अन्तरंगमें सम्यग्दर्शन अथवा रत्नत्रय रूप अपने बन्धुकी शक्तिको आच्छादित करनेवाले कषायरूपी राक्षसको क्षमादिगुण रूपी अस्त्रके द्वारा निवारण करनेका और बाहिरमें धर्मके उपबृंहण—संवर्धन—उपचय करनेकी सद्बुद्धिसे अज्ञानी अथवा असमर्थ अपने सधर्माओंके दोषोंको जिनेद्रभक्तकी तरह आच्छादित करनेका उसे प्रयत्न करना चाहिये।

इस तरह प्रतीतिकी चलायमानता अथवा भय आदि दोषोंसे रहित निरतीचार सम्यग्दृष्टि की स्व और परमें जो उपगूहन तथा उपबृंहण प्रवृत्ति होती है वही सम्यग्दर्शनका पांचवां अथवा पहला गुण[२] है जिसके कि होनेपर ही वह सम्यग्दर्शन जन्ममरणकी संततिका उच्छेदन करनेमें समर्थ हो सकता है।

अब क्रमानुसार आचाय स्थितीकरण गुणका स्वरूप बताते हैं।—

१—धर्मं स्वबन्धुमभिभूष्णु कषायरक्षः क्षेप्तुं क्षमादिपरमास्त्रपरः सदा स्यात्। धर्मोपबृंहणधियाऽबलबालिशात्मयूथ्यात्ययं स्थगयितुं च जिनेन्द्रभक्तः ॥अन० २-१०५॥

२—क्रमानुसार आरम्भसे पांचवां, किन्तु कर्तव्यका बोध करानेवाले अन्तिम चार गुणोंमें प्रथम।

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः ।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ॥१६॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्चारित्र यद्वा दोनोंही से डिगते हुओंको धर्मप्रेमियों द्वारा जो उसी धर्ममें फिरसे स्थापन कर दिया जाता है, प्राज्ञ—गणधरादिने उसीको स्थिती-करण कहा है।

प्रयोजन—जो जिस धर्मका धारक या आराधक होता है वह उसके रहस्य और फलसे परिचित तथा उसमें रुचिमान भी हुआ करता है। किंतु यह एक लोक प्रसिद्ध उक्ति है कि—"जिन नहि चक्खो नारियल, उन्हें काचरा मिट्ठ"। इस उक्तिके अनुसार जिनको परमवीतराग जिनेन्द्रभगवान्के प्ररूपित लोकोत्तर अनन्त सुखशान्तिके स्वरूपका श्रद्धान ज्ञान नही हुआ और उसके साधनभूत वास्तविक धर्मका जबतक परिचय नहीं हुआ है तब तक यह जीव धर्मके नामपर रागीद्वेषियोंके कथित लौकिक क्षणिक साता या प्रसन्नताके साधनभूत अथवा इसके विपरीत असातारूप विषयोंमें ही यद्वा तद्वा श्रद्धान आचरण किया करता है और उन्हींको महान् समझता तथा उन्हींमें रुचि भी रखता है। तथा प्रायः ऐसी धारणा भी रखता है कि इसके सिवाय और सब धर्म मिथ्या एवं निःसार हैं। संसारी जीव जबतक मोह और कषायका अनुचर बना हुआ है तबतक वह विषयाशाका भी दास है और जिनसे उसकी पूर्ति या सिद्धि होती हुई मालुम होती है उन्हींमें रुचि और प्रवृत्ति भी किया करता है। किंतु मोहका भाव जब नहीं रहता अथवा मन्द मन्दतर मन्दतम होजाता है और सद्गुरुके उपदेशका लाभ होजाता है तब उसकी दृष्टिमें सत्य तत्त्व आजाता है। सत्य तत्त्वसे मतलब है अपना और परका वास्तविक स्वरूप। जिसके कि फल-स्वरूप संसार और मोक्ष तथा उनके कारण एवं उनका स्वभाव भेद भी दृष्टिमें आजाता है। जब उसकी दृष्टि उस सत्य और प्रशस्त विषयको वास्तवमें ग्रहण करलेती है, तब वह दृष्टि सम्यक् प्रशस्त—समीचीन—यथार्थ आदि नामोंसे विशेषणोंसे युक्त कही जाती है। इस तरहकी दृष्टि जिन जीवोंकी बन जाती है वे ही सम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं। उनको फिर कोई भी पर अथवा मिथ्यात्व सुहाता नहीं है।

ठीक ही है—पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः, क्षारं जलं जलनिधेः रसितुं क इच्छेत्[1] " उस जीवकी मन वचन कायकी प्रवृत्ति भी स्वभावतः अपूर्व बन जाती है—मिथ्यादृष्टि जसी नही रहती। अतएव कुदेव कुशास्त्र कुगुरु और कुधर्ममें उसको अरुचि तथा परमार्थभूत आप्त आगम गुरु और धर्ममें उसको सुरुचि हुआ करती है। उसकी दृष्टिमें आत्माका एवं अपना शुद्ध स्वरूप आजानेसे उसीको सिद्ध करनेका वह अपना लक्ष्य बना लेता है[2]। अथवा कहना चाहिये कि उसका वैसा लक्ष्य स्वयं ही बन जाता है। अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें जो भी बाह्य अव-

१—आदिनाथस्तोत्र—भक्तामर पद्य ११। २—तद्ब्रूयात् तत्परान् पृच्छेत् तदिच्छेत् तत्परो भवेत्। येना-विद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥ अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यम् तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः॥

लम्बन हैं उन्हें भी वह रुचिपूर्वक अपनाता है। यथाशक्य सिद्धिके उन साधनोंमें भी प्रवृत्ति किया करता है जो कि समीचीन देवशास्त्रगुरुकी आराधना आदिके रूपमें बताये गये हैं।

इस तरहके सम्यग्दृष्टियोंकी रुचिपूर्ण प्रवृत्ति चार तरहकी हो सकती है।—१ सधर्माओंके अज्ञान अथवा असमर्थताके कारण धर्मका प्रभाव कम न होने देना। जो भी सधर्मा या विधर्मा जिन्होंने अभी तक धर्म धारण नहीं किया है और जो कि यद्वा तद्वा कारणोंका बहाना बना कर स्वयं उक्त धर्मको धारण करनेसे पराङ्मुख रहते हैं तथा दूसरोंको भी परांमुख रखनेकी चेष्टा करते हैं उनकी उक्तियों और कुयुक्तियोंको सूक्तियों सदुक्तियों—तथा सद्युक्तियोंके द्वारा निराकृत करदेना प्रभावहीन बना देना। २—जो धर्मको धारण कर चुके है वे किसी भी अन्तरंग मोह कषाय अज्ञान प्रमाद अथवा बाह्य मिथ्योपदेश कुसंगति आदिके कारण धर्मसे डिग रहे हों, उनको उचित उपायोंसे उसमें स्थिर रखना। यद्यपि इस कारिकामें सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से ही चलायमान होनेवाले विषयमें कहागया है किंतु यही बात ज्ञानके विषयमें भी समझ लेनी चाहिये।

३—जिन्होंने धर्मको धारण करलिया है और उससे डिग भी नहीं रहे हैं उनके प्रति समानताका सूचक उचित सद्व्यवहार तथा आवश्यकता पडनेपर निष्काम, निश्छद्म कर्तव्यका पालन।

४—परलोगोंपर अपने धर्मका प्रभाव इस तरहका डाल देना कि जिससे वे हठात् जैन धर्मकी महत्ताको स्वीकार करनेकेलिये बाध्य होजांय।

यद्यपि इन चारों ही कर्तव्यों या गुणोंके विषय स्व और पर दोनों ही माने गये है। मतलब यह कि इन गुणों का पालन स्वयं भी करना चाहिये और दूसरों के प्रति भी। और ठीक भी है जो स्वयं ही उन गुणोंसे रिक्त है वह दूसरों के प्रति भी उस गुण का उपयोग किस तरह कर सकता है। फिर भी यहां पर आचार्यने जो वर्णन किया है उससे मालूम होता है कि यहां पर पर की अपेक्षा ही मुख्य है।

ऊपर जिन चार कर्तव्य विषयक गुणोंका दिग्दर्शन किया गया है और जिनको कि उत्पत्ति स्थिति वृद्धि तथा रक्षाके नाम सेभी कहा जा सकता है उनमेंसे पहले गुणका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। उसके बाद दूसरे गुणका भी कार्य बताना क्रमानुसार आवश्यक हो जाता है। यही कारण है कि उपगूहन के बाद स्थितीकरण का वर्णन किया गया है। क्यों कि ये चारोंही गुणों का कार्य क्रमभावी है। पहले का विषय धर्मरहित सदोष अवस्था या तद्वान् व्यक्ति है। दूसरे का विषय धर्मसहित किंतु शिथिल अवस्था है। तीसरेका विषय अपने ही समान परन्तु अडिग अवस्था है। चौथेका विषय इतना दृढ है कि उसका प्रभाव दूसरे विरोधियों पर भी पडता है। भी वैसा होनेकी भावना अथवा रुचि पैदा होती है। यही कारण है कि पहली अवस्था की

दृष्टिसे उपगूहन अंगका वर्णन करनेके बाद उसके बादकी दूसरी अवस्था अथवा उस अवस्थावाले व्यक्तियों के प्रति सम्यग्दृष्टि के कर्तव्यका वर्णन करके यह स्पष्ट कर दिया जाय कि जो सधर्मा के प्रति ऐसी अवस्थामें इस तरह से प्रवृत्त होते हैं, समझना चाहिये कि उनका सम्यग्दर्शन सांगोपांग पूर्ण है। यह स्पष्ट करना ही इस कारिका के कथन का प्रयोजन है।

शब्दोंका सामान्य—विशेष अर्थ—

दर्शन शब्दका अर्थ सम्यग्दर्शन— सम्यक्त्व—श्रद्धान आदि है। सकषाय तथा अल्पज्ञानी जीव बलवान विरुद्ध निमित्त को पाकर श्रद्धासे डिग सकता है। यही बात चारित्र के विषय में समझनी चाहिये। 'चारित्र' से मतलब यहां पर कर्मग्रहण में कारणभूत क्रियाओंकी भले प्रकार की गई निवृत्ति से है। कषाय अथवा अज्ञान के कारण दोनों विषयोंसे जीव विचलित हो सक्ता है।

'वा अपि'—शब्दोंका अर्थ 'अथवा' और 'भी' है। वा शब्द विकल्पवाची है। अर्थात् सम्यक्दर्शन से अथवा चारित्र से। इस तरह विकल्प 'वा' शब्दका प्रतोग करने के बाद फिर अपि शब्द की आवश्यकता नही रह जाती है। अतएव इससे ज्ञापन सिद्ध और भी कोई विशिष्ट अर्थ है ऐसा सूचित होता है।

ऊपर मोक्षमार्ग रूप धर्म तीन भागों में विभक्त किया है। उसमें से सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र का उल्लेख तो इस कारिका में स्पष्टतया दर्शन और चारित्र शब्द के द्वारा कर दिया गया है। परन्तु सम्यग्ज्ञानका उल्लेख शब्दपूर्वक नही किया है। मालूम होता है उसीको सूचित करनेके लिए यहां अपि शब्द का प्रयोग है। अथवा चलायमानता के विविध प्रकार इस से सूचित होते हैं।

'चलतां' से मतलब इतना ही नही है कि जो वर्तमान में डिग रहा है, किंतु भूतकालमें जो डिग चुका है अथवा भविष्यत मे जो डिगनेवाला है उसका भी इससे ग्रहण कर लेना चाहिये।

'धर्मवत्सल'—वत्स—बच्चे में प्रीति रखनेवालें को वत्सल कहते हैं। जिस तरह गौ अपने बच्चे में असाधारण स्नेह रखती है यहां तक कि उसके लिए वह अपने प्राणों की भी परवाह न करके सिंह का भी सामना करने को उद्यत रहा करती है। उसी तरह धर्म में जो स्नेहपूर्ण भाव रखनेवाले हैं उनको कहते हैं धर्मवत्सल।

'प्रत्यवस्थापन' का आशय फिरसे उसी रूपमें स्थपित कर देने से है। 'प्राज्ञ' उसको कहते हैं जो प्रकर्षरूप[1] से और प्रत्येक पहलू[2] से विषयको स्वयं समझता है और दूसरोंकोभी समझा सकता है। स्थित होकर भी जो अस्थित हो गया है उसको फिर स्थित करना ही स्थितीकरण[3] है।

१—२—प्रकर्षतया, आ—समन्तात्, जानाति इति प्राज्ञः।

३—न स्थितः—अस्थितः अस्थितः स्थितः क्रियते इति स्थितीकरणम्। स्थितिकरणमित्यपि पाठः यथा—"युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम्"॥ पु० सि०

तात्पर्य—यह कि यदि कोई व्यक्ति रत्नत्रयरूप धर्मसे डिगता हुआ मालूम हो तो विचक्षण सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं का कर्तव्य है कि वे उसको चलायमान होनेसे बचावें जो जिस विषय से विचलित हो रहा है उसको पुनः उसी विषयमें दृढ और स्थिर कर दें।

दर्शन शब्द यहाँ उपलक्षण है अतएव उससे सम्यग्ज्ञान का भी ग्रहण करलेना चाहिये। डिगने के या अपने पदमें–सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान–सम्यक्चारित्रमेंसे किसीमेंभी स्थित न रहनेके अनेक कारण हैं। अंतरंग कारण क्रमसे मोह अज्ञान और कषाय हैं। तथा बाह्य कारण द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार अनेक प्रकारकी विरुद्ध परिस्थितियां हैं इनमेंसे जहां जैसा जो कुछ भी डिगने का विरुद्ध कारण उपस्थित हो या दिखाई पडे तो वहां उसीको दूरकरके पुनः उसको उस धर्म में दृढ़ करदे यह सम्यक्दृष्टि का गुण तथा कार्य है। लोक में यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'गजानां पंकमग्नानां गजा एव धुरंधराः' १। हाथी यदि कीचडमें फस जाय तो उसको बाहर निकालने मे हाथी ही समर्थ है–वही इस कार्यको कर सकता है। इसी तरह धर्म से डिगते हुएको धर्मात्मा ही बचा सकता है। परन्तु किस तरह का धर्मात्मा उसे बचाने में समर्थ हो सकता है इस बातको बताने के लिऐ आचार्यने यहां दो विशेषण दिये हैं।

धर्मवत्सल और प्राज्ञ। बच्चे में जिस तरह गौ या माता की प्रीति है उसी तरह जो धर्ममें प्रीति रखनेवाला है वही वास्तवमें इस कार्य को कर सकता है। वही करता है वह अवश्य ही करता है। स्वार्थ आशा भय आदि के वशीभूत हुआ व्यक्ति उस कार्य को नही कर सकता। ऊपरकी कारिकाके व्याख्यान में बताया जा चुका है कि उपगूहन अंगका पालन करने के लिए निःशंक गुणकी आवश्यकता है, उसी तरह यहांपर भी यह बात समझ लेनी चाहिये कि स्थितीकरण के लिए निःकांक्ष गुणकी भी उतनी ही आवश्यकता है। जो स्वयं विशुद्ध निःकांक्ष धर्माभिरुची है वही दूसरे को भी धर्माभिरुचि बना सकता है तथा धर्मसे डिगते हूए को वास्तव में अडिग कर सकता है।

ऊपर यह बात भी कही जा चुकी है कि डिगनेसे मतलब वर्तमानका ही नहीं लेना चाहिये किंतु तीनों कालका ही ग्रहण करना योग्य है।

जो कुछ समय पूर्व डिग चुका है। जिसको डिगे हुए कुछ समय बीत चुका है अथवा जिसका बालस्वभाव अपरिपक्व बुद्धि परप्रत्ययनेयता शारीरिक मानसिक कातरता कोमलता एवं समय साकांक्ष परिणति तथा कुसंगति आदिको देखते हुए मालुम होता है कि आगे चलकर यह धर्म में अपनी स्थिति को स्थिर न रख सकेगा तो उसके प्रति भी वैसा व्यवहार करना चाहिये जिससे कि वह धर्म में स्थित बना रहे और यह व्यवहार भी तबतक करना चाहिये जबतक कि यह विश्वास न हो जाय कि अब यह कभी भी डिगनेवाला नही है। जैसा कि वारिषेण ने पुष्पडाल के प्रति उसकी भावलिङ्गना के साथ २ अब कभी भी न डिगनेवाली धर्म में स्थिति का विश्वास न होने

१—हितोपदेशात्।

तक—करीब बारा वर्ष तक उसपर नियंत्रण रखकर और अन्तमें अपनी रानियों और उसकी स्त्री के स्वरूप के साथ २ संसार की निःसारिता का प्रत्यय कराने में सुयुक्तिका प्रयोग किया था।

दूसरा विशेषण प्राज्ञ है। प्रत्येक विषय की उत्कृष्ट बौद्धिक एवं आगम ज्ञान की योग्यता के विना भी स्थितिकरण नहीं किया जा सकता है।

क्योंकि डिगनेके अन्तरंग कारण प्रायः दृष्टि के अगोचर भी रहा करते हैं। और देखा यह जाता है कि मनुष्य अपने मोह क्षोभ और अज्ञानरूप भावोंको प्रायः प्रकट नहीं करता-न प्रकट होने देना चाहता है। यह माया प्रपञ्च बड़ा प्रबल है। यही कारण है कि शुद्ध[1] प्रायश्चित्तके द्वारा होने वाली शुद्धि प्रायः दुर्लभ ही है। ऐसी अवस्था में मङ्गलोत्तमशरणभूत योग्यतासम्पन्न[2] गुरु ही उस जीवकी अन्तरंगमें वास्तविक शुद्धि करके कल्याण के पथमें अग्रसर कर सकते हैं। प्राज्ञ शब्द से उसी योग्यता को यहां आचार्यने सूचित कर दिया है जिसके कि द्वारा डिगते हुए की सदोष अथवा निम्नगा मनोवृत्तिका वमन करा दिया जाता है अथवा भीतर ही भीतर पकाकर निर्मूल एवं समाप्त करदिया जाता है। हितैषी सम्यग्दृष्टि को कभी २ इसके लिये कठोर प्रयोग भी करना पडता है। जिस तरह अपने किसी बन्धुको वातव्याधिवश उग्र बन जाने पर उसे बांधकर भी रखना पडता है। अथवा किसी के लिये अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष कठोर शब्दों का प्रयोग भी करना पडता है। एवं विरुद्ध उग्ररूप भी दिखाना पड़ता या वैसा व्यवहार करना पड़ता है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि को भी धर्म से डिगते हुए के प्रति योग्यतानुसार उसके हितके लिये अनेक ऐसे उपाय भी करनेपडते हैं जो बाहर से कठोरताकी परिभाषा में परिगणित किये जा सकते हैं। परन्तु जो तत्त्वतः हितरूप या हितकर ही हुआ करते हैं। इसकेलिये अवश्य ही आगमज्ञान अनुभव और प्रकृष्ट बौद्धिक योग्यता कुशलता की आवश्यकता है। अत एव डिगते हुए को पुनः सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में स्थिर करदेनेके लिये जिसतरह धर्मवात्सल्य की आवश्यकता है उसीतरह प्राज्ञताकी भी आवश्यकता है। यही कारण है कि आचार्यने स्थितीकरण के लिये सम्यग्दृष्टि में इन दो गुणों तथा योग्यताओं का रहना उचित एवं आवश्यक समझ कर प्रकृत कारिकामें स्पष्ट उल्लेख किया है।

उपगूहन स्थितीकरण वात्सल्य और प्रभावना इन चारों ही अंगोंका पालन स्व और पर दोनोंमें ही हुआ करता है। अत एव जिसतरह दर्शन और चारित्रसे डिगते हुए दूसरे धर्मबन्धु को सम्यग्दृष्टि जीव संभालता है, गिरने नहीं देता या गिरचुका हो तो पुनः उसी पदमें स्थापित किया करता है। उसीतरह वह अपने को भी संभालता है। गिरने का प्रसंग आनेपर सावधान हो जाता है और कदाचित् गिर भी जाय तो उसके बाद ही पुनः उसी पदमें अपने को स्थापित करनेका प्रयत्न किया करता है। और यह ठीक भी है; क्योंकि "स्वयं पतन्तो हि न परेषामुद्धारकाः" जो स्वयं को ही नहीं संभाल सकते वे दूसरोंका क्या उद्धार करेंगे ?

१—आकम्पिय मणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च। छण्णं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी। इन दोषों से रहित प्रायश्चित्त शुद्ध होता है। २—देखो आचार्यों के गुण उत्पीलकत्वादि।

प्रायः मुख्यतया सम्यग्दर्शनादिक से चलायमान होने के दो कारण हैं। एक तो आगमज्ञान का अभाव या कमी, दूसरा संहननका अभाव। इन दोनों त्रुटियोंका प्रभाव अपने ऊपर भी पड़ सकता है। या तो आगमका स्वरूप या उसका रहस्य न मालुम होनेसे जीव उन्मार्गमें जा सकता है अथवा बल पराक्रमकी कमी के कारण परिषह एवं उपसर्ग के आनेपर उसे सहन न कर सकने के कारण व्रतादिक से चलायमान हो सकता है। ऐसी अवस्था में सम्यग्दृष्टि विवेकी का कर्तव्य है कि वह जिसतरह भी शक्य हो अपनेको तथा दूसरोंको भी मार्ग में स्थित रखनेका प्रयत्न करे।

इस अवसर पर यह बात भी ध्यानमें रखनेके योग्य है कि स्थितीकरणका प्रयोजन इतना ही नहीं है कि जब कोई गिरता दीखे या गिरजाय तभी उसका स्थितीकरण किया जाय, अन्य समय में इस अंगका कोई उपयोग ही नहीं है। वास्तव में सम्यग्दर्शन का जब तक सद्भाव है तब तक स्वभावतः उसके अंग भी रहेंगे ही, और रहते ही हैं। हां, प्रसंग आनेपर उन अंगोंमें से जब जो विवक्षित, आवश्यक हो ऐसा कोई भी अंग अपना विशेषतया कार्य प्रकट किया करता है। किन्तु सामान्य अवस्थामें वह अंग विद्यमान रहकर कुछ न कुछ साधारण कार्य किया ही करता है। क्योंकि गणवर्धन—गणपोषण—गणरक्षण आदि भी स्थितीकरण के ही प्रकार हैं। सम्यग्दृष्टि जीव इन कार्यों की तरफ सदा ही ध्यान रखता है। नवीन व्यक्तियोंको धर्म में दीक्षित करना गणवर्धन है। उनमें आवश्यक गुणों का बढाना गणपोषण, तथा उनको अहित या हानि से बचाना गणरक्षण है। नवदीक्षित व्यक्ति अपने व्रत चारित्रमें स्थिर रहसकेगा या नहीं इस तरहका विचार करनेपर संभव है कि उसका निर्वाह कदाचित् सन्देहास्पद भी हो। फिर भी बुद्धिमान व्यक्तिका कर्तव्य है कि वह उस कार्य को अवश्य करे। क्योंकि कदाचित् वह निर्वाह न भी करसके तो भी तत्त्वतः उसमें उसकी कुछ हानि नहीं है और इसके विपरीत यदि वह पालन कर सका तो लाभ अवश्य है। खास कर उस व्यक्तिका तो परम हित है। हां, नवीन व्यक्तिको दीक्षित करदेने या करादेने मात्र से ही सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य समाप्त नहीं हो जाता। उस व्यक्ति के गुणों का पोषण—संवर्धन आदि करना और उसकी तरफ दृष्टि रखना, तथा योग्यतानुसार उसका विनियोग[1] आदि करना भी कर्तव्य है। क्योंकि ऐसा करनेसे एक व्यक्तिका ही नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज तथा संघका भी हित है। फलतः स्थितीकरण अंगके धारक सम्यग्दृष्टि को सदा ही इस बातकी तरफ दृष्टि रखनी चाहिये कि किसतरह से गणकी वृद्धि हो, और गणस्थित धर्मात्माओं के गुणोंका पोषण हो तथा उन्मार्ग की तरफ जाने से उनकी किसतरह रक्षा हो।

इस तरहकी प्रवृत्ति करनेवालोंके समक्ष यह स्पष्ट करदेना भी उचित होगा कि सम्यग्दृष्टिके लक्ष्यमें यह बात भी रहनी चाहिये कि किसी भी छोटे मोटे एक दोषके कारण उस व्यक्तिका सर्वथा परित्याग करदेना अथा उसकी तरफ उपेक्षा करदेना साधारणतया हितावह नहीं हो सकता। क्योंकि समाजमें सभी तरहकी योग्यतावाले व्यक्तियोंकी आवश्यकता है। जिस तरह

१—नवैः संदिग्धनिर्वाहैः विदध्याद्गणवर्धनम्। एकदोषकृते त्याज्यः आप्ततत्त्वः कथं नरः॥ यतः समयकार्यार्थी नानापंचजनाश्रयः। अतः सम्बोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत्॥ यशस्तिलक

किसी एक स्तम्भके ऊपर मकान टिका नहीं रह सकता उसी प्रकार एकतरहके व्यक्तियोंके ही बलपर समाज नहीं चल सकता। इसलिये जहांतक भी हो, योग्यतासम्पन्न व्यक्तियोंको उचित मार्गसे इस तरह समझाकर रखना चाहिये जिससे कि समाजका विच्छेद या संघका भंग भी न हो और उसका अहित न होकर हित हो जाय। उपेक्षा करनेसे वह व्यक्ति भी प्रायः धर्मसे अधिक उपेक्षित हो जासकता[1] है और संघसे दूर होजासकता है जिसका परिणाम उस व्यक्तिके लिये तथा समाजके लिये इस तरह किसी भी एकके लिये हितकर नहीं हो सकता।

आत्मामें मोक्षमार्ग—रत्नत्रयकी जो स्थिति है उसका अंशतः अथवा पूर्णतया न रहना अस्थिति अथवा उस आत्माका अस्थितभाव है। इस भावके होनेपर जब पुनः पूर्व अवस्था प्राप्त की जाती है फिर चाहे वह स्वतः प्राप्त की जाय अथवा अन्यके द्वारा तब स्थितिकरण अथवा स्थितीकरण माना जाता है इन दोनोंमें स्वतःका स्थितीकरण प्रधान है। क्योंकि ऐसा करनेमें धर्मके प्रति असाधारण रुचि और अपने कर्तव्यके विषयमें विवेकपूर्ण प्रज्ञाका परिचय तो मिलता ही है साथ ही विशिष्ट आत्मबल भी स्पष्ट हो जाता है। फिर स्वयं जो स्थितीकरण करनेमें समर्थ है वह दूसरेका भी अवश्य कर सकता है। परन्तु दूसरेके द्वारा जिसका स्थितीकरण हुआ है वह वैसा कर सकता है या नहीं? इसके उत्तरमें संभव है कि कदाचित् वह भी वैसी योग्यता प्राप्त करले और फिर वह भी दूसरोंका स्थितीकरण कर सके। परन्तु स्वायत्त योग्यताकी कमीके कारण उसका स्थान दूसरा ही मानना अधिक उचित कहा जा सकता है।

प्रवृत्तिरूप सम्यग्दर्शनके चार अंगोंमेंसे क्रमानुसार तीसरे वात्सल्यगुणका अब आचार्य वर्णन करते हैं।—

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भाव,—सनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥१७॥

अर्थ—धूर्तता मायाचार वंचकता आदिको छोडकर और सद्भावनापूर्वक अपने सधर्माओं का जो योग्यतानुसार आदर, सत्कार, पुरस्कार, विनय, वैयावृत्य, भक्ति, सम्मान, प्रशंसा आदि करना है इसको वात्सल्य कहते है।

प्रयोजन—निरतीचार सम्यग्दर्शनको धारण करनेवालोंकी सधर्माओं और विधर्माओंके प्रति स्वभावतः जो प्रवृत्ति हुआ करती है उसीको आचार्य यहां विधिरूपसे चार अंगोंका वर्णन करके बता रहे हैं। उनमेंसे निःशंक और निःकांक्ष सम्यग्दर्शनके फलस्वरूप उपगूहन तथा स्थितीकरणरूप प्रवृत्तिका दो अंगोंकी व्याख्याद्वारा उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उसके बाद निर्विचिकित्सा अंगसे युक्त सम्यग्दृष्टिकी सधर्माओंके प्रति जो और जैसी कुछ प्रवृत्ति हुआ करती है उसका स्पष्टीकरण करनेकेलिये क्रमानुसार अवसर प्राप्त है। अतएव उसका वर्णन करना ही इस कारिकाके निर्माणका प्रयोजन है।

१—उपेक्षायां तु जायेत तत्त्वाद् दूरतरो नरः। ततस्तस्य भवो दीर्घः समयोऽपि च हीयते ॥ सोमदेव।

मोक्षमार्गके साधक तपस्वियोंके अन्तरंग गुणोंकी तरफ दृष्टि न रखकर बाह्य शरीरकी मलिनता आदिको देखकर उनकी तरफ ग्लानिका भाव होना जिस तरह सम्यग्दर्शनका दोष है उसी प्रकार किंतु उसके विपरीत बाह्य विषयोंकी तरफ दृष्टि न देकर उनके गुणोंका आदर सत्कार आदि करना सम्यग्दर्शनका गुण है यह बात इस कारिकाके द्वारा बताई गई है।

इस गुणके अथवा अन्य गुणोंके विषयभूत सधर्माओंसे प्रयोजन मुनिका ही नही लेना चाहिये। सम्यग्दृष्टिके सभी उपगूहनादि गुणोंके विषय सम्पूर्ण सम्यग्दृष्टिमात्र हैं। फिर भी उन सबमें मुनिका स्थान उत्कृष्ट है। अतएव उचित यही है कि अन्योंकी अपेक्षा मुमुक्षु साधुओंके प्रति उपगूहन स्थितीकरण और वात्सल्यभावका सबसे अधिक और प्रथम उपयोग किया जाय। जिस प्रकार साता वेदनीय कर्मबन्धके कारणोंमें भूत और व्रती दोनोंपर अनुकम्पाका भाव भी एक कारण है[1]। फिर भी भूतोंकी[2] अपेक्षा व्रतीपर की जानेवाली अनुकम्पा प्रधान[3] है—वह प्रथम आदरणीय है। इसी प्रकार वात्सल्यगुणके विषयभूत सधर्माओंके विषयमें समझना चाहिये। अव्रतसम्यग्दृष्टिसे लेकर मुनितक सामान्यतया सभी सधर्मा हैं। फिर भी उनमें मुनिका स्थान सर्वोत्तम है। देशव्रतीका मध्यम और अव्रतसम्यग्दृष्टिका स्थान जघन्य कहा जा सकता है।

यद्यपि सधर्माओंका उच्चावचत्व अन्य २ गुणों के कारण भी माना जा सकता है फिरभी यह बात दृष्टिमें रखने योग्य है कि उन्ही गुणों से युक्त यदि अव्रती, देशव्रती और महाव्रती हों तो उनका स्थान क्रमसे जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट ही रहेगा। अतएव वात्सल्य के विषयमें मुनि को प्रधान मानना उचित है। आचार्यने यथायोग्य शब्दका प्रयोग करके दूसरे भी सभी सधर्माओंका संग्रह भी किया ही है।

इस कारिका के द्वारा यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जो सम्यग्दृष्टि है वह सम्यग्दर्शनादि सभी मोक्षमार्गरूप गुणधर्मों उनके अंशों या अंशांशोंका आदर करना आत्मकल्याणका अंश समझकर अपना प्रथम कर्तव्य समझता है। अतएव जिसकी प्रवृत्ति और मनोवृत्तिमें यह भाव दिखाई पडे, समझना चाहिये कि उसका सम्यग्दर्शन अवश्यही वात्सल्य गुणसे युक्त है। धर्म तथा धर्मी में कथंचित् अभेद है। क्योंकि इनमेंसे कोई भी एक दूसरे को छोडकर नही पाया जाता न रहता है; न रह सकता है। अतएव धर्मका आदर आदि करनेवाला धर्मीका आदरादि करता है और जो धर्मीका आदर करता है वह अवश्यही उस धर्मकी अपेक्षासे वैसा करनेके कारण धर्मका ही आदर करता है। धर्मकी अपेक्षा छोड कर यदि किसी व्यक्ति का कोई आदर करता है तो अवश्य ही वह अविवेकी वहिर्दृष्टि है।

१—भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः शांतिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ त० सू० ६—१२॥

२—आयुर्नाम कर्मोदयवशाद् भवनाद् भूतानि ॥ .... सर्वे प्राणिन इत्यर्थ ॥ रा० वा० ६—१२—१

३—व्रतिग्रहणमनर्थकमिति चेन्न प्राधान्यख्यापनार्थत्वात् .... भूतेषु यानुकम्पा तस्याः व्रतिष्वनुकम्पा प्रधानभूतेत्ययमर्थः ख्याप्यते ॥ रा० वा० ६—१२—१३ ॥

गुण धर्मका आदर जब कि उनकी वृद्धिका कारण है तब वैसा न करना अवश्यही उनके ह्रासका हेतु है। सम्पत्ति अधिकार प्रभुता कलाकौशल आदि भी जगतमें आदरणीय हैं। उचित रूपमें और अपने २ अवसर पर इनका आदर करना भी आवश्यक है। फिर भी महान एवं अंतरंग आत्मिक गुण धर्मशून्य—अविवेकी, अन्यायप्रिय, असदाचारी व्यक्तिके इन विषयोंका आदर आदि करना वस्तुतः लोकहितकर नही और न उसमें अपनाही हित निहित है। अतएव सम्यक्‌दृष्टि जीव अन्तरदृष्टि होनेके कारण गुणधर्मोंका ही आदर करना मुख्य एवं उचित समझता है। और वैसा करके वह मोक्षमार्गका संवर्धन करता है।

शब्दों का सामान्य विशेष अर्थ—

स्वयूथ्य—कोई भी विवक्षित गुणधर्म जितने व्यक्तियों में सदृश रूपसे पाया जाय उतने व्यक्तियोंका समूह एक वर्ग कहा जाता है। इसीको जाती समाज या यूथ भी कहते हैं। यूथ में रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति यूथ्य है। स्व शब्दका अर्थ आत्मा अथवा आत्मीय है। मतलब यहकि विवक्षित आत्मीय गुण जिन जिन में पाये जांय वे सभी व्यक्ति स्वयूथ्य हैं। ग्रंथकार यहांपर जिन जिन गुणों को श्रेयोमार्ग—धर्म के नामसे बता रहे हैं वे रत्नत्रय सम्यक्‌दर्शनादिक आत्मीय गुण हैं। वे जिसमें पाये जाते हैं उस सम्यक्‌दृष्टिके लिये उन विवक्षित गुणोंके धारक सभी व्यक्ति स्वयूथ्य हैं। सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान सम्यक्‌चारित्र इनमेंसे एक दो या तीनोंके धारण करनेवाले कोई भी व्यक्ति क्यों न हों वे सभी व्यक्ति परस्पर में स्वयूथ्य ही हैं।

सद्‌भावसनाथा—सत्—प्रशस्त या समीचीन, भाव—आशय अथवा परिणाम, इनसे जो युक्त हो—प्रेरित हो उस क्रियाको सद्‌भावसनाथा समझना चाहिये। यह शब्द प्रतिपत्तिका विशेषण है। अपने सधर्मा अथवा धार्मिक वर्गके प्रति जो प्रतिपत्ति—सद्‌व्यवहार किया जाय वह सद्‌भाव पूर्वक—पवित्र निस्वार्थ धार्मिक भावना से अनुरंजित होना चाहिये। जिसतरह कषायसे अनुरंजित योगोंकी प्रवृत्ति कर्म बंध का कारण है उसीप्रकार धर्मात्माओंके प्रति किया गया कोई भी व्यवहार यदि किसी भी प्रकार की कषायसे अनुरंजित है तो वह भी कर्मबन्धका ही कारण हो सकता है। उस को यथार्थ धर्म अथवा शुद्ध सम्यक्‌दर्शनका वास्तविक अंग नही माना जा सकता। यहां कषाय से मतलब बुद्धिपूर्वक कषायको उत्तेजित अथवा किसी विवक्षित कार्यके सिद्धिके लिए प्रेरित करने से है। अतएव यह वात्सल्यगुण उस अवस्था में ही सम्यक्‌दर्शनका अंग माना जा सकता है जब कि वह किसी भी कषाय का परिणाम न हो। समस्त सद्‌भावोंका संक्षेप गुणोंके प्रति विचिकित्सा के अभाव में हो जाता है।

ऊपर सम्यक्‌दर्शन का निर्विचिकित्सा नामका गुण बताया जा चुका है। उस निषेधरूप गुण के निमित्तसे सम्यक्‌दृष्टिकी जो सधर्माओंके प्रति प्रवृत्ति होती है उसकाही अन्तरंग कारण गुण वात्सल्य है क्यों कि सम्यग्दृष्टि जीव आत्मगुणों में रुचिमान हुआ करता है। वह कर्मनिमित्तक शरीरादिके सौन्दर्यासौन्दर्य के निमित्तसे आत्मगुणोंमें उपेक्षित नहीं हुआ करता। इस तरहकी

उपेक्षा से वह अस्पृष्ट रहा करता है। यही कारण है कि उसको अपने रुच्य गुण जहांपर भी दृष्टि गोचर हुआ करते हैं वहींपर उनका वह यथायोग्य एवं उचितरूप में आदर आदि किया करता है। जिस प्रकार अन्तरायके अभाव में ही पुण्यकर्मोका उदय यथावत् कार्य करनेमें समर्थ हुआ करता है उसी प्रकार मिथ्यात्व अथवा अनन्तानुबन्धी कषायके निमित्तसे होनेवाली विचिकित्साके अभावमें ही सम्यग्दृष्टि की गुणरुचि वात्सल्यका अंतरंग कारण बनजाया करती है। यही कारण है कि प्रतिपत्तिका "सद्भावसनाथा" यह विशेषण दिया है।

अपेतकैतवा—जो क्रिया कैतवभाव से रहित हो उसको अपेतकैतवा समझना चाहिये। कितव नाम ठग या धूर्तका है और कैतव कहते हैं ठगई अथवा धूर्तता को। मतलब यह है कि धोखा देना वंचना प्रतारणा आदि भाव कैतव हैं। अतः एवं साधर्मी के साथ जो सद्भाव प्रकट किया जाय उसमें कैतव अर्थात् धूर्तता आदिका भाव नहीं रहना चाहिये। सत्कार आदि करनेमें जो सद्भाव प्रकट किया जाता है वह यदि धूर्ततापूर्वक है तो वह वास्तव में सद्भाव नहीं है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यह प्रतिपत्तिका विशेषण दिया गया है।

प्रतिपत्ति का अर्थ है कि कर्तव्यका ज्ञान और प्रवृत्ति। अर्थात् सधर्माओं के प्रति जो कर्तव्य पालन किया जाय अथवा प्रवृत्ति की जाय वह वंचकता से रहित सच्चे हृदयसे होनी चाहिये।

यथायोग्य—यह शब्द बडे महत्त्वका है। कर्तव्यहीनता एवं उसका अतिरेक दोनोंका ही वारण करके वह ठीक२ कर्तव्यका बोध कराता है। क्योंकि इसका अर्थ होता है कि "योग्यतामनतिक्रम्य" जिसका आशय यह है कि योग्यता से न कम न ज्यादे। जिस धर्मात्माका विनय आदि करना है वह जिस योग्यताका हो उसके अनुसार ही उसका सत्-कारादि करना उचित है न कि हीनाधिक। कम करने पर अपना अभिमानादि प्रकट होता है और अधिक करने पर अविवेक। अत एव जिस में ये दोनों ही त्रुटियां न पाई जांय इस तरहसे ही सधर्माकेप्रति आदर विनय आदि प्रकट करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वसहित जीवकी सधर्माओंमें वत्सलता रूप प्रवृत्ति स्वाभाविक हुआ करती है। वह बनावटी या दिखावटी नहीं हुआ करती। न तो वह अन्तरंगमें किसी मोह कषाय स्वार्थ आदि कर्मोदयजनित वैभाविक या औपाधिक भावोंसे ही प्रेरित हुआ करती है और न लोकानुरंजनादिकेलिये बनावटी ही हुआ करती है। धर्मसादृश्यके कारण ही सधर्माओंके प्रति वह प्रीति आदि प्रकट किया करता है।

जिस धर्मके कारण वह इस तरहकी प्रवृत्ति किया करता है वह धर्म अनेक प्रकारका है। संसारी प्राणी जबतक संसारमें है तब तक उसको उन सभी धर्मोंका पालन करना पडता है। उसके लिये जितने ऐहिक उचित कर्तव्यरूप धर्म हैं वे भी अपरिहार्य रहा करते हैं। उनके छोडदेनेपर अथवा उनकी तरफ दुर्लक्ष्य करनेपर उसका पारलौकिक परमार्थ भी विगड जा सकता है। अतएव जो परमार्थके विरोधी नहीं है ऐसे ऐहिक कर्तव्य भी जो कि प्रकारान्तरसे धर्मके साधन धर्म ही कहे जाते हैं उन धर्मोका भी उसे पालन करना और उससे सम्बन्धित

व्यक्तियोंका यथा योग्य आदर सत्कार आदि करना पडता है।

रत्नत्रयरूप धर्मकी मूर्ति, दिगम्बर जिन मुद्राके धारक, साधुओं तथा अंशतः उस मार्गपर चलनेवाले श्रावकोंके प्रति तो उसका वात्सल्य भाव होता ही है अव्रती गुणवानोंका भी वह यथायोग्य सत्कार सन्मान आदि किया करता है। समयिक साधक समयद्योतक नैष्ठिक गणाधिप[1] आदि जितने भी सधर्मा है उन सबका भी वह अपनी शक्ति और उनकी योग्यतानुसार मान सम्मान दान आदिके द्वारा आदर सत्कार किया करता है और भक्ति प्रकट किया करता है। लोकव्यवहारमें आयुर्वेद ज्योतिष् मन्त्रानुष्ठानविधानादिकी आवश्यकताके समय उन विषयोंके जानकार सधर्माओंमें उसकी प्रीति हो और उनको वह अग्रपद दे यह स्वाभाविक है। आयुर्वेद आदिके विषयमें भी प्रवीणताके सिवाय सधार्मिकताके निमित्तसे प्रीतिविशेषका होना सम्यग्दर्शनका ही कार्य अथवा चिन्ह है। यह जिनमें पाया जाय वहां वात्सल्यगुण समझना चाहिये। इस गुणके कारण आत्माकी जो विशुद्धि होती है वह उसे मोक्षमार्गमें तो अग्रसर करती ही है। किंतु इसके कारण वे व्यक्ति भी अपने पीछे सधर्माओंके बलका अनुभव कर धर्माराधनमें सोत्साह तथा अधिक दृढ होजाया करते है। और उनकी लौकिक प्रवृत्तियां स्वाभिमान—आत्मगौरवसे युक्त प्रभावशाली एवं महत्वपूर्ण हुआ करती है।

सधर्माओं से मतलब मुनि और श्रावक दोनोंसे है। फिरभी उनमें मुनियों की प्रधानता है। क्योंकि धर्म की मात्रा मुनियों में अधिक प्रमाणमें पाई जाती है। अत एव उनके गुणो में निष्कपट प्रीति रखकर उनका सत्कार-पुरस्कार[2] मुख्यतया तथा प्रधानतया करना उचित हैं। मुनिके बाद श्रावकका स्थान आता हैं। उदाहरणार्थ—जहां कहीं भी मुनियोका आवास है वहां उन अतिथियोकी भिक्षा चर्या होजानेके पीछे ही श्रावकोंका आहारादि करना कराना उचित है। अथवा वहां किसी धार्मिक उत्सवमें उनको अग्रपद देना तथा मुख्य स्थान देना उचित हैं। यदि अनेक मुनियों का आवास हो तो उन सभी की अनुकूलता सम्पादन करने में बहुत बडे विवेक से काम लेना चाहिये क्योंकि मुनिजन भी सब समान योग्यता आदिके ही नहीं हुआ करते परन्तु उनका पद श्रावकों की अपेक्षा अधिक सम्मान्य ही हुआ करता है। अत एव उन सबका ही योग्यतानुसार आदर सत्कार आदि करना उचित है।

श्रावकके प्रति वात्सल्य प्रकट करनेका स्थान यद्यपि मुनियों के अनन्तर ही आता है फिर भी अनेक विषय और अवसर ऐसे भी संभव हैं जब कि मुनियों से भी अधिक श्रावकके गुणोंके प्रति

१—समयिक साधक समय द्योतकनैष्ठिकगणाधिपान्धिनुयात्। दाना देना यथोत्तर गुणरागात् सद्गृही नित्यम्॥ सागार २-५१। समयिको गृही यतिर्वा जिनसमयाश्रितः। साधको ज्योतिषमन्त्र वादादि लोकोपकारक शास्त्रज्ञः। समयद्योतको वादत्वादिना मार्गप्रभावकः। नैष्ठिकः मूलोत्तरगुणश्लाघ्यतपोऽनुष्ठाननिष्ठः। गणाधिपः धर्माचार्यस्तादृग्गृहस्थाचार्यो वा।

२—यथावसरेऽभ्यर्चनं करणम्।

वात्सल्य प्रकट करना उचित एवं आवश्यक हो जाता है। ऐसे अवसर पर अथवा ऐसे विषयों में श्रावकके उन गुणोंके प्रति भी मुख्यतया वात्सल्य प्रकट करना उचित है।

रत्नत्रयरूप गुण मोक्षके साधकतम हैं अत एव उन गुणों को देखकर उन गुणवानोंके प्रति वात्सल्यपूर्ण व्यवहार तो होना ही चाहिये परन्तु उन गुणोंकी उत्पत्ति वृद्धि रक्षाके साक्षात् एवं परम्परासे जो साधन हैं उनका संरक्षण संवर्धन व्यवस्था आदि भी आवश्यक है क्योंकि कारण के विना कार्य नहीं हो सकता। अतः साक्षात् धर्म के भी जो कारणभूत गुण धर्म है उन के प्रति भी वात्सल्यका होना उचित एवं आवश्यक है। फलतः जितने भी आर्योचित गुण हैं उन के प्रति भी सम्यग्दृष्टि को वत्सलभावसे युक्त होना चाहिये।

इस प्रवृत्तिरूप गुण में निषेधरूप निर्विचिकित्सा अंग किस तरह से अन्तरङ्ग कारण बनता है यह बात ऊपर स्पष्ट की गई है। अत एव यह बात भी ध्यान में रहनी चाहिये कि देव शास्त्र गुरु आप्त आगम और तपोभृत् तथा रत्नत्रयरूप साक्षात् धर्म और उसके बाह्यसाधनरूप व्यवहार धर्म के प्रति जो अनुरागी है रुचिमान् है वह कर्मोदयजनित जड भावों या पौद्गलिक विषयों—शरीरादिकी विकृतियोंके कारण—उनके सौन्दर्यासौन्दर्यको देखकर वास्तविक हितरूप आत्मधर्म से भूषित व्यक्तियों के सम्मानादि से उपेक्षित नहीं हो सकता। इसी प्रकार ऐश्वर्य सम्पत्ति आदिको भी वह प्रधानता नहीं दे सकता। इस तरह विचार करनेपर मालुम होगा कि निर्विचिकित्सा अंग का वात्सल्य गुणके साथ एक विशिष्ट एवं घनिष्ट सम्बन्ध है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सम्यग्दृष्टि जीव सम्पत्ति आदिके अर्जन रक्षण और विनियोग आदिकी तरफ अपने उपयोग को लगाता ही नहीं है। यह सब काम भी वह करता है तथा इस कार्य में जो सहायक होते है उनका भी वह यथायोग्य सत्कार करता है परन्तु अन्तरंगमें वह सधर्माओं-की सेवाको उभय लोकके लिये हितकर होनेके कारण अधिक एवं वास्तविक मूल्यवान् समझता है मतलब यह कि इस तरहकी रुचिपूर्ण दृष्टि को रखकर ही वह अपने समस्त लौकिक उचित और आवश्यक कार्यों को किया करता है। वह अपने हृदयमें इस बातकी सदा आशा रखता है कि मुझे सदा सधर्माओंका सहवास प्राप्त होता रहे फलतः उनके प्रति यथायोग्य भक्तिसम्पादनकी भावना रखता है, प्राप्त सधर्माओंके प्रति उचित सत्कार करता है, अपने सहाध्यायी, गुरुजन, चतुर्विध संघ, संयमी, बहुश्रुत आदि सद्गुणियोंके प्रति आदर एवं विनयपूर्ण व्यवहार किया करता है। जो अपने सधर्मा किसी आधि-मानसिक चिन्तासे व्यथित हैं उनकी उस चिन्ताको निरवद्य एवं समुचित प्रक्रिया से निवृत्त करता है। और जो किसी प्रकार की व्याधि-शारीरिक बीमारीसे पीडित हैं उनके रोगका भी उचित एवं निर्दोष चिकित्सोपचार द्वारा परिहार किया करता है। जिनेन्द्र भगवान्, जैनागम, आचार्य, उपाध्याय, साधुओंमें सद्भावयुक्त अनुराग के द्वारा विशुद्ध भक्ति को धारण किया करता है। इस तरह वह गुणों और [illegible] में आदर—विनय वैयावृत्त्य तथा भक्तिभावको [illegible] वात्सल्य गुण से युक्त माना जाता है। जिसकी प्रवृत्ति इसप्रकारकी नहीं है—जो रत्नत्रयरूप गुणों की

आर्यिका श्रावक श्राविकाओं में प्रमोदभावसे युक्त नहीं होता उनके गुणों का अनुरागी होकर उनके अन्तरङ्ग बहिरङ्ग कष्टोंको—मानसिक शारीरिक आधिव्याधियों को दूर करनेमें निष्कपट रूप से यथायोग्य और यथाशक्य प्रयत्नशील नहीं होता वह जिन धर्मका अनुरागी है, अनुयायी है, श्रद्धालु है, रोचिष्णु है, प्रतीति रखनेवाला प्रशमादिगुणों से युक्त सम्यग्दृष्टि है यह किसतरह कहा जा सकता है। क्योंकि वास्तवमें सम्यग्दृष्टि जीव उपर्युक्त गुण धर्मों और उनसे विभूषित सधर्मा व्यक्तियोंमें इतनी अधिक भक्तिसे युक्त हुआ करता है कि मनसे भी वह कभी भी उनके ऊपर आये हुए कष्ट को सहन नहीं कर सकता तो फिर अपना सर्वस्व अर्पण करके भी उनके कष्टों को दूर करने में क्यों चूकेगा? कभी नहीं चूक सकता। ऐसा अवसर आनेपर वह उनके प्रति उपेक्षित नहीं हो सकता। वह तो ऐसे प्रसंग पर विष्णुकुमार मुनिकी तरह सधर्मा गुणवानों के प्रति अपने महान् से महान् साधनोंका सर्वस्व भी अर्पण कर दिया करता है। वह अपने तन मन धन व्रत विद्या विज्ञान और कलाकौशल अधिकार सम्पत्ति आदिको पूर्णरूपसे लगा कर उनका संरक्षण किया/करता है।

इस तरहकी बाह्य प्रवृत्ति अन्तरंग सम्यग्दर्शनका निदर्शन[१] है।

ऊपर लिखे अनुसार सम्यग्दर्शन के अतीचार शंका कांक्षा विचिकित्सा और अन्यदृष्टि प्रशंसासंस्तवके विरोधी होनेके कारण निषेधरूप चार गुण धर्मोंका वर्णन और तदनन्तर सम्यग्दर्शन के प्रकट होजानेपर सम्यक्त्वसहित जीवकी सधर्मा और विधर्माओं के प्रति किस तरहकी प्रवृत्ति हुआ करती है उनको बतानेवाले प्रवृत्ति—विधिरूप चार गुणोंमें से आदि के सधर्माओंके साथ होनेवाली प्रवृत्ति से सम्बन्धित तीन गुणोंका वर्णन समाप्त हुआ। जिसमें उपगूहन या उपबृंहण के द्वारा सधर्मा के दोष और गुणों के विषयमें, स्थितीकरण के द्वारा यदि कोई सधर्मा धर्म के विषयमें शिथिल है अथवा शिथिल होनेके सम्मुख है यद्वा धर्ममें स्थित नहीं रहा है—इस तरहसे उसकी त्रैकालिक अस्थितिको दूर करनेके सम्बन्धमें, और वात्सल्य गुणके द्वारा यदि कोई सधर्मा किसी भी अन्तरंग या बहिरंग कारणसे आधिव्याधिग्रस्त है, खिन्न या विपन्न है, परीषह या उपसर्गसे पीडित है, आधिदैविक या आधिभौतिक कष्टसे संक्लिष्ट है, तो उस समय उसके प्रति सम्यग्दृष्टिका कैसा व्यवहार हुआ करता है इस बातको क्रमसे बताया गया है।

अब मुख्यतया विधर्माओंके प्रति सम्यग्दृष्टिका व्यवहार कैसा हुआ करता है या होना चाहिये इस को स्पष्ट करनेवाले विधिरूप चौथे प्रभावना अंगका वर्णन करते हैं[२] —

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥१८॥

१—तपसः प्रत्यवस्यन्तं यो न रक्षति संयतम्। नूनं स दर्शनाद् बाह्यः समयस्थितिलङ्घनात्॥ यश०

२—श्री सोमदेव सूरीने अपने उपासकाध्ययनमें प्रभावनाको सातवें और वात्सल्यको आठवें नम्बरपर बताया है। इस तरह वर्णनके क्रममें अन्तर पाया जाता है।

अर्थ—अज्ञानरूपी अन्धकारके प्रसारको जिस तरहसे भी दूर करके जिनशासनके माहात्म्य को प्रकाशित करना प्रभावना है।

प्रयोजन—श्रेयोमार्गरूप रत्नत्रयका प्रधानभूत और सबमें प्रथम अंश या रत्न सम्यग्दर्शन है उसके होनेपर दोनों ही अंश या रत्न—सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अवश्य होते हैं। अतएव सम्यग्दर्शनकेलिये प्रयत्न करना सबसे प्रथम आवश्यक है। जिनको वह प्राप्त नहीं हुआ है उन्हें उसकी प्राप्ति—उत्पत्तिकेलिये और जिनको वह प्राप्त होगया है उन्हें उसकी रक्षा—वृद्धि और सफल बनानेकेलिये प्रयत्न करना चाहिये।

सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका यहांपर जो वर्णन किया है वे शरीरके आठ अंगोंके समान हैं। अतः शरीरके प्रत्येक अंगके समान ही सम्यग्दर्शनके प्रत्येक अंगका रक्षण आदि करना आवश्यक है। इनमेंसे पहले चार अंगोंके द्वारा सम्यग्दर्शनरूप शरीरकी अतिचरणसे रक्षा होती है। उसके बाद उपगूहनादि तीन अंगोंके द्वारा भी उसकी रक्षा तो होती है परन्तु साथ ही विशुद्धि की वृद्धि और सफलताकी लब्धि भी होती है। इनमेंसे पहले सातों अंगोंसे सम्बन्धित विषय वहींपर संभव हो सकते हैं जहांपर कि सम्यग्दर्शनका सत्त्व है—जिनको सम्यग्दर्शन प्राप्त है। किंतु जिनको सम्यग्दर्शन प्राप्त ही नहीं हुआ है वहांपर क्या होना चाहिये या उसको क्या करना चाहिये इस सम्बन्धमें स्पष्टीकरणकी आवश्यकता है। इस अन्तिम प्रभावना अंगका वर्णन उसी आवश्यकताको पूर्ण करता है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति स्व और पर दोनों में ही संभव है। मुमुक्षु भव्य प्राणीको सबसे प्रथम अपनी ही आत्मामें सम्यग्दर्शन को प्रकट करने का प्रयत्न करना चाहिये। किंतु यथाशक्य दूसरी आत्माओं में भी उसको प्रकाशित करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

आगम में अन्यत्र[१] प्रभावना अंगका स्वरूप बताते हुए जो उल्लेख किया गया है उससे अपने ही भीतर सम्यग्दर्शन को प्रकट करने के उपदेशकी मुख्यता स्पष्ट होती है। इसके सिवाय यह भी कहा गया है कि "आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं। आदहिद परहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं॥" अर्थात् प्रथम तो आत्महित करना चाहिये। और फिर यदि हो सके तो परहित भी करना चाहिये। परंतु आत्महित और परहित इन दोनों में आत्महित अच्छी तरह करना चाहिये अतएव स्पष्ट है कि अपनी आत्मामें सम्यग्दर्शनको प्रकट करने के लिए सबसे प्रथम और सबसे अधिक प्रयत्न करना चाहिये।

प्रकृत कारिकामें प्रभावनाका स्वरूप लिखा है उसमें भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं है कि जिससे अपने में ही अथवा परमें ही उसको प्रकट करनेका इकतर्फा अर्थ किया जा सके। किंतु इसका अर्थ दोनों ही तरफ होना है। क्योंकि इसमें केवल इतना ही कहा गया है कि अज्ञान के प्रसार को हटाकर जिनशासनके माहात्म्य को प्रकट करना चाहिये। अतएव इसमें मालुम होता है

१—आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव। दान तपो जिन पूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥

कि ग्रंथकार का आशय दोनोंही तरफ है। अर्थात् स्व और पर दोनोंमें ही अज्ञानको दूर करने और जिन शासन के महत्त्व को स्थापित करने का नाम प्रभावना है ऐसा इसका आशय है। किंतु स्वयं जिसके भीतर सम्यग्दर्शन प्रकट होगया है वह जैसी कुछ परमें प्रभावना कर सकता है वैसी अन्य नहीं। जो स्वयं ही अज्ञान से व्याप्त है तथा जिन शासन के माहात्म्यके वास्तविक प्रकाश से रहित है, वह दूसरेको उस अज्ञानान्धकारसे रहित और उक्त आलोक से प्रकाशित किस तरह कर सकता[१] है? नहीं कर सकता। इस बात पर विचार करनेसे मालुम होता है कि वास्तव में सम्यग्दृष्टि जीव ही परमें प्रभावना करने का अधिकारी है।

दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि यदि दूसरों में धर्मके प्रभावको उत्पन्न करनेकी रीति नीति या कृतिको कभी भी किसीभी तरह यदि मुख्य न माना जायगा तो श्रेयोमार्गकी परम्परा किस तरह चालू रह सकती है। वह तो अवश्यही एक न एक दिन समाप्त हो जायगी।

यद्यपि यह ठीक है कि सर्वज्ञ भगवानके कथनानुसार मोक्षमार्गका संसारमें निरन्वय विनाश कभी नहीं हो सकता। वह अनाद्यनन्त है। अनादिकालसे है। और अनन्त कालतक रहेगा। किंतु यह तो द्रव्यार्थिक नयसे उसके एक अन्वयी स्वरूपका निदर्शन मात्र है। यह वैयक्तिक सिद्धि के कार्य कारणभाव को नहीं बताता। सर्वज्ञके ज्ञान और वैयक्तिक सिद्धि आदि में ज्ञानज्ञेय सम्बन्ध तो कहा जा सकता है परन्तु कार्यकारण सम्बन्ध नहीं माना या कहा जा सकता। और प्रत्येक कार्य की सिद्धि अन्तरंग बहिरंग कारणापेक्ष है। किसीभी कार्य की निष्पत्ति उसकी अन्तरंग योग्यता और बाह्य निमित्तके कारणोंपर निर्भर है। अतएव प्रत्येक सम्यग्दृष्टिका यह भी मुख्य कर्तव्य हो जाता है कि वह मोक्षमार्गके असाधारण अंग सम्यग्दर्शन की संतति के प्रवाह को अव्युछिन्न बनाये रखने के लिए दूसरी आत्माओंमेंसे अज्ञानान्धकारको दूर कर जिनशासन—रत्नत्रय रूप गुणों को प्रकाशित करे और करता रहे। यद्यपि इस विषय में सम्यग्दृष्टि की प्रवृत्ति स्वतः ही हुआ करती है। फिर भी कर्तव्यके आशय को व्यक्त करना इस कारिकाका प्रयोजन है।

शब्दोंका सामान्य—विशेष अर्थ—

अज्ञान शब्दसे ज्ञानका सर्वथा अभाव या अपूर्ण अर्थ न लेकर असमीचीन या मिथ्याज्ञान अर्थ ग्रहण करना चाहिये। यही कारण है कि उसको तिमिर का रूप देकर बताया गया है। दूसरी बात यह है कि ज्ञानका सर्वथा अभाव होता नहीं। यदि ऐसा हो तो सभी गुणों और द्रव्यों का अभाव का प्रसंग आ सकता है। तथा जबतक केवलज्ञान नहीं होता तबतक प्रत्येक व्यक्तिका ज्ञान छद्मस्थ होने के कारण अपूर्ण ही रहा करता है। अतएव जो ज्ञान मोहपरिणाम से आच्छन्न है अथवा प्रतिभासमान विषय के स्वरूप से वास्तवमें व्यभिचरित है वही ज्ञान अज्ञान शब्दसे कहा जाता है। मतलब यह कि यहांपर अज्ञान से अभिप्राय मिथ्याज्ञान का ही लेना चाहिये। जिसतरह अन्धकार के सर्वत्र व्याप्त हो जानेपर पास का भी पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता उसीतरह जबतक अज्ञान मिथ्याज्ञान जीवोंके अन्तरंग में व्याप्त है तबतक उनको

१—स्वावभासनाशक्तस्य परावभासकत्वायोगात्।

पासका अपना भी स्वरूप दिखाई नहीं पडता। वास्तवमें अपने विषय में या तो अनध्यवसित या शंकित अथवा विपर्यस्त रहा करता है। साराही जगत् निविडअन्धकार के समान इन तीनों ही अज्ञानोंसे व्याप्त[1] है, जिनके कि कारण अपना स्वरूप या हित दिखाई नहीं पडता।

अपाकृत्य—यह एक क्रियापद है। व्याकरण के अनुसार वाक्यमें यह मुख्य क्रियापद नहीं है। मुख्य क्रियाके पूर्व होनेवाली या की जानेवाली अथवा पाई जानेवाली क्रियाका यह बोध कराता है। मुख्य क्रिया तो जिनशासन के माहात्म्यको प्रकाशित करना है। किंतु प्रकृत कृदन्त क्रियापद का मुख्यतया आशय यह है कि जबतक जीवोंके अन्तरंग में अज्ञान तिमिर व्याप्त है तबतक उनके भीतर जिनशासन के माहात्म्य का प्रकाश उद्भूत नही हो सकता। जिस तरह मलिन वस्त्रपर कोई भी रंग अच्छीतरह नही चढ सकता। अथवा काले रंगपर दूसरा रंग असर नहीं करता, उसी प्रकार जबतक आत्मा मिथ्याज्ञानरूपी तिमिर से मलिन या काली हो रही है तबतक उसपर सदुपदेशका कोई भी परिणाम नहीं हुआ करता, तीन प्रकारकी मानीगई परिणतियोंमें क्रम भी यही है कि पाप परिणतिके छूटे बिना पुण्य परिणति और पुण्य परिणति के छूटे बिना वीतराग—शुद्ध परिणति नही हुआ करती। अतः जिसतरह रात्रीके अभावपूर्वकही प्रातःकाल हुआ करता है उसीप्रकार अज्ञानके विनष्ट होनेपरही जिनशासन के माहात्म्यका प्रकाश हुआ करता है।

यथायथम्—इस शब्दका आशय इतना ही है कि जिसउपाय से भी शक्य हो उसी उपाय[2] से। किंतु इस उपाय से यह छल ग्रहण नहीं करना चाहिये कि प्रभावना के लिये अनुचित उपायका भी आश्रय लिया जा सकता है। अथवा यहांपर आचार्य यद्वा तद्वा-उचित अनुचित किसी भी तरह से प्रभावना करनेका उपदेश दे रहे हैं। किंतु यहां आशय उचित उपाय का ही आश्रय लेनेका है। हां, प्रभावना के लिये जो उचितरूप अनेक उपाय संभव हैं उनमेंसे प्रसंगानुसार जो भी उपाय आवश्यक हो उसका आश्रय लेना चाहिये यही ग्रंथकारका आशय है।

यहांपर यह बात भी ध्यान में रहनी चाहिये कि उचित प्रवृत्तिके विरोध में होनेवाले कार्य आक्रमण—खंडन आदिके विरुद्ध प्रवृत्तिको अनुचित नहीं माना या कहा जा सकता। क्यों कि जिस तरह निषेध का निषेध विधि होता है उसीप्रकार अनुचित आक्रमण या विरोधकी निवृत्ति अथवा परिहार के लिये जो भी उपाय काम में लिया जाता है वह भी उचित ही माना जा सकता है।

प्रभावना अंगमें प्रसिद्ध हुए जिन महान् व्यक्तियोंका नामोल्लेख किया जाता है उनके इतिवृत्त का अध्ययन करनेपर मालुम होता है कि उन्होने किसी के ऊपर अन्यायपूर्ण आक्रमण करके धर्म की प्रभावना नहीं की। जिन्होने भी प्रभावना की है उन्होने प्रायः करके अपने सिद्धान्त

१—हितमेव न वेत्ति कश्चन, भजतेऽन्यः खलु तत्र संशयम्। विपरीतरुचिः परो जगत्—त्रिभिरज्ञानतमोभिराहतम्॥ चं० च०

२—यथा अनतिक्रम्य इति यथायथम्।

या मान्य धर्म की महत्ता, निर्बाधसत्यता, और वास्तविक कल्याणकारिताका बोध कराकर विचार परिवर्तन के द्वारा ही प्रभावना की है। हां! कदाचित् आवश्यकता पड़ने पर दूसरोंके द्वारा होने वाले आक्रमण के निवारण में जिन्होने अपनी शक्ति लगाकर धर्मकी प्रभावना की है वह वास्तव में देखाजाय तो आक्रमण नहीं, वल्कि आक्रमण से अपनी रक्षाका प्रकार मात्र कहा जा सकता है।

आचार्यने यथायथ शब्द को देहलीदीपक न्याय से अज्ञान के अपाकरण और जिनशासन की महत्ता के प्रकाशन के मध्यमें रखकर इस बातको स्पष्ट करदिया है कि इन दोनों ही कार्यों के लिये कब२ किन२ उपायों का अवलम्बन लिया जाय इसकेलिये किन्ही खास उपायों का ही नाम अथवा उनकी संख्या आदि निश्चित नहीं की जा सकती। इसका निश्चय तो प्रसङ्ग के अनुसार किया जा सकता है। फिर भी ग्रन्थान्तरों में आचार्योंने उन उपायोंका नामोल्लेख कर दिग्दर्शन भी करादिया है। यथा—अतिशयित दान तप जिनपूजा और विद्या[१] आदि। यद्यपि सामान्यतया गृहस्थों और मुनियों में प्रभावना के लिये पाये जा सकने वाले प्रायः सभी उपायोंका इन चार उपायोंमें समावेश हो जाता है फिर भी विशेष दृष्टिसे विचार करनेपर इसके सिवाय और भी कुछ ऐसी प्रवृत्तियां हैं जो कि जैन धमकी प्रभावना का साक्षात् अथवा परम्परा कारण हो जाती हैं हो सकती हैं, अथवा कही जा सकती हैं।

उदाहरणार्थ—न्याय्यवृत्ति, अहिंसकता, दयालुता, परोपकारता, सत्यनिष्ठा, पवित्रता सदाचार, विवेक, कृतज्ञता और आर्यव्यवहार आदि। जैन धर्मके अनुयायी व्यक्ति यदि अधिक से अधिक प्रमाण में और अधिक से अधिक संख्यामें इन गुणोंका पालन करनेवाले हों तो निःसंदेह वह अजैन समाज पर जैनधर्मके प्रभावका कारण बन जा सकता है। हिंसा चोरी बलात्कार राजद्रोह विश्वासघात जैसे भयंकर पाप करनेवाले व्यक्तियोंकी संख्या आज जैनधर्मके अनुयायियोंमें नहीं हैं अथवा नही के बराबर है यह अवश्यही जैनसमाज के लिये गौरवकी वस्तु है। इसी तरह जैन धर्मके अनुयायियों के विधिरूप कार्योंमें भी यदि अन्यधर्मी लोगोंकी अपेक्षा पवित्रता सत्यता हितैषिता आदि अधिक एवं असाधारणरूपसे पाई जाती है तो कहा जा सकता है कि वह जैन धर्मके संस्कारों की प्रभावनाका ही परिणाम या फल है।

जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः।—आत्महितके वास्तविक साधनका उपदेश ही जिनशासन है उसकी असाधारण उत्कृष्ट पवित्र हितसाधनताका रहस्य सर्वोपरि महान् है। इसीका नाम तीर्थ है। प्राणीमात्रका वास्तविक हित यदि हो सकता है तो इसके अनुसार चलनेपर ही हो सकता है। संसारी प्राणी किसी गति योनि या अवस्थामें क्यों न हो और क्यों न रहे वह तबतक दुःखी ही है—वह दुःखोंसे उन्मुक्त नहीं हो सकता जबतक कि वह जिनशासनसे बहिर्भूत बना हुआ है।

१—आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव। दान तपो जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥ पु० सि०। चैत्यैश्चैत्यालयैर्ज्ञानैस्तपोभिर्विविधात्मकैः। पूजामहाध्वजाद्यैश्च कुर्यान्मार्गप्रभावनम्॥ यश०

जिन्होंने अज्ञान मोह और दौर्बल्यको निर्मूल नष्ट कर अपने पूर्ण ज्ञान सुख शान्ति तथा अनन्त बलको प्राप्त करके जो निश्चित निर्बाध निराकुल स्वाधीन अपरिवर्त्य अनन्त सुखका स्वरूप एवं उसकी सिद्धिका मार्ग बताया है , वे और उनका वह निर्दिष्ट मार्ग ही सर्वथा सत्य है और उपादेय है। उसीसे संसार और तापत्रय सदा केलिये छूट सकते हैं। इस तरहकी ज्ञानमें प्रतीति की दृढ़ताका आ जाना ही जिसको कि आस्तिक्य आदि शब्दोंसे भी कहा जाता है, जिनशासन के माहात्म्यका प्रकाश होना है। जिसके कि होनेपर उस मार्ग और उसके वक्ताके प्रति उसके हृदयमें भक्ति तुष्टि प्रमोद रुचि आदि का भाव जागृत होता और प्रशम संवेग अनुकम्पा आदि गुण प्रकट होजाया करते हैं।

क्योंकि आत्महितके सच्चे विरोधी या बाधक अपने ही भीतर चिर कालसे—अनादिसे साम्राज्य जमाकर बैठे हुए और उस आत्माको गुलाम-दास बनाकर उसपर शासन करनेवालों में मोह राजा अज्ञान मन्त्री क्षोभ सेनापति और दौर्बल्य गृहमन्त्रीका कामकरनेवाले ही मुख्य हैं। इनको निर्मूल नष्ट करके उनपर विजय प्राप्त करनेवालेकी ही "जिन" यह अन्वर्थ संज्ञा है। किसी व्यक्तिविशेषका यह वैसा नाम नहीं है जैसा कि लोकमें केवल निक्षेपरूपसे व्यवहार चलाने के लिये निरर्थक रखलिया जाता है। यही कारण है कि जैनधर्म किसी एक व्यक्तिके नामसे सम्बद्ध तथा उसीके उपदेशपर निर्भर नही है।

जिस मार्गपर चलकर उन्होंने त्रैलोक्यविजयी जिन अवस्था प्राप्त की है उनके द्वारा बताये हुए उसी उपायका नाम जिनशासन है। उसका माहात्म्य लोकोत्तर असाधारण है। लौकिक किसी भी कार्यकी सिद्धिमें पर पदार्थोंकी अपेक्षा प्रधान हुआ करती हैं, क्योंकि वे स्वाधीन नही हैं तथा प्रयत्न करनेपर भी उनकी सिद्धि निश्चित नही है और वे शुद्ध नहीं रहा करते उनका परिपाक भी अभीष्ट ही नहीं हुआ करता। फिर वे अस्थायी तो रहा ही करते हैं। किंतु यह जिनेन्द्र भगवान्का शासन इनसे सर्वथा विपरीत ही फलको उत्पन्न करता है। इसका फल नियत है, स्थायी है, शुद्ध है, अभीष्ट है, निरपेक्ष है, और स्वतंत्र है। सबसे बडी विशेषता इसमें यह है कि किसी भी जीवको एक बारभी और कमसे कम समयकेलिये भी—अन्तर्मुहूर्तकेलिये भी यदि वह हस्तगत—प्राप्त होजाय तो फिर तीन लोकमें और कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है जो उसे वास्तव में अभीष्ट विजय से रोक सके। यही कारण है कि इस उपायको प्राप्त करनेवाले आत्मा महान् हुआ करते हैं और उनकी वह असाधारण शक्तिकी योग्यता ही जिनशासनका माहात्म्य है। इस शक्तिके आविर्भावको ही सम्यक्त्व कहते हैं। विजयसे मतलब कर्मोंकी शक्तिके पराभूत करनेसे है। क्योंकि इस शक्तिके आविर्भूत होजानेपर कर्मोंमें जो जीवका पंचविधिसंसरण कराने की योग्यता है वह उसी समय नष्ट होजाती है। यही उसकी सर्व प्रथम और महान् लोकोत्तर विजय है।

प्रकाश—शब्दसे आतप उद्योत या रूपगुणकी पर्याय नही लेनी चाहिये जो कि पुद्गलकी

पर्याय[1] हैं। यहां तो पुद्गलसे सर्वथा भिन्न आत्माकी शक्तिके प्रकट होनेको ही प्रकाशशब्द से समझना चाहिये। आत्माकी इस शक्तिके प्रकट होनेपर उसके प्रत्येक गुण अपने वास्तविक रूपमें आजाते हैं। यद्यपि आत्माको और उसके उन अनन्तगुणोंको अपने पूर्ण विशुद्धरूपमें आने केलिये कुछ समयकी अपेक्षा रहती है जिसका कि सामान्यतया प्रमाण अन्तर्मुहूर्तसे लेकर अर्थ-पुद्गलपरिवर्तनतक बताया है फिर भी यह निश्चय है कि विवक्षित आत्मशक्तिके प्रकट होजाने पर इस अवधिके भीतर जीवात्मा बहिरात्म अवस्थाको छोडकर और अन्तरात्म अवस्थाको पाकर परमात्म अवस्थाको प्राप्त अवश्य करलेता है। यह माहात्म्य जिनशासनमें ही है, अन्य किसीमें भी नहीं है। यही कारण है कि उसको हमने लोकोत्तर कहा है। जिसका स्वरूप लोकोत्तर और फल लोकोत्तर फिर उसके माहात्म्यको—लोकमें पाये जानेवाले अन्य किसीभी पदार्थसे जो संभव नहीं उस असाधारण अतिशयको लोकोत्तर क्यों न माना जाय।

प्रभावना—यद्यपि यह शब्द प्र पूर्वक भू धातुसे ही बना[2] है किंतु वह दो तरहसे बन सकता है।—चुरादिगणकी णिच् प्रत्यय होकर अथवा प्रयोजक अर्थमें णिच् प्रत्यय होकर। दोनोंके अर्थमें जो विशेषता है वह प्रयोज्य प्रयोजक की है।

तात्पर्य—यह है कि प्रभावना के विषय स्व और पर दोनों ही हो सकते हैं। क्यों कि जिसतरह सम्यग्दर्शनादि गुणोंको अपनी आत्मामें प्रकाशित किया जाता है या किया जा सकता है उसीतरह परमें भी। जब अपने ही भीतर उद्भूत होनेवाले या किये जानेवाले सम्यग्दर्शन की विवक्षा हो वहां प्रयोज्य की अपेक्षा मुख्य होती है। और जब दूसरी आत्मामें उसके प्रकाशित करने के लिए किये गये प्रयत्न की विवक्षा हो तो वहां प्रयोजकताकी मुख्यता होगी।

सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमजमें से प्रथम भेदमें देशनाके निमित्त होते हुएभी उस की गौणता मानी जाती है। क्योंकि अल्पप्रयत्न की अवस्थामें उस प्रयत्नको मुख्य नहीं माना जाता। परन्तु वही देशना का प्रयत्न यदि बार बार और अधिकताके साथ किया जाय और उससे सम्यग्दर्शन प्रकट हो तो वहां प्रयत्न की मुख्यता मानी जाती है। उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं[3]। यह विवक्षा की बात है। क्योंकि सामान्यतया दोनोंही सम्यग्दर्शनोंमें देशना निमित्त हुआ करती है। इसीतरह विषय अथवा अधिकरण के सम्बन्ध में समझना चहिये। जब अपने ही भीतर स्वयं सम्यग्दर्शन के प्रकाशित करनेकी विवक्षा हो तो वहां प्रयोज्य धर्मकी मुख्यता होगी। और जब दूसरे व्यक्तिकी आत्मामें उसके उद्भूत करने के लिए किए गये प्रयत्न की अपेक्षा हो तो वहां प्रयोजक अर्थकी मुख्यता होगी। यही कारण कि उपगूहनादिकी तरह

१—"शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायातपोद्योतवन्तश्च" त० सू०

२—प्र-भू-णिच्-अन-टाप्।

३—निसर्गोऽधिगमो वापि तदाप्तौ कारणद्वयम्। सम्यक्त्वभाक् पुमान् यस्मादल्पानल्पप्रयासतः। इत्यादि यश० पृ० २२२।

प्रभावना के भी स्व और पर दोनोंही विषय माने गये है। अपनेही भीतर रत्नत्रयको प्रकाशित करना स्वयंकी प्रभावना और दूसरे की आत्मामें उसके प्रकाशित करने को पर की प्रभावना कहा है। ध्यान रहे सम्यग्दर्शन के इन आठ अंगोंमें से निषेधरूप पहले चार अंग अपनीही अपेक्षा मुख्यतया रखते हैं। और विधिरूपसे जिनमें तव्यका बोध कराया गया है ऐसे चारोंही उपगूहनादि अंगोंमें मुख्यता परकी है। यद्यपि उनका पालन स्वयं भी हुआ करता है। इन विधिरूप चार अंगोंमेंसे तीन का सम्बन्ध अन्य सधर्माओंसे और इस प्रभावना का सम्बन्ध मुख्यतया विधर्माओं से है।

विधर्माओं में पाये जाने वाला अज्ञान तीन तरहका हो सकता है—संशय विपर्यय और अनध्यवसाय। इनमें से अन्तिम प्रायः अगृहीत और पहले दोनो गृहीत हुआ करते हैं यही कारण है कि अगृहीत अथवा अनध्यवसायरूप अज्ञानको तिमिर—घोर अन्धकारकी उपमा दी है। जैसा कि अन्य ग्रन्थकारोंने भी किया है।

'केषाञ्चिदन्धतमसायतेऽगृहीतं ग्रहायतेऽन्येषाम्। मिथ्यात्वमिह गृहीतं शल्यति सांशयिकमपरेषाम्[१]॥

अथवा—हितमेव न वेत्ति कश्चन भजतेन्यः खलु तत्र संशयम्।
विपरीतरुचिः परो जगत् त्रिभिरज्ञानतमोभिराहतम्[२]॥

इस अज्ञान अंधकार को दूर करनेके लिए अनेक उपाय बताये[३] है। उनमेंसे यहां ग्रंथकार ने किसीका नामोल्लेख न करके 'यथायथम्' शब्दका ही उल्लेख करदिया है अतएव कब कहां किस उपायसे उसको दूर किया जाय तो उसका उत्तर यही है कि जब जहां जो भी उचित प्रतीत हो और जिससे वह दूर हो सके। जैसा कि पं० आशाधरजीने भी कहा है कि 'यो यथैवानुवर्त्यः स्यात्तं तथैवानुवर्तयेत्[४]।' अज्ञान जब कि अन्धकार के समान है तब उसके विरोधी जिनशासन के माहात्म्यको प्रकाश तुल्य कहना उचित ही है। निबिड अन्धकारमें कहा जाता है कि अपना हाथ भी दिखाई नहीं देता उसी प्रकार अज्ञानका माहात्म्य भी यही समझना चाहिये जहांपर कि अपनी आत्माका वास्तविक स्वरूप दिखाई नही पडे। इसीलिए उसको बहिर्दृष्टि कहा जाता है। जिसतरह उल्लू को अन्धकार में बाहरकी सभी चीजें दिखाई पडती हैं परन्तु सूर्यका प्रकाश देखने में और उस प्रकाश में अन्य वस्तुओंको देखने में भी वह असमर्थ है। उसी प्रकार बहिर्दृष्टि स्थूल जगत को देख सकता है परन्तु आत्माके प्रकाश को नही देख सकता। वह आत्माके सत्य प्रकाशको देखनेमें उसी प्रकार असमर्थ हो जाया करता है जैसे कि समवशरण में अभव्य पुरुष भव्यकूट के देखनेमें[५]।

ऊपर सम्यग्दर्शन के निषेधरूप चार गुणोंमें अन्तिम अमूढदृष्टि अंग का वर्णन किया जाचुका है यहां विधिरूप चारगुणों में अंतिम प्रभावना का स्वरूप बताया गया है। इन

१—सागारधर्मामृत अ० १ श्लोक ५। २—आचार्य वीरनन्दी चन्द्रप्रभ चरित। ३—इसका उल्लेख पहले हो चुका है। ४—धर्मामृत। ५—भव्यकूटाख्यया स्तूपा भास्वत्कूटास्ततोपरे। यानभव्या न पश्यंति प्रभावान्धीकृतेक्षणाः॥ हरिवंश ५७—१०४॥

दोनों गुणों का बहुत कुछ निकट संबन्ध है। जो स्वयं मूढ दृष्टि है वह प्रभावना नहीं करसकता दूसरों को जिनशासनके माहात्म्य से प्रकाशित वही व्यक्ति कर सकता है जिसकी कि दृष्टि स्वयं अमूढ है। अमूढदृष्टि सम्यग्दृष्टि की जिनशासन के माहात्म्य को प्रकाशित करनेमें स्वभावतः ही प्रवृत्तियां हुआ ही करती हैं। इस तरह की प्रवृत्तियां वह विना किसी शंका कांक्षा या विचिकित्साके तो करता ही है परन्तु वैसा करनेमें वह अज्ञानान्धकार के किसी भी अंशसे मूर्छित भी नहीं हूआ करता। क्योंकि ऐसा होने से ही वह जिनशासन के माहात्म्यसे दूसरोंको प्रभावित कर सकता है। यह बात पहले दृष्टांतों द्वारा भी स्पष्ट की जा चुकी है।

सम्यग्दर्शन के लक्षण में जो "अष्टांग" ऐसा क्रिया विशेषण दिया था उसका स्पष्टीकरण करनेकेलिये आठ अंगोंका स्वरूप यहां तक बताया गया है। यही एक विशेषण है जो सम्यग्दर्शन के वास्तविक स्वरूप को बताता है। यद्यपि आचार्योंने अपने २ प्रकरण पर सम्यग्दर्शन के भिन्न २ अन्य अनेक प्रकार से भी लक्षण बताये है परन्तु प्रकृत लक्षण में उन सभी का प्रायः अन्तर्भाव होजाता है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग भी दूसरी २ तरहसे अन्यत्र[१] आचार्योंने बताये हैं। किन्तु यहां पर बताये गये ये आठ अंग अपनी एक विशिष्ट असाधारणता रखते हैं। क्योंकि इनके द्वारा सम्यग्दर्शन के स्वरूपका विधिप्रतिषेधरूप दोनों ही तरह परिचय प्राप्त होता है। यहांपर प्रथमानुयोग करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इस तरह चारों ही अनुयोगों में वर्णित सम्यग्दर्शन से सम्बन्धित समस्त तत्त्वों को दृष्टि में रक्खागया है। तथा सम्यग्दर्शन के अस्तित्व का अनुमानद्वारा ज्ञान होनेकेलिये साधनरूप में बतायेगये प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्यका भी इनके साथ अविनाभाव सिद्ध होता है। और निरतिचार सम्यग्दर्शन से युक्त जीवकी अन्तर्वृत्ति और बहिः प्रवृत्ति किस तरहकी हुआ करती है इस बातका भी इनसे बोध होजाता है।

पौराणिक एवं ऐतिहासिक जिन महान् व्यक्तियोंने उपर्युक्त सम्यग्दर्शन के आठ अंगोंका आदर्श पालन किया उनका नामोल्लेख स्वयं ग्रन्थकार आगे कर रहे हैं। ध्यान रहे ये नाम एक एक अंगके पालन करनेमें आदर्श व्यक्तियोंके हैं। जिनके कि चरित्रका अध्ययन करने से इस बातकी शिक्षा मिलती है कि किसी भी अंगका पालन आदर्श रूपमें किस तरह होना चाहिये और उन में से उस केवल एक ही अंगका पालन जबकि उनको अनन्त अविनश्वर निर्बाध पूर्ण सिद्ध अवस्थातकका कारण बनगया तो सम्पूर्ण अंगोंसे युक्त सम्यग्दर्शन के प्राप्त करने वाले व्यक्ति यदि सहज ही परमाप्त अवस्थाको प्राप्त करलें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

सम्यग्दर्शन की उद्भूति अपने विपक्षी मोहनीय कर्मकी पांच अथवा सात प्रकृतियों के उपशम क्षय अथवा क्षायोपशमसे हुआ करती है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शनमोहनीयकी एक मिथ्यात्व और चारित्रमोहनीय में परिगणित चार अनन्तानुबन्धी कषायों के उपशमसे सर्वप्रथम

१—संवेओ णिव्वेओ निन्दा गरहा य उवसमो भत्ती। वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते

औपशमिक सम्यग्दर्शन हुआ करता है। इसके बाद क्षायोपशमिक एवं क्षायिक हुआ करता है। इसकेलिये जिन २ आवश्यक एवं असाधारण कारणोंकी आवश्यकता है; उनकारणों के द्वारा जो कार्यरूप सम्यग्दर्शन की निष्पत्ति होती है तथा इतः पर जो फल होता है इन तीनोंमें से मध्यवर्त्ती सम्यग्दर्शन अवश्य ही अपने कारण और कार्य का बोध करादेता है। क्यों कि कोई भी काय जिसतरह अपने कारणका अनुमान कराता है उसीतरह समर्थ कारण१ भी अपने कार्य का अनुमापक हुआ करता है। क्योंकि जिसतरह सम्यग्दर्शन अपने कारणों से जन्य है उसी प्रकार अपने फलका जनक भी है। अतः इन तीनोंकी परस्परमें व्याप्ति भी अव्यभिचरित है। और इसी लिये यदि कोई कारण को, कोई कार्य को और कोई फल को अथवा कोई उसके कर्ता को भी सम्यग्दर्शन नाम से वहता है तो वह कथन मिथ्या नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन से सम्बन्धित भिन्न २ विषयों को भी वे सूचित अवश्य करते हैं। कहांपर वह शब्द किस विषयको सूचित करता है यह बात उसके साधनभेद से जानी जा सकती है। यही कारण है कि आचार्यों ने दर्शन ज्ञान चारित्र शब्दों की और उनके इतर व्यावर्तक—मिथ्यादर्शनादिकसे उनकी भिन्नता सूचित करनेवाले विशेषण रूप सम्यक् शब्द की कर्तृसाधन कर्म साधन करण साधन और भावसाधन आदिरूप से भिन्न२ प्रकार की निरुक्ति की है। यद्यपि ये भिन्न २ साधनसिद्ध सम्यग्दर्शनादि शब्द अपने २ भिन्न २ अंशको ही मुख्यतया सूचित करते है फिर भी वे विभिन्न अंश या विषय परस्परमें विरुद्ध नहीं हैं। क्योंकि उपर्युक्त चारों ही साधनों से सिद्ध सम्यग्दर्शन आदिक एक ही आत्मामें और एक ही समय में पाये जाते हैं। किन्तु उनका युगपत् वर्णन अशक्य होने से एक को मुख्य बनाकर और शेष तीन को उनके अन्तर्भूत करके वर्णन किया गया है और किया जाता है।

यही कारण है कि प्रायः प्रथमानुयोगमें भावसाधन, करणानुयोग में करणसाधन, चरणानुयोग में कर्मसाधन तथा द्रव्यानुयोग में कर्तृसाधन सम्यग्दर्शन आदि की विवक्षा मुख्य रहा करती है। इस तरह यद्यपि सम्यदर्शनादि शब्दों का साधन भेदके अनुसार अर्थ भेद होता है फिर भी वाचक शब्द के रूपमें कोई अन्तर नही है। अत एव यद्यपि प्रकृत में प्रयुक्त उन शब्दों का प्रकरण के अनुसार सीमित अर्थ करना युक्तियुक्त होगा परन्तु अन्यत्र विवक्षित अर्थ से प्रकृत अर्थमें विरोध समझना युक्तियुक्त एवं उचित न होगा। मतलब यही है कि अन्य प्रथमानुयोगादि आगम ग्रन्थों में सम्यग्दर्शनादि के जो भिन्न २ लक्षण किये है उन सबका विषयभेद तो है परन्तु उन में परस्पर कोई विरोध नहीं है। क्योंकि सभी ग्रन्थकर्त्ताओंने जो कि सभी सर्वज्ञ के आगम की आम्नाय एवं अनेकान्त तत्त्व के मर्मज्ञ दृढसम्यग्दृष्टि तो थे ही प्रायः महाव्रती ही हैं, एक विषयको मुख्य बनाकर और शेष विषयों से विरोध न पडे इस बातको भी दृष्टि में रख कर ही वर्णन किया है यही बात प्रकृत ग्रन्थ में भी पाई जाती है और समझनी चाहिये।

१—देखो परीक्षामुख अ० ३ सूत्र नं० ५४, ६६, ७३।

प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य[1] ये सम्यग्दर्शनके लक्षण—चिन्ह माने गये हैं। ध्यान रहे ये सराग सम्यग्दर्शनके ही लक्षण हैं न कि वीतराग सम्यग्दर्शनके। इसका अर्थ यह नहीं है कि वीतराग व्यक्तियोंके प्रशमादिक भाव पाये ही नहीं जाते। किंतु उनके तदनुसार बाह्य चेष्टा नही पाई जाती केवल आत्म विशुद्धि मात्र ही उनका फल है।

सराग और वीतराग विशेषण स्वामिभेदके कारण है। सराग व्यक्तियोंके सम्यग्दर्शनको सराग[2] और वीतराग व्यक्तियोंके सम्यग्दर्शनको वीतराग कहते हैं। यों तो सामान्यतया अन्तः परिणामकी दृष्टिसे सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान तक सभी जीव सराग है फिर भी बाह्य चेष्टाओं की अपेक्षा छट्ठे गुणस्थान तकके व्यक्ति सब सराग और उससे ऊपरके सभी वीतराग माने गये हैं। फलतः यह बात समझमें आ जायगी कि चौथे पांचवे और छठे गुणस्थानवालोंके सम्यग्दर्शनका उनकी असाधारण चेष्टा आदिसे परिलक्षित लक्षणरूप प्रशमादिको देखकर अनुमान[3] हो सकता है और उससे यह जाना जा सकता है कि इसके सम्यग्दर्शन है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन अमूर्त आत्माका अमूर्त ही गुण है। इन्द्रियोंद्वारा उसका ग्रहण नहीं हो सकता फिर भी संसारावस्था में कर्मबद्ध होनेके कारण आत्माको कथंचित मूर्त भी माना है। ऐसा यदि न हो तो संसारके सभी व्यवहार, अधिक क्या मोक्षमार्गका उपदेश और उसका पालन भी व्यर्थ ही सिद्ध हो जायगा। अतएव कथंचित मूर्त आत्माके गुणका उसके सहचारी या अविना-भावी गुणधर्म या कार्यको देखकर अनुमान हो सकता है और जाना जा सकता है कि जब इस तरहकी चेष्टा पाई जाती है तो उसका अविनाभावी सम्यग्दर्शन भी यहां अवश्य है। उदाहरणार्थ—पुरुषकी पौरुष शक्ति अदृश्य है—देखनेमें नहीं आती फिर भी अङ्गनारमण, अपत्योत्पादन विपत्तिमें धैर्यका अवलम्बन और कृतनिर्वहण—कार्यको समाप्त करके रहना इन चार कार्योंके द्वारा वह भी जानी जा सकती है। उसी प्रकार अदृश्य भी सम्यग्दर्शन प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्यके द्वारा जाना जा सकता[4] है।

प्रशम आदिका अर्थ बताया जा चुका है कि रागादिके अनुद्रेकको प्रशम, संसार और उसके कारणोंसे भयभीत रहनेको संवेग, दयापरिणामको अनुकम्पा, और तत्त्व यही है इसी प्रकारसे है न अन्य है न अन्य प्रकारसे है इस तरहकी दृढ प्रतीतिको आस्तिक्य कहते हैं। ऊपर यह बात भी बताई जा चुकी है कि सम्यग्दर्शनके प्रतिपक्षी कर्म मूलमें चार अनन्तानुबन्धी कषाय और एक मिथ्यात्व है। जिनमें मिथ्यात्व सर्वोपरि है। आत्माके सभी गुण इससे प्रभावित रहा करते

१—तत् द्विविधं सरागवीतरागविषयभेदात्। प्रशम संवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तलक्षणं प्रथमम्। आत्म-विशुद्धिमात्रमितरत्। स० सि० १-२।

२—ज्ञे सरागे सरागं स्याच्छमादिव्यक्तिलक्षणम् ।विरागे दर्शनं त्वात्मशुद्धिमात्रं विरागकम् ॥अनगार २-५१।

३—देखो अनगारधर्मामृत अ० २ श्लोक ५३।

४—यथाहि पुरुषस्य पुरुषशक्तिरियमतीन्द्रियाप्यंगनाजनांगसभोगापत्योत्पादनेन च विपदि धैर्यावलम्बनेन वा प्रारब्धवस्तुनिर्वहणेन वा निश्चेतुं शक्यते तथा आत्मस्वभावतयाऽतिसूक्ष्मयत्नमपि सम्यक्त्वरत्नं प्रशमसंवेगा-नुकम्पास्तिक्यैरेव वाक्यैराकलयितुं शक्यम् ॥ यश० आ० ६ पृ० ३२३।

हैं चैतन्य अथवा ज्ञान शक्तिपर इसके प्रभावका परिणाम यह होता है कि आत्मा या वस्तुमात्रके तथाभूत स्वरूपके विषयमें वह जीव सर्वथा निःशंक नहीं हो पाता। आत्माके वास्तविक स्वरूप के विषयमें उसको संशय अथवा विपर्यास यद्वा अनध्यवसाय बना ही रहता है। किंतु मिथ्यात्व का उदय न रहनेपर उस विषयमें उसकी प्रतीति दृढ हो जाती है। दृष्टिमें सम्यक्तत्त्वके आ जाने पर उसकी प्रतीतिका स्वरूप ठीक वैसा ही हो जाता है जैसा कि कारिका नंबर ११ में बताया गया है। इसको आस्तिक्य कहते हैं फलतः निःशंकित अंगके साथ आस्तिक्यका जो सम्बन्ध है वह स्पष्ट है।

अनन्तानुबन्धी चतुष्क दो भागोंमें विभक्त हैं एक राग और दूसरा द्वेष। सम्यग्दृष्टिको अनन्तानुबन्धी रागके न रहनेसे संसारके किसी भी विषयकी आकांक्षा नही रहती फलतः निःकांक्ष अंग स्वयं बन जाता है। जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता अनन्तानुबन्धी रागके उदयके कारण यह जीवात्मा बहिर्दृष्टि रहा करता है और संसारके सभी प्रिय लगनेवाले विषयों में कांक्षावान् ही बना रहता है। उस रागके हट जानेपर वह निःकांक्ष[1] होजाता है फलतः यह स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शनके निःकांक्षअंगके साथ प्रशम भावका अजहत् सम्बन्ध है। अनन्तानुबन्धीका दूसरा भाग है द्वेष। इसका जबतक उदय रहता है मोक्षमार्ग उसके विषय अथवा आयतनोंमें जीवको अरुचि अथवा ग्लानि[2] रहा करती है। उस कषायके नष्ट हो जानेसे वह नहीं होती। वह अपने शुद्ध आत्मस्वरूपका रुचिमान हो जानेसे बाह्य शरीरादिकसे प्रीतिको दुःखरूप संसारमें भ्रमणका कारण समझकर उनसे भयभीत रहता है। फलतः उसका सम्यग्दर्शन निर्विचिकित्स और संवेगभाव से युक्त रहा करता है। तथा उन सधर्माओंके रागादिसे पीडित शरीरको देखकर परम अनुकम्पासे युक्त रहा करता है।

दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धीकषायके नष्ट होजानेपर ज्ञान सम्यग्व्यपदेशको प्राप्त होजाता है। प्रमाणभूत सम्यग्ज्ञानका फल आचार्योंने तीन प्रकारका बताया है—हान, उपादान और उपेक्षा[3]।

हेय तत्त्वोंमें उसकी प्रवृत्ति नहीं हुआ करती।

सम्यग्दर्शनके विरोधी कापथ, कापथस्थ, कुतत्त्व आदिकमें यह मन वचन कायसे भी संपर्क नही करता जैसाकि कारिका नं० १४ में अमूढदृष्टिताका स्वरूप बताया जा चुका है। मोहके उदयसे होनेवाली मूर्छा या मूढता ही सबसे बडा चैतन्यका घात है। फलतः इसके विरुद्ध चैतन्य का अथवा जीवके दृष्टिकोणका अमूढ बनजाना ही परम करुणाभाव है। जिसके कि होजानेपर वह स्व और परका परम हितरूप अनुग्रह करनेमें समर्थ हो जाया करता है। वह स्वयं तो आत्म-हितका घात करनेवाले कापथ आदिमें त्रियोगको प्रवृत्त नहीं ही होनेदेता परन्तु जो उसमें प्रवर्त-

१—राग उदे भोगभाव लागत सुहावनेसे, विना राग ऐसे लागे जैसे नाग कारे है। इत्यादि

२—अमज्जनमनाचामो नग्नत्वं स्थितिभोजिता। मिथ्यादृशो वदन्त्येतन्मुनेर्दोषचतुष्टयम् ॥इत्यादि॥यश०

३—हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्। परीक्षा मुख।

मान हैं उन्हें भी उससे यथाशक्य वचाने का प्रयत्न किया करता है। किंतु ध्यान रहे प्रयत्न करने पर भी सफलता नहीं मिलती तो उन तीव्र मोही जीवोंपर वह द्वेष नहीं करता। यदि कापथादिमें राग नहीं है तो उसके निवारणके प्रयत्नमें असफलता मिलनेपर उसे द्वेष भी नहीं होता। यह रागद्वेषका अभाव ही उसकी उपेक्षा है। वह परम करुणावान् होनेके कारण अपायविचय या उपायविचय नामक धर्मध्यानका पालन किया करता है। जो कि आत्माको विशुद्ध बनानेवाला है। अथवा निमित्त[1] मिलनेपर लोकोत्तर पुण्य कर्म तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धका भी कारण होजाया करता है।

दूसरी वात यह है कि दर्शनमोहके उदयका प्रभाव जिस तरह उपयोग पर पडता है उसी तरह चारित्र पर भी अवश्य पडता है। क्योंकि दर्शनमोहके उदयका अभाव हुए विना चारित्रमोहके उदयका अभाव नहीं हुआ करता। चारित्रका सम्बन्ध चारित्रमोहके क्षयोपशमादिसे तो है ही साथ ही वीर्यगुणसे भी है। वीर्यगुण पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्मके उदयसे प्राप्त मनोवर्गणा वचनवर्गणा तथा आहारवर्गणाओंके निमित्तको पाकर जो प्रवृत्ति करता है उसीको आगममें योग नामसे कहा है। निमित्तभेदके अनुसार उसीके मनोयोग वचनयोग और काययोग इस तरह तीन भेद हैं। इस तरह विचार करनेपर मालुम होगा कि दर्शनमोहके उपशमआदिका वीर्यगुणके परिणमनरूप योगोंपर भी प्रभाव अवश्य पडता है। फलतः सम्यग्दृष्टिके मन वचन कायकी प्रवृत्ति कापथ और कापस्थोंके विषयमें नहीं हुआ करती। यही कारण है कि सम्यग्दर्शनके चौथे अंग—अमूढदृष्टिके स्वरूपका वर्णन करते हुए आचार्यने कापथ और कापथस्थोंके विषयमें असम्मति अनुत्कीर्ति एवं असंपृक्तिका निर्देश किया है। जिसका आशय यही है कि सम्यक्दृष्टि जीव मिथ्यात्वादिको न अच्छा समझता है न उसकी प्रशंसा करता है और न उनका सेवन ही करता है। किंतु इसका यह अर्थ भी नही है कि वह मिथ्यादृष्टियोंसे द्वेष करता है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। वह तो परम करुणाका धारक हुआ करता है और इसीलिये वह तो उनके भी हितके लिये ही प्रवृत्ति किया करता है। प्रभावना अंगका प्रयोजन उनको इस लोक तथा परलोकमें वास्तविक हितरूप मार्गमें प्रवृत्त करना ही है।

तीसरी बात यह है कि गुणस्थानोंकी उत्पत्तिके कारण मोह और योग हैं। जैसा कि ऊपर के कथन से स्पष्ट हो जाता है। मोह—दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय के उदय उपशम क्षय क्षयोपशम और तज्जन्य परिणाम तथा उनसे प्रभावित वीर्य के परिणामरूप योगों के द्वारा गुणस्थानों का उद्भव हुआ करता है। वीर्यगुण की प्रकृत में दो अवस्थाए विवक्षित हैं। क्षायोपशमिक और क्षायिक। वारहवे गुणस्थान तक क्षायोपशमिक और उससे ऊपर क्षायिक अवस्था है जैसे २ मोह के उदयादिजनित भावोंमें अन्तर पडता जाता है वैसे २ विशुद्धिके बढ़ते जानेसे योगरूपमें काम करनेवाले वीर्यगुणके क्षायोपशमिक भावोंमें भी विशुद्धताका अन्तर अवश्यही

१—तित्थयरबंधपारभया णरा केवलिदुगंते॥गोम० सा०। अथवा आदिपुराण तीर्थकृत्त्वभावना। यद्वा-अनगारधर्मामृत श्रेयोमार्गानभिज्ञा[illegible]।

पडता जाता है और उसकी विशुद्धि भी उत्तरोत्तर बढती ही जाती है। अतएव उसके तीनों ही योगोंकी प्रवृत्ति ऐसे किसी भी विषय में न तो होती है और न हो सकती है जो कि मिथ्यात्व अथवा उसके सहचारी भावों के अनुकूल हो।

ध्यान रहे सम्यक्त्व के हो जानेपर जीवका चौथा गुणस्थान तो होता ही है अतएव यह कहनेकी आवश्यकता नही रहती कि चतुर्थादि गुणस्थानोंके होनेपर ज्यों २ मोह में अंतर पडता जाता है—जितने २ अंशोंमें उसके उदय का अभाव होता जाता है त्यों २ उतने २ ही अंशमें योग में भी अन्तर का पडना—मलिनता छूटकर विशुद्धि का बढते जाना भी स्वाभाविक है। यही कारण है कि चतुर्थ गुणस्थानके होनेपर उस जीवके ४१ प्रकृतियोंका बन्ध नहीं हुआ करता। मतलब यह कि उसका मन वचन काय एसे किसी भी कार्यमें प्रवृत्त नहीं हो सकता, न होता ही है जो कि विवक्षित ४१ कर्म प्रकृतियोंमें से किसी के भी बन्धका कारण हो। फलतः वह अवर्णवाद नहीं करता, क्योंकि उसके मिथ्यात्वका बन्ध नहीं होता; वह वेश्यासेवन परस्त्रीगमन आदि व्यभिचार का सेवन नहीं करता क्यों कि उसके नपुंसक या स्त्री वेद का बन्ध नहीं होता वह दूसरेकी निंदा व अपनी प्रशंसा अथवा गुणाच्छादन दोषोद्भावन आदि नहीं किया करता क्योंकि उसके नीच गोत्रका बन्ध नहीं होता, वह मद्य मांस मधुका सेवन नहीं करता, न तीव्र आरम्भ या परिग्रहके लिए अन्यायरूप प्रवृत्ति ही करता है क्योंकि उसके नरक और तिर्यग् आयुका बन्ध नहीं होता। अस्तु इसी तरह समस्त ४१ कर्मप्रकृतियोंके विषयमें समझलेना[१] चाहिये।

मतलब यह कि चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि असंयत होता है उसके न तो त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसाका ही त्याग होता है और न वह इन्द्रियोंके विषय से ही विरत रहा करता[२] है। अतएव कदाचित कोई यह समझे कि उसकी प्रवृत्ति अनर्गल रहा करती है। सब कुछ करते हुए भी—मद्यमांसादि का भक्षण, वेश्या व्यसनादिका सेवन, हिंसा चोरी आदि अन्यायोंको करते हुए भी वह सम्यग्दृष्टि ही बना रहता है तो यह ठीक नही है। अथवा कोई यह समझे कि सम्यग्दृष्टि तो अबन्ध हुआ करता है—उसके कर्मका बन्ध होताही नहीं[३] तो इसतरहका समझना सर्वथा मिथ्या है और सिद्धांतके विरुद्ध है।

असंयत कहनेका आशय इतना ही है कि उसके पांचवे गुणस्थान के समान निरतिचार अणु व्रतादिक नहीं हुआ करते। और अबन्ध कहनेका आशय इतनाही है कि संसारकी कारणभूत

१—देखो गोमट्टसार में बन्ध व्युच्छित्ति प्रकरण तथा तत्त्वार्थसार राजवार्तिक आदिमे तत्तत् कर्मों के बन्धमें कारण बताई गई क्रियाओंका उल्लेख और तत्त्वार्थ सूत्रके केवलीश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शन मोहस्य। परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद् गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य "की व्याख्या आदि। २—णो इन्दियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापी। जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो॥ गो० जी०। ३—जैसा कि शुद्ध निश्चयैकान्तावलम्बी कहा करते हैं। तथा इसके लिये देखो समयसार गा० नं० १६६ की टीकाएं आदि।

मिथ्यात्वादि ४१ कर्म प्रकृतियोंका बन्ध नहीं हुआ करता। तथा बन्धनेवाली पाप प्रकृतियोंमें स्थिति एवं अनुभाग का बन्ध मिथ्यादृष्टि के समान तीव्र नहीं हुआ करता। वह स्वभावसे ही इतना विरत रहा करता है कि जिससे उसके मन वचन कायकी इसतरह की प्रवृत्ति ही नहीं हुआ करती जिससे कि उक्त ४१ प्रकृतियोंका तथा उनके सिवाय भी अन्य पाप कर्मोंके स्थिति अनुभागका[1] मिथ्यात्वके उदयसे युक्त जीवके समान बन्ध हुआ करे। आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि के भी पाप कर्म बन्धते हैं परन्तु मिथ्यादृष्टिके समान नहीं। इसी आशय को दृष्टिमें रखकर उसको असंयत एवं अबन्ध कहा गया है। न कि इस अभिप्राय से कि वह मिथ्यादृष्टिके समान सर्वथा असंयत और सिद्धोंके समान एकान्ततः अबन्ध है।

ऊपर जैसा कि बताया गया है असंयत सम्यग्दृष्टि ४१ कर्म प्रकृतियों का जिनसे बन्ध हो ऐसी क्रियाओं में प्रवृत्ति नहीं किया करता। शेष अपने पदके अनुरूप संसार के अथवा गृहस्थाश्रम के सभी कार्य वह किया करता है और उनके अनुसार उसके बन्ध भी हुआ करता है। फिर भी उसकी दृष्टि में अनन्त अविनश्वर अनुपम परमानन्दरूप अपना शुद्ध चैतन्य आजाने के कारण वह मुख्यतया उधरको ही लक्ष्यबद्ध हो जाया करता है। यही कारण है कि उसको संसार शरीर और भोगोंमें वस्तुतः रुचि नहीं हुआ करती[2]। इस अरुचि के ही कारण बध्यमान कर्मों में स्थिति और अनुभाग का बन्ध भी घट जाया करता है। वह मोक्षमार्ग रूप गुणोंका आराधक होनेके कारण स्व या पर सधर्माओंके दोषों का निर्हरण करके उपगूहन और गुणों का संवर्धन करके उपबृंहण, तथा गुणों की अस्थिती की अवस्था में उनका संरक्षण, एवं संस्थित अवस्था में उचित सम्मानादि प्रदान, तद्वत् अनुद्भूत गुणों को विधर्माओंमें भी प्रकट करने का प्रयत्न करके वास्तविक हित या कल्याणका प्रकाशक हुआ करता है।

इस तरह यहांपर सम्यग्दर्शन के निःशङ्कित आदि आठ अंगों का स्वरूप बताया गया है। आगममें इनके सिवाय अन्य प्रकारसे भी आठ अंगों का उल्लेख किया है। यथा—

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती। वच्छल्लं अणुकंपा गुणा हु सम्मतजुत्तस्स ॥

अथवा—

देवादिष्वनुरागिता भववपुर्भोगेषु नीरागता, दुर्वृत्तेऽनुशयः स्वदुष्कृतकथा सूरेः क्रुधाद्यस्थितिः।
पूजार्हत्प्रभृतेः सधर्मविपदुच्छेदः क्षुधाद्यर्दिते,—ष्वङ्घ्रिष्वार्द्रमनस्कताष्ट चिनुयुः संवेगपूर्वां दृशम् ॥

अर्थात्—सम्यक्त्वसहित जीवके ये आठ गुण हैं संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा।

मतलब यह है कि सच्चे देव शास्त्र संघ धर्म और उसके फलमें विना किसी ख्याति लाभ

[1] —पापकर्मोंकी संख्या १०० या ८२ हैं। इनमेसे अस्थिर उपघात आदि पाप कर्मोंका बन्ध सम्यग्दृष्टि के भी होता है।

[2] —जैसा "संसारशरीरभोगनिर्विण्णः।

पूजा की अपेक्षाके अनुरागके होनेको संवेग, संसार शरीर और भोगों में वैराग्यको निर्वेद, अपने द्वारा हुए किसी भी दुर्वृत्तके विषय में पश्चात्ताप करने को निन्दा, अपने घटित दुर्व्यवहारको आचार्य के सम्मुख कथन करनेको गर्हा, अपने पदके विरोधी अनन्तानुबन्धी आदि कषायोंका उद्रेक न होनदेनेको उपशम, अरिहंत सिद्ध आदि पूज्यवर्ग की द्रव्य भावरूप पूजा करनेको भक्ति, अपने सधर्माओंपर आई आपत्तियों के दूर करनेको वात्सल्य, संक्लिष्ट भूख प्यास आदि से पीड़ित जीवों के विषय में मनके दयार्द्र होनेको अनुकम्पा कहते हैं।

ये भी सम्यग्दृष्टि के आठ गुण हैं। परन्तु इनका ऊपरके निःशंकितादिक आठ गुणों में यथायोग्य अन्तर्भाव होजाता है। ये संवेगादिक इस बात को सूचित करते हैं कि सम्यग्दर्शन के होजाने पर जीवकी सांसारिक विषयों में से सराग भावना नष्ट होकर मोक्षमार्ग विषयक बन जाया करती है। क्योंकि कषाय ४ हैं। इनमेंसे सम्यग्दर्शन के होने पर सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय छूट जाता है। जिसके फल स्वरूप उस कषायका विषय अनन्त न रहकर सावधिक विषयमात्र रह जाया करता है। अनन्त नाम संसारका है। संसार और उसके कारणों में उसकी रुचि न रहकर उसके विपरीत मोक्ष और उसके कारणों में रुचि हो जाया करती है। संसार एवं उसके कारणों में अरुचि तथा हेय बुद्धि होजाने पर भी जिसके कारण अभी उनका त्याग करने में असमर्थ है वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि जब सम्यग्दृष्टि जीव संसार और उसके कारणों का प्रत्याख्यान करने में अंशमात्र भी समर्थ नहीं है तब उसकी अरुचिका फल क्या है?

उत्तर—यह ऊपर बताया जा चुका है कि सम्यग्दृष्टि के ४१ कर्म प्रकृतियोंका बन्ध नहीं हुआ करता। इससे समझ लेना चाहिये कि उसकी ऐसे किसी भी विषय में—मिथ्यात्व अन्याय या अभक्ष्यभक्षणादि में प्रवृत्ति नहीं हुआ करती जिससे कि उन कर्मोंमें से किसीका भी बन्ध सम्भव हो। इस अप्रवृत्तिका अन्तरंग कारण, अनन्तानुबन्धी कषाय के उदयमें न रहने से स्वभावतः ही उन विषयों में अरुचिका होजाना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि शेष विषयों में उसकी रुचि है। आशय यह है कि अभी उनको छोड़ने की सामर्थ्य नहीं है। इसका भी अभिप्राय यह है कि रुचि शब्द श्रद्धाका भी वाचक है और अपने योग्य उचित विषय को प्राप्त करने की इच्छाका भी वाचक है। अनन्तानुबन्धी के न रहने से संसार पर्याय और उसके कारणों में रुचि—श्रद्धा नहीं रहती। यह अरुचि उसकी अपने शुद्ध आत्मस्वरूप के विपरीत सभी भावों में है। किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय के नष्ट होनेपर—उदय योग्य न रहजानेपर जीव में वह सामर्थ्य प्रकट हो जाया करती है जिससे कि वह अंशतः संसार शरीर और भोगों को छोड़कर एक देशरूप उस चारित्र को धारण किया करता है जिसका कि इस ग्रन्थमें वर्णन कियागया है।

प्रत्याख्यानावरण का उदय न रहनेपर उनका पूर्ण परित्याग करने में जब समर्थ होजाता है तब उस पूर्ण चारित्रको धारण किया करता है जिसका कि इसी ग्रन्थ में आम्नायका ध्यान रखकर श्रावकाचारका वर्णन करनेसे पूर्व कारिका नं० ४७ से ५० में निर्देश कियागया है और

जिसका कि विस्तृत स्वरूप मूलाचारादि ग्रन्थों में कियागया है। यहांतक सामर्थ्य प्राप्त होजाने पर फिर वह यथाख्यात चारित्ररूप अवस्थाको सिद्ध करने का प्रयत्न किया करता है जो कि संज्वलन कषाय के अभावसे सिद्ध होता है और जिसकेकि साधनका संक्षिप्त संकेत इसी ग्रन्थ के श्लोक नं० १० के उत्तरार्ध में किया गया है और विस्तृत उपदेश समयसार आदि शुद्ध आत्मा के स्वरूप का वर्णन करने वाले ग्रन्थों में किया गया है।

इस तरह विचार करने से मालुम होगा कि सम्यग्दृष्टि जीव अपनी शुद्ध अवस्था के दृष्टिमें आने पर परम उत्साही होजाया करता है। जिस तरह मोहसप्तकके अभावसे दूर होते ही उसका ज्ञान निश्चित रूपसे सम्यक्—विवेक पूर्ण होजाया करता है और दर्शन[1] प्रायः शुद्धस्वात्मानुभूति के पूर्वरूपको धारण किया करता है, उसी तरह उसका वीर्यगुण समस्त प्रतिपक्षियोंको निवेश करके अपने शुद्ध साम्राज्यमें स्थिर होनेका दृढ संकल्प करलिया करता है उसकी अवस्था ठीक परमसाम्राज्यको सिद्ध करनेकेलिये उद्यत हुए उस विजिगीषु राजपुत्र के समान हुआ करती है जो कि अपने लक्ष्यको सिद्ध किये विना उपरत नहीं हुआ करता। हो सकता है कि प्रतिपक्षियों के प्राबल्यवश उसे कदाचित् कुछ समयके लिये विघ्नित भी होना पडे परन्तु अंतमें वह विजयश्रीको प्राप्त करके ही शान्त हुआ करता है। उसीतरह सम्यग्दृष्टि भी प्रतिपक्षियोंसे आक्रान्त अनन्त-गुणरत्नोंसे भरी आत्मा—वसु धराको निष्कंटक बनाकर—सिद्ध करके ही विराम लेता है; फिर चाहे उसे अपने इस लक्ष्य के पूर्ण करने में प्रतिपक्षियोंके उदय के प्राबल्य वश कदाचित् अर्धपुद्गल परिवर्तनतकके लिये भी रुकना ही क्यों न पडे। बाह्य शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेवाले चक्रवर्त्ती के सेनापति के समान उसका अन्तः शत्रुओंको ध्वस्त करनेके लिये उद्यत हुआ उत्साह अप्रतिहत एवं अनिर्वार्य ही हुआ करता है।

किन्तु इसका यह आशय भी नहीं है कि वह अपनी अवस्थाके विषय में अज्ञानी और असावधान हुआ करता है। फलतः अवस्थाके अनुसार वह अपने उन सभी कर्तव्योंका पालन करने में प्रमादी नहीं हुआ करता जो कि उसे अपने लक्ष्यतक पहुंचने में किसी भी अंशमें सहायक हों। यद्यपि इस तरहके कर्तव्य अनेक है फिर भी यहां उन में से कुछ का उल्लेख करते हैं—

उदाहरणार्थ—भक्ति, पूजा, अवर्णवादका निराकरण, आसादनाओं का परिहार और अवज्ञा-वर्जन। ये पांच कार्य हैं जो कि सम्यग्दर्शन में विशुद्धि के वर्धक अथवा साधक है। उसमें योग्यतानुसार— तरतम रूपमें ये सभी बातें पाई जाती हैं।

धर्म और अरिहंतादि पंचपरमेष्ठी, उनकी प्रतिमा और जिनालय तथा द्रव्यभावरूप श्रुत आदिमें विशुद्ध अनुराग का होना भक्ति है। श्रद्धापूर्वक अपनी भिन्न अथवा अभिन्न योग्य व उचित द्रव्य को अरिहंतादिकी सेवामें विधि सहित अर्पण करने का नाम पूजा है। यह दो प्रकारकी है—एक द्रव्यपूजा दूसरी भाव पूजा। जिसमें अपनेसे भिन्न वस्तुओंका समर्पण किया जाय वह द्रव्यपूजा है। भगवान की विधिपूर्वक जल घी दूध दही सर्वौषधि आदिके द्वारा अभिषेक करना और

[1]—अचक्षुदर्शन।

उनको जल गंध अक्षत पुष्प नैवेद्य दीप धूप फल एवं अर्घ समर्पण करना, आरती करना अथवा देवसेवा के लिए भूमि खेत गांव और अभिषेक के लिए गोदान आदि करना, मन्दिरमें वेदी ध्वजा पताका आदि देना, मंगलद्रव्य प्रातिहार्य आदिका निर्माण करना कराना या अर्पण करना आदि सब द्रव्यपूजा है। शरीर से खडे होकर विनय करना, प्रदक्षिणा देना, प्रणाम या कायोत्सर्गादि करना वचनसे जप या स्तवन करना मनमें गुणोंका चिंतवन करना आदि भावपूजा है। केवली श्रुत संघ धर्म और उसके फलके विषयमें मिथ्यादृष्टियों द्वारा किये जानेवाले असद्भूत दोषोंके उद्भावन को सम्यग्दृष्टि सहन न करके उनका निराकरण किया करता है। देवादिके समक्ष या परोक्ष ऐसी कोई भी चेष्टा वह नहीं किया करता जो कि उनके प्रति अविनयको सूचित करनेवाली हो। इसीका नाम अवज्ञावर्जन अथवा आसादनाओं का परिहार कहते हैं।

इनके सिवाय और भी सम्यग्दृष्टिके अनेक कार्य होते हैं जो कि सम्यक्त्वके कार्य होनेके कारण सम्यक्त्व के ही गुण अथवा स्वभाव कहे जा सकते हैं। क्योंकि जिस तरह सूर्यके उदयका प्रभाव प्रकृतिके प्रत्येक अंशपर पडता है उसीतरह सम्यक्त्व के सूर्यके प्रकट होतेही जीवकी श्रद्धा रुचि प्रतीति और वाचिक कायिक व्यवहार में इसतरह का अपूर्व परिवर्तन हो जाया करता है जो कि उसको मोक्षमार्ग में बढनेके लिए उत्कंठा एवं उत्साह के लिए प्रेरणा प्रदान किया करता है। अथवा शरीर के प्रत्येक अंशमें व्याप्त विषजनित मूर्छाके दूर होतेही जिस तरह सर्वांशमें अपूर्व स्फूर्ति आजाती है उसीप्रकार मोह या मिथ्यात्वका आत्माके प्रत्येक अंशपर पडनेवाले प्रभावका अभाव होतेही जीवके सभी अंशों में मोक्षमार्गके अनुकूल परिवर्तन हो जाया करता है। राजा के सावधान होनेपर राज्यके सभी अंग अनुकूल कार्य करते हैं। निरोगता प्राप्त होनेपर शरीरके आठोंही अंग सवल हो जाते हैं उसीप्रकार सम्यक्त्वके उत्पन्न हो जानेपर सभी अंग सावधान और सवल होकर प्रतिपक्षी कर्मोंको दूर करनेके लिए प्रयत्नशील और आत्मशक्तियोंके पूर्ण विशुद्ध करने में समर्थ हो जाया करते हैं।

सम्यग्दर्शनके आठ अंग हैं। इनमेंसे प्रत्येक अंगमें एक एक व्यक्तिका नाम आगममें दृष्टान्तरूप से बताया गया है। उन्ही इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियोंका नाम यहांपर ग्रन्थकर्ता आचार्य बताते हैं।—

> तावदंजनचौरोंगे ततोऽनन्तमतिः स्मृता।
> उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता॥ १९॥
> ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः[१]।
> विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्ष्यतां[२] गताः[३] ॥२०॥

अर्थ—आठ अंगोंमेंसे सबसे पहले अंगमें अंजन चोर और उसके बाद क्रमानुसार दूसरे

१—परं इत्यपि पाठः। २—दृष्टांतत्वम्। ३—प्रायः मुद्रित प्रतियोंमें "गतौ" ऐसा पाठ पाया जाता है परन्तु 'गताः' पाठ ही उचित है।

अंगमें अनन्तमति, तीसरे अंगमें उद्दायन[1] राजा और चौथे अंगमें रेवती रानी दृष्टांतरूप मानी गई है। इसीप्रकार शेष चार अंगोंमें भी चार व्यक्ति प्रसिद्ध हैं। यथा—पांचवें में जिनेन्द्रभक्त, तत्पश्चात् छठे अंगमें वारिषेण और शेष सातवे व आठवे अंगोंमें क्रमसे विष्णुकुमार और वज्रकुमार निदर्शनरूप माने गये हैं।

प्रयोजन—किसी भी एक सैद्धांतिक विषय का यदि दृष्टांतद्वारा स्पष्टीकरण कर दिया जाय तो वह अच्छीतरह समझमें आजाता है। इसीलिये कहा गया है कि "दृष्टान्तेहि स्फुटा मतिः"[2] यहांपर दृष्टान्त के ही अर्थमें आचार्यने लक्ष्य शब्दका प्रयोग किया है। दोनों का आशय एक ही है जैसा कि इन शब्दोंके अर्थसेही जाना जा सकता है। वादविवादके अवसरपर यदि दृष्टांत का प्रयोग न किया जाय तो हानि नही है; ऐसा होते हुए भी विषयके निदर्शनार्थ न्यायशास्त्रमें भी अन्वय दृष्टांत और व्यतिरेक दृष्टांत माने हैं[3]। फिर जहां साधारण श्रद्धा बुद्धि रखनेवाले मुमुक्षु भव्यको हितोपदेश के रहस्य का भलेप्रकार परिज्ञान कराना है वहां तो दृष्टांत देना उचित और आवश्यक हो जाता है। यही कारण है कि सूक्ष्म अवक्तव्य सम्यग्दर्शनका और उसके अंगोंका पालन किसतरह करना चाहिये इसका परिज्ञान तत्तत् घटनाओं का वर्णन करके ही समझाया जा सकता है। और इसीलिए प्रत्येक अंगके पालन करनेकी शिक्षा देनेवाले आठोंही अंगों में प्रसिद्ध आठ व्यक्तियों का नाम यहां बताया गया है। इन व्यक्तियोंकी कथा पढ़कर उन उन घटनाओंपर ध्यान देनेसे श्रोताओंको मालुम हो सकेगा कि उन उन अंगोंका पालन कब और किसतरह करना चाहिये। और यथा अवसर उनका पालन करनेसे किसतरहका फल प्राप्त हुआ करता है।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—

तावत्—यह अव्यय है जो कि क्रम और प्रथम अर्थ बताता है। कभी कभी वाक्यालंकारमें भी इसका प्रयोग हुआ करता है। यद्यपि कोशमें इसके और भी अर्थ बताये हैं। परन्तु यहांपर ये तीनों अर्थ विवक्षित हैं। जिससे अभिप्राय यह निकलता है कि प्रकृत उपर्युक्त आठ अंगोंमेंसे क्रमानुसार पहले अंगमें अंजनचोर लक्ष्यरूप दृष्टांतभूत माना गया है।

अंग—शब्दके भी शरीर, कारण आदि अनेक अर्थ होते हैं परन्तु यहांपर अवयव अथवा विभाग या अंश अर्थ करना चाहिये।

ततः—शब्द दोनों कारिकाओंमें मिलकर तीन जगह आया है। अर्थ एक ही है।—पूर्व निर्दिष्ट के बाद। अर्थात् अंजनचोरके अनन्तर क्रमसे दूसरे में अनन्तमति, तीसरेमें उद्दायन,

१—जैन जगट ११-११-५४ अंक तीन मे प्रकाशित एक लेखमें बताया है कि इतिहासकार ईस्वीसन से पूर्व (५५९ से ४९२) उदयनका पटनामें राज्य स्वीकार करते हैं। परन्तु हमारी समझ से दोनो एक नहीं है और दृष्टांतभूत उद्दायन अधिक प्राचीन होना चाहिये। जैसाकि आगे दी हुई कथासे मालुम होता है कि वह श्री वर्धमान भगवान के समवशरणमें जाकर दीक्षित होकर निर्वाणको गया है।

२—क्षत्रचूडामणी। ३—परीक्षामुख अ० ३ सू० ४६ से ५५॥

चौथेमें रेवती। इसीतरह निषेधरूप चार अंगोंके दृष्टांतों के बाद अन्य भिन्न प्रकारका अर्थात् विधिरूप चार अंगोंमें प्रथम जिनेन्द्रभक्त, उसके बाद छठे अंगमें वारिषेण लक्ष्य है। तथा सातवें आठवें अंगोंमें विष्णुकुमार एवं वज्रकुमार लक्ष्य है।

लक्ष्य—जिसका लक्षण निर्देश किया जाय उसको लक्ष्य कहते हैं। निरुक्तिके अनुसार— लक्षयितुं योग्याः लक्ष्याः, तेषां भावः लक्ष्यता ताम् अर्थात् जिनको दिखाकर विवक्षित अंगके लक्षण का अर्थ भलेप्रकार समझाया जा सके, ऐसा लक्ष्य शब्दका अर्थ होता है। यह शब्द प्रत्येक वाचकके साथ जोडना चाहिये। यथा सबसे पहले अंगमें अंजन चोर लक्ष्य है। इसके बाद दूसरे अंगमें अनन्तमति लक्ष्य है। इत्यादि।

गताः—यहांपर प्रयुक्त बहुवचन[१] प्रत्येक अंगमें दृष्टांतभूत व्यक्तियोंकी बहु संख्या को सूचित करता है।

[२]शेषयोः—उपर्युक्त छह अंगोंमेंसे बाकी बचे वात्सल्य और प्रभावना इन दोनों अंगोंमें विष्णुकुमार और वज्र कुमार लक्ष्य है।

अंजनचोर—यह वास्तविक नाम नहीं किंतु अन्वर्थ नाम है उसका वास्तविक नाम तो ललित था। किंतु अदृश्य बनानेवाला अंजन उसको सिद्ध था और चोरीमें वह उसका उपयोग किया करता था इसलिए उसको अंजनचोर कहते थे। यही कारण है कि अंजन चोर नामसे अनेक व्यक्ति प्रसिद्ध हैं किंतु यहांपर जो विवक्षित है उसकी कथा आगे दी गई है। बाकी नाम यहां व्यक्तियोंके संज्ञावाचक हैं।

आठोंही अंगोंमें प्रसिद्ध व्यक्तियोंकी संक्षिप्त कथाएं।

अंजनचोर

जम्बूद्वीप में जनपद नामका देश उसमें भूमितिलक नामका नगर था। वहां के राजा का नाम नरपाल और रानी का नाम गुणमाला था। इसी राजाका सुनन्द नामक एक सेठ था। जिसकी धर्मपत्नीका नाम सुनन्दा था। इसके सात पुत्र थे। सबसे छोटेका नाम था धन्वन्तरी। इसी राजा का सोमशर्मा नामका पुरोहित था। और उसकी भार्या का नाम था अग्निला। इन दोनोंके भी सात पुत्र हुए। उनमें सबसे छोटे का नाम था विश्वानुलोम। धन्वन्तरि और विश्वानुलोम लंगोटिया मित्र और साथ ही समस्त व्यसनोंमें रत थे। इनकी अनार्य कार्योंमें प्रवृत्ति के कारण ही राजाने इन दोनोंको देशसे निकाल दिया। यहांसे निकलकर वे दोनों कुरुजंगल देशके हस्तिनाग पुरमें जाकर रहने लगे। जहां का राजा वीर रानी वीरवती और उनका यमदण्ड नामका कोतवाल था।

१—हमारे पासके प्राचीन हस्तलिखित गुटका में गतों की जगह गताः ऐसा सुधारा हुआ पाठ पाया जाता है। जो कि आचार्य प्रभाचन्द्र की टीकाके अनुसार भी ठीक पाठ है।

२—शेषयोः शब्दने शेषके दोनोंमेंसे क्रमसे एक एक में एक एक प्रसिद्ध हुआ है ऐसा अर्थ न करके शेषके दोनों ही अंगोंमें दोनोंही प्रसिद्ध हुए हैं ऐसा अर्थ करना अधिक उचित प्रतीत होता है। अन्यथा 'शेषयोः' इसतरह द्विवचन का खास प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं मालुम होती।

एक दिन ये दोनों रात्रिके समय नित्यमण्डित नामक चैत्यालय में पहुंचे जब कि वर धर्माचार्यका उपदेश हो रहा था। यह देखकर विश्वानुलोम बोला—"धन्वन्तरे! यदि मद्यपानादिके द्वारा संसारका सुख भोगना है तो इन दिगम्बरोंकी बात नहीं सुनना" यह कहकर वह तो कान बन्दकर चला गया और एक जगह जाकर सोगया। किंतु धन्वन्तरि ने उसके कहनेपर ध्यान नहीं दिया और उपदेश सुनता रहा। प्रसंगवश धर्माचार्यने कहा कि "यदि दृढता के साथ एकभी वचन का पालन किया जाय तो परिपाकमें वही स्वर्गमोक्षका निमित्त बन जाता है"। यह सुन-धन्वन्तरि बोला "हे भगवन्! यदि यही बात है तो मुझपर भी कोई व्रत देकर अनुग्रह करना चाहिये।" फलतः उसने तीन व्रत धारण किये १—रात्रि भोजन न करना २—अज्ञात फल भक्षण न करना ३—विना विचारे सहसा कोई काम न करना। तीनोंहीं व्रतोंका फल अनुभवमें आनेपर संसार से विरक्त होकर वरधर्माचार्यके पास जाकर उसने जिनदीक्षा धारण करली। एक दिन जब वे धन्वन्तरि मुनिराज आतापन योग में स्थित थे तब उक्त विश्वानुलोम मित्र आया और आकर अत्यन्त प्रेमके साथ उनसे बात करने लगा किंतु वे मौनस्थ रहने के कारण कुछ भी नहीं बोले —उत्तर नहीं दिया। फलतः वह उनसे रुष्ट होकर चला गया और सहस्रजट नामके जटाधारी तापसी का शतजट नामक शिष्य होगया। धन्वन्तरिने योग पूरा हो जानेपर पुनः जाकर उसको बहुत कुछ समझाकर साथ चलने को कहा परन्तु वह नहीं आया। आयुके अन्तमें समाधिद्वारा धन्वन्तरि अच्युतस्वर्ग में अमितप्रभ नामका देव हुआ और विश्वानुलोम व्यन्तरोंके गजसेनाके अधिपति विजयदेव का विद्युत्प्रभ नामका वाहन हुआ।

एक समय नन्दीश्वरद्वीपमें आष्टान्हिक पर्वके समय अकृत्रिम चैत्य चैत्यालयोंकी वन्दनाके बाद अमितप्रभने विद्युत्प्रभसे पूछा "जन्मान्तरकी बात याद है?" उत्तरमें उसने कहा—"अच्छी तरह याद है। अमितप्रभ—तुमने ब्रह्मचर्यपूर्वक कायक्लेशका यह फल पाया है। किंतु मैंने सकल चारित्रका पालन किया था इसलिये यह कर्मका विपाक हुआ है। विद्युत्प्रभ बोला परन्तु हमारे सिद्धान्तानुसार जमदग्नि मतङ्ग पिङ्गल कपिञ्जल आदि जितने महर्षि हैं वे अपने तपोविशेषके प्रभावसे तुमसे भी अधिक अभ्युदयको प्राप्त करेंगे इसलिये इतने गर्व और आश्चर्यमें मत पडो।"

अमितप्रभ—विद्युत्प्रभ! अभी भी दुराग्रह नहीं छोडना चाहते। अच्छा चलो, लोगोंके चित्तकी परीक्षा करलें।

दोनोंने मर्त्यलोकमें आकर सबसे प्रथम जमदग्निकी परीक्षा की। दोनों देव पक्षिमिथुनका रूप रखकर जमदग्निकी दाढीमें बैठकर इसतरह बातें करने लगे—

पक्षी—प्रिये! तेरा प्रसवकाल निकट है किंतु मुझे पक्षिराज वैनतेयकी लडकीके विवाहमें जाना भी अत्यन्त आवश्यक है। अतः मैं शीघ्र ही आजाऊंगा। चिंता मत करना। किंतु पक्षिणीने स्वीकार नहीं किया। पक्षीने इसपर मांकी बापकी कसम भी खाई और भी कईतरह विश्वास दिलानेपर भी

जब वह नहीं मानी तो पक्षीने कहा—"अच्छा ! यदि मैं समयपर न आऊं तो इस पापकर्मा तपस्वी के समान मुझे भी दुर्गति प्राप्त हो"। यह सुनकर जमदग्निने उन्हें मसल डालना चाहा। परन्तु दोनों पक्षी उडकर पासके पेडपर बैठ गये। तब जमदग्निने घबडाकर उन्हें पकडकर महादेव पार्वती समक्ष प्रणाम करके विनयसे पूछा—मैं पापकर्मा क्यों और किस तरहसे हूँ ? उत्तरमें देवोंने कहा—तपस्विन् ! शास्त्रमें लिखा है कि—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च। तस्मात् पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चाद् भवति भिक्षुकः॥
तथा—अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य युक्तितः। इष्ट्वा यज्ञे यथाकालं ततः प्रव्रजितो भवेत्॥

जमदग्निने पूछा। अब क्या करना ?

देव—पहले जाकर विवाहकर पुत्र उत्पन्न करो फिर तप करो। फलतः जमदग्निने अपने मामा की लडकी रेणुकाके साथ विवाह करके परशुरामको उत्पन्न किया।

दोनों देव जमदग्निको विवाह के लिये प्रवृत्त करके स्मशानमें कृष्णचतुर्दशीकी रात्रिमें ध्यानरत जिनदत्त नामक श्रावककी परीक्षामें प्रवृत्त हुए। रातभर घोर उपसर्ग करके भी उसको विचलित न कर सकने पर प्रातःकाल होनेपर दोनोंने जिनदत्तकी श्लाघा की, दिव्य उपकरण देकर पूजा की, और आकाशगामिनी विद्या दी। और कहा कि—तुमको यह विद्या स्वयं सिद्धि रहेगी। किंतु दूसरोंको विधिपूर्वक सिद्धि हो सकेगी। साधन विधि बताकर जिनदत्तसे भी निम्नकोटिके अभ्यासी किंतु सम्यग्दृष्टि राजा पद्मरथकी भी परीक्षा करके और अन्तमें उसकी भी पूजा करके दोनों यथास्थान चले गये।

इस तरह देवोंसे प्राप्त आकाशगामिनी विद्याके द्वारा जिनदत्त सेठ जब अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दनाकेलिये जाने लगा तो एक दिन धरसेन नामके पुष्पवटु—मालीके लडकेको इसका रहस्य जाननेकी इच्छा हुई और जिनदत्तके द्वारा भेद मालूम पडने पर विद्या सिद्ध करने की उत्सुकता हुई। जिनदत्त द्वारा साधनविधि मालुम पडने पर धरसेन कृष्णा चतुर्दशीको स्मशानमें जाकर वटवृक्षके नीचे तदनुकूल मंडल माडकर कन्या द्वारा काते हुए सूतके १०८ लडीका छींका वृक्षमें बांधकर नीचे ऊर्ध्वमुख तीक्ष्ण शस्त्र गाढकर और सकलीकरणसे आत्मरक्षा पूजन विधि करके विद्यासिद्ध करनेकेलिये तयारीमें था परन्तु ऊपर चढ़नेकी हिम्मत नहीं होरही थी। वह यह सोचकर डर रहा था कि कहीं ऐसा न हो कि विद्या सिद्ध न हो और मैं ऊपरसे गिरकर और शस्त्रोंसे कटकर मृत्युको प्राप्त होजाऊं। इसी अवसर पर एक दूसरी ही घटना उपस्थित होगई।—

विजयपुरके महाराज अरिमंथन और उसकी महारानी सुन्दरीका ललित नामका पुत्र जिस को कि समस्त व्यसनोंमें आसक्त रहनेके कारण दायादोंके कहनेसे राज्यसे निकाल दिया गया था और जो कि ऊपर लिखे अनुसार अदृश्याञ्जन के कारण अंजनचोरके नामसे प्रसिद्ध था अपनी प्रेयसी अंजनसुन्दरी वेश्याके पास रात्रिको गया, परन्तु उससे वेश्याने कहा कि कुशाग्रपुर के महाराजकी पट्टरानीका सौभाग्यरत्नाकर नामका हार मुझे लाकर यदि दो तो मैं तुमसे प्रेम

करूंगी अन्यथा नहीं। ललित अंजन चोर "यह क्या बडी बात है" कह कर गया और उस हार को लेकर आरहा था कि रत्नहारके प्रकाशसे सन्देहवश पुलिसने उसका पीछा किया। ललित हार को फैंककर स्मशानकी तरफ भागा और जहां धरसेन विद्या सिद्ध कर रहा था वहां पहुँचा। धरसेनसे सब बात जानकर उसने कहा--तू भीरु है और अपना यज्ञोपवीत दिखाकर कहा कि तू इसके साधनमें समर्थ नहीं होसकता। तू मुझे सब विधि बता। और सब विधि मालुम करके उसने सोचा कि "जिनदत्त स्वप्नमें भी किसीके अहितकी बात नहीं सोच सकता। वह देशव्रती है। महान्‌से भी महान् है। फिर पुत्रकी तरह चिरकालसे पोषित इस धरसेनका अहित क्यों करना चाहेगा" यह सब सोचकर निःशंक होकर पूर्ण उत्साहसे छीकेपर चढ़गया और पंचनमस्कारमन्त्र पढ़कर एक ही बारमें उसने छीकेकी सब १०८ लड़ीं काट डाली। उसी समय सिद्ध हुई विद्याके द्वारा सुमेरु पर जाकर जिनदत्तके दर्शन किये और वहां गुरुसे धर्मोपदेश सुनकर दीक्षा धारण की, समस्त श्रुतका ज्ञान प्राप्त किया। और अन्तमें हिमवान् पर्वतपर केवलज्ञान तथा कैलाशके केसरवनसे निर्वाण प्राप्त किया।

इस कथाके सम्बन्धमें निम्न तीन श्लोक स्मरणीय हैं।—

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम्। पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः॥
उररीकृतनिर्वाहसाहसोचितचेतसाम्। उभौ कामदुघौ लोकौ कीर्तिश्लाघ्यं जगत्त्रयम्॥
क्षत्रपुत्रोऽक्षनिक्षिप्तः शिक्षितादृश्यकज्जलः। अन्तरिक्षगतिं प्राप निःशंकोंजनतस्करः॥

अनन्तमति

अङ्ग देशमें चम्पापुरी नगरी का राजा वसुवर्धन और उसकी पट्टरानीका नाम लक्ष्मीमति था। यहीं पर एक प्रियदत्त नामका सेठ रहता था। उसकी धर्मपत्नी का नाम अङ्गवती था इन दोनों की एक पुत्री थी जिस का नाम अनन्तमति था। यह अनन्तमती अत्यन्त सुन्दरी थी। इसकी एक सखी थी जिसका नाम अनङ्गमति था। एक समय आष्टन्हिक पर्व के अवसरपर सेठ सहस्रकूट चैत्यालयके दर्शन पूजनको निकला परन्तु घरमें पुत्री को न पाकर उसने उसकी सखी से जिसका कि हाल ही में विवाह हुआ था, पूछा—अनन्तमति कहां है? वह बोली अपनी सहेलियों के साथ खेल रही है। स्वयंकी गुडिया को वर और दूसरी सहेलींकी गुडिया को वधू बनाकर विवाह कर रही है। पींजरोंके तोती मेना मंगलगीत गारहे हैं। सेठ बोला—उसको यहां बुला। जो आज्ञा कहकर वह गई और उसको बुला लाई। पुत्री के आनेपर वृद्धावस्थापन्न सेठने उपहासमें कहा—गुड्डा गुड्डीका खेल खेलनेवाली बेटी! क्या अभीसे तुझे विवाह करनेकी इच्छा हुई है, अच्छा चल; श्रीधर्मकीर्ति आचार्य महाराज के समक्ष धर्मका उपदेश सुनें। सबने जाकर उपदेश सुना और अंतमें सेठ सेठानीने अष्टान्हिकपर्वके लिये ब्रह्मचर्य व्रत लिया तथा पुत्री से कहा कि तू भी यह समस्त व्रतोंका शिरोमणि ब्रह्मचर्य व्रत ले[1]। अनन्तमतिने भी आचार्य महाराजके समक्ष वह व्रत लिया

[1]—सेठ और सेठनीने आष्टान्हिकके लिये ही ब्रह्मचर्य व्रत लिया था। उसी समय हंसी में उससे भी

और कहा कि इसमे केवल भगवान् ही नहीं अपितु हे पिताजी ! आप और मा भी साक्षी हैं। धीरे२ यौवनको पाकर अनन्तमतिका सौन्दर्य अपूर्व होगया। एक दिन वह सहेलियोंके साथ चैत्रमें झूला झूल रही थी कि इसी समय उधर से विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीके किन्नरगीत नगरका स्वामी कुण्डलमण्डित नामका विद्याधर अपनी धर्मपत्नी सुकेशी के साथ निकला। वह अनन्तमतिको देखकर उसपर आसक्त हो गया। उसका अपहरण करनेके अभिप्रायसे 'सुकेशी बाधक न बने। इसलिये उसको घर वापिस छोड़कर आया और अनन्तमतिका अपहरण कर आकाश मार्गसे जा रहा था कि सुकेशी भी सन्देहवश लौट आई और बीचमें ही सामने से आती हुई दिखाई दी। सुकेशीको देखकर उसने लघुपर्णी विद्याके द्वारा उस अनन्तमति को शङ्खपुरके निकट भीम नाम के वनमें छोडदिया। वहांपर शिकारकेलिये आये हुए भीम नामक भिल्लों के राजाने उसको देखा और अपनी पल्लीमें लेजाकर उसको फुसलाने की चेष्टामें असफल होनेपर उसके साथ बलात्कार करनेका प्रयत्न किया। परन्तु उसके व्रतकी दृढताको देखकर वनदेवताने उसकी सहायता की जिससे डरकर भीमने "हे मातः! मेरे इस एक अपराधको क्षमाकर" यह कहकर उसको शंखपुरके निकटवर्ती पर्वत के पास छोड़ दिया। वहां से पुष्पक नाम के एक वणिक्पुत्रने उसका अपहरण किया। किन्तु उसने भी अपनी वासना पूरी करनेमें असमर्थता पाकर उसे अयोध्या में व्यालिका नामकी वेश्याको देदिया। व्यालिका भी जब नाना प्रकारके प्रयत्न करनेपर भी उसे अनुकूल न बना सकी तो उसने वहां के राजा सिंहको अर्पण करदी। राजा सिंह भी हर तरहसे भय प्रलोभन चाटुकार आदि के द्वारा अनन्तमति को डिगा न सका। नगर देवताने यहां उसकी सहायता की। देवताके उपद्रवों से डरकर सिंहने अनन्तमतिको घर से बाहर निकाल दिया।

अनन्तमति विरतिचैत्यालयमें पहूंची और वहा दूसरी व्रतिकाओंके साथ अनेक व्रत उपवास यम नियम करती हुई रहने लगी। विरतिचैत्यालयके पड़ोस में ही जिनेन्द्रदत्त सेठ का घर था। जिनेन्द्रदत्त अनन्तमतिका फूफा लगता था। परन्तु कोई किसी को पहचानता न था। प्रियदत्त सेठ अनन्तमति के वियोगसे खेदखिन्न था सो मन बहलानेके लिये जिनेन्द्रदत्त के यहां आया। चिरकालमें मिलने के कारण परस्परमे जब रात्रि को बातें हो रही थीं तब प्रियदत्तने अपनी पुत्री के अपहरण की बात भी जिनेन्द्रदत्तसे कही। प्रातः काल रंगवल्ली रचना आदि कार्योंमें अत्यन्त प्रवीण अनन्तमति को काम में मदद देनेकेलिये उसकी बूआने उसे बुलाया। उसका सब काम करके अनन्तमति अपने स्थान पर चली गई। प्रियदत्त सेठ नगरके चैत्यालयोंकी वन्दना करके जब वापिस लौटा तो रङ्गवल्ली की रचना देखकर उसे अनन्तमति का स्मरण हो आया और जिनेन्द्रदत्तसे कहा कि इस रचना करनेवालीको मुझे दिखाओ फलतः अनन्तमति को बुलाया गया पिताने पुत्री को देखकर अत्यन्त शोक किया, हरतरहसे घर, चलनेको समझाया और यहीं पर

व्रत लेने का कहा और आठ दिनकी बात खोला नहीं। अत एव अनन्तमतिने यावज्जीवन ब्रह्मचर्यका संकल्प किया था।

इसी जिनेन्द्रदत्त सेठ के पुत्र अर्हद्दत्तके साथ विवाह करनेको भी कहा, यह भी कहा कि यह व्रत तो उपहासमें दिलाया था सो भी केवल आठ दिन के लिये ही। परन्तु अनन्तमति तयार नहीं हुई। वह यह कहकर कि "धर्ममें उपहास कैसा ? मैंने थोडे ही समयमें संसारका सब स्वरूप समझ लिया है, मैं अब उसमें पड़ना नहीं चाहती।" कमलश्री आर्यिकाके पास जाकर दीक्षित होगई।

केवल हंसीमें लिये हुए चतुर्थ व्रतका अत्यन्त दृढताके साथ पालन करके अनन्तमति तपके प्रभाव से बारहवें स्वर्गमें जाकर देव हुई। अत एव कहागया है कि—

हासात्पितुश्चतुर्थेऽस्मिन् व्रतेऽनन्तमतिः स्थिता। कृत्वा तपश्च निष्काङ्क्षा कल्पं द्वादशमाविशत् ॥

उद्दायन।

एकदिन तीन ज्ञानका धारक एक ही भव धारण करके मोक्षको जानेवाला सौधर्मेन्द्र अपनी सभामें सम्पूर्ण देवोंके सामने सम्यग्दर्शनके गुणोंका वर्णन करते हुए बोला कि इन्द्रकच्छ नामक देशमें माया नामकी एक नगरी है जिसका कि दूसरा नाम रौरकपुर है। वहां उद्दायन नामका राजा राज्य करता है। जिसकी कि पटरानीका नाम प्रभावती है। उस उद्दायन के समान इस समय मर्त्यलोकमें निर्विचिकित्सा अंगमें और कोई नहीं है। इन्द्रके द्वारा इतनी अधिक प्रशंसाको सहन न करके वासव नामका देव मनुष्यक्षेत्रमें आया और अत्यन्त घिनावना शरीर बनाकर मुनिके रूपमें आहारके समय उद्दायनके घर पहुँचा। राजा घरकी तरफ मुनिको आता देखकर प्रतिग्रहकेलिये आगे बढा। उसने देखा कि मुनि अत्यन्त वृद्ध हैं, मुहसे दुर्गन्ध आरही है शरीर दाद खाज खरजवा फोडा फुन्सियोंसे भरा पडा है शरीर रुग्ण है, लार नाक बह रहे हैं आखोंसे ढीड निकल रहे है, मस्तकपर मक्खियां भिनभिना रही हैं और उनसे चला जाता नहीं है। राजा यह सोच करके कि संभवतः अभी गिर पडेंगे, रंचमात्र भी ग्लानि मनमें और व्यवहारमें न लाकर केशर आदिसे सुगन्धित अपने भुजपंजरद्वारा मुनिको भोजना-लयमें लाया। उच्चासनपर विराजमानकर अपने हाथसे पादप्रक्षालन आदि क्रियाको और विधि पूर्वक योग्य आहार दिया। मुनिवेशी देवने यह सोचकर कि अभी परीक्षा अधूरी है 'भोजनके अंत' में जोरका शब्द करते हुए जितना भोजन किया था सबका सब इस तरहसे वमन करदिया कि राजा के ऊपर भी पडा। फिर भी खूब जोर२ से शब्द करते हुए बार२ वमन करने लगा विक्रियाजनित मक्खियोंका समूह भी चारों तरफ और राजाके ऊपर भी उड़ने लगा। सब परिकरके लोग वहां से चले गये! किंतु राजाने कहा—हाय। मैं बडा मन्दभाग्य हूँ। मेरेसे ठीक सेवा न हो सकी, मेरे दिये विरुद्ध आहारके कारण मुनिराजको कितना कष्ट हुआ है, आदि अपनी निन्दा करते हुए पवित्र जलसे मुनिका शरीर अपने हाथोसे धोया और स्वच्छ बहुमूल्य वस्त्रसे पोंछकर साफ किया।

मुनिवेशी वासवदेवके हृदयमें अब यह विचार हुआ कि सचमुचमें परगुणग्रह ने

जो कुछ कहा था—सर्वथा सत्य है। उसने अपना रूप प्रकट किया, पठनमात्रसे सिद्ध होनेवाली विद्याओंके सिवाय दिव्य वस्त्रालंकार प्रदान किये। तथा पर्याप्त प्रशंसा करके और सब वृतान्त कहकर अपने स्थानको चलागया। उद्दायन भी श्रीवर्धमान भगवान्‌के पादमूलमें दीक्षा लेकर घोर तपश्चरण करके निर्वाणको प्राप्त हुआ। प्रभावती रानी आर्यिका होकर तपके प्रभावसे पांचवे स्वर्गमें देव हुई।

उद्दायनके विषयमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—

बालवृद्धगदग्लानान् मुनीनौद्दायनः स्वयम्। भजन्निर्विचिकित्सात्मा स्तुतिं प्रापत् पुरन्दरात्॥

रेवती रानी।

पाण्ड्यदेशके दक्षिणमथुरा[१] नामक नगरमें एक श्रीमुनिगुप्त नामके आचार्य रहते थे। जो अवधिज्ञानी अष्टाङ्गमहानिमित्त शास्त्रके ज्ञाता और आश्चर्योत्पादक तपश्चरण करनेवाले थे। विजयार्धपर्वतकी दक्षिणश्रेणीके मेघकूट नामक नगरका स्वामी चन्द्रप्रभ जिसकी कि रानीका नाम सुमति था; अपने पुत्र चन्द्रशेखरको राज्य देकर उक्त आचार्य महाराजके चरणोंमें क्षुल्लक हो गया। फिर भी उसने आकाशमें गमनकरनेमें सहायक कुछ विद्याओंका परिग्रह रक्खा था। एक दिन उसने उत्तर मथुराको वन्दनाकेलिये जानेके अभिप्रायसे आचार्य महाराजसे आज्ञा लेकर पूछा कि वहां किसीसे कुछ कहना है क्या? आचार्यने कहा—सुव्रत मुनिराजको हमारी वन्दना और वरुण महाराजकी महारानी रेवतीसे आशीर्वाद कहदेना। क्षुल्लकके और भी किसी कामके लिये पुनः२ पूछनेपर आचार्य महाराज अन्य सन्देश न देकर केवल इतना ही कहकर कि "अधिक विकल्प क्यों करते हो? वहां जानेपर सब स्पष्ट होजायगा।" चुप होगए।

क्षुल्लकको विकल्प था कि वहांके सुप्रसिद्ध ग्यारहअंगके पाठी भव्यसेन मुनिकेलिये कुछ भी सन्देश क्यों नहीं। अस्तु क्षुल्लक ने? उत्तर मथुरामें आकर सुव्रत मुनिराजका विशिष्ट वात्सल्य देखा और वन्दना सन्देश देकर सोचा कि अब भव्यसेनकी परीक्षा करनी चाहिये। और विद्यार्थी का वेश रखकर भव्यसेनके पास पहुंचा। भव्यसेनने बडे स्नेहसे पूछा।—बटो! कहांसे आए हो? क्षु०—पटनासे। भव्य०—किसलिए? क्षु०—अध्ययनार्थ। भव्य— क्या पढना चाहते हो? क्षु०—व्याकरण। भव्यसेन—अच्छा, मेरे पास रहना चाहते हो? क्षु०—जी हां?

भव्यसेनने यह सुनकर उसको अपने पास रखलिया। और थोडी देर बाद कहा! बटो? शौच का समय होगया है, हम मैदानमें जा रहे हैं। चलो, कमण्डलु लेलो। क्षुल्लकने जिधर वे गये उधर ही हरित अंकुरोंसे भूमिको व्याप्त कर दिया। यह देखकर भव्यसेन रुका। क्षुल्लकने पूछा—भगवन्! यकायक आप रुक क्यों गये? भव्यसेन— आगममें ये स्थावर नामके जीव बताए हैं। क्षुल्लक—महाराज रत्नोंकी किरणोंके समान ये भी पृथ्वीके विकार हैं। ये जीव नहीं हैं। भव्यसेन यह कहकर कि ठीक है, उसी परसे चलागया और शौचके बाद थोडी दूर

१—वर्तमान नाम मदुरा।

खडे हुए छात्रकी तरफ हाथ से इसारा करने लगा। क्षुल्लक बोला—भगवन्! इसारा समझमें नही आता, आप क्या कहना चाहते है? बोलते क्यों नही? भव्यसेन बोला—बटो! आगम में लिखा है कि—

अभिमानस्य रक्षार्थं प्रतीक्षार्थं श्रुतस्य च। ध्वनन्ति मुनयो मौनमदनादिषु कर्मसु॥

अत एव निर्जन्तु शुष्क गोमय भस्म अथवा पकी ईंटका रेत लेआ। क्षुल्लक—महाराज! मट्टी क्यों नहीं लेते। भव्यसेन—आगमनेत्रसे देखने योग्य सूक्ष्मजीव उसमें रहते हैं। क्षुल्लक—भगवन्! जीवका लक्षण ज्ञानदर्शन उपयोग है। वह इसमें कहां? भव्यसेन,—अच्छा ठीक है, लेआ। इसी समय क्षुल्लकने विद्याके द्वारा कमंडलुका जल अदृश्य करदिया। भव्यसेन—अरे कमण्डलु में तो जलही नहीं है। क्षुल्लक—यह तालाव कितना अच्छा भरा है। भव्यसेन—अप्रासुक जल लेना योग्य नहीं है। क्षुल्लक—आकाशके समान स्वच्छ इस जलमें भी जीव कहां हैं? यह सुनकर भव्यसेनने उसीसे शुद्धि करली। यह सब देख परखकर क्षुल्लक ने सोचा—ठीक है, इसीलिये इसका नाम भवसेन है, इसका भवसमूह बाकी है। और इसीलिये श्रीमुनिगुप्त भगवान्ने इस को बन्दना नहीं कही थी। अच्छा, रेवती रानीकी भी परीक्षा करनी चाहिये। यही सोचकर नगरके पूर्वभागमें ब्रह्माका रूप रखकर बैठगया। बडे बडे तपस्वी मतंग भृगु भर्ग भरत गौतम गर्ग पिंगल पुलह पुलोम पुलस्ति पराशर मरीचि विरोचन आदि उसके चारों मुखसे निकलनेवाली वेदवाणी को सुन रहे है। विलासिनी सुन्दरियां चमर ढोर रहीं हैं। नारद पहरा दे रहे हैं। सारा नगर दर्शन को आरहा है। परन्तु राजा मंत्री पुरोहितके कहने पर भी रेवती नहीं आई। उसने कहा—ब्रह्माका अर्थ आत्मा मोक्ष ज्ञान चारित्र और वृषभदेव भगवान् होता है। इनके सिवाय और कोई ब्रह्मा नहीं है।

इसके बाद दक्षिण दिशा में विष्णुका रूप बनाकर वह बैठा। वहां भी सब आये, परन्तु रेवती न आई और उसने कहा, आगम में नव ही अर्धचक्री नारायण बताये हैं। वे सब होचुके। यह तो कोई इन्द्रजालिया है।

इसी तरह पिश्चम दिशा में महादेवका पूरा रूप रखकर समस्त नगरको क्षुल्लकने क्षुब्ध करदिया फिर भी रेवती न आई। उसने कहा—रुद्र ग्यारह ही कहे हैं वे अब नहीं है। अत एव यह कोई और ही कपटवेशी है।

अन्त में क्षुल्लकने उत्तरदिशामें तीर्थंकर का रूप रक्खा, समवसरणकी पूरी रचना दिखाई। सब लोग आये। भवसेन भी आया। परन्तु रेवती न आई। उसने कहा—तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं। वे सब हो चुके। यह तो अवश्य ही कोई उनका रूप रखनेवाला मायाचारी है।

इस तरह कोई भी प्रकारसे रेवतीको विचलित न कर सकने पर वह मुनिका वेश रखकर उसके घर पर आहारकेलिये गया। रेवती ने यथाविधि आहार दिया। इस समय भी उसने अनेक तरह से उद्वेग उत्पन्न करनेकी चेष्टा की फिर भी वह निश्चल रही। तब क्षुल्लकने श्रीमुनिगुप्त

भगवान्का आशीर्वाद संदेश कहा और प्रशंसा की। रेवतीने यथाविधि उसी दिशाकी तरफ सात पैड चल कर भक्तिपूर्वक नमस्कार करके आशीर्वाद ग्रहण किया। वरुण राजा शिवकीर्ति पुत्र को राज्य देकर दीक्षा लेकर तपके प्रभावसे माहेन्द्र स्वर्गमें और रेवती रानी तपश्चरण कर ब्रह्म स्वर्गमें देव हुए। रेवतीके विषयमें यह श्लोक प्रसिद्ध है।

आगतेष्वप्यभून्नैषा रेवती मूढतावती ॥ कादम्ब–तार्क्ष्य—गो—सिंहपीठाधिपतिषु स्वयम्।

जिनेन्द्रभक्त

सौराष्ट्रदेशके पाटलिपुत्र नामक नगरका राजा यशोध्वज, रानी सुसीमा। उनका सुवीर नामका एक पुत्र था जो कि विद्यावृद्ध पुरुषों की संगति–शिक्षासे रहित होनेके कारण अत्यन्त व्यसनी वनगया था। परस्त्री और पर धनके लम्पटी उस सुवीरने एक दिन अपनी गोष्ठी में कहा कि पूर्वदेशके गौड़प्रान्तकी ताम्रलिप्त नगरीके जिनेन्द्रभक्त सेठ के सतखने महलके ऊपर पार्श्वनाथका चैत्यालय है। अनेक रत्नकों से सुरक्षित उस चैत्यालयमें भगवान्के ऊपर लगे हुए छत्र में अमूल्य वैडूर्य मणि लगी हुई है। आपमेंसे जो कोई उस मणिको चुरा लाकर देगा उसको यथेष्ट पुरस्कार दिया जायगा। यह सुनकर एक सूर्यनामका चोरों का अग्रणी अपनी शक्तिकी स्वयं प्रशंसा करते हुए बोला "यह क्या बड़ी बात है ?" और वहांसे चलकर गौडदेशमें पहुंचा। उक्त चैत्यालयतक पहुंचनेका अन्य कोई भी उपाय न देखकर क्षुल्लक वनगया। अनेकविध व्रत उपवास आदि के द्वारा गांव २ में नगर २ में ख्याति प्राप्त करता हुआ जिनेन्द्रभक्तके यहां पहुंचा। एकान्ततः भक्तिमें अनुरक्त सेठने अपने चैत्यालयमें उसको रक्खा। एक दिन सेठने कहा–देश यतीश ! मैं देशान्तर जाना चाहता हूँ। मैं जब तक वापिस न आऊं तब तक आप यहीं रहें। क्षुल्लकवेशी सूर्यचोरने कहा—नहीं २ सेठ ! यह ठीक नहीं है। स्त्रियों से और सम्पत्तियों से युक्त इसस्थानमें विरत पुरुषोंका रहना उचित नहीं है। परन्तु सेठके आग्रहपर उसने रहना स्वीकार करलिया। सेठ शुभ मुहूर्तमें यात्रा करके नगरके वाहर आकर ठहरगया। इसी दिन अर्ध रात्री को मौका देखकर उक्त रत्नको लेकर वह चलता बना। किन्तु रत्नकी प्रभासे उसे चोर जानकर रक्षकलोगों ने उसका पीछा किया। भागने में असमर्थ वह मायावी, सेठके निवास स्थान में ही घुसगया। होहल्लासे जागकर सेठने उसको चोर समझ कर भी यह सोचकर कि दूसरे सच्चे धर्मात्माओंका तथा धर्मका अज्ञानीजनोंके द्वारा अपवाद न हो, लोंगोंसे कहा कि अरे रे ! इसको क्यों अभद्रशब्द कहते और तंग करते हो। मेरे कहनेसे ही ये तो इस रत्न को लाये हैं। तुम इनको चोर कहते हो यह ठीक नहीं है। सब लोग सेठ की बात प्रमाण मानकर चलेगये पीछे सेठ ने उसको रात्रि को ही निकालकर भगादिया। इसी आशयसे कहा है कि—

मायासंयमनोत्सूर्ये सूर्ये रत्नापहारिणि। दोषं निगूहयामास जिनेन्द्रो भक्तवाक्परः॥

वारिषेण

मगध देशमें राजगृह नामका नगर जिसको पंचशैलपुर भी कहते हैं। वहां के राजा श्रेणिक

और उनकी महारानी चेलिनीका पुत्र वारिषेण था जो कि उत्तम श्रावक था। एक समय वारिषेण कृष्ण चतुर्दशी को उपवास करके रात्रिको श्मशान में जाकर कायोत्सर्ग धारणकर खड़ा था। उसी दिन शहर की मगधसुन्दरी नामक वेश्याने राजश्रेष्ठी धनदत्तकी श्रीकीर्तिमती नामकी सेठानीका अपूर्व हार देखकर मनमें कहा—इस हारके विना तो जीवन ही व्यर्थ है। फलतः रात्रि को जब उसके पास मृगवेग वीर, जो कि विद्युत् चोरके नामसे भी प्रख्यात था, आया तो वेश्याने उक्त हारके विना प्रणय करनेका निषेध कर दिया। कामान्ध मृगवेग हार चुराकर लेकर चला तो रक्षकोंने उसका पीछा किया। भागतेर श्मशानमें वारिषेणके आगे हार पटक कर विद्युत्चोर बाजूमें छिपगया। रक्षकोंने वारिषेण को चोर समझा और उसी समय उसकी श्रेणिकको खबर की। तत्काल आवेशमें आकर श्रेणिकने उसका शिरश्छेद करने की आज्ञा देदी। आज्ञानुसार रक्षकोंने भी जाकर उसपर जितने भी अस्त्र शस्त्र चलाये सभी व्यर्थ होगये। उल्टे वे सब वारिषेण के ध्यान से प्रमुदित नगरदेवताके प्रसादसे फूलमाल होगये। इस बातकी भी खबर जब श्रेणिक पर पहुंची तब वह वहां स्वयं आया। और उसने वारिषेण से क्षमा मांगी। इसी समय मृगवेग प्रकट हुआ और उसने अभयदान मांगकर सब वृत्तांत कहा। तदनन्तर श्रेणिक द्वारा घर चलने केलिये पुनः प्रार्थना करने पर भी वारिषेण घर को न जाकर सूरदेव आचार्य के पास दीक्षित होकर तप करने लगे। कुछ दिन बाद वारिषेण राजगृहके निकटवर्ती पलासकूट ग्राममें आहार करके शाण्डिल्यायन के घरके सामने से निकले जो कि श्रेणिक महाराजका अमात्य था। इसकी धर्मपत्नी का नाम पुष्पवती और पुत्रका नाम पुष्पदन्त था। पुष्पदन्त वारिषेणका लंगोटिया मित्र था। उसका अभी विवाह हुआ था। वारिषेणको सामने से जाते देखकर पुष्पदन्तने जिसके कि हाथ में अभी विवाहका कंकण बंधा हुआ था, नमस्कार किया। वारिषेण उसका हाथ पकडे हुए आगे चलने लगे पुष्पदन्त अनेक तरहके संकोचमें पड़गया। वापिस जाने केलिये मुझे ये आज्ञा देदें और हाथ छोड़दें तो अच्छा हो इसके लिये उसने कई तरहके संकेत भी किये परन्तु वारिषेण ने उसको न छोड़ा। बातें करतेर गुरुदेवके पास पहुंचकर वारिषेणने कहा—भदन्त! यह मेरा मित्र है और स्वभावसेही भवभीरु एवं विरक्तचित्त है, दीक्षार्थ आपके पादमूलमें आया है। यह कहकर केशलुंचन आदि करादिया। पुष्पदन्तने भी यह सोचकर कि "कभी अवसर पाकर चला जाऊंगा अभी तो इनकी बात रखदो।" वारिषेणका उपरोध स्वीकार करलिया। और साथमें मुनिहोकर रहनेलगा।

ऊपर के कथन से यह तो स्पष्ट ही है कि पुष्पदन्त वास्तव में या भावपूर्वक मुनि नही हुआ था। फिर भी वह सरलबुद्धि था और वारिषेण के प्रभावमें रहनेसे संगमें रहकर बाहरके मुनिके समान ही सब क्रियाएं किया करता था। अतएव वह प्रतिक्षण अपनी नवपरिणीता पत्नीका ही जिसका कि नाम सुदती था स्मरण किया करता था। अधिक क्या, सामायिक के समय भी वह उसीका ध्यान किया करता था।

इसीतरह जब बारह वर्ष निकल गये एक दिन आचार्य सूरदेव ने राजगृह नगरमें आनेपर

अपना और वारिषेणका उपवास रहनेके कारण केवल पुष्पदन्त को ही आहारार्थ नगरमें जानेकी आज्ञा दी। पुष्पदन्तने सोचा—आज इतने दिन बाद वडे भाग्यसे पिंजडे का दरवाजा खुला है। और इसीलिए उसने जल्दी २ जानेकी तयारी की किंतु उसीसमय वारिषेणने उसकी चेष्टासे यह समझकरके कि अभी भी यह दीक्षा छोडकर घर भाग जानेको उत्सुक है, कहा -पुष्पदन्त! ठहरो, मैं भी चलता हूं। और वे भी साथ हो लिए। दोनों चेलिनी के घर पहुंचे; चेलिनीने मित्रके साथ पुत्रको आता देखकर कुछ संदेहवश परीक्षा के लिए दो आसन उपस्थित किये, एक सराग और दूसरा वीतराग। वारिषेण दूसरे पर और पुष्पदन्त पहलेपर बैठे। वारिषेणने कहा– मा! अपनी सब वहुओंको तो बुलाओ। आज्ञानुसार सभी वहुएं उपस्थित हुईं। पुष्पदन्त ने भी देखा सभी एकसे एक अधिक सुन्दर और क्या, देवांगना भी जिनके सामने फीकी मालूम पडती हैं, जिनमें नवयौवन का वसंत खिल रहा है, सुगंधित रत्नजडित वस्त्रालंकारसे सुसज्जित हैं। अब वारिषेण ने कहा– मां! अब हमारी भाभी सुदती को बुलाओ। थोडीही देर में वह भी उपस्थित हुई। पुष्पदन्तने उसको भी देखा। मानों हिमसे दग्ध कमलिनी है। सब आंगोपांग कृश और रूखे। हिरमिचिकी रंगी धोती मानो साक्षात् सध्या ही है, अत्यन्त दीन पयोधर मानो शरत्‌के मेघ ही हों, केशपाश की जगह देखनेसे मालूम होता मानो तपोलक्ष्मी ही है। केवल हड्डियों का पंजर मानो कंकाल ही है। ऐसा मालूम हुआ मानों सामने मूर्तिमान होकर वैराग्य ही उपस्थित हुआ है!

वारिषेण पुष्पदन्त से बोला, "मित्र! आपकी यही वह प्रणयिनी है जिसके कारण अभी तक भी आपका मन मुनि नहीं हो रहा है। और यह आपकी सब भोजाई है। और यह सारा वैभव धन सम्पत्ति कुटुम्ब सेवक एवं महामाण्डलिक पदका यौवराज्य है और मैं भी आपके सामने उपस्थित हूं जो इन सबको स्वयं छोडकर दीक्षित हुआ हूं" पुष्पदन्त लज्जित हुआ और विषय सुखोंमें ग्लानियुक्त होकर बोला–मित्र! क्षमा करें, अब तो यहां बैठना भी अच्छा नहीं लगता। मैं हृदय से विरक्त होकर अब भावमुनि बनता हूं। दोनों ही चेलिनी का अभिनन्दन करके गुरुपाद में जाकर निःशल्य हो तप करने लगे। अतएव कहा है कि—

सुदतिसंगमासक्तं पुष्पदन्ततपस्विनम्। वारिषेणः कृतत्राणः स्थापयामास संयमे।

विष्णुकुमार

अवन्ती देशमें विशाला नामकी नगरी का जयवर्मा नामका राजा था। जिसकीकि पटरानी कानाम प्रभावती था। उसके चार मंत्री थे–शुक्र वृहस्पति प्रल्हाद और बलि। एक दिन राजा चारों मंत्रियों के साथ महल के ऊपर बैठा हुआ नगरी की स्थिति देख रहा था कि उसे समस्त शास्त्रोंमें प्रवीण महान ऋद्धिधारी सातसों मुनियों के संघ सहित इसी नगर के बाहर सर्वजनानन्दन नाम के उद्यान में आकर ठहरे हुए परम तपस्वी अकम्पनाचार्य के चरणों की अर्चा करनेकेलिए पूजा सामग्री लेकर जाता हुआ हर्षोत्फुल्ल लोकसमूह दिखाई पडा। जयवर्माने पूछा—यह अस-

मय में उद्यानकी तरफ लोग क्यों जा रहे हैं? इसी समय वनपालने आकर सूचना दी कि हे देव! नगरके उपवन में अकम्पन नामके आचार्य संघसहित आये हैं। जिनके प्रसादसे सभी ऋतु के वृक्ष फल फूलसे युक्त हो गये हैं और उन सब ऋतुओंके फल फूल सामने रखते हुए बोला— हे नाथ! सम्पूर्ण नगर उनके दर्शन के लिए उत्साहित हो रहा है। वह वनदेवता आपके दर्शन के लिए भी उत्सुक है। राजाने यह सूचना पाकर जानेका विचार करके बली से पूछा। परन्तु बलि आदि चारोंही मंत्रियोंने इसका विरोध किया। बलिद्वारा की गई अपने पांडित्य की प्रशंसा सुनकर राजाने सोचा—यदि यही बात है तो शूर और कायर की परीक्षा रणमें हो जायगी और वन्दना के लिए जानेकी तयारी की। यथास्थान पहुंचकर वह विजयशेखर हाथीसे उतरा और आर्य वेशमें अपने आप्त/और परिवारके साथ क्रमसे अकम्पनाचार्यके पास पहुंचकर उनका यथायोग्य उसने अभिवन्दन किया। तथा उचित स्थान और आसनपर बैठकर विनयपूर्वक स्वर्ग मोक्ष सम्बन्धी चर्चा की और उनका उपदेश सुना।

आचार्य महाराज के उपदेशमें स्वर्ग मोक्षका प्रसंग आतेही बलिने पूछा -स्वामिन्! स्वर्गमोक्ष के अस्तित्व के सम्बन्ध में आपके पास कोई प्रमाण भी है? या केवल आग्रह ही है। जब यह स्पष्ट है कि नवीन वय सुन्दर स्त्रियां और भोगोपभोगके योग्य सामग्री ही स्वर्ग है, तब इस प्रत्यक्ष सिद्ध विषयको न मानकर प्रमाणसे असिद्ध स्वर्गादिककी केवल कल्पनाकर उसको मानना दुराग्रह ही कहा जा सकता है।

बलिको उद्धत देखकर भी अकम्पन श्री अकम्पनाचार्यने पूछा— प्रमाण क्या केवल प्रत्यक्ष ही है? उत्तरमें बलिके यह कहनेपर कि "इसमें क्या संदेह है? प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है जिससे सम्पूर्ण विषयों की सिद्धि हो सकती है और मानी जा सकती है।" आचार्य महाराज बोले—

अच्छा, ऐसाही है तो आपके माता पिताके विवाह के अस्तित्वमें क्या प्रमाण है? और अपने वंशके पूर्व पुरुषोंके अवस्थानको क्योंकर मानते है? क्योंकि ये प्रमेय विषय आपके प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर तो नहीं हैं। आप यदि अन्य प्रामाणिक पुरुषोंके कथन का आश्रय लेंगे तो आपका पक्ष खंडित हो जायगा और परमतकी स्वीकृति सिद्ध होगी।

इसपर बलि निरुत्तर होगया। उस समय उसकी अवस्था ठीक "उभयतः पाशरज्जुः" की कहावतके अनुसार इसतरह की हो गई कि 'एक तरफ नदीका भयंकर पूर और दूसरी तरफ मदोन्मत्त हस्ती।" सभाके हृदयका आकर्षक एवं संतोषजनक उत्तर न पाकर बलिने निरर्गल असभ्यशब्दगर्भित बोलना शुरू किया।

इसी समय राजाने मुमुक्षुओं के समक्ष अशिक्षित जैसे वचन बोलनेवाले बलिसे, हृदयमें याथात्म्यको समझलेने पर भी सर्वसाधारण के सामने मन्त्री की प्रतिष्ठाका भंग न हो इसीलिये कुछ भी न कहकर आचार्य महाराज से कहा।—

भगवन्! जिनकी पर्याप्त तत्त्वज्ञान नहीं है, जिनकी चित्तवृत्ति महान मोह से अन्धी है, जो

समीचीन धर्मका ध्वंस करनेवाले हैं वे स्वभावसे ही मेरुके समान स्थिर गुणगुरुओंपर दुरपवाद का प्रहार करने के सिवाय और करभी क्या सकते है ? यह कहकर और अन्य कथा करके विनय-पूर्वक आज्ञा लेकर वहांसे अपने घर आगया। किंतु इसके बाद अन्य अपराध का निमित्त लेकर बलिको अवज्ञापूर्वक अपने राज्य से निकाल दिया[१]।

चारों ही मन्त्री यहां से निकलकर कुरुजंगल देशके हस्तिनागपुरमें पहुंचे। इन दिनों वहां के राजा महाभद्र अपने बडे पुत्र पद्म को राज्य देकर छोटे पुत्र विष्णुकुमार के साथ दीक्षा धारण कर तपोवनको चले गये थे। अतएव पद्म ही राज्य चला रहा था। बलि आदिक चारों ही उसके मन्त्री बनगये। एक समय बलि, कुम्भपुरके राजा सिंहकीर्तिको जिसको कि वश करने के लिए पद्म चिंतित रहा करता था, छलपूर्वक बांध लाया और उसे उसने पद्म के सामने उपस्थित किया। पद्मने प्रसन्न होकर बलिसे यथेच्छ वर मांगने को कहा परन्तु बलिने कहा—'देव ! मुझे जब आवश्यकता हो तब मैं यथेच्छ वर मांग सकूं, कृपया यह स्वीकार करें'। पद्म ने यह स्वीकार करलिया कुछ दिन बाद अकम्पनाचार्य संघसहित हस्तिनापुर पहुंचे। बलि आदिको जब यह बात मालुम हुई तब उन्होंने यह सोचा कि—अब यहां भी हम लोगोंका अपमान न हो, इसकेलिये उचित उपाय करना चाहिये। फलतः बलिने उक्त वरके बदलेमें राजा पद्मसे कुछ दिनके लिये राज्यका सर्वाधिकार प्राप्त कर लिया और जहां संघ ठहरा था वहां और उसके चारोंतरफ मुनियों

१—यह कथासार हमने यशस्तिलक के छठे आश्वास में वर्णित कथाके आधारपर दिया है। किंतु रत्न-करण्ड की प्रभाचन्द्रीय टीकामें जो कथा है उसमें इस प्रकरण का उल्लेख दूसरी तरह से दिया है। उसमें बताया है कि "राजा मन्त्री आदिके आनेसे पहले ही अकम्पनाचार्यने संघको आदेश दिया था कि राजा आदिके आनेपर किसीसे भी भाषण नही करना। तदनुसार राजा मन्त्री आदिके आनेपर किसीनेभी उनको आशीर्वाद नही दिया। फलतः सब वापिस लौट गये। मार्ग में राजासे मन्त्री बलि कहता जा रहा था कि ये सब मूर्ख है इसी लिये दम्भसे मौन धारण कर बैठे है। इसीसमय सामनेसे श्रुतसागर नामके मुनिको आता हुआ देखा जो कि नगर से आहार करके आरहे थे और जिन्होंने कि आचार्य महाराजकी आज्ञा सुनी नहीं थी। संघमें आज्ञा प्रसारित होनेसे पहलेही वे चर्याके लिये नगरको चले गये थे। उनको देखकर बलि बोला देखो यह भी एक कुक्षिंभरी बैल सामनेसे आरहा है। यहींपर दोनो का—श्रुतसागर और बलिका शास्त्रार्थ हुआ जिसमे कि स्याद्वाद के बलपर श्रुतसागर की विजय हुई और बलि पराजित हुआ। यह सब राजाके सामने ही हुआ। श्रुतसागरने आकर जब आचार्य महाराजसे सब वृत्तांत कहा तो सम्पूर्ण संघ पर आपत्ति न आ सके इसके लिये आचार्यने श्रुतसागरको आज्ञा दी कि जहां शास्त्रार्थ किया था वहां जा कर रात भर ध्यानस्थ होकर खडे रहो। श्रुतसागरने यही किया। उधर अतिलज्जित होनेसे क्रोध मान से अन्धे हुए चारोही मन्त्री हाथ में खड्ग लेकर संघका वध करनेको रात्रि में आरहे थे कि बीचमें ही श्रुतसागर उन्हे खडे दिखाई दिये। उन्होंने सोचा कि हमारे अपमानका मूल निमित्तभूत यही सबसे पहले अकेला यहां मिल गया, अच्छा ही हुआ। यह सोचकर चारोनेही एक साथ श्रुतसागर पर खड्ग का प्रहार किया। किंतु उसी समय नगर देवताने उनको कील दिया। प्रातःकाल दर्शनार्थ आनेवालोंने तथा अन्य लोगोंने यह दृश्य देखा राजापर समाचार गया। उसने इनको गधेपर चढाकर राज्यसे निकाल दिया। वहां से चलकर हस्तिनागपुर के राजा पद्मके ये चारोंही मन्त्री बन गये।" इसतरह प्रभाचन्द्रीय टीका में शास्त्रार्थका और उसमें पराजय जनित अपमानका बदला लेनेकी प्रवृत्ति का सीधा सम्बन्ध अकम्पनाचार्य से न बताकर श्रुतसागर से बताया गया है। तथा यशस्तिलक में वध करने के लिये मन्त्रीयो के जानेकी बातका भी उल्लेख नहीं है।

पर घोर उपसर्ग करनेके अभिप्रायसे बहुत बडा यज्ञ शुरू किया। और उन्हें अनेक तरहसे कष्ट देने लगा। किंतु मुनिजन उपसर्ग निवृत्त होने तक के लिये ध्यानसमाधिमें स्थित हो गये।

उधर मिथिलामें जिष्णु सूरीके शिष्य भ्राजिष्णुने रात्रिके समय आकाशकी तरफ देखा कि श्रवण नक्षत्र कंप रहा है। इसपरसे एकाएक उनके मुंहसे निकला कि "हा, कहीं मुनिसंघपर महान् आपत्ति आ रही है"। संघपतिने यह सुनकर अवधिज्ञानसे हस्तिनापुरमें होरहे उपसर्गको जानकर आकाशमार्गसे जानेमें समर्थ पुष्पकदेव क्षुल्लकको बुलाकर कहा कि अभी विष्णुकुमारमुनि के पास जाकर कहो कि वे इस उपसर्गका निवारण करें। उनको विक्रिया ऋद्धि सिद्ध होगई है। उसके द्वारा वे विघ्नका यथेष्ट शीघ्र निवारण कर सकते हैं। आज्ञानुसार क्षुल्लकने उसी समय विष्णुकुमारसे जाकर सब वृतान्त कहा। महामुनि विष्णुकुमारने पहले अपनी विक्रिया ऋद्धिकी परीक्षा की। फिर हस्तिनापुर पहूँचकर राजा पद्मसे इस उपसर्ग निवारणकेलिये कहा। किंतु उसकी असमर्थता और यह जानकर कि इस समय बलि ही राजा है वामनरूप धारणकर मधुर स्वरमें वेदका उच्चारण करते हुए बलिके यज्ञस्थानपर पहुँचे।

बलिने वेदध्वनि आदिसे प्रसन्न होकर यथेच्छ वर मांगनेकेलिये कहा। उन्होंने तीन पैंड जमीन मांगी। बलिने शुक्रके द्वारा मनाई करनेपर भी तीन पैंड जमीनका संकल्प कर दिया। विष्णु कुमारने शरीर बढाकर ऐक पैर समुद्रकी वेदिकापर और दूसरा पैर चक्रवाल पर्वतपर रक्खा। तीसरेमें बलिको बांध लिया। अन्तमें मुनियोंका उपसर्ग दूर कर विष्णुकुमार पुनः अपने संयमा-चारमें पूर्ववत् प्रवृत्त होगये। अतएव कहाजाता है कि—

महापद्मसुतो विष्णुर्मुनीनां हस्तिने पुरे। बलिद्विजकृतं विघ्नं शमयामास वत्सलः॥

वज्रकुमार।

पांचालदेशमें अहिच्छत्र नामक नगरका राजा द्विषंतप जिसकी रानीका नाम चन्द्रानना था। इस राजाका सोमदत्त नामका पुरोहित था और उसकी स्त्रीका नाम यज्ञदत्ता था। यज्ञदत्ताको एक समय दोहला हुआ जिसके कि कारण वह चिन्तित म्लानमुख एवं कृश रहने लगी। पतिके आग्रहपूर्वक पूछनेपर उसने कहा कि मेरी इच्छा आम खानेकी है। सोमदत्तने सोचा कि यह आम की ऋतु नहीं है। फिर इसका मनोरथ किसप्रकार सफल किया जाय? जंगलमें जाकर देखना चाहिये, संभव है कहीं मिल जाय। ऐसा विचार करके एक विद्यार्थीको साथ लेकर वह आम ढूंढनेको निकला। भाग्यकी बात है कि पासमें ही जलवाहिनी नदीके किनारे कालिदास नामक वनमें आमके वृक्षके नीचे सुमित्र नामके एक महामुनिराज आकर विराजमान थे जिनके कि अति-शयके कारण वह आमका वृक्ष असमयमें ही फलोंसे शोभायमान होरहा था। पुरोहितने उसपर से फल तोडकर विद्यार्थीके हाथ अपनी स्त्रीके पास भेजदिये और स्वयं मुनिराजसे धर्मोपदेश सुनने लगा। और उसने भवान्तरका वर्णन आदि सुनकर संसारसे विरक्त हो उसी समय दैगम्बरी दीक्षा धारण करली। सिद्धान्तशास्त्रके रहस्यसे प्रबुद्ध हुए वे सोमदत्त महामुनि मगधदेशमें नामगिरपर

आतापन योग धारण करके खड़े थे कि इसी समय यज्ञदत्ता अपने सद्योजात पुत्रको लेकर आई और बोली कि या तो दीक्षाको छोड़कर घर चल, नहीं तो अपने इस पुत्रको भी संभाल। उपसर्गके कारण मौनस्थ मुनिराजसे कुछ भी उत्तर न पाकर वह पुत्रको उसी उष्ण शिलापर उनके सामने ही पटककर क्रोधसे बडबडाती हुई यथास्थान चली गई। इसी समय विजयार्धपर्वतकी उत्तरश्रेणीके अमरावती नगरका स्वामी भास्करदेवनामका विद्याधर जिसके कि राज्यको छोटे भाई पुरंदरदेवने हडप लिया था, अपनी मणिमाला नामकी पटरानीके साथ उपर्युक्त मुनिराजकी वन्दना केलिये वहां आया। उसने आश्चर्यके साथ देखा कि बालक उष्णशिलापर सानन्द खेल रहा है उसका शरीर कमलसे भी अधिक कोमल होकर भी मानो वज्रघटित है। तत्काल उसको उठाया और मणिमालासे बोला—प्रिये! बहुत दिनसे तुम पुत्रकी इच्छा कर रही थीं आज सौभाग्यकी बात है कि भगवान्‌के पाद प्रसादसे यह सर्वलक्षणसंपन्न पुत्र प्राप्त हुआ है। यही मेरे वंशकी लता को सफल करनेवाला है। इस अपूर्व पुष्पको जिसका नाम वज्रकुमार है, लो और संभालो। यह कहकर पुत्र उसको दिया। मुनिराजका उपसर्ग दूर हुआ। दोनोंने उनकी वन्दना की और उन्हींसे वज्रकुमारका भी सब वृत्तान्त जानकर यथास्थान प्रयाण किया।

वज्रकुमार यौवनको पाकर न केवल शरीर ही से सुन्दर बना किंतु मातृपक्ष और पितृपक्ष की अनेक विद्याओंका स्वामी बननेके सिवाय अपने मामा सुवाक्यमूर्तिकी कन्या इन्दुमतीका भी परिणयन कर स्वामी बना। एक समय वह वज्रकुमार अनेक विद्याधर पुत्रोंके साथ हिमवान्‌पर्वत पर क्रीडा करनेकेलिये गया। वहांपर गरुडवेग विद्याधरकी पुत्री पवनवेगा बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कररही थी। विद्याने विघ्न उपस्थित करनेकेलिये अजगर का रूप रखकर उसको निगला कि उसी समय अकस्मात् आ उपस्थित हुए वज्रकुमारने केवल परोपकार बुद्धिसे गारुडविद्याके द्वारा उसका यह उपसर्ग दूर करदिया जिससे उसको वह विद्या उसी समय सिद्ध होगई। पवनवेगाने अपने मनमें इस परोपकारी वज्रकुमारको ही जीवनका साथी बनानेका निश्चय करके प्रज्ञप्ति नामकी विद्यादी और यह कह करके कि आपको विद्या इसी हिमवान् पर्वतकी तलहटीमें नदीके किनारे आतापन योग धारण करके खड़े हुए घोर तपस्वी संयमी भगवान्‌के तपःप्रभावसे उनके चरणकमलके निकट बैठकर केवल पाठ करनेसे ही सिद्ध होजायगी, अपने नगरको चली गई। वज्रकुमारने भी उसी प्रकार फेनमालिनी नदीके किनारे उक्त भगवान्‌के समक्ष उस विद्याको सिद्ध करके अपने चाचा पुरंदरदेवसे राज्य वापिस लेकर पिता भास्करदेवको उसपर प्रतिष्ठित किया और उन्हें अनेक विद्याधरोंद्वारा सेव्य बनाया। तदनन्तर स्वयंवरमें उक्त पवनवेगा आदि अनेक विद्याधर कन्याओंका वरण किया।

एक समय कुछ दुष्टबुद्धि व्यक्तियोंके व्यवहारसे वज्रकुमारको मालुम हुआ कि वास्तवमें मैं भास्करदेवका पुत्र नहीं हूँ। उसने सत्य घटना जबतक मालुम न हो तबतककेलिये आहारादिका परित्याग कर दिया। फलतः माता‌पिताके साथ उक्त सोमदत्त भगवान्‌के पास मथुरामें जाकर

सब बातका निश्चय होनेपर उन्हीं सोमदत्ताचार्यके पास जैनेश्वरी दीक्षा धारण करली।

एक समय की बात है कि चारणऋद्धि धारी दो मुनि जिनमें बडेका नाम अभिनन्दन और छोटे का नाम सुनन्दन था मथुरामें गोचरीकेलिये आये थे। वे मार्ग से जा रहे थे कि दो तीन वर्षकी बाजारमें घूमती हुई एक अनाथ मलिन लडकी को देखकर सुनन्दनने कहा, "हा! प्राणियोंके लिये कर्मका विपाक कितना दुर्दर्श है, इस लडकी को इस अवस्थामें ही कितना क्लेश उठाना पडरहा है," यह सुनकर अभिनन्दन भगवान् बोले "हे मुने! यद्यपि गर्भमें आते ही राजश्रेष्ठी पिताके, तथा प्रसूतिके बाद ही माताके और पालन पोषण करने वाले बन्धुओं के भी असमयमें ही दशमी दशा को प्राप्त होजाने के कारण यह कन्या इस समय कष्ट अनुभव कर रही है किन्तु यही यौवन में आनेपर यहां के राजाकी पट्ट रानी होनेवाली है" यह वचन नगरमें भिक्षाके लिये आये हुए एक बौद्ध साधुने सुना और यह विचार करके कि "इन मुनियोंका वचन मिथ्या नहीं हो सकता" अपना प्रयोजन सिद्ध करनेकेलिये उस कन्याको अपने विहारमें लेजाकर रक्खा और उसका अच्छीतरह पालन पोषण किया। लोग उसको बुद्धदासी कहने लगे और यही उसका नाम पडगया। यौवनको पाकर बुद्धदासीका सौन्दर्य निखरगया और आकर्षक एवं मनोहर बनगया। ऐसे ही समय में एक दिन नगरके पूतिक नामक राजा की निगाह उसपर पडी। उसने अपना प्रतिनिधि भेजकर तलाश कराया कि वह कन्या है या विवाहित। कन्या हो तो साधुओं से किसी भी तरह उसे प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करने का भी आदेश दिया। प्रतिनिधि ने उसे मुख्य पट्टरानी बनाने की शर्तपर साधुओंसे प्राप्त किया और राजाके अधीन करदिया। राजा पूतिककी प्रथम मुख्य पट्टरानी उर्विलाकी तरफसे हमेशा ही आष्टान्हिकके दिनोंमें श्री जिनेन्द्र भगवान्का जो महान् उत्सवके साथ रथ निकला करता था उस को रोक कर उसके बदले बुद्ध देवका रथ निकालने की बुद्धदासी की इच्छा हुई, इसकेलिये उसने उत्सव के सब उपकरण राजासे स्वयं पहलेही प्राप्त करलिये। उर्विलाको यह धार्मिक विरोध और अपमान सह्य न हुआ। वह उसी समय सोमदत्त भगवान्के निकट गई और बोली—भगवान् सदाकी भांति श्री जिनेन्द्र भगवान्का मेरा रथ निकलेगा तो ही अब मैं अन्न ग्रहण करूंगी अन्यथा नहीं। यह सुनकर सोमदत्तने वज्रकुमारकी तरफ देखा तो वज्रकुमार उसी समय रानीसे बोले ठहरो २, तुम्हारे जैसी सम्यग्दष्टि महिलाको अभीसे इतना आवेगमें आनेकी आवश्यकता नहीं है। आप हमारी धर्ममाता हैं विश्वास रक्खो—मेरे जैसे पुत्रके रहते हुए श्रीअरिहंत भगवान् की पूजामें विघ्न उपस्थित नहीं हो सकेगा। अतएव स्वस्थ रहो और सदाकी तरह काम करो।

इस तरह आश्वासन देकर वज्रकुमारने महारानी उर्विलाको बिदा किया और स्वयं आकाशमार्गसे विजयार्धको प्रयाण किया। वहां जाकर भास्कर देव आदि विद्याधरोंको सब परिस्थिति समझाकर यह कार्य अच्छी तरह सम्पन्न करनेकेलिये तयार किया। फलतः सभी विद्याधर अपनी२ सेना बन्धु बान्धव, परिवार, पूजा सामिग्री, रथयात्राके योग्य सभी तरहके उप-

करण, प्रातिहार्य, मंगलद्रव्य, गायन वादन नर्तन करनेवाले ध्वजा पताका मानस्तम्भ स्तूप तोरण चंदोवा -अनेकतरहके हाथी घोडे आदिसे चलनेवाले रथ, जयवादकरनेवाले घंटा भेरी भंभापटह मृदंग काहला तुरई शंख त्रिवली आदि वाजे इत्यादि सभी साधनोंके साथ, जबकि अनेकों सुन्दरियां नृत्य कर रही हैं वन्दिजन गान कर रहे हैं, दूसरे नियोगी जन भी अपने२ कार्यमें उत्साह से संलग्न हैं कोई गारहा है, कोई विनोद कर रहा है कोई नाना रूप धारण कर कौतुक पैदा कर रहा है, इसतरह परम उत्साहके साथ आकाश मार्गसे चले और मथुरा आये।

ऊपर आकाशसे आते हुए इस दृश्यको देखकर मथुराके लोगोंने समझा कि बुद्धदासीके द्वारा होनेवाले बुद्धके रथविहारका यह प्रभाव है कि उसको देखने और उसमें सम्मिलित होनेकेलिये स्वर्गमें देवगण आरहे हैं। किंतु जब सभी विद्याधरोंका समूह उर्विलाके रथमें सम्मिलित हुआ और उसका रथ सबसे प्रथम महान् विभूतिके साथ निकला तो लोग आश्चर्यचकित होगये और बुद्धदासी पर भी दासीसरीखी उदासी छागई तथा वह भग्नमनोरथ होगई। रथयात्राके अन्तमें अर्हत्प्रतिबिम्बाङ्कित एक महान् स्तूप स्थापित किया गया जिसके कि कारण अभी भी मथुराको देवनगरी कहा जाता है।

इस तरह—

और्विलाया महादेव्याः पूतिकस्य महीभुजः। स्यन्दनं भ्रामयामास मुनिर्वज्रकुमारकः॥

तात्पर्य—यह कि इन दो कारिकाओंमें सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंमेंसे प्रत्येक अंगमें प्रसिद्ध हुए एक २ व्यक्तिका उदाहरण देकर आचार्यने तत्तत् अंगका स्वरूप और प्रयोजन स्पष्ट करदिया है। यद्यपि प्रत्येक अंगका स्वरूप या लक्षण भिन्न २ कारिकाके द्वारा बताया जा चुका है फिर भी उसका पालन किस तरह किया जाता है और उस तरह पालन करनेका फल किस तरहका प्राप्त हुआ करता है यह बात उदाहरणीय व्यक्तियोंकी कथाओंके पढनेसे स्पष्ट होजाता है।

प्रत्येक अंगके विषयमें दोनों ही विषयोंको स्पष्ट करनेलिये आचार्योंने उदाहरणरूपमें जिन पात्रोंको चुना है उनकी विशेषता ध्यान देने योग्य है। आठ उदाहरणोंमें दो स्त्री पात्र हैं और शेष छः पुरुष हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंमें कांक्षा और मूढताका भाव अधिक प्रमाणमें पाया जाता है। किंतु आचार्यने निःकांक्षित अंगमें अनन्तमति को चुना है। अनन्तमतिकी विशेषता उसकी कथासे स्पष्ट है। क्रीडाप्रियजीवनके होते हुए उपहासमात्रमें गुरुसाक्षीसे एकवार लिये हुए ब्रह्मव्रतका यौवन और धनसम्पत्ति आदिके यथेष्ट रहने पर भी विवाहको अस्वीकार कर भोगोंके प्रति निःकांक्षता प्रकट करके पालन करती है, और अपने उस दृढव्रतमें एकान्त स्थल तथा सब तरहके प्रार्थयिताओंके मिलनेपर[1] भी अतिचार लगानेकी तो बात ही क्या अतिक्रमण[2] भी नहीं होने दिया अन्तमें भी पिताद्वारा विवाहकी कीगई

१—रहो नास्ति क्षणं नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः, तेन नारद! नारीणां सतीत्वमुपजायते॥ इतिलोकोक्ति।
२—अतिक्रमो मानसशुद्धिहानिर्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलापः। तथाभिचारः करणालसत्वम्, भंगोऽनाचार इति व्रतानाम्॥

तयारीको विनयके साथ ठुकराकर आर्यिका होकर सहस्रारस्वर्गमें देव होती है। उसके देव होने से मालुम होता है कि उसने स्त्रीलिंगका उच्छेद किया है और कुछ ही भवोंमें उसकी भवसंतति का भी उच्छेद होजायगा।

इसीतरह रेवती रानीके विषयमें भी समझना चाहिये। भोलेपनमें स्त्रियोंका स्वभाव प्रसिद्ध है किंतु रेवतीके ज्ञान और विज्ञानकी अमूढता आदर्श रही है। सारी प्रजा और राजाके भी कल्पित चमत्कारके चक्करमें आजानेपर तथा राजामन्त्री आदिके समझानेपर भी ज्ञात सम्यक्तत्त्वकी प्रतीतिसे वह रंचमात्र भी विचलित नहीं होती।

उसके विज्ञानकी आदर्श महत्ता इसीसे स्पष्ट है कि जब वही क्षुल्लक आहारार्थ रेवतीके यहां परीक्षणकेलिये आता है तो वह अपने इस गुणमें आदर्श संतों द्वारा प्रशंसनीय उत्तीर्णता प्राप्त कर लेती है।

पुरुष पात्रोंमें सबसे पहला अंजन चोर है। यह प्रसिद्ध है कि चोर स्वभावसे ही शंकाशील हुआ करता है फिर भी श्रद्धानके विषयमें उसकी निःशंकता आदर्श रही है। वह सोचता है कि जिनदत्त सेठ सम्यग्दृष्टि व्रती है, वह अन्यथा नहीं बोल सकता[१]। उसका वह निःशंक श्रद्धान और क्षत्रपुत्रोचित साहस[२] उसे सिद्धि प्राप्त करादेता है। इस कथामें माली के लड़केकी कायरता और ललित की वीरता सज्ञातीय गुणका विश्लेषण करदेती है। जो कि परमनिःश्रेयसपदकी सिद्धि का एक बाह्य किन्तु आवश्यक साधन हैं।

उद्दायन, राजा होकर भी ग्लान मुनि की अपने हाथसे परिचर्या करके और अपने ऊपर वमन करदेने पर भी अग्लान भावसे संभावित अपने दोषदर्शन द्वारा गुरूपास्तिका उदाहरण बन जाता है जो इस बात की शिक्षादेता है कि सम्यग्दृष्टि जीव रत्नत्रयाराधक परमतपस्वियोंकी उपासना आदि में किसतरह निर्विचिकित्स रहा करता है। श्रुत और अवधिनेत्रके द्वारा सम्पूर्ण जगत् के व्यवहार को जानने और देखनेवाला अमरेश्वर जिसके गुणकी प्रशंसा करे और फिर देवो द्वारा की गई परीक्षामें उसी प्रकार जो सौटंचका सिद्ध हो उसको विवक्षित गुणमें आदर्श और उदाहरणीय क्यों न माना जाय?

वनिया बुद्धिका कोई भी व्यक्ति अपनी असाधारण एवं सर्वाधिक प्रिय विभूति की देखरेख का काम किसी भी नवीन आये हुए अपरीक्षित व्यक्तिपर सहसा विश्वास करके नहीं छोड़सकता। किन्तु जिनेन्द्रभक्त व्यापारी वैश्य होकर भी वैसा करता है। केवल इसलिये कि उस छद्मवेशी क्षुल्लकके विषयमें दृढ विश्वास है कि यह देशयति है, इनपर शंकाका कोई कारण नहीं है। विश्वासघात होसकनेकी कल्पना भी उसे नहीं होती। और जब मालुम होता है कि मैं धोखेमें आगया तो सामान्यतया उसवेशपर अविश्वास न करके क्षुल्लकवेशी चोरका वैयक्तिक अपराध समझकर उसे इसतरहसे युक्तिपूर्वक भगादेता है जिससे कि सर्वसाधारणको

१—समीचीन धर्म के और उसके धारकोंके प्रति उसकी निःशङ्क आस्तिकताका इससे पता लगता है।
२—प्रतीतिके साथ २ कार्य करनेकी असाधारण दृढता।

धर्मके सामान्यरूपमें किसी तरहका अविश्वास या उपहास करनेका भाव जागृत न हो सके। जिनेन्द्र भक्तके व्यवहारसे इस बातकी शिक्षा मिलती है कि सम्यग्दृष्टिको किस तरहसे धर्म की रक्षाके लिये प्रसङ्ग पडनेपर दूरदर्शिता एवं विवेक से काम लेना चाहिये।

वारिषेणकी दृढता और अपने मित्रके वास्तविक उद्धारके लिये किया गया सतत सत्प्रयत्न आदर्श है।

विष्णुकुमार ऋद्धिधारी महान् मुनि होकर भी सधर्माओं और सद्धर्म के संरक्षण के लिये वात्सल्यवश पंचम गुणस्थानमें आकर ऋद्धिका सदुपयोग करते हैं। यह दृष्टांत सम्यग्दृष्टियोंके इस कर्तव्यपर प्रकाश डालता है कि वे धर्मानुरागसे आवश्यकता पड़नेपर किसतरह अपने सर्वस्वका भी परित्याग करदिया करते हैं।

वज्रकुमारने जैनधर्म की महिमाको कम न होनेदेकेर अपने विद्यातिशयके द्वारा उसके प्रभावको उद्दीप्त करदिया। यह दृष्टांत इस बातका बोध कराता है कि सम्यग्दृष्टि जीव दूसरे के मुकाबिलेमें जैनधर्म की महत्ताको किसतरह प्रकाशित करनेमें प्रयत्नशील हुआ करता है। और इसके लिये दान तप जिनपूजा विद्यातिशय आदिका उपयोग किया करता है।

इस तरह सम्यग्दर्शन के आठ अंगोंके ये आठ उदाहरण हैं। किन्तु इसीतरहके और २ भी उदाहरण आगमके अनुसार विद्वानो को समझलेने चाहिये। क्योंकि बहुलताको सूचित करने के लिये ही ग्रन्थकारने "गताः[1]" ऐसा बहुवचनका प्रयोग किया है। जैसा कि श्री प्रभाचन्द्राचार्यका[2] अभिमत है।

आठ अंगोंके विरुद्ध शंका आदिक आठ दोष है। उनका भी स्वरूप आगम के अनुसार उदाहरणों द्वारा समझमें आसकता है। यथा धरसेन नामका वह मालीका पुत्र जो कि शंकित मनोवृत्तिके कारण अंजन चोर की तरह विद्यासिद्धिसे वंचित रहा। कहा भी है कि—

कल्याणाद् वंचितो जातः शंकाशीलः स मालिकः। मंत्रं पंचनमस्कारं साधितुं न शशाक यः॥

२—कांक्षामें मस्करीका नाम लिया जा सकता है जो कि गणधर पद प्राप्त करने की इच्छासे भगवान् महावीर के समवसरण में गया किन्तु गौतमके गणधर बन जाने पर विरोधी होकर "अज्ञान" का प्रवर्तक हुआ। अथवा श्रीवृषभदेवभगवान्‌के पहले के भवोंमें हुए जयवर्माका नाम भी लिया जा सकता है जिसनेकि विद्याधरकी विभूतिको देखकर उसको प्राप्त करनेकेलिये सनिदान तपश्चरण करके महाबलकी पर्याय प्राप्त की थी। अथवा सभी सनिदान तपश्चरण करने[3]वालोंको इस में अन्तर्भूत किया जा सकता है। इसी प्रकार[4] विचिकित्सा करनेवालोंमें

१—यद्यपि मुद्रित और प्रसिद्ध पाठ "गतौ" है। किन्तु हमारे पासके प्राचीन हस्तलिखित गुटका में "गतौ की जगह गताः ऐसा सुधारागया है। तथा प्रभाचन्द्रीय टीका से भी ऐसा ही शुद्ध पाठ मालुम होता है।

२—"गता" इति बहुवचननिर्देशो दृष्टान्तभूतोक्तात्सन्यक्तबहुत्वापेक्षया।"

३—जैसे कि सभी अर्धचक्री जो कि सनिदान तपके प्रभावसे हो उसपदको प्राप्त किया करते है।

४—इसकी कथा सुगन्धदशमी व्रतकी कथा (श्री जैन व्रतकथासंग्रह—लेखक, स्व० दीपचन्द्रजी वर्णी, प्रकाशक, मूलचन्द किसनदासकापांडया सूरत) में देखना चाहिये।

मनोरमा, रानी आदिका, मूढदृष्टिमें अमृतमति[1] आदिका, तथा—अनुपगूहन अथवा अनुपबृंहण आदिमें भी यथायोग्य व्यक्तियोंका नाम लिया जा सकता है ।

इस प्रकरणमें एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। वह यह कि इस ग्रन्थके कर्त्ता भगवान् समन्तभद्र महान् तार्किक होनेके सिवाय कविवेधा[2] या आदिकविभी मानेजाते हैं। फलतः उनकी रचना जिसतरह साधारण-युक्तिहीन नहीं मानी जा सकती उसी प्रकार नीरस अथवा निरलंकार भी नहीं समझी जा सकती । यहांपर हम थोडा सा इस बातका भी दिग्दर्शन करा देना चाहते हैं ।

ग्रन्थकारने सम्पूर्णग्रन्थमें शान्तरसको[3] ही मुख्य रक्खा है। किंतु मालुम होता है कि प्रकृत आठ उदाहरणभूत व्यक्तियोंका नामोल्लेख करके शेष आठ रसोंके स्वरूपको भी गौणतया परिलक्षित कर दिया है जो कि नीचे लिखे अनुसार उन कथाओंसे जाने जा सकते है—

१—अंजनचोरकी कथामें वीररस[4] । २—अनन्तमतिकी कथामें शृङ्गार ।
३—उद्दायनकी कथामें वीभत्स । ४—रेवतीकी कथामें अद्भुत ।
५—जिनेन्द्रभक्तकी कथामें करुण । ६—वारिषेणकी कथामें हास्य ।
७—विष्णुकुमारकी कथामें रौद्र । ८—वज्रकुमारकी कथामें भयानक ।

इस विषयमें विस्तारभयसे यहां विशेष नहीं लिखा जा सकता। विद्वान् पाठकोंको स्वयं घटित करलेना चाहिये । केवल इतना ध्यान रखना चाहिये कि कोई रस प्रकृत नायकके अनुकूल है तो कोई प्रतिकूल । जैसे वीररस अंजन चोरके अनुकूल है। यद्यपि पहले उसका उसने दुरुपयोग किया है और पीछे सदुपयोग। किंतु शृङ्गार रस अनन्तमतिके प्रतिकूल ही है। क्योंकि शृङ्गारकी सभी साधन सामिग्रियों और परिस्थितियोंका उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पडता। इस

१—यशोधर महाराज की माता देखो यशस्तिलक जसहरचरिय आदि ।
२—नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे । यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः । आदि पु०
यहांपर श्लोकके उत्तरार्ध तथा कविवेधा शब्दपर क्रमसे दृष्टि देनी चाहिये ।
३—४ शान्तरस आदि सभी रसोंका लक्षण क्रमसे निम्नलिखित है,—

सम्यग्ज्ञानसमुत्थानः शान्तो निःस्पृहनायकः । रागद्वेषपरित्यागात्सम्यग्ज्ञानस्य चोद्भवः ॥६२॥ उत्साहात्मा भवेद्वीरस्त्रिधा धर्माजिदानतः ॥५१॥ जायापत्योर्मिथो रत्यां वृत्तिः शृंगार उच्यते ॥ अत्र च पूर्वानुराग एकतरपक्षीयोऽधिगन्तव्यः ।
तथा धृष्टनायकलक्षण—प्रियं वक्त्यऽप्रियं तस्याः कुर्वन् यो विकृतः शठः। धृष्टो ज्ञातापराधो पि न विलक्षोऽवमानितः ॥१०॥ बीभत्सः स्याज्जुगुप्सातः सोऽहृद्यश्रवणेक्षणात् ॥२१॥ विस्मयात्माऽद्भुतो ज्ञेयः स चासंभाव्यवस्तुनः । दर्शनाच्छ्रवणाद्वापि प्राणिनामुपजायते ॥२४॥ शोकोत्थः करुणो ज्ञेयस्तत्र भूपातरोदने। वैवर्ण्यमोहनिर्वेदप्रलापाश्रूणि कीर्तयेत् ॥२७॥ हासमूलः समाख्यातो हास्यनामा रसो बुधैः । चेष्टांगवेषवैकृत्याद्वाच्यो हास्यस्य चोद्भवः ॥२३॥
क्रोधात्मको भवेद्रौद्रः क्रोधश्चारिपराभवात् । भीष्मवृत्तिर्भवेदुग्रः सामर्षस्तत्र नायकः ॥२६॥ भयानको भवेद् भीतिप्रकृतिर्घोरवस्तुनः। स च प्रायेण वनितानीचबालेषु शस्यते ॥२७॥

का कारण यह भी हो सकता है कि वीररस तो शान्तरसका भी साहचर्य करता है परन्तु शृङ्गार वैसा नहीं करता। और ग्रन्थमें मुख्यतया शान्तरसकी प्रधानता रखना आवश्यक भी है।

सम्यग्दर्शनके जिन आठ अंगोंका वर्णन ऊपर किया गया है और उनके जो उदाहरण दिये गये हैं उसपरसे लोगोंको शंका हो सकती हैं कि संसारोच्छेदन या निर्वाणलाभ के लिये सम्यग्दर्शन तो आवश्यक हैं परन्तु उसके सभी अंग आवश्यक नहीं हैं। आठ अंगोंमेंसे एक या कुछ अंग भी यदि हों या रहते हैं तोभी भवविच्छेद हो सकता है। क्योंकि अंशरूपमें ही क्यों न हो वह भी तो सम्यग्दर्शन ही है। और मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शनको कहा है, न कि अष्टांग सम्यग्दर्शनको। इस शंका को दूर करने के लिये; और मोक्ष मार्गरूपमें जिसका उल्लेख किया गया है, वह वास्तव में अष्टांग सम्यग्दर्शन ही है, न कि विकलांग, इस बातको स्पष्ट करने के लिए आचार्य कहते हैं—

नांगहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसंततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥२१॥

अर्थ—अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्मपरम्पराका उच्छेदन नहीं कर सकता। जैसे कि कम अक्षरवाला मन्त्र विषकी वेदना को दूर नहीं कर सकता।

प्रयोजन—यहांपर इस कारिकाके उपस्थित होनेका कारण क्या है? इसका उत्तर अथवा प्रयोजन का परिज्ञान ऊपरकी उत्थानिकासे हो जाता है। फिर भी यहांपर विषयको कुछ अधिक स्पष्ट करना उचित और आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रायः प्रत्येक क्रिया के दो फल हुआ करते हैं-एक मुख्य और दूसरा गौण। खेती का मुख्य फल अन्न और गौण फल भूसा पैदा होना है। औषधोपचार का मुख्य फल प्रकृतिको साम्यावस्थामें लाना और गौण फल पीडा दूर करना है। राज्यशासनका मुख्य फल त्रिवर्ग का अविरोधेन सेवन करनेकी समुचित व्यवस्था द्वारा प्रजाका अनुरंजन और गौण फल आज्ञा ऐश्वर्य मान सन्मानादि हैं। इसीप्रकार धर्मके विषयमें भी समझना चाहिये। धर्मका मुख्य फल क्या है, यह बात धर्म का वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते समय कारिका नं० २ के "कर्मनिवर्हण" पद द्वारा आचार्य बता चुके हैं। प्रकरणवश उसीको यहां भी आचार्य प्रकारान्तरसे दृष्टांत द्वारा दुहरा देना चाहते हैं।

प्रश्न—कहे हुए विषय को ही दुहराना तो निरर्थक है।

उत्तर—यद्यपि धर्मोपदेशमें द्विरुक्ति—एकही बातको पुनः २ कहना दोष नहीं है फिर भी यहां वह निरर्थक नहीं है। जिसतरह अनुमान के प्रयोग में प्रतिज्ञावाक्यका निगमनमें उपसंहार होता है, उसीप्रकार यहां भी समझना चाहिये। दूसरी बात यह है कि वहां धर्म सामान्य के विषय में कहा गया है। और यहां उसके एक भेद सम्यग्दर्शनके विषयमें कह रहे हैं। धर्म के तीन भेद हैं-सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। तीनोंमें सबसे प्रथम और मुख्य सम्यक्

दर्शन है। जिसका लक्षण कथन करते हुए श्रद्धानरूप क्रियाके तीन विशेषण दिये गये थे। त्रिमूढापोढ, अष्टांग और अस्मय। यह बात बताई जा चुकी है कि क्रमानुसार पहले 'त्रिमूढापोढ' का वर्णन करना चाहिये था सो न करके पहिले 'अष्टांग' का यहां वर्णन क्यों कर रहे है? शरीर के आठ अंगों की तरह सम्यग्दर्शन के भी आठ अंग हैं और वे ही मूल तथा मुख्य हैं। फलतः आठों ही अंगोंका वर्णन करने के बाद उस विशेषण का फल निर्देश करना भी उचित ही नहीं आवश्यक भी हैं। किसी भी विशेषण का प्रयोग अन्य किसी भी विषय से व्यावृत्ति बताने के लिये ही हुआ करता है। यही बात अष्टांग विशेषण के विषय में भी समझनी चाहिये। धर्मका फल कर्मनिवर्हण है अतएव उसके एक भाग सम्यग्दर्शनका फल भी कर्मनिवर्हण ही होना चाहिये। जन्मसंतति का उच्छेद और कर्मनिवर्हणमें कार्यकारण का अन्तर है। कर्मनिवर्हण होनेपर जन्म संततिका उच्छेद हो जाता है। किंतु जन्मसंतति का सर्वथा उच्छेद तबतक नहीं हो सकता जबतक कि सम्यग्दर्शन आठोंही अंगों में परिपूर्ण नहीं हो जाता। यदि सम्यग्दर्शन वैसा नहीं है, जहांतक वह विकलांग है, तो भी वह अपने स्वभाव के अनुसार यद्यपि कर्मनिवर्हण को ही करता है, फिर भी जिसतरह या जबतक वह स्वयं अपूर्ण अस्थिर और समल ही है उसी प्रकार और तबतक उसका कर्मनिवर्हण कार्य भी अपूर्ण अस्थिर और समल ही होता है।

दूसरी बात यह है कि इस धर्म के साहचर्य के कारण शुभ परिणामविशेष के द्वारा पुण्य कर्म विशेष का बन्ध होकर उनके उदय से जो सांसारिक अभ्युदय विशेष प्राप्त होते है वे उसके कथंचित् गौण फल है। वे सम्यग्दर्शन के फल किसीभी अपेक्षासे नहीं है यह कहना नितांत अयुक्त होगा। स्वयं ग्रन्थकार आगे चलकर इस अध्याय के अन्त में सम्यग्दर्शन के आभ्युदयिक फलोंका वर्णन करनेवाले हैं। हां, यह सैद्धांतिक सत्य है कि उन आभ्युदयोंकी लब्धि में सीधा एवं मुख्य कारण सम्यग्दर्शन ही नहीं है। उसका मुख्य कार्य तो कर्मोंका विरोध करना ही है। संवर निर्जरा करके भवसंतति का सर्वथा उच्छेद करना ही उसका मुख्य और अभीष्ट फल है।

प्रश्न हो सकता है कि यदि यही बात है तो सम्यग्दर्शन के प्रकट होते ही कर्मोंका सम्पूर्ण निर्जरा होकर उसी समय निर्वाण—जन्म संतति का सर्वथा विच्छेद हो जाना चाहिये। इसका उत्तर ऊपर के कथन से ही हो जाता है। निर्मल पूर्ण स्थिर सम्यग्दर्शनका फल निर्वाण है। इसके विपरीत सम्यग्दर्शनमें जबतक किसी भी अंशमें मल दोष पाये जाते हैं, त्रुटि बनी हुई हैं अथवा पूर्णतया स्थैर्य नही है तबतक उसके होते हुए भी निर्वाण नहीं हो सकता।

ध्यान रहे सम्यग्दर्शनमें इन तीन विशेषणोंकी पूर्णता तीन कारणोंपर निर्भर है। पूर्ण क्षायिक वीतरागता, सर्वज्ञता और अनन्तवीर्य। इन तीनों के साहचर्य से ही उसमें वस्तुतः करणत्व प्राप्त होता है। जबतक यह बात नही है और वह सराग है तबतक उसके निमित्त से उसके साहचर्य से सराग भावोंके द्वारा तत्तत् पुण्यकर्मोंका बंध भी होता है और तदनुसार

अभ्युदय भी प्राप्त होते ही हैं। यह समझना सर्वथा मिथ्या एवं आगमके विरुद्ध होगा कि विवक्षित अभ्युदयों की प्राप्तिमें सम्यग्दर्शन किसी भी प्रकारसे निमित्त भी नहीं है। क्योंकि विवक्षित अभ्युदय—सुरेन्द्रता परमसाम्राज्य तीर्थकरत्व आदि जिन सरागभावोंसे सम्बन्ध रखते हैं वे विना सम्यग्दर्शन के साहचर्यके नहीं हुआ करते। इससे अन्वयव्यतिरेकगम्य[1] कार्य कारण भावका भी निश्चय हो ही जाता है। अत एव सम्यग्दर्शन के गौणफल का निषेध करना ठीक ऐसा ही माना जा सकता है जैसे कि यह कहना कि खेती से तो अन्न ही होता है, अर्थात् भूसा होता ही नहीं। चिकित्साका फल साम्यावस्था होना ही मानना, कष्टनिवृत्ति आदि न मानना। इत्यादि।

गौण तथा मुख्य फलमें से किसी भी एकका निषेध करना मिथ्यैकान्त है। गौणता और मुख्यता विवक्षा पर निर्भर है। और विवक्षा प्रसंग एवं परिस्थितिपर आश्रित है। जैसे कि नित्यैकान्तवादी के सम्मुख आनेपर वस्तुकी पर्यायात्मकताका जो समर्थन विवक्षित होकर मुख्य बन कर सामने आता है वही अनित्यैकान्तवादी के सामने आजानेपर अविवक्षित—गौण बनकर पीछे हट जाता है और ध्रुवताका समर्थन विवक्षित होकर मुख्य योद्धा या प्रतिवादी के रूपमें सामने उपस्थित होजाता है। इसनीति का अर्थ किसी भी एक पक्षको सर्वथा हेय मानना जिसतरह अयुक्त है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादिके कार्यकारण सम्बन्ध में किसी भी एक ही पक्षको मानना दूसरेको नहीं ही मानना अयुक्त है। इसी तरह यदि कोई गौणफल को मुख्यफल अथवा मुख्यफलको गौणफल मानता या समझता है तो वह भी अयुक्त ह है। कदाचित् सम्यग्दर्शनमें अवस्थाभेद यदि कोई स्वीकार नहीं करता तो वह भी अयुक्त ही है। इसतरह विचार करनेपर मालुम होता है कि ग्रन्थकारको फल तो दोनों ही अभीष्ट हैं परन्तु एक मुख्य और एक गौणरूप में अभीष्ट है। जैसा कि अन्य आचार्योंनेभी यथास्थाना[2] स्पष्ट किया है। श्रीसमन्तभद्रके वचन ऐकान्तिक पक्षके समर्थक नहीं हो सकते। यही कारण है कि वे इस कारिकाके द्वारा सम्यग्दर्शनके मुख्य और गौण दोनों ही फलोंको यह कहकर के बतादेना चाहते हैं कि सम्यग्दर्शन रूप धर्मका सर्वथा कर्मनिर्बर्हण या भवविच्छित्तिरूप जो मुख्य फल है वह तो तबतक नहीं हो सकता जबतक वह आठो ही अंगोंमें पूर्ण नहीं हो जाता। फलतः अर्थापत्तिसे यह सिद्ध है कि जबतक ऐसा नहीं है तबतक उसका सांसारिक अभ्युदयरूप फल भी गौणतया मान्य है। क्योंकि विवक्षित अभ्युदयविशेषोंका जिनके साथ कार्य कारण सम्बन्ध सुनिश्चित है उनके साथ सम्यग्दर्शन के साहचर्य का अविनाभाव भी प्रसिद्ध ही है। इसतरह सम्यग्दर्शन के दोनों ही—मुख्यफल और गौणफल दृष्टि में लादेना इस कारिकाका प्रयोजन है।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—

१—यद्भावाभावाभ्यां यस्योत्पत्त्यनुत्पत्ती तत्तत्कारणकम्।

२—यस्मादभ्युदयः पुंसां निःश्रेयसफलाश्रयः। वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरयः॥ यशस्तिलक नोमदेव।

व्याकरणके अनुसार अंग शब्द अंग[1] धातुसे अच् प्रत्यय होकर बनता है। इसके अनेक अर्थ है—कि किसीका एक भाग, शरीरका कोई मुख्य अवयव, जोड, मित्र, उपाय आदि। इसके सिवाय यह एक अव्यय पद भी है जिसका कि अच्छा, महाभाग या सत्यस्वीकार अर्थमें प्रयोग किया जाता है। यहांपर अवयव अर्थ लेना चाहिये और वह भी उपलक्षणरूप समझना चाहिये जिससे कि अंग और उपांग दोनोंहीका ग्रहण हो सके। जिस तरह किसी अंगसे अथवा नेत्र नासिका आदि उपांगसे हीन व्यक्ति सज्जाति होकर भी जिनलिंग धारण करने–निर्वाणदीक्षा ग्रहणकरनेका अधिकारी—पात्र[2] नहीं है; उसीप्रकार सम्यग्दर्शनभी अंग या उपांगसे[3] हीन हो तो साक्षात् निर्वाणका उपाय नहीं हो सकता।

अलम् शब्द भी अव्यय है जिसका कि अर्थ--पर्याप्त, पूर्ण, समर्थ, ऐसा होता है। इस का "छेत्तुम्" इस कृत्प्रत्ययान्त धातुपदके साथ सम्बन्ध है "अलम्" के योगमें चतुर्थी विभक्ति होती है। किंतु यहांपर वाक्यान्तर[4] द्वारा पूर्वार्धका अर्थ स्पष्ट होजा सकता है।

जन्मसंततिसे मतलब भवपरम्परा आयुकर्मके बन्धकी योग्यतासे है। क्योंकि जन्म अर्थात् भवधारण आयुकर्मके बन्धकी अपेक्षा[5] रखता है। जबतक जीवमें आयुकर्मके बन्धकी योग्यता बनी हुई है तबतक वह सम्पूर्ण कर्मोंके उच्छेदनका पात्र नहीं है। क्योंकि आयुकर्मका बन्ध सातवे गुण-स्थान तक संभव है। और सम्पूर्ण कर्मोंके निर्जरणकी वास्तविक पात्रता क्षपकश्रेणीमें स्थित साधुमें ही है जोकि आठवेसे १४वे गुणस्थान तकमें निष्पन्न हुआ करती है।

मन्त्र शब्दका आशय द्वादशांगश्रुतरूप वेदके वाक्यसे अथवा ऐसे किसी वाक्यसे है जिसमें कि किसी विशिष्ट सिद्धिकी साधक शक्ति छिपी हुई है।

'अक्षरन्यून' शब्द भी उपलक्षण है अतएव अक्षराधिक अर्थ भी ग्रहण कर लेना चाहिये। इसी प्रकार "निहन्ति" क्रिया और विषवेदना कर्मपदके विषयमें भी समझना चाहिये। क्योंकि आशय यह है कि न्यूनाधिक अक्षरवाला मन्त्र अपने वास्तविक कार्यको सिद्ध नहीं कर सकता। यह आशय नहीं है कि उससे कुछ होता ही नहीं है क्योंकि श्रीधरसेनाचार्यने भूतबलि पुष्प–दन्तकी परीक्षार्थ न्यूनाधिक अक्षरवाली जो विद्या सिद्ध करनेकेलिये उन्हें दी थी उसके सिद्ध करनेपर देवता तो उनके सामने उपस्थित हुई ही थी परन्तु वह अपने वास्तविक रूपमें न आकर

१—भ्वादि परस्मैपदी।

२—स्वदेशकुलजात्यङ्गे ब्राह्मणे क्षत्रिये विशि। निष्कलङ्के क्षमे स्थाप्या जिनमुद्रार्चिता सताम्॥ अन०ध-६–८८) देशश्च कुलं च जातिश्चांगंच देशकुलजात्यंगानि। शोभनानि देशकुलजात्यंगानि यस्य स एवम्॥

३—अंगहीन=सातीचार, उपांगहीन=अतिक्रम व्यतिक्रमदोष सहित अथवा सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयवश पाये जानेवाले चल मलिन अगाढ़ दोष, यद्वा अदर्शनपरीषह सरीखे दोप।

४—अंगहीनं सम्यक्त्वं भवसन्ततेश्छेदनाय न अलम्।

५—स० सि० सत्यनेन नरकादिभवमित्यायुः। ८-४। नरकादिषु भवसम्बन्धेनायुषो व्यपदेशः। ८-१०।

विकृतरूपम[1] आई थीं।

तात्पर्य—यह कि सम्यग्दर्शन का मुख्य फल जो भवपर्याय का विनाश है वह तबतक उससे सिद्ध नहीं होसकता जबतक कि उसके सभी अंग पूर्ण न हों।

यद्यपि यह बात दृष्टान्तपूर्वक ऊपर समझा दी गई है फिर भी प्रश्न होसकता है कि ऐसा क्यों? क्योंकि विना किसी प्रबल युक्तिके केवल दृष्टान्त से ही साध्य सिद्ध नहीं होसकता। जो रुचिमान् श्रद्धालु हैं वे विना युक्तिके भी कथनपर विश्वास करते हैं परन्तु जो तार्किक विद्वान् हैं वे तो विना किसी ऐसी युक्तिके जो अनुभवमें आसके अथवा विना किसी प्रबल बाधक कारणके मालुम हुए इस तरहके कथनपर सहसा विश्वास नहीं करसकते। उन्हे केवल दृष्टान्त से ही सन्तोष नहीं हो सकता। क्योंकि दृष्टान्त तो संसार में सबतरहके मिलते हैं। प्रकृतमें दियेगये दृष्टान्तके विपरीत भी दृष्टान्त तो मिल सकता है देखा जाता है छिन्नांग भी योद्धा युद्धमें शत्रुओं का हनन करता है। अत एव यह मालुम होना आवश्यक है कि अंगहीन सम्यग्दर्शन से भी अभीष्ट सिद्ध क्यों नहीं होसकता? अंग से अभिप्राय क्या है? क्या अंगहीन सम्यग्दर्शन कारण ही नहीं है?

उत्तर—अन्तिम दोनों प्रश्नोंका उत्तर तो ऊपरके कथनसे ही हो जाता है। क्योंकि अंगशब्दका अर्थ कहा जा चुका है और यह भी बताया जाचुका है कि अंगहीन सम्यग्दर्शन विवक्षित कार्यका कारण तो है परन्तु करण नहीं है। वह अपने योग्य कार्यका साधन अवश्य है परन्तु उसमें मुख्यरूपसे साध्य कार्यके सिद्ध करनेकी पूर्ण सामर्थ्य नहीं है। अब केवल एक ही प्रश्न शेष रह जाता है सो उसका भी विद्वान् लोग स्वयं समाधान करसकते हैं। फिर भी जिज्ञासुओंके लिये उसका उत्तर संक्षेपमें यहां यथामति लिखदेना उचित प्रतीत होता है।

कोई भी वास्तविक कार्य तब कत सिद्ध नहीं हो सकता जबतक उसके कारण अपूर्ण हैं, समल हैं अथवा दुर्बल है। यह बात ऊपर कही जा चुकी है। इसी बातको यहां कुछ अधिक स्पष्ट करदेनेसे संभव है कि जिज्ञासुका संतोषजनक समाधान हो सकेगा।

क्रियाकी सिद्धिमें जो साधक होते हैं उनको कारक कहते हैं। यद्यपि कारक छह[2] मानेगये हैं फिर भी उनमें तीन मुख्य हैं। कर्त्ता कर्म और करण। इस तरह एक क्रिया और तीन उसके कारण कुल मिलकर चार विषय मुख्य हो जाते हैं। विचारशील व्यक्ति समझ सकते हैं कि इनमेंसे कोई भी विषय ऐसा नहीं है जिसके कि विना कार्य हो सके। कर्त्ताके विना

१—तदो ताणं तेण दो विज्जाओ दिएणओ। तत्थ एया अहियक्खरा अवरा विहीणक्खरा। एदाओ छट्ठोववासेण साहेहुन्ति। तदा ते सिद्धविज्जा विज्जादेवदाओ पेच्छंति एका 'उड्डन्तुरिया' अवरेया काणिया। ऐसो देवदाण सहावो ण होदि त्ति चिंतऊण मंतव्वायरणसत्थकुसलेहिं हीणाहियअक्खराणं गहणावणयणविहाणं काऊण पढंतेहिं दो वि देवदाओ सहावरूपट्ठियाओ दिट्ठाओ। सं० प० पृ० ७०।

२—कोई २ सम्बन्ध को भी परिगणित करके कारकके सात भेद भी मानते हैं।

क्रिया कौन करेगा ? कर्म के विना यदि क्रिया की भी जाय तो वह व्यर्थ होगी। करणके विना भी यदि कर्त्ता कार्यको सिद्ध करले सकता है तो पहले ही क्यों नहीं करलेता ? इसी तरह यदि कर्त्ता कूटस्थ हो—क्रिया ही न करे अथवा न करसके तो भी किस तरह प्रयोजन की सिद्धि हो सकती है ? .

प्रकृतमें आत्मद्रव्य कर्त्ता, उसकी शुद्ध अवस्था कर्म, और उसीकी असाधारण साधन रूप शक्तियां करण हैं। सम्यग्दर्शन या श्रद्धान यह क्रिया है जिसका कि आशय अपने शुद्ध अन्तः स्वरूपकी तरफ उन्मुख होनेसे है। इनमें से एक भी ऐसा नहीं है जिसके कि विना अभीष्ट साध्य सिद्ध हो सके।

आत्मद्रव्य जो कि कर्ता है वह यदि न हो, उसको—न माना जाय, अथवा जो उसके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करता, उसपर जिस का श्रद्धान नहीं है वह निःशंक हो कर क्यों तो निर्वाणके लिये प्रयत्न करेगा और क्यों उसके उपायको भी जानने आदि की चेष्टा करेगा क्योंकि आत्मद्रव्य के अस्तित्वको मान लेनेपर ही श्रेयोमार्गके जानने की इच्छा हो सकती[1] है। इसी तरह जो व्यक्ति आत्मद्रव्यको तो मानता है परन्तु उसकी संसारातीत शुद्ध अवस्था का होना या होसकना स्वीकार नहीं करता वह भी उसके लिये प्रयत्न क्यों करेगा ? उसकी दृष्टि में जब वह है ही नहीं तब वह उसको प्रप्ता करनेकी चेष्टा या इच्छा भी क्यों करेगा ? इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति आत्मद्रव्यका अस्तित्व स्वीकार करता और उसका अशुद्ध अवस्थासे शुद्ध अवस्था में परिणत हो सकना भी मान्य करता है, इन दोनों ही अंशोंपर उसका श्रद्धान है परन्तु उसके वास्तविक साधनोंपर विश्वास नही है। वह यथार्थ साधन—मार्ग—उपायसे तो उपेक्षा या ग्लानि करता है और अयथार्थ उपायोंसे प्रीति करता है तो वह भी वास्तविक प्रयोजनको किसतरह प्राप्त कर सकेगा ? इसी तरह यदि कोई व्यक्ति इन तीनों विषयों को मानकर भी प्रयत्न नहीं करता तो वह भी फलको किस तरह प्राप्त कर सकता है ? इस तरह विचार करनेपर मालुम हो सकता है कि इन चार भागोंमेंसे किन्ही भी तीन भागोंके माननेपर भी शेष एक भागके न माननेपर जीव अभीष्ट कार्य को सिद्ध नही कर सकता।

आत्माकी द्रव्यता—त्रैकालिक सत्ता एवं उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता तथा गुणपर्ययवत्ता न माननेवाला अपने ही विषयमें सदा शंकाशील रहनेवाला है। फलतः ऐसा नास्तिक और स्वरूप विपर्यस्त व्यक्ति निःशंक न रहनेके कारण श्रेयोमार्गका कर्त्ता नहीं वन सकता तथा फलको भी प्राप्त नहीं कर सकता। इसी तरह जो संसार पर्यायके छूटनेपर अपनी सिद्ध अवस्था होनेका श्रद्धान नहीं रखता, जो यह नही मानता कि हमारी यह वर्तमान ससार पर्याय है, वह दुःखरूप है वह छूटकर हमारी ही अनन्त सुखरूप शाश्वतिक अवस्था हो सकती है, वह संसारकी अवस्थाओंका ही निरंतर कांक्षावान रह सकता है। उन सबसे निःकांक्ष होकर वह परम निःश्रेयसपदके

१—श्रेयोमार्गप्रतिपित्सात्मद्रव्यप्रसिद्धेः।

लिये वस्तुतः प्रयत्नशील नही हो सकता । यदि कोई व्यक्ति आत्मद्रव्यको मानता हैं और उसके संसार तथा मुक्त इसतरह दो अवस्थाओंके साथ२ इस वातको मानता है कि संसारपर्याय छूटकर सिद्ध अवस्था हो सकती है । किंतु उसके उपायके विपयमें विपर्यस्त है । वह वास्तविक उपायों से तो विचिकित्सा या ग्लानि अथवा उपेक्षा रखता है और अवास्तविक या विपरीत उपायोंमें यत्नशील है तो वह भी श्रेयोमार्गको सिद्ध नही कर सकता और न उसके फलको ही प्राप्त हो सकता है । इसीतरह चौथी बात क्रियाप्रवृत्तिके विपयमें समझना चाहिये । जो या तो आत्माको ही अक्रिय मानता है, अथवा वास्तविक क्रियाविधिसे अपरिचित—अज्ञात है या विपरीत क्रियाओं से सिद्ध होना स्वीकार करता है, तो ऐसा मिथ्यादृष्टि यद्वा कोई प्रमादी है—यथार्थ व्रत तपश्चरणादि क्रिया करनेमें कायर है तो वह भी यथार्थ श्रद्धान—सम्यग्दर्शन होजानेपर भी सिद्धिको प्राप्त नही हो सकता । क्योंकि संसारके या वन्धके कथित चार या पांच[1] जो कारण वताए हैं उन सभीके छूटे बिना जीवात्मा पूर्ण परमात्मा नहीं वन सकता । मिथ्यात्वके छूट जानेपर सम्यक्त्व के होजानेपर भी विरतिपूर्वक अप्रमत्त होकर आत्माको क्षुब्ध करनेवाले अथवा मलिन करनेवाले यद्वा अपने ही स्वरूपमें सर्वथा स्थिर न रहनेदेनेवाले कारणों से रहित करनेकेलिये प्रयत्न करना आवश्यक रूपमें शेष रह जाता है । जो इस वातपर वस्तुतः पूर्ण विश्वास नही रखता अथवा कायर प्रमादी है वह भी तवतक सिद्धि प्राप्त नही कर सकता जबतक कि अपने सम्यग्दर्शनको सर्वांशमें पूर्ण नही वनालेता ।

इस तरह विचार करनेपर मालुम हो सकता है कि जवतक यह जीव सामान्य वस्तुस्वरूपके विपयमें और मुख्यतया जीवतत्त्वके विपयमें पूर्णतया समीचीन दृढश्रद्धावान नही है किसी भी अंशमें अपूर्ण है मलिन है या अस्थिर है तवतक वह सम्यक्त्वके वास्तविक फलको प्राप्त नही कर सकता । स्वरूप विपर्यासके कारण सशंक, शुद्धावस्थाकी अश्रद्धाके कारण सांसारिक विषयों में साकांक्ष, अनन्तसुखमय शुद्ध सिद्धावस्थाकी सिद्धिके वास्तविक उपायोंमें ग्लानियुक्त एवं अलस प्रमत्त क्रियाहीन मूढ पुरुष सम्यग्दर्शनके फलको प्राप्त नही हो सकते । क्योंकि इसतरहके व्यक्तियोंका सम्यग्दशन एक २ अंगसे हीन है ।

जिस तरह निःशंकितादि चार अंगोंके विपयमें यहां वताया गया है उसीतरह उपगूहन या उपवृंहणादिके विपयमें भी समझना चाहिये । अन्तर इतना ही है कि पहले चार अंग निपेधरूप हैं अतएव सम्यग्दर्शनके विपयभूत तत्त्वस्वरूपके विपयमें मान्यताकी अवास्तविकताको दृष्टिमें रखकर घटित करने चाहिये । परन्तु अन्तिम चार अंग विधिरूप हैं इसलिये सद्रूपताको लक्ष्यमें रखकर घटित करने चाहिये ।

उपगूहन आदि सम्यग्दर्शनके कार्य है । प्रसंग आदिके न रहनेसे वे भले ही दृष्टिगोचर नहों फिर भी भावरूपमें रहते अवश्य हैं ।

१—मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कपाय और योग इसतरह पांच और ये ही प्रमादके सिवाय शेष चार ।

किसी वृक्षकी कोटरमें अग्नि जलरही हो और उसके पत्रों पुष्पों फलोंपर उसका कोई भी प्रभाव न पडे यह जिस तरह संभव नही उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके अन्तरंगमें प्रकाशित होतेहुए सधर्मा और विधर्माओंके प्रति अथवा स्व और परके कर्तव्यमें औचित्यका संचार न हो यह भी संभव नही है। निःशंकतादिके साथ उपगूहनादिका जैसा कुछ सम्बन्ध है वह पहिले बताया जा चुका है। अतएव उसको यहां दुहरानेकी आवश्यकता नही है। उपबृंहणमें संप्रदान, स्थिति-करणमें अपादान और वात्सल्यमें अधिकरण कारक दिखाई पडता है। किंतु प्रभावनामें धर्म की सन्तति चालू रखनेकेलिये नवीन बीज बोनेका कार्य हुआ करता है।

फलके विना कोई भी कार्य करना बुद्धिमत्ता नहीं है। उसी तरह फल निष्पत्ति किस तरहसे हो सकती है यह देखना भी आवश्यक है। सम्यग्दर्शनका फल उपगूहन आदिके द्वारा ही हो सकता है। ऊपर यह बताया जा चुका है कि उपगूहनादिके विषय क्षेत्र स्व और पर दोनों ही हैं। शंका आदि अतीचारोंसे सम्यग्दर्शनके रहित होजानेपर भी यदि स्व और परके दोषोंका निर्हरण तथा गुणोंका संवर्धन नहीं होता तो उस निर्दोष सम्यग्दृष्टिको भी ठीक ऐसी बन्ध्या सती सुन्दरीके समान ही समझना चाहिये जिससे कि पुत्रप्रसवके न होनेसे पतिको निराकुलता तथा कुलमें धार्मिकताका[1] संरक्षण प्राप्त नही होता। यदि विपरीत या मिथ्यावातावरणादिके मिलनेपर जो अपनेको भी स्थिर नही रख सकता वह दूसरोंको क्या बचा सकेगा। नपुंसकके हाथमें आये हुए उत्तम खड्गके समान कायर या चलचित्त व्यक्तिका सम्यग्दर्शन व्यर्थ है। क्रोधी व्यक्ति जिस तरह अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता। उसी तरह वात्सल्यहीन सम्यग्दर्शन भी सफल नही हो सकता। जिस सम्यग्दर्शनका कार्य प्रभावना नही है वह तो प्रभुत्वहीन राजाके समान दूसरोंसे प्रभावित होकर अपना अस्तित्व भी खो दे सकता है। यही कारण है कि इन कार्यरूप अंगोंके विना सम्यग्दर्शनका अस्तित्व स्वीकार करनेमें भी आचार्योंको संकोच होता हैं। वे कहते हैं कि—

दोषं गूहति नो जातं यस्तु धर्मं न बृंहयेत्। दुष्करं तत्र सम्यक्त्वं जिनागमबहिःस्थितेः॥
तपसः प्रत्यवस्यन्तं यो न रक्षति संयतम्। नूनं स दर्शनाद्बाह्यः समयस्थितिलङ्घनात्॥
चातुर्वर्ण्यस्य संघस्य यथायोग्यं प्रमोदवान्। वात्सल्यं यस्तु नो कुर्यात् स भवेत् समयी कथम्॥
ज्ञाने तपसि पूजायां यतीनां यस्त्वसूयते। स्वर्गापवर्गभूलक्ष्मीर्नूनं तस्याप्यसूयते॥[2]

१—कुलमें चली आई धर्मरूप आधानादि क्रियाएं, अथवा आर्यषट्क—देवपूजादिक नित्यके षट्कर्म निरवच्छिन्न चलते रहें इसीलिये कन्याका दान और आदान हुआ करता है वह फल यदि नही है तो विवाहका फल इन्द्रियतृप्तिमात्र होनेसे वह प्रशस्त और आर्योचित नहीं माना जा सकता। इसीलिये महापंडित आशाधरजीने सागारधर्मामृतमें कहा है कि—

आधानादिक्रियामन्त्रव्रताद्यच्छेदवाञ्छया। प्रदेयानि सधर्मेभ्यः कन्यादीनि यथोचितम्।
धर्मसंततिमक्लिष्टां रतिं वृत्तकुलोन्नतिं। देवादिसत्कृतिं चेच्छन् सत्कन्यां यत्नतो वहेत्॥

२—यशस्तिलक आश्वास २।

सम्यग्दर्शनका लक्षण कथन करते हुए आचार्य ने श्रद्धानरूप क्रियाके जो तीन विशेषण दिये थे उनमेंसे दूसरे "अष्टांग" विशेषण का वर्णन समाप्त करके अब आचार्य पहले 'त्रिमूढापोढ' विशेषणका कथन करते हैं। मूढता प्राय:१ तीन प्रकारकी है–देवमूढता आगममूढता और पाखण्डीमूढता। इनमेंसे सबसे पहले यहां आगममूढता का स्वरूप बताते हैं—

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्॥
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ २२ ॥

अर्थ—नदी और समुद्रमें स्नान करना, बालू पत्थरोंका ढेर लगाना, पर्वतसे गिरना और अग्निमें पडना, लोकमूढता है ऐसा आचार्योंने कहा है।

प्रयोजन—परमार्थभूत आप्त आगम और तपोभृत् के अष्टांग श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है। इससे यद्यपि यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यदि परमार्थ विशेषण से रहित आप्त आदिका श्रद्धान किया जाय तो वह सम्यग्दर्शन नहीं माना जा सकता। परन्तु यह विषय तब-तक अच्छी तरह समझमें नहीं आ सकता जबतक कि सम्यग्दर्शन के स्वरूपको भलेप्रकार सम-झाने के लिए उसके विषयभूत यथार्थ आप्तादिका जिसतरह वर्णन किया है उसीप्रकार अपरमार्थ आप्तादिका स्वरूप भी न बता दिया जाय। दोनोंही के स्वरूपको देख समझकर ही उनमेंसे एक को हेय और दूसरेको उपादेय मालुम होनेपर छोडा और ग्रहण किया जा सकता है अतएव सम्य-ग्दर्शन को अपने विषय में दृढ करने के लिए ऐसे विरोधी–अश्रद्धेय विषयोंका स्वरूप बताना भी उचित एवं आवश्यक है जिनमें कि मुमुक्षुओं को अपनी श्रद्धा मोहित नहीं होने देनी चाहिये। इन विरोधी तत्त्वोंका स्वरूप हुंडावसर्पिणी कालमें बताना और भी आवश्यक हो जाता है जब कि परिणामकटु मिथ्या विषयोंका प्रचार बढ रहा हो।

यद्यपि ये विरोधी विषय प्रकृतमें तीन मूढताएं ही हैं जिनका कि ऊपर नामोल्लेख कियागया है। फिर भी इनमें आगममूढता सबसे बलवती और प्रधान है। क्योंकि वह शेष दोनोंही मूढताओं की मूल है। उसके द्वारा ही देवमूढता एवं पाखण्डि मूढता का प्रचार होता और पाखण्डियों की संख्या बढती है।

लोगोंसे सुनकर या उनकी क्रियाओंको देखकर जो मान्यताएं बनती हैं वे सब आगमनामसे कही जा सकती हैं। सामान्यतया इन मान्यताओंको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक समीचीन दूसरी मिथ्या। जो युक्ति अनुभव तथा समीचीन तात्त्विक विचार से पूर्ण है, जिन का फल दुःखोच्छेद तथा परिपाक कल्याणरूप है वह समीचीन; और इसके विपरीत जो युक्ति-हीन, अनुभवके विपरीत; तथा अतात्त्विक विषय पर आश्रित हैं। जिनका ऐहिक फल दुःख तथा पारलौकिक फल अवद्य एवं अहितरूप है वे सभी मान्यताएं मिथ्या हैं।

इसतरहकी मिथ्या मान्यताओंके उच्चावच रूप और स्थान हो सकते हैं फिर भी उन्हें तीन

१—प्राय:कहनेका आशय यह है कि पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें मूढताओंके चार भेदोंका उल्लेख पायाजाता है।

भागोंमें विभक्त किया जासकता है उत्तम मध्यम और जघन्य। जीवादि तत्त्वोंके विषयमें स्वरूप विपर्यासादिके रहते हुए भी प्रवृत्ति में इन्द्रियविजय या कायक्लेशादि पाया जाय वह जघन्य और जहां प्रवृत्तिमें अनर्गलता हो वह मध्यम तथा जहां जीवादितत्त्वों के विषयमें भी मूलमें अमान्यता हो तो वह उत्तम दर्जेकी मिथ्या मान्यता है।

आत्माके ऐहिक एवं पारलौकिक किसी भी तरह के हिताहितकी तरफ दृष्टि न देकर केवल "भेड़िया धसान[1]" या 'गतानुगतिकता' से चाहे जैसे कार्यमें प्रवृत्ति करना भी इस उत्कृष्ट मिथ्यामान्यतामें ही अन्तर्भूत है। इसीको आगममूढता या लोकमूढता भी कहते हैं। जबतक कोई भी जीव इस तरह की प्रवृत्तियोंमें विश्वास रखता है कि इनसे आत्माका हित हो सकता है तबतक उसके सम्यग्दर्शन नहीं माना जा सकता। क्यों कि सम्यग्दृष्टि जीव अत्यन्त विवेकपूर्ण हुआ करता है। अतएव इस कारिकाके द्वारा यह बता देना आवश्यक है और यही इसका प्रयोजन है कि जिसके श्रद्धान में से इस तरह की मूर्खतापूर्ण मान्यताएं निकल गई हैं, वास्तवमें उस विवेकशीलके सम्यग्दर्शनका अस्तित्व माना जा सकता है।

आगे ज्ञानके प्रकरण में कहा जायगा कि अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असंभव इन दोषों से रहित लक्षण के द्वारा जो वस्तु का वेदन होता है उसको ज्ञान—सम्यग्ज्ञान कहते[2] हैं। यही बात प्रकृत में भी समझनी चाहिये। मालुम होता है कि ग्रन्थकार ने जो सम्यग्दर्शनका लक्षण बताया है उसमें भी वे यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असंभव इन तीन दोषों से रहित श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इनमें से अव्याप्ति दोषका वारण करने के लिए दिये गये अष्टांग विशेषण का स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है। असंभव दोष के निवारणार्थ दिये गये अस्मय विशेषणका वर्णन आगे किया जायगा। यहांपर अतिव्याप्ति दोषका निरसनकरनेके लिए दिये गये विशेषण 'त्रिमूढापोढ' का वर्णन करनाभी उचित एवं आवश्यक है।

वस्तुका स्वरूप विधिप्रतिषेधात्मक है। अतएव किसी भी विषय का एकान्ततः विधिरूप से अथवा प्रतिषेधरूपसे ही यदि वर्णन किया जाय तो उससे यथावत् स्वरूपका बोध नहीं हो सकता। यही कारण है कि यहां पर यह बताना अत्यन्त आवश्यक है कि जो श्रेयोमार्ग से सम्बन्धित विषय अयथार्थ हैं उक्त समीचीन आप्तादिके स्वरूपसे रहित या विपरीत हैं वे सभी श्रद्धान—धर्मरूप सम्यग्दर्शन के अलक्ष्य हैं। यदि उनका भी श्रद्धान समीचीन—यथार्थ विषयों

१—ये दोनों ही लोक प्रसिद्ध कहावते हैं। दोनोमें अन्तर अनध्यवसाय और अविवेक का है। विना देखे ही जो भेड़ों सरीखी प्रवृत्ति उसको भेड़िया धसान कहते हैं एकभेड़ यदि कूपमें गिरतीहै तो पीछेकी सभी भेड़ें गिरती चली जाती हैं। किसी अच्छे व्यक्ति के द्वारा समयानुसार किये गये विचार पूर्ण कार्य का रहस्य न समझ कर सदा ही अनुकरण करना "गतानुगतिकता" है। जैसा कि हितोपदेशकी इस श्लोक से सम्बन्धित कथासे जाना जासकता है कि-गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः। मृत्तिकापुंजमात्रेण गतं मे ताम्रभाजनम्।

२—अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्। निःसन्देहं वेद यदाहुस्तद् ज्ञानमागमिनः।

के समान ही किया जायगा तो उसको सम्यग्दर्शन नहीं कहा जा सकता। इन तीनों मूढताओं के सेवन से अलक्ष्य में प्रवृत्ति होजानेके कारण सम्यग्दर्शन नहीं रह सकता। यह ग्रन्थकार को बताना है। अतएव यह वर्णन अत्यन्त प्रयोजनीभूत है।

मतलब यह कि यदि शंकादिक अतिचार लगते हैं तो अंशभंग[1] होनेसे सम्यग्दर्शनमें अव्याप्ति दोष है। इसीप्रकार प्रमादादिवश यदि उपगूहनादि या उपबृंहणादि नहीं करता है तो गुणोंमें या गुणाश्रयोंमें रुचिकी कमी पाये जाने के कारण सम्यग्दर्शनमें अल्पता पाई जाती है। वह भी उसका अव्याप्ति दोष है। यदि सच्चे और मिथ्या दोनों ही में समान प्रवृत्ति करता है तो अलक्ष्य में प्रवृत्ति रहनेके कारण सम्यग्दर्शन अतिव्याप्ति दोषसे युक्त माना जायगा। ऐसी अवस्था में भी शुद्ध सम्यग्दर्शन नहीं माना जा सकता। इसीप्रकार यदि कोई सम्यग्दृष्टि गर्विष्ठ होकर—अनन्तानुबन्धी मान कषाय के जो कि द्वेषरूप है, उदयके वश होकर सच्चे आप्त आगम तपोभृत् आदिसे द्वेष करता है तो वहां सम्यग्दर्शनका असंभव दोष है। उस अवस्थामें सम्यग्दर्शन का रहना ही संभव नहीं है।

इस अभिप्रायको दृष्टि में रखकर ही मालुम होता है श्री भगवान समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन का लक्षण कहते समय[2] उत्तरार्धमें तीन विशेषण—'त्रिमूढापोढ' 'अष्टांग' और 'अस्मय' दिये हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इनमें से 'अष्टांग' विशेषण द्वारा अव्याप्ति दोषका 'त्रिमूढापोढ' से अतिव्याप्ति दोषका और 'अस्मय' विशेषण से असंभव दोषका वारण हो जाता है। फलतः अव्याप्ति दोष-युक्त लक्षणकेही द्वारा बताया गया सम्यग्दर्शन का स्वरूप पर्याप्त—ठीक नहीं है-इस बात को बताने के लिए और सम्यग्दर्शन की निरतिचारिता तथा निरतिचार सम्यक्त्व सहित जीवकी प्रवृत्ति किसतरह की हुआ करती है इस बातको अष्टांग विशेषणका वर्णन करके बताने के बाद अतिव्याप्ति के विषयभूत कुआगमादि का कथन करना क्रमानुसार अवसर प्राप्त है।

यद्यपि अतिव्याप्ति की विषयभूत मूढताएं तीन बताई गई हैं परन्तु मालुम होता है कि सामान्यतया एक ही मूढता के ये उत्तम मध्यम जघन्य इसतरह तीन प्रकार हैं। जिसमें जीव तत्त्व की अमान्यता का कथन भी अन्तर्भूत हो जाय और तदनुसार प्रवृत्ति पाई जाय उसे उत्तम दर्जेकी मूढता समझनी चाहिये। जीव तत्त्व को मानकर उसके स्वरूपका विपर्यास यदि श्रद्धान तथा आचरण में पाया जाय तो मध्यम दर्जेकी मूढता माननी चाहिये। यदि आचरण मिथ्या या असमीचीन है तो जघन्य दर्जेकी मूढता समझनी चाहिये। तीनोंसे उत्तम दर्जेकी मूढताका परिज्ञान जिससे हो सके और उसके परित्यागसे अतिव्याप्ति दोष रहित सम्यग्दर्शन सिद्ध हो सके इसके लिए प्रधानभूत आगममूढता का स्वरूप प्रथम बताना ही प्रकृत कारिका का

१—"अतीचारोंऽशभंजनम्" । अथवा—" तथातिचारम् करणालसत्वम् "। " शंका कांक्षा निर्विचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः।

२—कारिका नं०४ ।

प्रयोजन है।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—

आपगा नाम नदी का है। क्योंकि आप शब्दका अर्थ होता है जल का समूह अर्थात् समुद्र[1]। उसमें जाकर जो मिलती हैं उनको कहते हैं आपगा। सागर[2] नाम समुद्र का है। सगरैस्त निर्वृतः सागरः। स्नान शब्दका अर्थ प्रसिद्ध है। उच्चय शब्दका अर्थ ऊपरको उठा हुआ-ढेर होता है। सिकता अर्थात् बालू और अश्मन अर्थात् पत्थर गिरिपातः से मतलब पर्वतसे गिरना और अग्निपात से मतलब अग्निमें गिरना। लोकमूढसे मतलब लोकमूढता का है। अर्थात् लोक शब्दका अभिप्राय है अविचारी जन। और उनकी चाहे जैसी क्रियाओं—व्यवहारों को देखकर उनपर मोहित होना—उनके ही अनुसार स्वयं भी विना विचारे करना—चलना उनको सर्वथा सत्य मानना मूढता है इसी को कहते है लोकमूढता।

ये सब शब्द योगरूढ होनेपर भी उपलक्षण रूप हैं। फलतः इनसे चार तरह के पदार्थों का आशय समझना चाहिये। १—बहने वाले और एक जगह संगृहीत जलाशय, २—धूल मट्टी चूना जैसे पृथ्वी के संग्रह और पत्थर कंकड टील शिला आदि बडे बडे पार्थिव समुच्चय, ३—पर्वतसे गिरना, वृक्षपरसे गिरना या अन्य किसीभी उच्चस्थानपरसे गिरकर अपनेको वायुद्वारा विलीन करना आदि। ४—पीपल आदिमें बैठकर आग लगा लेना अथवा मृत पति के साथ उसकी चितामें जलकर मरना आदि अग्नि द्वारा अपघात करना। इसतरह भूत चतुष्टयमेंसे किसीके भी द्वारा धर्म मानना लोकमूढता है।

तात्पर्य—यह कि भूतचतुष्टय—पृथ्वी जल अग्नि और वायु में अर्थात् इनसे धर्म होता है ऐसा मानना लोकमूढता है।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि प्रकृत कारिकामें प्रयुक्त मूढ शब्द मूढता के अर्थ में है। विचार या विवेककी हीनता रहितता को अथवा तत्पूर्वक होनेवाली प्रवृत्ति को मूढता कहते हैं। तथा चार तरह की मूढता उपलक्षण होनेसे इसीतरहकी और २ भी प्रचलित प्रवृत्तियां "काशी करवट" "पृथ्वी के भीतर बैठकर समाधिस्थ होना" "किसी वृक्षमें चिंदी बांधना" "पीपलको यज्ञोपवीत पहराना" आदि सब भी लोकमूढताएं ही हैं।

प्रश्न—आचार्योंने सम्यग्दर्शन के विषय तीन बताये हैं—आप्त आगम और तपोभृत्। अतएव उसके विपरीत मिथ्यादर्शन के भी तीन ही विषय हो सकते हैं—कुदेव कुआगम और कुगुरु। इनकी मान्यताको ही तीन मूढताएं कहा जा सकता है। जैसा कि उपर कहा जा चुका

१—अथवा जल समूह का अर्थ समुद्र न करके सामान्य अर्थ ही करने पर इस तरह से भी निरुक्ति हो सकती है कि आपेन—जलसमूहेन गच्छति इति आपगा। जो जल समूहके द्वारा गमन करे। अर्थात् नदी।

२—यहां सागर से प्रयोजन उस उपसमुद्रका है जो कि हुंडावसर्पिणी के कारण तीसरे काल के अंतमें हुई वर्षा का जल इकट्ठा होकर समुद्र समान बन गया। कोषकारोंने सगर राजा के नाम पर सागर शब्दका अर्थ किया है सो मालूम होता है कि श्री अजितनाथ भगवानके समकालीन द्वितीय चक्रवर्ती सगरके नाम से प्रसिद्ध है उनको लक्ष्य कर किया है।

है। स्वयं ग्रन्थकर्त्ताने आगे चलकर कारिका नं० ३० में शुद्ध सम्यग्दृष्टिके लिए इन तीनोंको ही प्रणाम और विनय करने का निषेध किया है परन्तु महापण्डित आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत में आगममूढतासे लोकमूढता को भिन्न ही बताया है। आगममूढताको उन्होंने देवमूढता और पाखण्डिमूढता में अन्तर्भूत किया[१] है। सो सत्य क्या है ? वास्तवमें आशाधरजीने मूढताओंके चार[२] प्रकार बताये हैं। यदि उनके कथनानुसार चार भेद माने जांय तो मूढताके तीन भेद जो प्रसिद्ध हैं और यहांपर भी जैसा कि बताया गया है उससे विरोध होता है। यदि उनका कथन अयुक्त माना जाय तो स्वामी अमृतचन्द्रने पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें[३] भी चार मूढताओंका ही नामोल्लेख किया है, उसको भी अयुक्त कहना होगा।

उत्तर—ठीक है। परन्तु इन कथनोंमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। सम्यक्त्व के विरोधी मल दोष २५ हैं। उनमेंसे ६ अनायतनका यहां निर्देश नहीं है। ८ शंकादिक ८ मद और ३ मूढता इस तरह १६ का ही उल्लेख है। अत एव कदागमका देवमूढता और पाखण्डि मूढता में अन्तर्भाव करके लोक मूढता का वर्णन किया समझना चाहिये जिससे कि अनायतन सेवाका भी समावेश होसके, अमृतचन्द्राचार्यने लोक, शास्त्राभास, समयाभास और देवताभास इस तरह चारका उल्लेख किया है जिससे तीन मूढता और एक अनायतन सेवाका संग्रह होजाता है।

अथवा कदागमके दो प्रकार समझने चाहिये एक शास्त्रीय, दूसरा गतानुगतिकताके द्वारा प्रवर्तमान व्यवहार। पहलेका शेष दो मूढताओं में अन्तर्भाव करना चहिये और दूसरे का लोकमूढता में।

यद्यपि कुछ ऐसी भी लोकमूढताएं हैं जिनका कि कदागम समर्थन करते हैं। परन्तु वास्तवमें वे सब लोकमूढताएं ही हैं जिनकी कि प्रवृत्ति अज्ञानमूलक है।—रावण त्रिखण्डाधिपति होनेके सिवाय अत्यन्त सुन्दर नरेश था नकि राक्षस, हनूमान् कामदेव अत्यन्तसुन्दर महापुरुष थे नकि बन्दर, पवनंजय महान् विद्याधर राजा थे नकि वास्तविक वायु, अंजना भी वानरी—पशु नहीं थी अत्यन्त सती साध्वी सुन्दरी महिला थी। इनका वास्तविक स्वरूप वंश चिन्ह आदि श्री रविषेणाचार्य कृत पद्म पुराणादि से जाना जा सकता है। परन्तु लोगोंने इन को क्रमसे साक्षात् राक्षस, बन्दर, वायु, वानरी आदि ही मान रक्खा है। उसी तरहके उनके चित्र मूर्ति आदि भी बनाते हैं। दशहराके दिन रावणका राक्षसरूप बनाकर जलाते हैं, सो अज्ञानमूलक महा पाप क्रिया है। ध्यान रहे राक्षस भी व्यन्तर देव हैं, वे अत्यन्त सुन्दर मनुष्य जैसे आकारके वैक्रियिक शरीरके तथा अणिमा महिमा आदि ऋद्धियोंके धारक,

१—ननु च कथमेतत् यावता लोकदेवतापाषण्डिभेदात्त्रियैव मूढमनुश्रूयते। तथा च स्वामिसूक्तानि-आपगासागरेत्यादि। नैष दोषः कुदेवे कुलिङ्गिनि वा कदागमस्यान्तर्भावात्। अ०ध०२—१०३टी०

२—यो देवलिंगिसमयेषु तमोमयेषु, लोकेगतानुगतिकेऽप्यपथैकपान्थे। न द्वेष्टि रज्यति न च प्रचरद्विचार सोऽमूढदृष्टिरिह राजति रेवतीवत्॥ अ०ध०अ०२—१०३

३ ... ... समयाभासे च देवताभासे। नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यम् मूढदृष्टित्वम्॥

मानस अमृतका पवित्र आहार करनेवाले हैं नकि मद्यपान और मांसाहार करनेवाले परन्तु रावण को मद्यमांसादिका सेवन करनेवाला कहते हैं सो सब अज्ञान है उनका अवर्णवाद है, महापाप है और लोकमूढता है।

रावणके समान ही अन्य भी उक्तानुक्त महान् व्यक्तियोंके विषयमें समझना चाहिये। पार्वतीको हिमवान् पर्वतपर राज्य करने वाले राजाकी पुत्री न मानकर साक्षात् पर्वत—पहाड से उत्पन्न हुई मानना, पार्वतीके पुत्र गणेशजी की शरीरके मलसे उत्पत्ति मानना, सीताके पुत्र कुशको कुश नामक घाससे उत्पन्न हुआ मानना, ईश्वरका मत्स्य कच्छप शूकर योनिमें अवतार मानना और वैसा ही विकृत रूप बनाना, मलके कोट का भक्षण आदि निकृष्ट क्रियाएं मानना आदि सब लोकमूढता के ही प्रकार हैं। भारतवर्षमें आजकल हुंडावसर्पिणी कालके कारण इस तरहकी हजारों मिथ्या मान्यताएं प्रचलित होगई हैं। जो कि यथार्थतासे परे हैं और इसीलिये अविवेकमूलक हैं। इसतरहकी मान्यताओं को ही लोकमूढता कहते हैं। वास्तविक रहस्यको न जानकर अथवा न मानकर जिन लोगोंने इन बातोंका समर्थन करनेवाले साहित्यका निर्माण किया है उनकी वे कृतियां—ग्रन्थ शास्त्राभास हैं। इसतरहकी प्रवृत्तियों और उनके प्ररूपक ग्रन्थों में केवल वाच्य वाचकका अन्तर है। अत एव समन्तभद्र आचार्य एक ही भेदमें अन्तर्भूत करके मूढताके तीन प्रकार बतारहे है।

तत्त्वों—द्रव्योंके स्वरूप संख्या आदि में जो विपर्यास है उसको यदि भिन्न प्रकारकी मूढता माना जाय और इसको शास्त्राभास नामसे कहाजाय तो एक ही मूढताके दो भेद होजाते हैं एक लोकमूढता और दूसरी शास्त्राभास मूढता।

मूढताके चार भेद होजानेसे संख्यावृद्धिकी शंका करना भी ठीक नहीं है। क्योंकि विवक्षावश एक ही विषयको दो भेदों के द्वारा भी बताया जा सकता है। दूसरी बात यह कि आशाधरजीने जिस ढंगसे सम्यग्दर्शन के गुणोंका वर्णन किया है उसमें भिन्न२ आचार्यों के प्रायः सभी वर्णनों की संगतिपूर्वक संग्रह करनेकी भावना दिखाई देती है। यही कारण है कि उन्होंने उमास्वामी भगवान्, शिवकोटी, स्वामी अमृतचन्द्र, स्वामी समन्तभद्र, सोमदेव सूरी आदि के वाक्योंको उद्धृत किया है और उनके आशय को भी स्पष्ट किया है। उन्हों ने आराधनाशास्त्रके[1] अनुसार पांच अतीचार इस प्रकार बताये हैं कि—शंका कांक्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशंसा और अनायतनसेवा। स्पष्ट ही इनमें तत्त्वार्थसूत्रोक्त अन्यदृष्टिसंस्तव नामके अतीचार को अन्यदृष्टि प्रशंसामें ही अन्तर्भूत करलियागया है और अनायतनसेवा नामका पांचवां अतीचार भिन्न ही बताया है जिसको कि आशाधर जी स्मृतिप्रसिद्ध अतीचार कहते हैं।

समन्तभद्र भगवान्ने यहांपर सम्यग्दर्शन के २५ मलदोषों में से १६ का ही नामोल्लेख

१—भगवती आराधना—सम्मत्तादीचारा संका कंखा तहेव विदिगंछा। परदिट्ठीणपसंसा, अणायदण सेयणा चेव॥

किया है। ६ अनायतनों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि उनको सम्यग्दर्शन के दोषों की २५ संख्या अभीष्ट नहीं है अथवा उन्हे अनायतन मान्य नहीं है। वास्तविक बात यह है कि वे इन अनायतनोंको प्रकारान्तरसे सूचित कर रहे हैं। उन्होने कारिका नं० ३ पूर्वार्धमें जब कि धर्म के त्रिविधस्वरूपका निर्देश किया है; वहीं उत्तरार्धमें उनके तीन प्रत्यनीक भावों अर्थात् मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका निर्देश कर दिया है। इस तरह तीन मुख्य अनायतनोंका वहीं पर उल्लेख होजाता है। अमूढदृष्टि अंगका वर्णन करते हुए कारिका नं० १४ में इन्ही को कापथ शब्द से बतादिया है। इस के साथ ही उसी कारिकामें कापथस्थोंका भी उल्लेख किया है। मिथ्यात्वादिक मुख्य तीन अनायतनोंके जो आधार हैं वेही कुदेव कुशास्त्र और कुगुरु कापथस्थ नाम से कहे गये तीन अनायतन हैं। इन्ही तीन अनायतनों का कारिकानं० ४ में परिहार या वारण करने केलिये आप्तादिकका "परमार्थ" यह विशेषण दियागया है। इस तरह तीन मुख्य भावरूप या अधर्मरूप अनायतन, और तीन गौण या उपचरित तद्वान् अर्थात् आप्ताभास शास्त्राभास और गुर्वाभास अनायतनों को मिलाकर छह अनायतन होजाते हैं।

जिस तरह तत्त्वार्थसूत्रमें विनयके चार भेद बताये गये हैं—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और उपचार। वहां उपचारसे मतलब सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानी और सम्यक्चारित्रवान् से है। ये ही छह अनायतन हैं। जिनमें से सम्यग्दर्शनादि तीनोंका स्वयं धारण पालनादि करना मुख्य विनय है और तीन तद्वान् व्यक्तियों का योग्य आदर सत्कार आदि करना उपचरित अथवा गौण विनय माना है। इसीतरह प्रकृतमें भी समझना चाहिये।

आगमके दूसरी तरहसे भी दो भेद होते हैं। एक श्रुति दूसरा स्मृति। द्वादशांग श्रुत और उसका ज्ञान पहले भेदमें और जितने साधनभूत धर्म के प्रतिपादक संहिता आदि शास्त्र हैं वे सब दूसरे भेदमें गिने जाते है। स्वयं आप्तप्रतिपादित होनेसे श्रुति अथवा आंगपौर्व ग्रन्थ तथा तदनुकूल एवं तदविरुद्धताके कारण सभी स्मृतिग्रन्थ प्रमाण हैं। और जो इनके प्रतिकूल हैं ऐसे हिंसाविधायक वेद आदि तथा मोह अज्ञान असदाचार—पापाचार आदिके प्रवर्तक भारत रामायण आदि हैं वे सब क्रमसे कुश्रुत एंव कुस्मृति समझने चाहिये जो कि प्रायः अनायतनके भेदोंमें ही अन्तर्भूत होते हैं।

> श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
> धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्था ॥

इस तरहके अज्ञानमूलक मोहप्राबल्यको सूचित करनेवाले भी जो वाक्य लोक में पाये जाते हैं वे भी सब आगमाभास अथवा शास्त्राभासमें ही गर्भित समझने चाहिये। लोकमूढता के विषय प्रायः ऐसे कार्य समझने चाहिये जिनका कि वास्तविक रहस्य न समझकर अथवा उनमें भी धर्म की कल्पना करलेना।

प्रश्न—हमको तो अनायतन और मूढताओंमें कोई अन्तर नहीं मालुम होता। क्योंकि दोनोंहीमें मिथ्यादर्शनादिकका सम्बन्ध पाया जाता है। कहिये इनके पृथक् २ वर्णन करने का क्या कारण है ?

उत्तर—दोनोंमेंसे एक में भावकी और दूसरेमें द्रव्य की प्रधानता है। जो द्रव्यरूप में मिथ्यादृष्टि नहीं कहा जा सकता परन्तु वही यदि तत्त्वतः अथवा अन्तरंग में मिथ्याभावोंसे युक्त है तो उसे अनायतन कहा जा सकता है। जैसा कि महापंडित आशाधरजीके निम्न-वाक्योंसे स्पष्ट होता है।

अपरैरपि मिथ्यादृष्टिभिः सह संसर्गं प्रतिषेधयति—

मुद्रां सांव्यवहारिकीं त्रिजगतीवन्द्यामपोद्यार्हतीम्,
वामां केचिदहंयवो व्यवहरन्त्यन्ये बहिस्तां श्रिताः।
लोकं भूतवदाविशन्त्यवशिनस्तच्छायया चापरे,
म्लेच्छन्तीह तकैस्त्रिधापरिचयं पुंदेहमोहैस्त्यज ॥ २–९६ ॥

इस पद्यकी टीकामें स्वयं ग्रन्थकारने, जैसा और जो कुछ लिखा है उससे स्पष्ट होजाता है कि वे धर्मकाम लोगोंमें भूतकी तरह प्रवेश करनेवाले अजितेन्द्रिय द्रव्य जिनलिङ्ग[१] धारियों एवं लोकशास्त्रविरुद्ध आचरण करनेवाले जिनरूपधारक मठपतियोंको अनायतन समझते हैं। और तापसादि द्रव्यमिथ्यादृष्टियों की तरह उनके साथ भी मन वचन कायसे परिचय न करने का सम्यग्दृष्टियोंको उपदेश देते है। इस पद्यमें प्रयुक्त "पुंदेहमोह" शब्दका आशय रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी अमूढदृष्टि अंगका वर्णन करनेवाली "कापथे पथि दुखानाम्" आदि कारिका नं. १४ से ही है। इससे द्रव्यरूप में जिनलिङ्गियोंका भी अनायतनत्व सिद्ध है। किन्तु लोकमूढतामें अन्तरंगभावोंरूप मिथ्यात्व के साथ २ बाह्य द्रव्य प्रवृत्ति भी अज्ञान एवं अविवेक मूलक हुआ करती है। फिर चाहे वह प्रवृत्ति कुश्रुत और कुस्मृतियों के आधार पर हो अथवा निराधार।

प्रश्न—अनायतन छह हैं, तीन मिथ्यात्व आदिक भाव और तीन मिथ्यादृष्टि आदिक तद्भाववान् व्यक्ति। आचार्योंने इन अनायतनोंको सम्यग्दर्शन के २५ मलदोषोंमें गिनाया है। इसका आशय हमारी समझसे तो यह है कि इन मलदोषोंके रहते हुए भी सम्यग्दर्शन निर्मूल- भग्न नहीं होता। वह मलिन अथवा सदोष--दूषित अवश्य होजाता है। किन्तु यह

१—आगममे पार्श्वस्थादिक पांच प्रकारके भ्रष्टमुनि मानेगये है। वे द्रव्यरूपमे जिनलिंगके धारक होते हुए भी चारित्रसे च्युत हुआ करते हैं। उनको संयमियोंकेलिये अवन्द्य कहा गया है। आशाधरजीका अभि-प्राय ऐसे भ्रष्ट मुनियों से ही है। सामान्यतः द्रव्यलिंगी मात्रसे नहीं। सामान्यतः द्रव्यलिंगी मुनि तो पांच प्रकारके (बाहरमे छठे सातवे गुणस्थानके अनुरूप अखण्ड संयमसेयुक्त परन्तु अन्तरंगमे प्रथम पांच गुणस्थान में से किसीसे युक्त) हुआ करते हैं। और वे सभी वन्दनीय तथा पूज्य है। जो चारित्रसे और सम्यक्त्वसे भी भ्रष्ट हैं उन्हींका यहां अभिप्राय है।

समझमें नहीं आता कि साक्षात् मिथ्यात्व नामक अनायतनका सेवन करने पर भी सम्यग्दर्शन स्थिर किस तरह रह सकता है। ऐसी अवस्थामें अनायतनसेवाको अतीचार न कह कर अनाचार ही कहना चाहिये?

उत्तर—ठीक है। परन्तु अतीचार शब्दका निरुक्त्यर्थ ऐसा है कि किसी भी धर्म या व्रतके मूलस्वरूपका अतिक्रमण जिसमें पाया जाय या जिससे होताहो ऐसी कोई भी प्रवृत्ति। तदनुसार इस तरहकी प्रवृत्ति दोनों ही तरहकी हो सकती है प्रथम तो वह जिससे अंशतः अतिक्रमण हो और दूसरी वह जिससे मूलतः अतिक्रमण अर्थात् भंग होता हो। फलतः इस निरुक्ति के अनुसार अनायतन सेवा का अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि जिससे सम्यग्दर्शन का समूल भंग हो जाय। एसी अवस्था में उसको अतीचार न कहकर अनाचार ही कहा जा सकता है। यही कारण है कि मूलाराधनाकी विजयोदया टीका के कर्त्ता अपराजित सूरिने मिथ्यात्व नामक अनायतन के सेवन करनेवाले को अतिचारवान् न कहकर मिथ्यादृष्टि ही माना है।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो मिथ्यात्व नामके अनायतन का सेवन अतीचार या मलदोष रूपमें किसतरह माना जा सकता है? क्योंकि यदि उसकी अतीचारता संभव ही नहीं हो सकती तो अनायतन के पांच ही भेद मानने पड़ेंगे।

उत्तर—ठीक है। यदि कोई जीव अंतरंग में श्रद्धान तो ठीक ठीक ही रखता है-सम्यग्दृष्टि है। परन्तु किसी कारणवश वह बाहर-द्रव्यरूपमें यदि किसी ऐसे द्रव्यादिका सेवन कर लेता है जिससे कि सम्यक्त्व का निर्मूल भंग हो जाना संभव है तो उस अवस्थामें उस मिथ्यात्व के सेवन को अतिचार भी कहा जा सकता या माना जा सकता है। क्योंकि वहांपर द्रव्यरूपसे भंग और भावरूपसे अभंग पाया जाता[1] है।

इसीप्रकार अन्य अनायतनों के सेवन के विषय में भी यथायोग्य घटित कर लेना चाहिये।

प्रश्न—आचार्योंने नदी नद समुद्र आदिमें, स्नान करने को लोकमूढता कहा है। परन्तु दि० जैनाचार्यों के ग्रन्थोंमें और उनके कथित विधि विधानोंमे भी इस तरहके स्नान को उचित बताया[2] है। गंगा सिंधु आदि नदियों के जलसे भगवान का अभिषेक करने का विधान किया है[3]। क्षीर समुद्र के जलसे सभी तीर्थंकरों के जन्म समय अभिषेक की बात तो सर्व प्रसिद्ध है।

१—मिथ्यात्वस्य सेवा तत्परिणामयोग्यद्रव्याद्युपयोगः, तां च कुर्वन् सम्यक्त्वं निर्मूलयिष्यतीति द्रव्यतो मिथ्यादृष्टिरेवासौ, इति कथं न सम्यक्त्वातिचारवान्। अतात्य चरणं ह्यतिचारः माहात्म्यापकर्षो ऽशतो विनाशो वा श्रीविजयाचार्यस्तु मिथ्यात्वसेवामतिचारं नेच्छन्ति—तथाचग्रन्थो "मिथ्यात्वमश्रद्धानं तत्सेवायां मिथ्यादृष्टिरेवासाविति नातिचारिता" इति मूलाराधना पृ०१४५।

२—वातातपादिसंसृष्टे भूरितोये जलाशये। अवगाह्याचरेत्स्नानमतोन्यद् गालितं भजेत्। यश० उ० पृ० ३७२।

३—जैसा कि पूजापाठोंमें सर्वत्र प्रसिद्ध है।

किंतु राज्याभिषेक के समय तो सभी प्रसिद्ध तीर्थरूप नदियोंके जलसे स्वयंभू रमण समुद्रतक[1] के जलसे भगवान का अभिषेक किया गया था। चक्रवर्तियों के राज्याभिषेक आदि अवसर पर भी इन नदी समुद्र आदिके जलका ही उपयोग किया जाता[2] है। तो क्या यह भी लोकमूढता ही है? यदि नहीं है तो इसका क्या कारण है?

उत्तर—दि० जैनाचार्योंने इन जलों को पवित्र माना है। और व्यवहार धर्ममें उसके उपयोग को उचित तथा महत्त्वपूर्ण भी बताया है। इन जलोंसे अभिषेक करना पुण्यबन्धका कारण है, यह बात भी ठीक है। सम्यग्दृष्टि जीव भी अपने व्यवहार धर्म जिनाभिषेक पूजनादिमें इनको लेकर सातिशय पुण्यका बन्ध करते हैं। यह सब भी ठीक है परन्तु यहां पर जो निषेध किया है उसका आशय यह है कि नदी नद समुद्रादिमें स्नानादि करना मोक्षका कारणभूत धर्म नहीं है। जो यह कहते और मानते हैं कि गंगादिकमें स्नान करनेसे कर्म कट जाते और जीवकी मोक्ष हो जाती है सो यह बात मिथ्या है। इस तरह के स्नानसे बाह्य पवित्रता और शौचादि व्यवहार धर्म की सिद्धि होती है। तथा भगवानका अभिषेकादि करनेसे महान पुण्यके कारणभूत व्यवहार धर्मका भी निःसंदेह साधन होता है फिर भी वह जीव के मोक्षका असाधारण कारण नहीं है। कर्मनिवर्हण का कारण असाधारण परिणाम तो जीवका सम्यग्दर्शनरूप अथवा रत्नत्रयरूप धर्म ही है। यही वास्तवमें मोक्ष का कारण है और बन सकता है। जो बन्धके कारण को मोक्षका कारण मानता है, जो पर धर्मको आत्मधर्म समझता है, जो द्रव्यों के स्वतःसिद्ध स्वरूपको परतःसिद्ध समझ रहा है, वह अवश्य ही अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दर्शन तो निश्चयसे आत्माका स्वभाव होनेके कारण मोक्षका अवश्यही असाधारण कारण है। और यह युक्तियुक्त है। गंगास्नानादिक तो प्रत्यक्षही भिन्न पदार्थ हैं वे आत्माकी मोक्षके साधक नहीमाने जा सकते। फिर मोहयुक्त एकान्तबुद्धिके द्वारा माने गये विषयमें आनेवाले दोषका स्याद्वादद्वारा अभेद्य अनेकान्त सिद्धांत में रंचमात्र भी प्रवेश नहीं हो सकता। जैनागममें इस नदी नद समुद्र आदिके जल को जो व्यवहार धर्म में ग्रहण किया है उसका कारण यह नहीं है कि उससे कर्म धुल जायेंगे और जीव सांसारिक दुःखोंसे छूटकर उत्तम सुखरूप मुक्तावस्था में परिणत हो जायगा; किंतु उसका कारण यह है कि उनके जल सर्वसाधारण जनसे अस्पृष्ट हैं अत्यन्त महान हैं और पवित्र हैं। ऐसी वस्तुओंके द्वाराही त्रैलोक्याधिपति जिनेन्द्र भगवानका अभिषेकादि करना उचित है। जो भव्य इनको प्राप्त कर सकते है वे उनके द्वाराही अभिषेकादि करते हैं किंतु जो असमर्थ हैं वे यथा प्राप्त शुद्ध प्रासुक जलमें ही इनका मंत्रपूर्वक[3] संकल्प करके अभिषेकादि

१—देखो आदिपुराण पर्व १६ श्लोक २०६ से २१५ तक

२—राज्याभिषेचने भर्तुर्यो विधिर्वृषभेशिनः। स सर्वोऽपि तीर्थाम्बुसंभारादिः कृतो नृपैः॥ आदि० पर्व ३७ श्लोक ४। तथा—गंगासिंधू सरिद्देव्यौ साक्षतैस्तीर्थवारिभिः। इत्यादि। आ० ३७—१०।

३—इसके लिए देखो प्राचीन आचार्यों के आरचित अभिषेक पाठों का सिद्धान्त शास्त्री पं० पन्नालाल जी सोनी द्वारा सम्पादित एवं संगृहीत "अभिषेक पाठ संग्रह"।

किया करते हैं।

इसतरह लोकमूढताका वर्णन करके क्रमानुसार देवमूढताका स्वरूप बताते हैं।

वरोपलिप्सयाशावान्, रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत, देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥

अर्थ—वर प्राप्त करने की इच्छासे आशावान होकर राग द्वेष से मलिन देवताओंकी जो उपासना की जाय तो उसको देवमूढता कहते हैं।

प्रयोजन—सम्यग्दर्शन के विषय तीन हैं। आप्त आगम और तपोभृत्। उसके विरोधी मूढभावके भी उसीतरह तीन विषय हो सकते है। जो कि यथार्थ न होकर आभासरूप या मिथ्या हों। उन्हीं को आप्ताभास आगमाभास और कुगुरु (पाखण्डी) कहते हैं। वास्तविक सच्चे आप्त आगम और गुरुका लक्षण बताया जा चुका है। जो उनसे विरुद्ध गुण धर्म या स्वभावके धारक हैं अथवा प्रवृत्ति करनेवाले है वे ही आप्ताभासादिक कहे जा सकते हैं। फलतः जो या जहां पर आप्तवाक्यनिवन्धन अर्थज्ञान अथवा उसकी अविरुद्धता नहीं है उसको या वहींपर आगमाभास कहा जा सकता है। अतएव अज्ञानी मोही साधारण जीवोंके कथन को प्रमाण मानकर अथवा उनकी प्रवृत्तियों की देखादेखी चाहें जैसी प्रवृत्ति करना जिसतरह आगमाभासमूलक लोक मूढता है जिसका कि स्वरूप ऊपर की कारिका में बताया जा चुका है। उसीप्रकार आप्ताभास या देवताभास के सम्बन्ध को लेकर देवमूढता हुआ करती है।

मूढताके सामान्यतया तीन ही प्रकार सर्वत्र बताये हैं यदि कहीं इससे अधिक[१] भेदों का उल्लेख मिलता है तो विवक्षा भेद से एकही विषय के दो भेद करके वह वर्णन किया गया समझना चाहिये। इन तीनों भेदों मेंसे एक लोकमूढता का वर्णन कर चुके। पहले उसके कहने का कारण यह हो सकता है कि वह लोगोंमें सबसे अधिक संख्यामें और प्रवृत्ति में पायी जाती है। अतएव पारिशेष्यात् यहां देवमूढता का वर्णन करना संगत है।

दूसरी बात यह भी है कि लोकमूढता और पाखण्डि मूढता के मध्यमें देवमूढताका उल्लेख किया है। यह देहली दीपक न्यायसे दोनों तरफ सम्बन्ध को सूचित करता है। क्योंकि विचार करनेपर मालूम होता है कि देवमूढता ही शेष दोनो मूढताओं का मूल है। जिसतरह मोक्षमार्गका मूल समीचीन आप्त परमेष्ठी है उसीप्रकार संसारमें प्रचलित मूढताओं या पाखण्डों का मूल आप्ताभास अथवा मिथ्या देवों की मान्यता है। अतएव लोक में प्रचलित मूढताको बताकर उसके अनन्तर उसके मूल कारण को भी बताना उचित आवश्यक और अवसर प्राप्त है।

अनायतनों और मूढताओं में क्या अन्तर है यह पहले बताया जा चुका है। इस तरह मूढता के विषयभूत देव केवल आप्ताभास ही नहीं अन्य भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं उन

१—लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे। आदि० पु० सि० देखो पूर्व कारिका की व्याख्या और टिप्पणी।

सभीके तरफ दृष्टि दिलाने के लिए इस कारिकाका निर्माण प्रयोजनीभूत है।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—

'वरोपलिप्सा—इसका सामान्य अर्थ इतना ही है कि वर प्राप्त करने की अभिलाषा से। यों तो वर शब्द के अनेक अर्थ हैं। परन्तु प्रकृतमें 'अभिलषित या इष्ट विषय' अर्थ ग्रहण करना चाहिये। उपलिप्साका अर्थ है प्राप्त करने की इच्छा। दोनों शब्दोंका षष्ठी तत्पुरुष समास होकर करण अर्थ में तृतीया विभक्ति हुई है।

आशावान्—आ समन्तात् अश्नुते इति आशा। सा विद्यते यस्य स आशावान्। यह इस शब्दकी निरुक्ति है। मतलब यह है कि किसी विषयमें लम्बी—दूरतक लालसा—तृष्णा—आकांक्षा रखनेवाले को कहते है आशावान्। यह उपासना रूप क्रियाका कर्तृ पद है।

रागद्वेषमलीमसाः—यह उपासीत क्रियाके कर्मरूप देवता पद का विशेषण है। अर्थ स्पष्ट है कि जो राग द्वेष से मलिन हैं।

देवता—देव शब्दसे स्वार्थ में ता प्रत्यय होकर यह शब्द बना है।

उपासीत—यह क्रियापद है। उप उपसर्गपूर्वक अदादिगणकी आस् धातुका यह विधिलिङ्का प्रयोग है। इसका अर्थ होता है पास में बैठकर सेवा पूजा या आराधना करना।

तात्पर्य—यह है कि अपने किसी भी लौकिक प्रयोजनको सिद्ध करने की लालसा रखने वाला व्यक्ति यदि किसीभी रागद्वेष से मलिन देवता की उससे वर प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखकर उपासना करता है तो वह सम्यग्दर्शन का देवमूढता नामका दोष है ऐसा आचार्योंने कहा है।

इस विषयमें कुछ लोगों को ऐकान्तिक अथवा भ्रान्त धारणाएं हो सकती हैं यद्वा पाई जाती हैं। अतएव हम अपनी समझ के अनुसार प्रसंगवश प्रकृत कारिका का और ग्रन्थकर्त्ताका जो आशय है उसको यहांपर संक्षेपमें स्पष्ट करदेना उचित और आवश्यक समझते हैं।

भ्रम अथवा विधिनिषेध सम्बन्धी ऐकान्तिक धारणा का मूल कारण शासनदेवोंकी पूजाका जैनागममें विधानका पाया जाना है। दि० जैनाचार्योंने पूजा विधान सम्बन्धी प्रायः सभी ग्रन्थों में[1] शासनदेवोंकी भी पूजाका उल्लेख किया है। तथा प्रथमानुयोग आदिके ग्रन्थोंमें भी इसतरह के अनेक प्रकरणोंका उल्लेख[2] पाया जाता है जिससे दि० जैनागममें शासनदेवोंकी पूजा की मान्यता सिद्ध होती है। अबतक किसी आचार्यने इसका विरोध नहीं किया है। प्रत्युत अबतक जो आम्नाय[3] चली आ रही है, और पुरातत्त्व सम्बन्धी प्राचीनसे प्राचीन जो सामग्री[4] उपलब्ध है ये उसके अनुकूल प्रमाण हैं। वास्तु शास्त्र—मूर्तिनिर्माण आदिकी जो विधि[5] पाई जाती हैं

१—देखो सिद्धान्त शास्त्री प० पन्नालाल जी सोनी द्वारा सम्पादित "अभिषेकपाठसंग्रह।"

२—चक्रवर्ती आदि के द्वारा यथावसर कियेगये पूजन—आराधनासम्बंधी प्रासंगिक वर्णन।

३—सभी प्राचीन मंदिर क्षेत्र आदिमे उनकी मूर्तियां पाई जाती हैं। और सभी प्रांतों में अब तक निर्विरोध उनकी पूजा प्रचलित है। ४—शासन देव सहित अर्हंतमूर्तियों आदि की उपलब्धि।

५—देखो संहिता ग्रंथ तथा प्रतिष्ठाशास्त्र और अकृत्रिम चैत्यों का स्वरूप।

उससे भी यह विषय भलेप्रकार सुसिद्ध है। अतएव इस विषय के विरोधमें यद्यपि कोई आगम प्रमाण या बलवत्तर युक्ति तो उपस्थित नहीं है फिर भी उक्त कारणवश इस विषय में कुछ विचार करना उचित प्रतीत होता है।

सबसे प्रथम विचारशील विद्वानोंको इस कारिकामें मुख्यतया निर्दिष्ट चार पदोंकी तरफ दृष्टि देनी चाहिये। यथा "आशावान्" यह कर्तृपद "रागद्वेषमलीमसाःदेवताः" यह कर्मपद "वरोपलिप्सया" यह करण पद और "उपासीत" यह क्रियापद। इस तरह ये चार पद हैं जिनकोकि देवमूढताका अभिप्राय व्यक्त करनेकेलिए भगवान समन्तभद्र स्वामीने प्रयुक्त किया है।

यह कहना सर्वथा सत्य है कि इन चार में से यदि एक भी विषय पाया जाता है तो अवश्य ही वह सम्यग्दर्शन को मलिन करनेवाला होगा। उससे सम्यक्त्वकी विशुद्धि अवश्य ही कम होगी। उस विशुद्धिकी कमीको मिथ्यात्वका ही अंश या प्रकार कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ—दानके विषयमें विधि द्रव्य दाता और पात्रकी विशेषतासे फलमें अन्तर हुआ करता है। दाता जो कि दानका कर्त्ता है वह यदि यथायोग्य नहीं है तो शेष तीन विषयके योग्य होते हुए भी यथेष्ट फल नहीं हो सकता। इसी प्रकार पात्र जो कि सम्प्रदान कारक है तथा द्रव्य जो कि कर्म कारक है, और विधि जो कि करण कारक है, उनमेंसे किसीभी एकके ठीक न रहनेपर दान क्रिया का फल भी यथोचित नहीं हो सकता। इसी तरह पूजाके विषय में भी समझना चाहिये। पूजाके विषयमें भी पूजक पूज्य पूजाकी सामग्री और पूजाकी विधि में अन्तर पडने पर उसके फलमें अन्तर पडना स्वाभाविक है।

श्री आचार्यप्रवर सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें बताया है कि पूजनके समय शासन देवों को यज्ञांश तो देना चाहिये परन्तु अरिहंत भगवान्की समानकोटी में उन्हे रखना अपने को गिरालेना है। वे कहते हैं—

> देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवताः।
> समं पूजाविधानेषु पश्यन् दूरं व्रजेदधः॥
> ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे।
> अतो यज्ञांशदानेन माननीयाः सुदृष्टिभिः॥ १

मतलब यह कि वे शासनके रक्षणकार्यमें नियोगी हैं अत एव उनको पूजनमें उचित अंश देना चाहिये। सम्यग्दृष्टियों को चाहिये कि वे पूजनके समय वैसा करके उनका सम्मान करें। किन्तु उनको अरिहंत भगवान्के समान समझना—समान सम्मान प्रदान करना अपने को दूरतक नीचे गिरालेना है। क्योंकि कहां तो तीन जगत् को मार्ग प्रदर्शन करने केलिये नेत्रके समान—अपने उपदेश के द्वारा सम्यग्दर्शन उत्पन्न कराकर प्राणियोंको मोक्षमार्ग में लगानेवाले तीन लोकके प्रभु देवाधिदेव श्री १००८ भगवान् अरिहंत देव और कहां ये

१—यशस्तिलक आ० ८ पृ० ३६७।

व्यन्तरादिक देव जो कि उन्हीं के शासनमें रक्षणस्थानोंपर अपना २ कार्य करनेकेलिये नियुक्त हैं इससे स्पष्ट है कि शासन देवों को उन २ के योग्य स्थानपर स्थापित करके उनके योग्य ही सामग्री देकर उनका उचित सम्मान करना चाहिये किन्तु वैसा न करके जो अरिहंतके समान या उससे भी अधिक सम्मान देते हैं वे अवश्य ही सम्यग्दर्शन की विशुद्धिमें अति-क्रमण करते हैं। यदि यही समान या अधिक सम्मान-प्रदानका कर्म किसी आशा-अपने जय पराजय हानिलाभ जीवन मरण आदि लौकिक प्रयोजन के वश होकर किया जाता है तो वह और भी अधिक विशिष्ट अतिक्रमण माना जायगा। तथा यही कार्य यदि वरोपलिप्सा से किया जाता है तो अवश्य ही वह सम्यग्दर्शनका अतीचार समझना चाहिये। क्योंकि सम्यग्दृष्टि होकर शासन देवोंको देवाधिदेवके बराबरका या उससे भी अधिक स्थान मान प्रदान करता है तो यह जिनेन्द्र भगवान् और उनके आगमका अज्ञान अथवा विपर्यस्त बुद्धिद्वारा होनेवाली अवहेलना है। फिर वह भी अपने लौकिक प्रयोजन वश होकर वैसा करता है। अत एव अवश्य ही वह अतिचार है। ध्यान रहे वर प्रार्थना में अपने को नीचा और जिससे प्रार्थना की जाती है उसको उंचा मानने का भाव स्वभावतः आजाता है साथही जिससे वर प्राप्त करना है उसको प्रसन्न करनेके लिये तद्योग्य विधि-विशेषसे उसका सत्कार पूजन भी करना आवश्यक होता है। ग्रंथ कर्ताने भी वरोपलिप्सा को देवमूढता का कारण ही बताया है। यदि यही उपा-सना शासन देवों के बदले मिथ्यादृष्टी देवों की कीजाती है तो बहुत बडा दोष प्रबल अतिचार अथवा कदाचित् सम्यग्दर्शन का भंग अनाचार भी संभव हो सकता है।

सम्यग्दर्शन भी एक व्रत है। श्रावक के कथित १२ व्रतों का यह मूलव्रत है। जिस तरह सल्लेखना व्रत उन १२ व्रतों का फल रूप व्रत है उसी प्रकार सम्यग् दर्शन मूल रूप व्रत है। क्योंकि इसके विना कोई भी व्रत मोक्षमार्ग रूप नहीं माना गया है और न संभव ही है अतएव जिसतरह अन्य व्रतों के अतिक्रम व्यतिक्रम अतीचार अनाचार[१] बताये गये है उसीतरह देवमूढता के सम्बन्ध को लेकर सम्यग्दर्शन के भी ये अतिक्रमादि दोष समझने चाहिये। यद्यपि ये दोष तरतम रूप हैं। फिर भी परिहार्य ही हैं। इनके रहते हुए वास्तवमें व्रत भी सफल नहीं हो सकते जिसतरह सदोष बीजसे निर्दोष उत्तम अभीष्टफल नहीं मिलसकता उसीप्रकार सदोष सम्यग्दर्शनसे निर्दोष उत्तम यथेष्ट मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होसकता। यह तो निश्चित ही है कि प्रायः मलदोषों का संभव सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयपर निर्भर है और वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व अथवा वेदक सम्यक्त्व मेंही संभव है जहां पर कि सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय पाया जाता है। औपशमिक अथवा क्षायिकमें से किसी में भी वह नहीं पाया जाता। क्योंकि औपशमिक और क्षायक दोनों ही सम्यक्त्व दोषों

१—अतिक्रमो मानसशुद्धिहानिर्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः।
तथातिचारः करणालसत्वं भंगो ह्यनाचार इह व्रतानाम्॥

से रहित एवं निर्मल रहा[1] करते हैं।

प्रश्न—रावण ने श्रीशांतिनाथ भगवान के चैत्यालय में बैठ कर बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की थी। इससे क्या उसके सम्यग्दर्शनका भंग नहीं हुआ?

उत्तर—नहीं। उसके केवल अतीचार ही मानना चाहिये।

प्रश्न—यदि उसके सम्यग्दर्शन बना रहा तो फिर वह तीसरे नर्क में किस तरह गया? सम्यक्त्वसहित जीव तो प्रथम नरक से आगे नहीं जा सकता।

उत्तर—ठीक है। उसका सम्यग्दर्शन गुण नष्ट जरूर होगया था परन्तु वह बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करने के कारण नहीं; अपितु सीताके प्रति अंतरंग में होने वाले कामतीव्राभिनिवेश के कारण एवं उस अन्यायको सिद्ध करनेके लिये उद्युक्त करानेवाली तीव्र मान कषायके उदयके कारण हुआ था। अतएव शासन देव के पूजन-सत्कार से सम्यग्दर्शन का भंग मानना युक्त नहीं है यह हमारा कहने का अभिप्राय है।

प्रश्न—आपने तो ऊपर शासन देवों के सिवाय अन्य मिथ्यादृष्टि देवों के पूजन करने पर भी सम्यग्दर्शन का सर्वथा भंग होना नहीं माना है। सो क्या यह युक्त है?

उत्तर—ऊपर हमने जो कुछ कहा है वह आचार्योंके अभिप्राय परसे ही कहा है, अपनी तरफ से नहीं। हमने यह कहा है कि "यदि यही उपासना शासन देवोंके वदले मिथ्यादृष्टि देवोंकी की जाती है तो वहुत बड़ा दोष प्रबल अतीचार अथवा कदाचित् सम्यग्दर्शन का भंग अनाचार भी संभव है।" हमने अपने इस कथन में मिथ्यादृष्टि देवों की पूजा को गुण नहीं माना है। और न सम्यग्दर्शन का भंग न होना ही बताया है। हमारे कहनेका आशय यह है कि कदाचित् ऐसा भी हो सकता है कि कोई जीव मिथ्यादृष्टि है—कुदेवों का पूजन करता है। वही सम्यग्दृष्टि होकर अरिहंतादिकों का पूजन करता है किन्तु पीछे पूर्व संबन्ध अथवा संस्कार के बने रहने के कारण पहले के कुदेवादिका भी पूजन करता है। इस तरह के व्यक्ति के यदि कुदेव पूजन के कारण मिथ्यात्व कहा जा सकता है तो अरिहंत भगवान का पूजन करने के कारण सम्यक्त्व क्यों नहिं कहा जा सकता? वास्तविक वात यह है कि आचार्यों ने ऐसे व्यक्ति के प्रथम अथवा चतुर्थ गुण स्थान न बता कर मिश्रगुणस्थान बताया[2] है। तृतीय गुणस्थान को प्रथम अथवा चतुर्थ गुण स्थान नहीं कह सकते। यदि इनमें से किसी भी एक में उसका अंतर्भाव करते हैं तो तृतीय गुण-

---

१—तत्थ खइयसम्माइट्ठी ण कयाइवि मिच्छत्तं गच्छइ, ण कुणइ संदेहंपि, मिच्छत्तुब्भवं दिट्ठूण णो विम्हयं जायदि। एरिसो चेव उवसमसम्माइट्ठी। किन्तु परिणामपच्चएण मिच्छत्तं गच्छइ, सासणगुणं पि पडिव ज्जइ. सम्मामिच्छत्तगुणं पि ढुक्कइ. वदगसम्मत्तं वि समिल्लियई॥ धवला संतसु पृ० १७१।

२—"न चैतत्काल्पनिकं पूर्वस्वीकृतदेवतापरित्यागेनार्हन्नपि देव इत्यभिप्रायवतः पुरुषस्योपलम्भात्"। धवला संतसुत पृ० १६७। तथा—तथापि यदि मूढत्वं न त्यजेत्कोपि सर्वथा। मिश्रत्वेनानुमान्योऽसौ सर्वनाशो न सुन्दरः॥ न स्वतो जन्तवः प्रेर्याः दुरीहा स्युर्जिनागमे। स्वत एव प्रवृत्तानां तद्योग्यानुग्रहो मतः॥ यश आ० पृ०६-२८२। तथा गोम्मटसार जीवकाडके गा० नं० २२ की मन्दप्रबोधनी टीका।

न के अभावका प्रसंग आता है। अतएव इस तरहके व्यक्ति अथवा उसके भावों के लिये एक अन्तर गुणस्थान मानना ही उचित और आवश्यक है। इस तरह के दोष को प्रबल दोष जा सकता है सर्वथा भंग नहीं कहा जा सकता। भंग उस अवस्था में ही कहा या माना जा है जबकि वह अरिहंतादि का मानना—पूजना छोडदे और अनर्गल होकर कुदेवों का ही करे।

प्रश्न—ऊपर आपने जो कुछ कहा हैं उससे तो यह अभिप्राय निकलता है कि आशा, रागद्वेषमलीमसत्व, वरोपलिप्सा और उनका विधिपूर्वक पूजन, क्रमसे अतिक्रम व्यतिक्रम अतीचार और अनाचारके कारण हैं। और यदि ये बातें नहीं है तो फिर शासन देवों के पूजनमें कोई दोष नहीं है। सो क्या यह ठीक है?

उत्तर—हां, यह ठीक बात है। जिसतरह न्यूनता अतिरेक संशय और विपर्यासको छोडकर जो अर्थज्ञान होता है वह यथार्थ ही होता है। अथवा मिथ्या उभय और अनुभय परिणति को छोड कर जो श्रद्धान होता है वह समीचीन ही होता है। उसी प्रकार अतिक्रमादिक उपर्युक्त चारदोषोंसे रहित जो शासन देवोंका पूजन है वह भी उचित ही है।

प्रश्न—हम तो यह समझ रहे हैं कि अरिहंत देवके सिवाय अन्य किसी भी देवका पूजन करना मिथ्यात्व ही है।

उत्तर—निश्चयनयसे अपनी आत्माही मोक्षाश्रय है–उसीका आराधन करना चाहिये। तो क्या अपने से पर अरिहंतादिकका पूजन करना मिथ्यात्व माना जायगा? नहीं। क्योंकि जो बात जिस अपेक्षा से कही है उसको उसी अपेक्षा से मानना दोष नही अपितु गुण है। ऐसा होनेसे ही इस लोक और परलोकके समस्त व्यवहार अविरोधेन सिद्ध हो सकते हैं; अन्यथा नहीं। शासनदेवोंका जो पूजन बताया है उसका वास्तविक आशय नियोगदानमात्र है। जो जिस विषयका नियोगी है उसका प्रसङ्ग पडने पर उचित सम्मान यदि न हो तो वह उचित नहीं माना जा सकता। यही बात शासन देवों के विषयमें भी समझना चाहिये। आदर विनय सत्कार पूजन आदि शब्दों से उस नियोगदान को ही सूचित किया गया है जैसा कि श्री सोमदेव सूरीके पूर्वोल्लिखित वाक्योंसे[१] स्पष्ट होता है। अत एव नियोगदान मिथ्यात्वका कारण नहीं है। वडे २ राजा महाराजा चक्रवर्ती भी अपने नियोगियोंका यथावसर सिरोपाह आदि देकर सन्मान करते हैं। उसीप्रकार त्रिलोकीपति जिन भगवान्के शासनमें अधिरक्षक पद पर नियुक्त इन देवोंको भी भगवान्के अभिषेक पूजनके पूर्व आह्वानादिकर योग्य दिशाओंमें बैठनेकेलिये सत्कारसहित कहना है और दान करना है तो वह अनुचित किस तरह कहा जा सकता है। बल्कि यह तो भगवान्के प्रभावको व्यक्त करना है।

१—पृ० २०६ में–ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे। अतो यज्ञांशदानेन माननीयाः सुदृष्टिभिः यश–८–३६७।

प्रश्न—महा पंडित आशाधरजीने तो श्रावककेलिये इन शासन देवोंके पूजन करनेका निषेध किया है। फिर आप इसका समर्थन किसतरह करते हैं? वे तो कहते हैं कि—

श्रावकेणापि पितरौ गुरू राजाप्यसंयताः।
कुलिङ्गिनः कुदेवाश्च न वन्द्यास्तेऽपि संयतैः १॥

[अर्थात्—मुनि ही नहीं, श्रावकको भी असंयमी माता पिता शिक्षा गुरु दीक्षा गुरु राजा मंत्री आदिक तथा कुलिङ्गी—तापसी या पार्श्वस्थादिक और कुदेव—रुद्रादिक एवं शासनदेवों की वन्दना नहीं करना चाहिये। और मुनियोंको श्रावककी भी वन्दना नहीं करनी चाहिये। फिर आप तो शासन देवोंके पूजन करनेःमें हानि नहीं बताते। सो आपका कथन क्या आगम-विरुद्ध नहीं है?

उत्तर—हमारा कथन आगम एवं पं० आशाधरजीके कथनके विरुद्ध नहीं है। हमने सोमदेव सूरीका वाक्य ऊपर उद्धृत किया है जिसमें उन्होंने कहा है कि सम्यग्दृष्टियोंको उन शासन देवोंका यज्ञांश देकर सम्मान करना चाहिये२। इसके सिवाय उन्होंने तीसरी प्रतिमा का कर्तव्य बताते समय पूजन के अन्तर्गत शासन देवों को अर्घ देने का विधान किया है यथा—

योगेऽस्मिन् नाकनाथ ज्वलन पितृपते! नैगमेय प्रचेतो,
वायो रैदेश शेषोडुप सपरिजना यूयमेत्य ग्रहाग्राः।
मंत्रैर्भूः स्वः स्वधाद्यैरधिगतवलयः स्वासु दिक्षूपविष्टाः
क्षेपीयः क्षेमदक्षाः कुरुत जिनसवोत्साहिनां विघ्नशांतिम्॥

इसमें पूर्वादिक दश दिशाओं में इन्द्रादिक दशों दिक्पालों (इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋत, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान, धरणीन्द्र, और चन्द्र) को क्रमसे अपनी २ दिशामें सपरिवार (स्वायुध-वाहन--युवति—जनसमेत) आकर बैठने के लिये कहा गया है और मंत्रपूर्वक बलि (यज्ञांश) का प्रदान किया गया है तथा उनसे पूजनमें विघ्न शांति की प्रार्थना की गई है।

इसके सिवाय देवसेन आचार्यने अपने प्राकृत भावसंग्रहमें भी यही बात कही है। वे कहते हैं

आवाहिऊण देवे सुरवइ—सिहि-काल-णेरिए--वरुणे।
पवणे--जखे-ससूली सपिय सवासणे ससत्थे य॥ ४३९॥
दाऊण पुज्ज दव्वं बलि चरुयं तहय जण्णभायं च।
सव्वेसिं मंतेहि य वीयक्खर णामजुत्तेहिं॥ ४४०॥

आशय स्पष्ट है कि इन्द्र--अग्नि--यम--नैऋत--वरुण—पवन--यक्ष और ईशान इन आठ दिक्-पालों को अपने २ आयुध वाहन युवतिजन सहित बीजाक्षर नाम सहित मंत्रों के द्वारा आह्वान करके पूजा द्रव्य बलि चरु तथा यज्ञभाग प्रदान करे।

१—अनगार धर्मामृत अ ८ श्लोक५२।
२—पूर्वोल्लिखित यशस्तिलक आ० ८ पृ० ३९७

श्रीपूज्यपादाचार्य ने भी अपने "महाभिषेक" पाठमें कहा है कि--

पूर्वाशादेश -हव्यासन--महिषगते--नैऋते -पाशपाणे ,
वायो--यक्षेन्द्र--चन्द्राभरण फणिपते--रोहिणीजीवितेश।
सर्वेऽप्यायात यानायुधयुवतिजनैः सार्धमोंभूर्भुवः स्वः --
स्वाहा गृह्णीत चार्घ्यं चरुममृतमिदं स्वास्तिकं यज्ञभागं ॥ ११ ॥

इसका भी अभिप्राय वही है जो कि सोमदेव सूरीका है। इसमें भी यान आयुध युवति सहित इन्द्रादिक दश दिक्पालोंका मंत्र पूर्वक आह्वान कियागया है और उनसे अर्घ्य चरु अमृत स्वास्तिक एवं यज्ञभागको ग्रहण करनेकेलिये कहागया है।

इसी तरह और भी अनेकों आचार्योंके प्रमाण-अवतरण हैं जिनमें कि शासनदेवोंका अभिषेक--पूजनके पूर्व यथाविधि अर्घ्यादि देकर सम्मान करनेकेलिये कहागया है। जिनका कि विस्तारभयसे यहां उल्लेख करना उचित प्रतीत नहीं होता।

अत एव यहा कहना तो उचित एवं संगत नहीं है कि यह विषय आगमके विरुद्ध है। आगमसे सुसिद्ध विषयको आगम विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। ऐसा तो वही कह सकता है जिसको कि दर्शन मोहके बन्ध का भय नहीं है।

रही पं० आशाधरजी के उपर्युक्त वाक्य के विरोधकी बात, सो वह भी ठीक नहीं है। उक्त वाक्यपर उसके प्रकरण आदिको दृष्टि में रखकर विचारकरनेसे मालुम होसकता है कि उस वाक्यपर से यह अर्थ निकालना कि आशाधरजी शासन देवों को श्रावकके द्वारा अर्घ्यादि प्रदान करना अनुचित समझते हैं अथवा आगमविरुद्ध मानते हैं सो ठीक नहीं है।

प्रकरणपर दृष्टि देनेसे मालुम होगा कि वह पद्य अनगारधर्मामृतका और उस के भी उस अष्टम अध्यायका है जिसमें कि मुनियोंके सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, बंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग नामके छह आवश्यक मूलगुणोंका वर्णन कियागया है। इनमेंसे तीसरे आवश्यक वन्दनाके वर्णन के अन्तर्गत यह पद्य आया है। इसके पहले वे वन्दनाका अर्थ उसके भेद बता चुके हैं। वन्दना नाम विनयकर्मका है। अर्हदादि में से जिस किसी भी पूज्य व्यक्तिका भावशुद्धिपूर्वक नमस्कार--स्तवन--आशीर्वाद--जयवादादिस्वरूप विनय करने को वन्दना कहते हैं। अथवा हितकी प्राप्ति और अहित का परिहार होने के जो साधन हैं उनके माहात्म्य--शक्ति विशेषके प्रकट करने में निर्व्याजरूपसे सदा प्रयत्न करनेको विनय कर्म कहते हैं[१]।

सामान्यतया विनयकर्मके पांच भेद हैं--लोकाश्रय, कामाश्रय, अर्थाश्रय, भयाश्रय और मोक्षाश्रय[२]। इन पांच भेदोंमेंसे प्रकृत विनय कर्मका सम्बन्ध मोक्षाश्रय विनयसे है। जैसा कि उन्हीके पद्य नं. ४८ के "विनयः पञ्चधावश्यकार्योऽन्त्यो निर्जरार्थिभिः॥" इस वाक्यसे

१--२--अनगारधर्मामृत अ०८ पद्य नं. ४६, ४७, ४८।

स्पष्ट होता है कि निर्जराके अभिलाषियोंको इन पांच प्रकार के विनयोंमेंसे अन्तिम–मोक्षाश्रय विनय अवश्य करना चाहिये। अर्थात् वन्दना आवश्यक से प्रयोजन मोक्षाश्रय विनयसे है। यह मोक्षाश्रय विनय किनको किस२ का करना चाहिये यह बात पद्य नं. ५० और ५१ में बताने के बाद पद्य नं. ५२में बतायागया है कि किन २ को किस २ का यह मोक्षाश्रय विनय नहीं करना चाहिये। ध्यान रहे इस अवन्दनीयताका कारण भी असंयतत्व है। जैसा कि पद्यगत 'असंयताः संयतैः' इन शब्दों के द्वारा स्पष्ट होजाता है। मतलब यह कि श्रावक और मुनि दोनों ही संयमी है अत एव उनको किसी भी असंयमीका मोक्षाश्रय विनय नहीं करना चाहिये फिर चाहे वह अपनी माता हो, पिता हो, शिक्षागुरु हो, दीक्षागुरु हो, राजा मंत्री पुरोहित आदि हो, कुलिङ्गी–मिथ्यादृष्टि तापसादिक हो या जिनमुद्राके धारक होते हुए भी भ्रष्ट–पार्श्वस्थादिक मुनि हो, अथवा कुदेव–रुद्रादिक हों या शासन देव हों।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इसी पद्यमें 'सोऽपि संयतैः' पदके द्वारा मुनिके लिये श्रावक भी अवन्दनीय ही बतायागया है। जिससे तात्पर्य यह निकलता है कि चाहे कोई मुनि हो अथवा श्रावक, किसी को भी अपने से नीचे पदवालेका मोक्षाश्रय विनय अर्थात् वन्दना कर्म नहीं करना चाहिये।

यद्यपि श्रावक शब्दसे अभिप्राय पंचमगुण स्थान के भेदरूप ग्यारह प्रतिमाओंके व्रतों मेंसे किसी भी प्रतिमाके व्रत धारण करने वाले से होता है फिर भी प्रकृत में उन दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाके व्रत धारण करने वाले वानप्रस्थाश्रमियोंसे ही मुख्यतया प्रयोजन है जो कि प्रायः घरमें रहना छोडकर साधुसंघके साथ रहा करते हैं और उन्हीं के साथ इन आवश्यक क्रियाओं को भी किया करते हैं। इस के सिवाय यह बात भी ठीक है कि साधारण जघन्य श्रावकको भी किसी भी असंयमीका मोक्षाश्रय विनय नहीं करना चाहिये। किन्तु इसका अर्थ यह निकालना या समझना गलत होगा कि श्रावक–अर्थात् व्रती गृहस्थ किसी भी असंयमी का मोक्षाश्रय विनयके सिवाय अन्य किसी भी प्रकारका भी विनय कर्म नहीं करसकता। गृहस्थाश्रममें रहते हुए वह अपने माता पिता शिक्षादीक्षागुरू और राजा मंत्री आदि को नमस्कारादि न करे यह अशक्य है और अयुक्त है।

इसके सिवाय पं० आशाधरजीने ही अपने इसी धर्मामृत ग्रंथ के उत्तरार्ध—सागार भाग के अध्याय ६ के "आश्रुत्य स्नपनं" आदि पद्य नं० २२ में प्रयुक्त "इष्टदिक्' शब्दका अपनी भी टीकामें क्या अर्थ लिखा है सोभी ध्यान देने योग्य हैं—वे कहते हैं—

"इष्टदिक् इष्टा यज्ञांशं प्रापिता जिनयज्ञमभिवर्धयंतो वाऽनुमोदिता दिशस्तत्स्था दिक्पाला दशेन्द्रादयो यत्र नीराजनकर्मणि तदिष्टदिक्। अर्थात् अभिषेक पूजन के समय नीराजन कर्म में इन्द्रादिक दश दिक्पालों को यज्ञांश देना चाहिये और उनसे जिनयज्ञ का अभिवर्धन करना

१—विनयः पञ्चमो यस्तु तस्यैषा स्यात् प्ररूपणा।" अन० अ८–४८ की टीकामें उद्धृत पद्य।

चाहिये तथा इसके लिये उनका अनुमोदन करना चाहिये। १

यह तो उनका एक संक्षिप्त वाक्य है। परन्तु उन्होंने जो "नित्य महोद्योत" नामका अभिषेक संबन्धी स्नान शास्त्र लिखा है जिसकी कि स्वयं ही उन्होने टीकाभी[२] की है उसमें तो खूब विस्तार पूर्वक इस विषयका वर्णन किया गया है। अत एव अनगार धर्मामृत के "श्रावकेणापि" आदि श्लोक परसे यह अर्थ निकालना कि पं० आशाधरजी दशदिक्पालपूजा के विरोधी हैं अथवा शासन देवों की पूजा या नियोगदान को वे आगम विरुद्ध समझते हैं यह ठीक नहीं हैं। और इसीलिये हमने जो कुछ इस विषयमें ऊपर लिखा है उसको भी आशाधरजी के विरुद्ध कहना युक्तियुक्त एवं संगत नहीं हैं। इसके सिवाय "पाक्षिकस्तु भजत्यपि" आदि उनके वाक्य तो विषय को और भी अधिक स्पष्ट करते हैं।

इसतरह ऊपरके संक्षिप्त कथनसे यह बात अच्छी तरह समझमें आ सकेगी कि श्रावक जो कि नित्य एवं आवश्यक कर्तव्य देवपूजा का पूर्ण अधिकारी है, और पूजाका वास्तविक तथा पूर्ण फल उसके यथाविधि किये विना नहीं हो सकता ऐसी अवस्थामें विधिके अंतर्गत आगमवर्णित शासन देवोंका पूजन–नियोग दान करने पर वह किसीभी प्रकार दोषभाक् नहीं हो सकता। क्योंकि दोषका कारण तो आशयका भेद हो सकता है। जबतक उसके आशयमें किसी प्रकारका विकार--विभाव अथवा विपर्यास नहीं है और केवल आगमोक्त विधि का आदर करके उसको मानकर और सद्भावनापूर्वक वैसा करता है तो उसको दोषभाक् यद्वा उसके सम्यग्दर्शन को समल किसतरह कहा जासकता है? नहीं कहा जासकता। दोषका कारणभूत आशय भेद जिन प्रकारों से संभव हैं वे चार प्रकार ही इस कारिका में ग्रंथकर्ता श्रीभगवान समन्तभद्र स्वामीने आशा, रागद्वेषमलीमसत्व (अनन्तानुवन्धि कषायोदय युक्तत्व-अथवा मिथ्यादृष्टित्व) वरोपलिप्सा और उपासना शब्दोंके द्वारा व्यक्त कर दिये हैं।

व्रतों की तरह सम्यग्दर्शन के भी चार दोष–अतिक्रम व्यतिक्रम अतीचार और अनाचार होते हैं। ये दोष आशा आदिके साथ किस तरह घटित होते हैं यह बात ऊपर लिखी जा चुकी है। जिसका मतलब यह है कि जबतक सम्यग्दर्शन इन दोषों से रहित नहीं हो जाता तब तक वह मोक्षमार्गके सम्पादनमें वस्तुतः असमर्थ है। इसका अभिप्राय यह निकालना अयुक्त होगा कि-इन अतिक्रमादि दोषों के लगनेपर सम्यग्दर्शन समूल नष्ट होजाता है। अन्यथा प्रायः सभी विद्याधर जो कि मातृपक्षकी एवं पितृपक्ष की नाना प्रकारकी विद्याओंको सिद्ध किया करते हैं-तत्तद् विद्याओंके अधिपति देव देवियोंकी आशा–एवं वरोपलिप्सासे प्रेरित हो कर ही उपासना किया करते हैं उन सबको तथा उन्हींके समान अन्य महान् व्यक्तियोंको भी मिथ्यादृष्टि ही कहना पडेगा। किन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। हां, यह ठीक है कि इसतरहकी प्रवृत्ति करनेवालों

१—इस कथनमें कृत कारित अनुमोदना के तीन भाव व्यक्त होते हैं।

२—यह ग्रंथ श्रीयुत सिद्धान्त शास्त्री पं० पन्नालालजी सोनी द्वारा सम्पादित "अभिषेक पाठ संग्रह" में श्री बनजीलाल ठोल्या दि० जैनग्रंथ माला समिती द्वारा कई वर्ष पूर्व प्रकाशित होचूका है।

का सम्यग्दर्शन समल एवं निम्नकोटिका माना जा सकता है। साथ ही यह बात भी ध्यानदेने योग्य है कि यद्यपि अधिकतर दोष सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे ही सम्बन्ध रखते हैं फिर भी कदाचित् यह भी संभव हो सकता है कि कषाय और अज्ञानकी निम्न–कोटिकी अवस्था अथवा तीव्रताके कारणभी सम्यग्दर्शन में समलता पाई जा सके। अस्तु, यहांपर सारांश यही लेना चाहिये कि मुमुक्षु भव्यात्माको आत्मसिद्धि प्राप्त करनेकेलिये उसके मूल कारण सम्यग्दर्शन की विशुद्धि सिद्ध करनी चाहिये और उसकेलिये उसके अन्य दोषोंकी तरह देवमूढता नामक दोष भी छोड़ना चाहिये तथा यह दोष जिन२ कारणोंसे आसकता है उन सव कारणोंका भी परित्याग करना चाहिये।

अब क्रमानुसार आचार्य यहां पाषण्डिमूढताका स्वरूप बताते हैं—

सग्रंथारम्भहिंसानां, संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाषण्डिनां पुरस्कारो, ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम्[१] ॥२४॥

अर्थ—जो परिग्रह, आरम्भ और हिंसाकर्मोंसे युक्त हैं तथा जो स्वयं संसार चक्रमें पड़े हुए हैं अथवा दूसरों को डालनेवाले हैं ऐसे पाषण्डियों के पुरस्कार को पाषण्डिमूढता समझना चाहिये।

प्रयोजन— निर्दिष्ट मूढता के तीन भेदों में से दो भेदोंका स्वरूप निरूपण करने के बाद शेष बची पाषण्डि मूढता का स्वरूप बताना स्वयं ही अवसर प्राप्त हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि किसी भी धर्म का सर्व साधारणमें प्रचार उसका स्वयं पालन करके आदर्श नेता बननेवाले व्यक्तियों के द्वारा ही हुआ करता है सर्व साधारण जन तत्त्व के मर्मज्ञ नहीं हुआ करते, वे या तो गतानुगतिक हुआ करते हैं अथवा मोह लोभ भय आशा स्नेह आदि के वशवर्ती रहने के कारण जिधर उनका प्रयोजन सिद्ध होताहुआ दीखता है उधर को ही झुक जाते हैं स्वयं ज्ञानहीन रहने के कारण अथवा मोहित बुद्धि रहने के कारण नेता बनकर सामने आनेवालोंकी उक्ति युक्ति और वृत्ति की वास्तविकता की परीक्षा करनेमें वे असमर्थ रहा करते हैं। लोगों की इस दशा से जानबूझकर अथवा विना जाने अनुचित लाभ उठाने वालों की कमी नहीं है। संसारके कारणों से पृथक् रहना साधारण बात नहीं है। विषय वासनाओंको और उनके साधनों को सर्वथा छोड़ कर आत्म सिद्धि के लिये तपस्वी जीवन विताना अत्यन्त कठिन है फिर आजकल के समयमें तो उतना ही कठिन है जितना कि चोर बजारमें किसी या किन्हीं व्यक्तियों का वास्तविक सद् व्यवहार पर–न्याय पूर्ण सत्य एवं अचौर्य वृत्ति पर टिके रहना।

संसारी प्राणी मात्र के वास्तविक हितैषी महात्माओं का कर्तव्य है कि वे ऐसे विषयों को उनके सामने उपस्थित करदें जिनको कि जानकर और देखकर अपने कल्याणकारी मार्गका

१—पार्षद, पाखंड समायदि रूपौ शुद्धौ. इति पं० गौरीलाल सिद्धान्तिनां टिप्पणम्।

निश्चय करनेकेलिये वे सत्य एवं असत्य तथा हितकर और अहितकर विषय को स्वयं ही सरलतया एवं स्पष्ट रूपमें समझ सकें। यह सभी के समझ में आसकने वाली बात है कि जो व्यक्ति स्वयं ही अहितकर एवं अहित रूप दोषों से युक्त है वह दूसरोंको उन दोषोंसे मुक्त नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्तिको आदर्श मानकर उसका अनुसरण करके उसके नेतृत्वमें चलकर कोई भी व्यक्ति वास्तवमें अपना कल्याण नहीं कर सकता। क्योंकि जो स्वयं ही डूबे हुए हैं या डूबने-वाले हैं वे दूसरोंको किस तरह तार सकते हैं। जो पत्थरकी नाव स्वयंही पार नहीं जासकती उस पर बैठनेवाला तो पार होही किस तरह सकता है? नहीं हो सकता। अत एव ग्रन्थकर्त्ता आचार्य हितबुद्धिसे जो संसारको दुःखरूप समझनेवाले हैं और इसीलिये उस की दुःखरूपताके कारणों को जानकर उससे परिनिवृत्त होनेके इच्छुक—मुमुक्षु है उनको इस कारिकाके द्वारा यह बतादेनाचाहते हैं कि—मोक्षमार्गमें चलनेके लिये तुमको अपना नेता किसतरहका चुनना चाहिये।

आत्मा और उसका हित यद्यपि युक्तिसिद्ध अनुभवसिद्ध और आगम प्रसिद्ध है किन्तु इन्द्रियगोचर नहीं है। तुम अल्पज्ञ हो युक्ति अनुभव और आगमज्ञान तीनों ही में अत्यन्त अल्प हो, निम्नकोटिमें अवस्थित हो। सर्वज्ञ तो इस समय उपस्थित ही नहीं है। इन विषयोंमें पूर्णतया समाधान करके निःशंक बनासकने वाले विशिष्ट ज्ञानी पुरुष भी प्रायः दुर्लभ है। ऐसी परिस्थिति में जो आत्मा और उसकी संसार मुक्त दो अवस्था तथा इन दोनों ही परस्पर ३६ के अंककी तरह विरोधी अवस्थाओंके परस्पर विरुद्ध कारणोंपर विश्वास करता है और इनमेंसे संसार अवस्था को दुःखरूप समझकर उससे सर्वथा निवृत्त होकर निर्वाणको सिद्ध करना चाहता है तो उसका कर्तव्य है कि अपने आदर्श के अनुकूल ही पुरश्चारी नेताका निर्वाचन करे। यदि वह ऐसा न करके सर्वसाधारण संसारी मनुष्य के समान व्यवहार करनेवालेको अपना नेता मान कर चलेगा और उसीको आदर्श समझकर प्रवृत्ति करेगा तो वह निर्वाणको सिद्ध नही कर सकता—संसारको ही सिद्ध कर सकेगा। अत एव सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु को सावधान करदेने केलिये यह बता देना ही इस कारिकाका प्रयोजन है कि मोक्षमार्गके साधनमें यदि तुम इस तरहके व्यक्तिको अपना अगुआ बनाकर चलोगे तो कभी भी आत्मकल्याण को प्राप्त न कर सकोगे जिसका कि व्यवहार तुमसे भी गया बीता है।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—

ग्रन्थ—यह शब्द कौटिल्य-दम्भ-शाठ्य अर्थवाली भ्वादिगणकी ग्रथि धातु अथवा संदर्भार्थक चुरादिगणकी ग्रन्थ धातु इनमेंसे किसी से भी निष्पन्न हो सकता है। इस के अर्थ भी कोपकारोंने धन शास्त्र आदि अनेक किये है किन्तु प्रकृतमें इसका आशय परिग्रहसे है। परिग्रहकाभी तात्पर्य जो कोई वस्तु अच्छीतरह ग्रहण कर रक्खी है उससे अथवा जिन अन्तरंग परिणामोंके द्वारा जगत्में किसी भी वस्तुका ग्रहण किया जाता है उन जीवपरिणामें से है। अत एव परिग्रहके आगममें दो भेद बताये गये हैं। एक अन्तरंग दूसरा बाह्य। अन्तरंग परिग्रह के १४ और बाह्य

परिग्रहके १० भेद हैं। हिरण्य सुवर्ण धन धान्यादि १० प्रकारकी गृह्य वस्तुओंके भेद से बाह्य परिग्रहके १० भेद होते है। इन वस्तुओंके ग्रहण करनेमें प्रमत्त योग और मूर्च्छाभाव पाया जाता है इसीलिये इनको बाह्य परिग्रह शब्दसे कहागया है। स्वयं प्रमत्तयोग अथवा मूर्च्छाभाव अन्तरंग[1] परिग्रह है। यह मूर्च्छाभाव तथा योगोंमें प्रमत्तता मोहनीय कर्मके उदय की अपेक्षा रखती है अत एव मोहनीय कर्मके उदयसे जितने भी जीवके विभाव परिणाम होते हैं वे सब अन्तरंग परिग्रह हैं। उन विभाव परिणामोंको १४ भागोंमें विभक्त किया गया है। अन्तरंग दृष्टि से एवं शुद्ध तत्त्वके विचारकी दृष्टिसे यही संसार है, यही संसारका बीज है और सम्पूर्ण कर्मोंका राजा माने गये मोहनीयकर्मका यही परिकर तथा साम्राज्य है। जिन जीवोंने इस बीजको अन्तरंग में से निकालकर फेंक दिया है और उसके बदले मोक्षमार्गके बीज भूत सम्यग्दर्शनको प्राप्त करलिया है वे संसार चक्रसे मुक्त हैं और मोहके साम्राज्यसे भी पृथक् हैं। इसके विपरीत जो ऐसा नहीं कर सके हैं वे संसारी हैं; संसारघटियंत्र के पहिये हैं, मोहके परिजन हैं अथवा सम्पूर्ण भोगोपभोग या विषयोंमें अनुरक्त रखनेवाली मोहकी किंकरी-आशाके किंकर हैं और इसी लिये समस्त संसारके दास हैं[2]।

पांचोंही इन्द्रियों के विषयों तथा तदनुकूल सभी भोगोपभोग के साधनों का सम्बन्ध उनके प्रति अन्तरंग आसक्ति मूर्च्छा और मोह भावको उसी प्रकार प्रकट करता है जिस तरहसे कि पुत्रकी उत्पत्ति माता पिताके सम्बन्ध को सूचित कर देती है। अतएव जो व्यक्ति परिग्रहों में आसक्त रहकर भी अपने को उनसे अलिप्त बतानेका प्रयत्न करते हैं वे अवश्य ही पाखण्डी हैं अपनी असली अंतरंग निम्न कोटिकी दूषित वृत्तिको छिपाकर अयथार्थ उच्चकोटिके सद्भावों को व्यक्त करने की चेष्टा का नाम पाखण्ड है। फलतः संसारमें जो आसक्त हैं परन्तु अपनेको अनासक्त दिखाते है या बताते हैं अथवा जो वैसा अपने को दिखाते या बताते तो नहीं है परन्तु वास्तवमें हैं आसक्त ही, वे सब पाखण्डी हैं। इन्हीको यहांपर सग्रन्थ शब्दसे बताया गया है।

आरम्भ—ग्रंथ शब्दकी तरह यहभी योगरूढ शब्द है आङ् पूर्वक भ्वादिगणकी [3]राभस्यार्थक रभ धातुसे घञ् प्रत्यय औरमुम्का आगम होकर यह शब्द बनता है निरुक्ति के अनुसार यद्यपि किसी भी कार्यका उपक्रम-शुरू करना इसका अर्थ होता है किन्तु प्रकृत में भोग अथवा उपभोग रूप विषयों के अर्थ तथा रक्षण के लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसको ही आरम्भ कहते हैं।

आगम में मनुष्यों के दो भेद बताये हैं। आर्य और म्लेच्छ आर्यों के चातुर्वर्ण्य धर्म की व्यवस्थाको दृष्टिमें रखकर उनके योग्य आजीविका के लिये किये जाने वाले प्रयत्नोंको सामान्यतया

१—मिथ्यात्व-वेद रागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः। चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥११६॥ पु०सि०। इस तरह १४ अभ्यन्तर तथा क्षेत्र वास्तु हिरण्य सुवर्ण धन धान्य दासी दास कुप्य और भांड। ये दश बाह्य परिग्रह हैं।

२—आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य। आशा येषां दासी तेषां दासोऽखिलो लोकः।

३—"राभस्यमुपक्रमः" सि० कौ० तत्त्वबोधिनी।

छह भागोंमें विभक्त किया गया है-असि मसि कृषि वाणिज्य विद्या और शिल्प[1] । ये सभी कर्म सामान्यतया सावद्य हैं । इनके करनेमें किसी न किसी रूपमें थोड़ा या बहुत पापका संचय अवश्य होता है । परंतु जो एकान्ततः मोक्षमार्ग का साधन जहां किया जाता है ऐसे संन्यस्त आश्रममें[2] रहने के लिये जब तक असमर्थ हैं और दार परिग्रह करके गृहस्थाश्रममें रहते हैं उनको अपने परिग्रह की सिद्धि के लिये उचित आरम्भ करना भी आवश्यक हो जाता है, अतएव उनके लिये आरम्भ कथंचित् विहित है-उचित है शेष तीन आश्रमोंमें वह आवश्यक नहीं रहता । वानप्रस्थ और संन्यस्ताश्रममें तो सर्वथा अविहित है । अतएव जो व्यक्ति गृहस्थाश्रम को छोड़कर वानप्रस्थ अथवा संन्यस्ताश्रममें अपनेको उपस्थित करके गृहस्थाश्रमियों के योग्य आरम्भ कर्म करता है तो उसेभी पाखण्डी ही कहा जा सकता है क्योंकि वह आगम की आज्ञा का भंग करता है और लोगोंको धोखा देता है । ऐसे पाखण्डियों के नेतृत्वमें जीवोंका आत्मकल्याण सिद्ध नहीं हो सकता वह या तो संशयमें पड़ जा सकता है अथवा वंचित या बाधित हो जा सकता है ।

हिंसा-घात-बध आदि अर्थोंमें प्रयुक्त होनेवाली रुधादि गणकी[3] हिसि धातुसे भाव अर्थमें व्युत्पन्न होकर यह शब्द बनता है । आगमके अनुसार इसका अर्थ प्रमत्त योग द्वारा होनेवाला प्राण व्यपरोपण[4] होता है । लोकमें सर्व साधारण व्यक्ति अहिंसा और दयाका एक ही अर्थ समझते हैं परन्तु ऐसा नहीं है । दया परोपकारपरक सराग भाव है और अहिंसा सभी प्रकारकी राग द्वेषरूप कषाय की निवृत्तिरूप है । रागद्वेषके द्वारा अपने प्राणोंका निश्चित रूपसे बध होता है अतएव उसे हिंसा कहते हैं । कषायके निमित्तसे प्रमत्त बने हुये अपने योगके द्वारा मन वचन कायकी प्रवृत्तिसे जब दूसरेके भी प्राणोंका वियोजन होता है तो उसको भी हिंसा कहते हैं पहली भाव हिंसा और दूसरी द्रव्य हिंसा कही जाती है क्योंकि उसमें अपनेही भावोंका घात होता है और इसमें अपने से भिन्न जीवके भी प्राणोंका बध हुआ करता है ।

पांचोंही इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन यदि संयत नहीं है हिंसाके पापसे बचाकर रखनेवाले आवश्यक व्रतरूप नियमोंसे युक्त नहीं है तो वहभी हिंसाके पापसे अस्पृष्ट नहीं माना जासकता और नहीं रहही सकता है । इन्द्रियोंमें दो इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति प्रबल एवं सर्वाधिक है । स्पर्शन और रसना[5] दोनोंही इन्द्रियोंकी प्रवृत्तियां यदि अयुक्त हों तो सर्वसाधारणमें भी निन्द्य मानी जाती हैं । फिरभी यदि कोई व्यक्ति संसार का परित्याग कर आत्मकल्याणके आदर्शभूत पद को प्राप्त करके भी

१—असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च । कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवे । परन्तु पशु पालन भी वैश्यों का कर्तव्य बताया है । यथा—" वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपशुपालोपजीविनः " ॥१७६॥ आदि पुराण ।

२—जिस तरह ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं उसी तरह चार आश्रम हैं यथा—ब्रह्मचर्यं गृहस्थश्च वानप्रस्थं च भिक्षुकः । चत्वार आश्रमा एते सप्तमांगाद्विनिर्गताः ॥१८४॥ आदि पुराण

३—यही धातु चुरादि गण मे भी पठित है । ४—प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा । त० सू० ॥ ७-१३

५—अक्खाणं रसणि कम्माण मोहणी तह वयाण बम्ह । च गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण सिज्झंति ।

दोनोंही इन्द्रियोंके विषयमें असंयत है—सर्वसाधारणमें भी गर्ह्य समझी जानेवाली प्रवृत्ति करता है तो वह पाखण्डी क्यों न माना जायगा। अवश्य माना जायगा।

देखा जाता है कि गृहस्थों के लिये आदर्श साधु पद को धारण करके भी इन पाखण्डियों की इन्द्रियों की प्रवृत्ति प्रायः अनर्गल रहा करती है। दिन रातका कोई विवेक नहीं रखते। रात्रीमें भी भोजन करते हैं जब कि हिंसाका सम्बन्ध बचाया नहीं जा सकता[१]। दिनमें भी भिक्षाशुद्धिका कोई नियम नहीं रखते[२] भक्ष्य वस्तु ओंमें भी सावद्य—मांसादि तकका भी [३]भक्षण करते हैं। अत्यन्त सरस काम वर्धक पदार्थोंको यथेच्छ ग्रहण करते हैं। इस तरह की रसना इन्द्रियके विषयमें लम्पटताको देखकर कौन कह सकता है कि ये इन्द्रियविजयी[४] हैं? और मोक्षमार्गके आदर्श—साधुपदपर अवस्थित हैं? तथा मुमुक्षुओंका नेतृत्व करने के योग्य हैं।

स्पर्शन इन्द्रियके विषयमें भी जो कुत्सित लीलाएं होती हैं—और धर्मके नामपर होती हैं उनको देख सुनकर तो संभव है लज्जाको भी लज्जा आजायगी। यह प्रवृत्ति भी न केवल [५]सावद्य ही है अपितु हिंसामय[६] भी है। अत एव हिंसा शब्द से यद्यपि यहां पर सभी सावद्य व्यापार ग्रहण किये गये हैं फिर भी मुख्यतया पांचों इन्द्रियोंके भोगोपभोगरूप सभी विषय समझने चाहिये जहांतक कि उनके ग्रहण करने में नव कोटीमेंसे किसी भी कोटीसे हिंसाका सम्बन्ध पाया जाता है।

संसार—सम् पूर्वक सृ धातुसे यह शब्द बनता है। इसका प्रकृत अर्थ परिभ्रमण है। अर्थात् चारों गतियो, ८४ लाख[७] योनियों एवं एक कोडाकोडी ९७ लाख ५० हजार[८] कुलों में जो जीव इधरसे उधर घूमता फिरता है उसको संसार कहते हैं। यह फलरूप बाह्य संसार है। अन्तरंग कारणरूप संसार मोहप्रमुख कर्म हैं जिनके कि उदयसे ग्रस्त प्राणी विवक्षित परिभ्रमणसे मुक्त नहीं हो पाता। इनके उदयसे यह जीव उपर्युक्त विषय सेवन-आरम्भ और परिग्रहमें प्रवृत्ति करके उन्ही कर्मोंका पुनः संचय करता है और इसतरहसे संसारके ही चक्रमें पड़ा रहता है।

१—अर्कालोकेन विना भुंजानः परिहरेत्कथं हिंसाम्। अपि बोधितः प्रदीपो भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् १३३ पु० सि० २—चाहे जिसके हाथ की चाहे जैसी बजारू आदि वस्तु विवेक तथा शुद्धिके विना ही ग्रहण करलिया करते हैं।

३—शाक्त तथा वाममार्गियोंके विषयमे तो यह बात सर्व विश्रुत है। परन्तु अपने को जैन नामसे कहने वाले श्वेताम्बर सम्प्रदायके ग्रन्थो में भी इसतरहके उल्लेख पाये जाते हैं। इसके लिये देखो पं० अजित कुमारजी द्वारा लिखित श्वेताम्बरमत समीक्षा (१९३०) मे उद्धृत प्रकरण० पृ० ६२ में भगवती सूत्र पृ० १५६ १५७ १५८ में आचाराग सूत्र के वाक्य जिनमे कि साधुको मांसभक्षणकी खुली आज्ञा है।

४— विश्वामित्र पराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशनाः।
तेऽपि स्त्रीमुखपंकज सुललितं दृष्ट्वैव मोह गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवाः।
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत्सागरम्॥ भर्तृहरि

५—पापसहित। हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्। बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्॥१०८॥ पु०सि०। ७-८ इसका विशेष जानने के लिये देखो गो० जीव० गा० ८९ तथा ११२ से ११६

आगममें इस परिभ्रमणरूप संसार के विषयसम्बन्ध की अपेक्षा पांच भेद बताये हैं-द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव। इसका विस्तृत स्वरूप सर्वार्थसिद्धि[1] गोम्मटसार[2] जीवकाण्ड आदि आगम ग्रन्थोंमें देखना चाहिये। प्रायः सभी सम्प्रदायोंमें संसार को हेय अथवा अनिष्ट बताया है। हेयताके ४ कारणों को स्वयं ग्रन्थकार पद्य नं० १२ में सम्यग्दर्शन के दूसरे निःकांक्षित अंगका वर्णन करते हुए बताचुके हैं। इनके सिवाय जन्ममरणकी प्रचुरता भी संसारकी हेयता अनिष्टता और दुःखरूपताका एक बडा और मुख्य कारण है। संसारमें पड़ा हुआ यह जीव एक अन्तर्मुहूर्तमें ६६३३६ वार जन्म और मरण किया करता है जब कि उस निगोदपर्याय में यह जीव इस पाखण्डके कारण पंहुचता है। क्योंकि पाखण्ड मायाचार रूप है और मायाचार तिर्यग्गति का कारण[3] है तथा निगोद प्रायः तिर्यग्गति रूप है। यही कारण है कि परमकारुणिक आचार्य भगवान् सम्यग्दृष्टियोंको पाखण्ड एवं पाखण्डियों से बचे रहनेके लिये उपदेश देते हैं।

आवर्त—शब्दका अर्थ भंवर होता है। जिसतरह समुद्र नद नदी आदि विशाल एवं गंभीर जलाशयों में भंवर पड़ते हैं उसी-तरह संसारमें भी उपर्युक्त निगोदादि बडे २ भंवर हैं जिन के कि भीतर पड़जानेपर इस जीवका संसार चक्रसे निकल जाना अत्यन्त[4] कठिन है।

वर्ती—भ्वादि गण की वृत् धातुसे कर्त्ता हेतुकर्त्ता अथवा शील अर्थ में णिन् प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है। और अण्यन्त तथा णयन्त दोनोंही तरहसे[5] निष्पन्न होता है। जिसका आशय यह होता है कि संसारके आवर्तमें जो स्वयं पड़े हुए हैं साथ ही दूसरोंको भी डालनेवाले हैं।

पाखण्डी—इसकी निरुक्ति इस प्रकार होती है कि—

पान्ति रक्षन्ति पापात्-संसारात् इति पाः आगमवाक्यानि तानि खण्डयति इति पाखण्डी अर्थात् जो मोक्षमार्ग या आत्मकल्याणके उपदेशका खण्डन करनेवाले अथवा उसके विरुद्ध चलनेवाले हों उनको कहते हैं पाखण्डी।

पुरस्कार—पुरस् पूर्वक कृधातु से घञ प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है। पारितोषिक आदि इसके अनेक अर्थ हैं। प्रकृतमें इसका आशय अग्रतः करणसे है। अर्थात् इसतरह के पाखण्डियोंको सन्मान प्रशंसा स्तुति आदि के द्वारा बढावा देना-समाजमें उनको आगे लाना उनको नेतृत्व देना आदि उनका पुरस्कार है।

पाखण्डिमोहन—इसका स्पष्ट अर्थ है कि पाखण्डि विषयक मूढता।

तात्पर्य यह—कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव यदि पाखण्डियोंका पुरस्कार करता है तो वह

१—२—सर्वार्थसिद्धि अ०२ सू० १०। तथा जीवकाण्ड भव्यमार्गणाकी टीका।

३—"माया तैर्यग्योनस्य।" त० सू०६—१६। ४—देखो बोधिदुर्लभानुप्रेक्षाका वर्णन।

५—संसारावर्ते वर्तितुं वर्तयितुं वा शीलं येषां ते संसारावर्तवर्तिनः।

अपने सम्यग्दर्शन को मूढता की तरफ लेजाता है। पाखण्डिका अर्थ ऊपर बताया जा चुका है जिससे स्पष्ट होजायगा कि नीची क्रिया ऊंचा वेश, मिथ्या आचार, मोक्षमार्गके नाम पर स्वेच्छाचार सावद्य प्रवृत्तियां, खान पानका अविवेक और स्वैराचार का जो सेवन है वह सब पाखण्ड है। क्योंकि आगमकी आज्ञाके वह विरुद्ध है और अन्य भोलेजन उससे वंचित होकर ठगे जाते हैं। अपने सावद्य कर्मोंके द्वारा वे अपने को तो संसार समुद्रमें डुवाते ही हैं साथ ही अपने अनुयायियोंको भी डुवोते हैं। अत एव सम्यग्दृष्टिको चाहिये कि इनका पुरस्कार करके अपने सम्यग्दर्शन को मूढता से अभिभूत न होने दे।

सम्यग्दर्शनके विषय तीन बताये हैं-देव शास्त्र और गुरु। तीनों का सम्बन्ध रत्नत्रयसे है। फिर भी देवका सम्यग्दर्शन से शास्त्रका सम्यग्ज्ञान से और गुरुका सम्यक् चारित्र से मुख्य सम्बन्ध है। सम्यग्दर्शनका प्रत्यनीक भाव मिथ्यादर्शन है उसके भी विषय तीन हैं—कुदेव कुशास्त्र और कुगुरु। इनमें भी मुख्यतया कुदेव—देवमूढतासे मिथ्यात्वका, कुशास्त्र—लोक मूढता से मिथ्याज्ञानका और कुगुरु--पाखण्डिमूढतासे मिथ्याचारित्रका सम्बन्ध है। तीनोंही भाव परस्पर में अविनाभावी है। फिर चाहें भले ही उनमें गौण मुख्यता या तर तमता पाई जाती हो या दिखाई पडती हो। अत एव एक अंशके मलिन विकृत या मन्द पड़ने पर दूसरे अंशोंपर भी उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। यही कारण है कि आचार्योंने तीनों ही मूढताओंका परित्याग कराके सम्यग्दर्शन को अथवा उसके साथ पाये जानेवाले यथायोग्य रत्नत्रयको मोहित-मूढ अप्रशस्त न होने देने का उपदेश दिया है।

प्रकृत कारिका में पाखंडियों अर्थात् कुगुरुओं से बचकर चलनेका उपदेश है। साथ ही यहां यह भी बता दिया गया है कि पाखण्डि या कुगुरु किस को समझना चाहिये। सम्यग्दर्शन के विषयभूत सम्यग्गुरुका स्वरूप यथावसर विषयाशावशातीतः आदि कारिका में बता चुके हैं। उससे बताये गये लक्षण जिसमें घटित न हों वही कुगुरु है यह अर्थादापन्न हो जानेसे पुनः यहां पर कुगुरु के लक्षण बताने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी कदाचित् किसीको शंका हो तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रथम तो धर्मोपदेश में द्विरुक्ति या अनेक तरह से किसीभी एक विषयको यदि समझानेका ग्रन्थकर्ता प्रयत्न करता है तो वह दोष नहीं है। दूसरी बात यह है कि अर्थापत्ति भी ऐसा प्रमाण है जिसमें कि अन्यथानुपपत्ति की आवश्यकता है। अर्थापत्ति का उदाहरण प्रसिद्ध है कि "पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते" अत एव रात्रौ कल्प्यते। अर्थात् जैसे किसीने कहा कि देवदत्त खूब मोटा ताजी है, परन्तु यह दिनमें भोजन नहीं करता। ऐसी जगहपर अर्थापत्ति से रात्रीके भोजन की कल्पना होती है क्योंकि पीनत्व भोजन के विना आ नहीं सकता और वह दिनमें भोजन करता नहीं है इसलिये रात्रीमें भोजन करता है यह बात अर्थापत्तिसे मान ली जाती है। किंतु ऐसा यहां नहीं है सुगुरु के विषयमें जो विशेषण दिये गये है वे जिसमें घटित न हों उसको कुगुरु मान लिया जाय यह ठीक

नहीं हैं क्योंकि कुगुरु के स्वरूप का यह कथन अतिव्याप्त है। चतुर्थगुणस्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य में भी सुगुरु के उन विशेषणों का अभाव पाया जाता है परन्तु वह कुगुरु पाखण्डि नहीं है क्यों कि वह न तो विषयाशावशातीत है न निरारम्भ है और न अपरिग्रह ही है। फिर भी वह कुगुरु नहीं है। अतएव कुगुरु अर्थात् पाखण्डि का स्वरूप स्पष्टतया बताने के लिये इस कारिकाका निर्माण अत्यन्त उचित और आवश्यक था।

इसके सिवाय इस कारिका में प्रयुक्त पाखण्डि के विशेषणोंका कारिका नं० १० में दिये गये सुगुरु के विशेषणोंके साथ मिलान करने और उस पर विचार करनेसे मालूम होगा कि सुगुरु के भावोंसे पाखण्डिके भावोंमें बिलकुल प्रत्यनीकता तो दिखाई गई है साथही उन भावोंके निर्देशका क्रम भी बिलकुल विपरीत है। सुगुरु के स्वरूप को बताते हुए सबसे पहले पंचेन्द्रियों के विषयोंसे रहित होना, उसके बाद आरम्भरहित होना, और उसके भी बाद अपरिग्रही होना बताया गया है। जब कि यहांपर पाखण्डिका स्वरूप बताते हुए इन तीनों से ही उल्टे तीन भावोंको एकही वाक्य द्वारा किंतु विपरीत क्रमसे दिखाया गया है। जैसे कि पहले ग्रन्थ फिर आरम्भ इसके बाद हिंसा अर्थात् इन्द्रियों से सावद्य विषयोंका सेवन एक 'सग्रन्थारंभहिंसानां' इस पदके द्वारा बताया गया है। कारण यह कि जहांतक इन्द्रियोंके विषयोंकी वासना नहीं छूटी है, उनके सेवन करनेकी अंतरंगमें सकषाय भावना या दीनता[१] बनी हुई है वहांतक उनका किसी न किसी रूपमें भोगोपभोग भी बना ही रहता है। तथा उसकी सिद्धिके लिए परिग्रह भी रखना ही पडता है, तथा आरम्भ भी करने पडते हैं। तथा इन कार्योंके रहते हुए हिंसा व सावद्यताका सम्बन्ध भी किसी न किसी रूपसे बना ही रहता है। इसके विरुद्ध इन्द्रियोंके विषयोंका परित्याग कर देने पर न तो आरंभ एवं परिग्रह की आवश्यकता ही रह जाती है और न उनका परित्याग फिर दुष्कर ही होता है।

"संसारावर्तवर्तिनां" पद भी "ज्ञानध्यानतपोरक्तः" इस पद में उल्लिखित समीचीन आत्मसाधना के भावोंके प्रत्यनीक—मिथ्योपदेश पंचाग्नि तप जटाधारण यज्ञहोमादि कर्म पशुपालन चेलाचेली या संतानोत्पादन रक्षण एवं विवाहादि करना अधिक क्या अस्त्रशस्त्र धारण—उनका उपयोग तथा खेती आदि उन कामों को प्रगट करता है जो कि सावद्य हैं और हिंसासे संबन्धित हैं। इन कार्योंको करते हुए भी जो अपने को साधु सन्यासी प्रगट करता है वह अवश्यही पाखंडी है। ऐसे पाखंडियों के पुरस्कार से अपना सम्यग्दर्शन मलिन होता है और सामान्य मोक्षमार्गका आदर्श भी भ्रष्ट होता है। अतएव मुमुक्षु विवेकी सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है कि उनका पुरस्कार न करे क्यों कि वे वास्तवमें गुरु नहीं हैं जैसा कि कहा भी है कि—

सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः[२]। अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु॥

१—अन्तर विषय वासना वर्ते, बाहिर लोक लाज भय भारी। ताते परम दिगम्बर मुद्रा धरि नहिं सकहिं दीन संसारी॥

२—अ० ध० २–१२ की टीकागत।

किंतु सच्चे तपस्वियों का ही सेवन करें जैसा कि भगवान जिनसेन स्वामीने बताया है कि–

इष्टव्या गुरवो नित्यं पृष्टव्याश्च हिताहितम् । महेज्यया च यष्टव्याः शिष्टानामिष्टमीदृशम्[१] ॥

सम्यग्दर्शनका लक्षण वर्णन करते समय श्रद्धान रूप क्रियाके जो तीन विशेषण दिये थे उन मेंसे दो का विवेचन पूर्ण हुआ। अब तीसरे विशेषण–'अस्मयं' का व्याख्यान शेष है अतएव अवसर प्राप्त होने से आचार्य उसकी व्याख्या करते हैं उसमें सबसे पहले प्रकृत स्मय का स्वरूप और उसके भेद बताते है—

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ २५ ॥

अर्थ—ज्ञान पूजा कुल जाति बल ऋद्धि तप और शरीर इन आठोंके आश्रय से जो अभिमान किया जाता है उसको निर्मद आचार्य स्मय कहते है।

प्रयोजन—सम्यग्दर्शन जोकि धर्म अथवा मोक्षमार्ग में सबसे प्रथम एवं प्रधान पदपर अवस्थित है उसकी पूर्णता तथा विशुद्धता तबतक संभव नहीं है और नहीं वह अपना वास्तविक कार्य करने में ही समर्थ हो सकता है जबतक कि अंतरंग में स्मयका भाव बना हुआ है। अत एव सम्यग्दर्शन का लक्षण कथन करतेहुए जिन २ विषयोंका उल्लेख ग्रंथकारने किया है उन सभी का स्पष्टीकरण करके प्रकृत विषय के व्याख्यान को समाप्त करनेके पूर्व उल्लिखित विषयोंमेंसे इस अन्तिम विषय का भी स्पष्टीकरण करना उचित तथा आवश्यक है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन की अस्मयताको बताने के लिए आचार्य स्मयका स्वरूप विषय और प्रकार यहांपर बता रहे हैं। यदि इस विषयको छोड दिया जाय दूसरे शब्दोंमें यदि सम्यग्दर्शनका अस्मय विशेषण न दिया जाय तो स्पष्ट है कि स्मयके सद् भावमेंभी सम्यग्दर्शन, पूर्ण शुद्ध और अपना कार्य करने में समर्थ माना जा सकेगा जबकि यह बात अयुक्त है–विपरीत है–और प्राणियोंको धोखा देने वाली है। अतएव इसका विवेचन करना अत्यन्त उचित है और आवश्यक है। इसका कारण यह भी है कि प्रायः संसारी जीव बहिर्दृष्टि है, उनका स्वभाव नेत्रके समान है। जिस तरह नेत्र अपनेसे भिन्न अन्य पदार्थको देखता है परन्तु वह स्वयं को नहीं देखता, न देखही सकता है[२] है इसीतरह संसारी जीव अपनेको न देखकर पर पदार्थको ही देखता है। इसके सिवाय उसका यह देखनाभी मोहोदयके कारण अन्यथा ही होता है। संसार के जिन विषयोंमें उसने इष्ट या अनिष्ट की कल्पना कर रक्खी है उनमें से दैवकी अनुकूलता वश यदि इष्ट विषयोंका लाभ होजाता है तो स्वयंमें उत्कर्षकी भावना करता है–समझता है कि यह मैंने अपनी योग्यता–बुद्धि चातुर्य और पौरुष के बलपर प्राप्त कर लिया है। यदि अनिष्ट की प्राप्ति होजाती है तो दूसरेके प्रति दुर्भावना

१—आदिपुराण।

२—नेत्रं हि दूरे तु निरीक्ष्यमाणमात्मावलोके त्वसमर्थमेव ॥ यश—

करता है--कहता है कि अमुकने मेरा काम बिगडवा दिया अथवा अमुककी अयोग्यता के कारण मेरे ऊपर यह अनिष्ट प्रसंग आकर उपस्थित होगया है। जबकि वास्तवमें इष्ट अनिष्ट विषयोंके लाभमें अथवा वैसी परिस्थितिके उपस्थित होनेमें पौरुष की अपेक्षा दैवकी अनुकूलता या प्रतिकूलता अंतरंग एवं वलवत्तर[1] कारण है। मोहोदयके ही कारण यह जीव आत्मकल्याण मोक्ष-मार्गके बाधक अथवा विपरीत विषयोंमें राग रुचि धारण किया करता और साधक तथा अनुकूल विषयोंमे द्वेष या अरुचि धारण किया करता है जबकि वास्तविक आत्मकल्याणके लिये दोनों ही भाव विरोधी हैं। यही कारण है कि वीतरागद्वेष भगवानकी देशनाको प्रसारित करनेवाले तथाभूत परमकृपालु आचार्य मुमुक्षु भव्यको दृष्टिकोण बदलनेका उपदेश देते हैं। वे कहते हैं कि यदि तुझे आत्मकल्याण करना है तो सबसे पहले उसके विरुद्ध साधनों या अनायतनों से तो राग व रुचिको और अनुकूल साधनों एवं आयतनोंसे द्वेष वा अरुचिको छोड देना चाहिये। प्रत्यनीक भाव मिथ्यादर्शनादि तीन और उनके आधार—मूढताके विषयभूत तीन ये छह अनायतन हैं।

इनसे राग-रुचिको छोड़नेपर और छह आयतनों—रत्नत्रय रूप तीन धर्म और तीनोंके धारक तीन प्रकारके धर्मात्माओं से द्वेष और अरुचिको छोड़ देनेपर ही वास्तविक आत्मकल्याण प्राप्त हो सकता है। जब तेरी इस तरहकी दृष्टि बन जायगी तभी तू सम्यग्दृष्टी कहा जा सकता है और तेरी वह दृष्टि सम्यग्दर्शन कही जा सकती है। अतएव तीन मूढताओंका वर्णन करनेके बाद सधर्माओंके साथ किस तरह व्यवहार करना चाहिये यह बताने केलिये अस्मय विशेषण का व्याख्यान करना सर्वथा उचित और आवश्यक होजाता है। यही कारण है कि इस कारिकाके द्वारा सबसे पहले स्मयका स्वरूप उसके विषय और भेदों का उल्लेख आचार्यने किया है जोकि अत्यंत प्रयोजनीभूत है। क्यों कि प्रत्येक कार्यकी सिद्धिके लिये जिस तरह अंतरंग बहिरंग साधक कारणों की उपस्थिति आवश्यक है उसी तरह बाह्याभ्यन्तर बाधक कारणोंकी अनुपस्थिति-उनसे बचकर चलने या रहनेकी भी आवश्यकता है।

सम्यग्दर्शनको अतिचारोंसे बचाकर ४ और निरतिचार सम्यग्दर्शनकी स्व तथा परमें समुचित प्रवृत्तिके द्वारा ४ इसतरह कुल आठ अंगोंकेद्वारा जिसतरह उसका शरीर पूर्ण होता है उसीतरह तीन मूढताओंसे बचकर चलने वाले के सम्यग्दर्शनका स्वास्थ्य दूषित वातावरणसे बचा रहकर सुरक्षित रह सकता और सधर्माओंके साथ अस्मय प्रवृत्तिके द्वारा वही सम्यग्दर्शन सुपुष्ट सुदृढ और सतेज बन सकता है। तथा ऐसा होने परही वह कार्यक्षम बन सकता है। जिस तरह शरीरको योग्य तथा कार्यक्षम बनाने के लिये उसके आठोंही अंगोंकी आवश्यकता है उसी प्रकार महामारी आदिके सम्पर्कसे उसे बचाकर रखने और अपथ्य सेवन—मिथ्या आहार विहारसे भी बचाने की आवश्यकता है। उसी तरह प्रकृतमें भी समझना चाहिये। अष्टांग सम्यग्दर्शनको तीन मूढताओं

१—प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहु साधनता। अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पातेज्यतः करसहस्रमपि॥ लोकोक्ति, अथवा नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः किल हरेरैरावणो वारणः। इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्‌भग्नः परैः संगरे, तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग् वृथा पौरुषम्। आत्मा० ॥३२॥

से पृथक् रखना मानो महामारीके क्षेत्रसे शरीरको बचाकर रखना है और सधर्माओंमें असमय प्रवृत्ति मानों अपथ्यसे बचकर पोषक तत्त्वका सेवन करना है। अतएव अष्टांग निर्माणके बाद रोगोंसे मुक्त रहनेके लिये मूढवृत्तिके परित्यागका उपदेश देकर अब अपथ्यसेवन न करनेके समान सम्यग्दृष्टिको असमय व्यवहार करनाही हितावह है; यही लक्ष्य रखकर आचार्य इस प्रकरणका इस कारिका द्वारा प्रारम्भ करते हैं।

शब्दोंका सामान्य--विशेष अर्थ—

ज्ञान शब्दकी निरुक्ति परिभाषा वाच्यार्थ उसके भेद फल आदिका न्याय शास्त्रोंमें यथेष्ट वर्णन पाया जाता है तथा निर्देशादि या सदादि अनुयोगोंके द्वारा आगम ग्रथोंमें उसका विशेष व्याख्यान भी कियागया है! इसके सिवाय स्वयं ग्रंथकर्त्ताने अपने न्याय एवं आगमग्रंथों के अत्यन्त विशाल अध्ययनका सार लेकर इसी ग्रंथके दूसरे अध्यायमें जो कि रत्नत्रयरूप धर्मके दूसरे भागका वर्णन करता है केवल ५ कारिकाओंके द्वारा बतादिया है;अतएव इस विषयमें यहां कुछ भी लिखना अनावश्यकही है। फिरभी यहां पर संक्षेपमें कुछ आवश्यक परिचय देदेना उचित प्रतीत होता है।

शब्दोंकी निरुक्ति विवक्षाधीन हुआ करती है। अतएव दर्शन ज्ञान आदि शब्दों तथा उनके विशेषणरूपमें प्रयुक्त सम्यक् आदि शब्दोंकी भी निरुक्ति भिन्न२ साधनोंके द्वारा शब्दकी सिद्धि बताते हुए भिन्न २ अनेक प्रकारसे की है। फिरभी उनमेंसे सम्यक्–दर्शन–ज्ञान शब्दोंकी चार२ तरहकी निरुक्ति मुख्य हैं। कर्तृ साधन, कर्म साधन, करणसाधन और भावसाधन। इनके द्वारा क्रमसे कर्त्ता कर्म करण और क्रियाकी तरफ मुख्य दृष्टि रक्खी गई है। इनमें भी वक्ताको जब जहां जो विवक्षित हो वही मुख्य हो सकती है। ज्ञान शब्दके विषयमें भी यही बात है। "जानाति इति ज्ञानम्" इस कर्तृ साधनमें जानने रूप क्रियाका कर्त्ता आत्मा मुख्य है। "ज्ञायते इति ज्ञानम्" इसमें कर्मरूप जानन क्रियाका विषय मुख्य है। "ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्" यहांपर जानन क्रिया की साधकतम–करण रूप वह शक्ति--साकारोपयोग रूप परिणत होनेवाली चेतना विवक्षित है जिस के द्वारा जाना जाता है। 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' यहां केवल 'जानना' यह क्रिया मात्र--साकारोपयोगरूप परिणमन विवक्षित है।

आत्माका लक्षण उपयोग है जिसके कि ज्ञान दर्शन इस तरह दो भेद हैं। ज्ञान आत्माका अभिन्न अनादि निधन असाधारण अजहत् स्वभावरूप गुण है। वह सामान्यतया एक रूप है। उसमें स्वतः कोई भेद नहीं है। फिर भी निमित्तभेदोंके अनुसार उसके अनेक तरहसे अनेक भेद होजाते हैं। जो कि आगममें आचार्योंके द्वारा बताये गये हैं। सम्यग्दर्शनके विरोधी कर्मोंके उदय अनुदयके सम्बन्ध से ज्ञानके भी मिथ्या और सम्यक् भेदरूप दो व्यवदेश होजाते हैं। लोकव्यवस्था–व्यवहार और तत्त्वज्ञान के लिये तथा विचार विमर्श के लिये आवश्यक उपयोगी प्रमाणयाप्रमाण्य व्यवस्था की दृष्टि से इसी ज्ञानके सत् असत् इस तरह दो भेद होजाते हैं।

अपने घातक कर्म के उदयमें जाति भेद अथवा तारतम्यके कारण प्रत्यक्ष परोक्ष भेद होते हैं। अथवा अपने उपयोग स्वरूप प्रवृत्तिमें बाह्याभ्यन्तर निमित्तों के अवलम्बनानवलम्बन भेद की अपेक्षा से भी प्रत्यक्ष परोक्ष भेद यद्वा मति श्रुत आदि पांच भेद होजाते हैं। इसी तरह और भी प्रकार हो सकते हैं।

प्रकृतमें मदके साथ जिस ज्ञानका प्रयोग किया जाता है वह सराग एवं क्षायोपशमिक ही संभव है। जहांतक ज्ञान अल्प[१] है तथा कषायके तीव्र उदयसे आक्रान्त है वहीं तक ज्ञान के विषयका मद होना शक्य है। अत एव सराग क्षायोपशमिक ज्ञान ही यहां पर ग्रहण करना चाहिये।

प्रश्न—ज्ञान मदके होने की संभावना दो कारणों की उपस्थिति में आपने यहां बताई है,- एक ज्ञानकी अल्पता और दूसरी कषायोदयकी तीव्रता। सो पहला कारण तो ठीक है; क्योंकि ज्ञानावरण कर्मका उदय रहते हुए ही प्रज्ञापरीषह[२] आगम में बताई है। परन्तु दूसरा कारण ठीक नहीं मालुम होता; क्योंकि संज्वलन कषायके मन्दोदय और सर्वथा अभावमें छद्मस्थ वीतराग व्यक्तियोंके भी प्रज्ञापरीषहका उल्लेख किया[३] गया है।

उत्तर—ठीक है। परन्तु मोक्षशास्त्रमें जहां परीषहोंका वर्णन किया गया है वहांपर मुख्यतया प्रतिपक्षी कर्मके सद्भावकी अपेक्षा है। न कि प्रवृत्तिरूप कार्यकी अपेक्षा। कारण के सद्भावसे तथा भूतपूर्व प्रज्ञापननयकी अपेक्षा उपचार से वहां पर परीषहोंको बताया है। प्रत्यक्ष कार्य रूपमें वहां परीषह होती है यह आशय नहीं है। अत एव प्रज्ञापरीषहमें ज्ञानावरण कर्म का उदयरूप द्रव्यकासद्भावही वहां पर परीषहरूपसे विवक्षित है। हमारा यहां प्रयोजन प्रत्यक्ष व्यवहार में आनेवाली प्रवृत्तिसे है। सो यह बात क्षायोपशमिक ज्ञानके साथ२ कषाय के तीव्र उदयके सद्भावमें ही संभव है। कषायका जहां मन्द उदय है वहांपर भी संभव नहीं[४] है। क्योंकि यहां मदका प्रकरण है और सम्यग्दर्शनके दोषों का सम्बन्ध है जो कि ऊपर अशक्य है। ज्ञानमदमें ज्ञान तो विषय है उसके मदका जहां विचार है वहां कषायको भी किसी न किसी प्रकार से तीव्र ही मानना आवश्यक है। जहां उसका मूलमें ही अस्तित्व नहीं है वहां भूतप्रज्ञापन नय से और जहां मन्द उदय है वहां केवल कारण के सद्भावमात्र की अपेक्षा से उसको कहा जा सकता है; किन्तु जहां स्थूल व्यवहार योग्य मद की विवक्षा है वहां तो कषायके तीव्र उदय अथवा उदीर्णा को ही मानना उचित हैं।

१—क्षायोपशमिकी प्रज्ञा अन्यस्मिन् ज्ञानावरणे सति मदं जनयति। न सकलावरणक्षये।"स०सि० ६-१३

२—"ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने" त० सू० ६-१३॥ ३—सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ त० सू० ३-१० ॥ "क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधालाभरोगतृणस्पर्शमलप्रज्ञाज्ञानानि" स० सि०।

४—जैसे कि सूक्ष्मसाम्परायमे।

ज्ञानके सिवाय पूजा[1] कुल जाति बल ऋद्धि तप और शरीर इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट है। क्योंकि पूजाका अर्थ आदर सत्कार पुरुस्कार सम्मान गौरव महत्त्व आदि होता है और इसमें सद्वेद्यादि पुण्यकर्मका उदय कारण है। गोत्रकर्म के उदयके अनुसार पितृ पक्षमें चले आये सम्मान्य वंशानुगत आचरण को अथवा संतति क्रमसे चले आये वीर्यसम्बन्ध को कुल और उसी प्रकार मातृ पक्ष में चले आये प्रशस्त आचरणको जाति, वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशमसे बल, सातावेदनीयादि पुण्य कर्म के उदयसे और लाभान्तरायादि कर्म के क्षयोपशमसे प्राप्त धन धान्यादि विभूतिको ऋद्धि, चारित्रमोहनीय कर्म के मन्दोदय, क्षयोपशम, उपशम, क्षय से होने वाले इच्छानिरोध अथवा अनशनादिको तप और शरीर नामकर्म के उदयसे प्राप्त इन्द्रियों के अधिष्ठान यद्वा कर्म नोकर्म के पिण्डविशेषको शरीर कहते हैं।

आङ् पूर्वक श्रि धातुसे आश्रित्य बनता है यह कृत्प्रत्ययान्त अपूर्ण क्रियापद है। उपर्युक्त ज्ञानादिक आठों ही इसके विषय है। मानः अस्ति यस्य स मानी तस्य भावः मानित्वम्। अर्थात् अभिमान से की जानेवाली चेष्टाएं। स्मयशब्दका अर्थ मद—औद्धत्य—घमण्ड होता है। गतः स्मयो येषां ते गतस्मयाः। जिनके अन्तरंगमें से आभिमानिक विभाव परिणाम निकलगया है वे सब आप्तपरमेष्ठी या गणधरादिक गतस्मय हैं। आहुः यह क्रियापद है। ब्रूञ धातुको आह आदेश होकर वर्तमान अर्थ में यह प्रयुक्त हुआ है। जिसका अर्थ है—स्पष्ट कहते है।

तात्पर्य—ऊपरके कथन से यह तो भलेप्रकार स्पष्ट ही है कि ज्ञानादिक स्वयं स्मय अर्थात् मदरूप नहीं हैं। किन्तु मदके विषय हैं। तथा इसका मुख्य सम्बन्ध भी सधर्माओंसे है जैसाकि आगेकी कारिकासे मालुम होता है। अत एव मतलब यह होता है कि कोई भी सम्यग्दृष्टि यदि अपने अन्य सधर्माओंके साथ इस कारिकामें बतायेगये आठ विषयोंमें से किसी का भी आश्रय लेकर तिरस्कारका भाव रखता है तो वह उसके सम्यग्दर्शनका स्मय नामका दोष है। इससे उसकी विशुद्धि नष्ट होती है और कदाचित् वह अपने स्वरूपसे च्युत भी हो जासकता है। क्यों कि इस तरहके परिणामों से नीचगोत्र कर्मका बंध हुआ[2] करना है। और सम्यक्त्वसहित जीवके नीच गोत्र कर्मका बंध हुआ नहीं करता। क्योंकि उसकी बंधव्युच्छित्ति सासादन गुणस्थान[3] में बताई है। अत एव उसका बन्ध वहीं तक संभव है, आगे नहीं। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन की

१—यहांपर जिन शब्दोंका प्रयोग कियागया है ग्रन्थान्तरोंमे उनकी जगह दूसरे २ पर्यायवाचक शब्दोंका भी प्रयोग पाया जाता है; उससे तात्पर्य समझनेमें सुभीता रहता है। यथा पूजा के लिये शील, शरीर के लिये आभिरूप्य, ऋद्धि के लिये विभूति संपत् आदि। संभावयन् जाति-कुलाभिरूप्यविभूतिधीशक्तितपोर्चनाभिः॥ अन० २—८७। जातिपूजाकुलज्ञानरूपसंपत्तपोबले॥ यश। प्रकीर्णक।

२—"परात्मनिंदाप्रशंसे सद्असद्गुणछादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य"। त० सू०। अथवा "जातिरूपकुलैश्वर्यशीलज्ञानतपोबलैः। कुर्वाणोऽहंकृतिं नीचं गोत्रं बध्नाति मानवः॥अन ०२—८८ टीकोक्त।

३—सासादनगुणस्थान में २५ प्रकृतिकी बंधव्युच्छित्ति बताई है उसमें नीचगोत्र भी परिगणित है।

विशुद्धिको यथावत् रखनकेलिये साधर्मियोंके साथ आभिमानिक व्यवहार करने से सर्वथा पृथक् रहना चाहिये।

ध्यान रहे कि ज्ञानादिक जो कि अभिमानके विषय हैं वे हेय नहीं, उनका मद हेय है। ज्ञानादिक तो प्रयोजनीभूत एवं उपादेय है। सम्यग्दृष्टि जीव जो कि मुमुक्षु होनेके कारण जिस जिनदीक्षाके लिये उत्सुक रहा करता है, उस दीक्षा के धारण करने में ये आठो ही विषय किसी न किसी रूपमें आवश्यक हैं। अत एव ये उस समय सबसे पहले देखे जाते हैं। दीक्षा देनेवाले आचार्य उस दीक्षा ग्रहण करनेके लिये प्रवृत्त हुए शिष्यके विषयमें दीक्षादेनेके पूर्व देखते है कि इसकी ज्ञानशक्ति किसतरह की है। यह मूढ विपर्यस्त जड्वक्र धूर्त अज्ञानी है अथवा सुमेधा है। क्योंकि जो समीचीन विचारशील, ग्राहकबुद्धि, धारणाशक्तियुक्त, तथा शांत सरलचित्त है वही दीक्षाके योग्य मानागया है। दीक्षा धारण करनेवालों में जिस २ योग्यताकी आवश्यकता बताई गई है उनमें सुमेधा[1] —अच्छी बुद्धिका रहना विशेषरूप से परिगणित है।

ज्ञानके ही समान पूज्यता आदिका भी विचार किया गया है। निंद्य व्यक्तिको दीक्षाका अपात्र ही माना है। इसीतरह उत्तम कुल और उत्तम जाति के व्यक्ति ही दीक्षा के अधिकारी माने गये हैं। दुर्बल कोमल शरीर अतिबाल अतिवृद्ध व्यक्ति भी दीक्षा के लिये निषद्ध ही हैं। अनशनादिकी शक्ति का रहना तो आवश्यक है। राज्यविरुद्ध अपराधी आदि को भी दीक्षा नहीं दी जाती। जिसका अंगभंग है, विकलांग है विरूप बे डौल असुन्दर है वह भी दीक्षा के लिये अयोग्य ही माना गया है। इससे स्पष्ट है कि ये ऐसे आवश्यक गुण हैं जिनके विना मुमुक्षु निर्वाणका मार्ग तय नहीं कर सकता। अतएव स्पष्ट है कि इन गुणों को पाकर जो व्यक्ति गर्व करता हैं अपने में उत्कर्ष की भावनाके साथ२ दूसरे में जो कि सधर्मा होकर इन दैवाधीन अनात्मविषयों में अल्प है तिरस्कारका भाव धारण करता है वह सम्यग्दर्शनका स्मय नामका दोष है।

मतलब यह कि अनात्मभावोंके निमित्तसे उनको प्रधानता देकर आत्मीय भावकी अवहेलना करनेपर सम्यग्दर्शनका महत्त्व म्लान होजाता है। यह उसकी आसादना है। और ऐसा करने पर अवश्य ही सम्यग्दर्शन अपने पदसे नीचे गिरजाता है। स्त्रीको उसका पति यदि स्वयं कुछ भी भलाबुरा कहे, कदाचित् मारपीट भी दे तो भी उसको उतना बुरा नहीं लगता जितना कि सपत्नीका अनुचित पक्ष लेकर, उसके संकेतसे वैसा करनेपर लगता है। इसी तरह अनात्मीय भावनाका पक्ष रखकर कियागया तिरस्कार भी आत्मभावनाको सह्य नहीं होता। इस तरहके व्यवहार से उसकी प्रसन्नता नष्ट होजाती है।

१—विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्वृत्तस्य वपुष्मतः। दीक्षायोग्यत्वमाम्नातं सुमुखस्य सुमेधसः॥ आदिपु ३६-१५८॥ तथा देखो अन० ध० अध्याय ६ श्लो० ८८ और उसकी टीका। न निन्द्यबालकादिषु' पवितादेर्न सा देया

प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान तो आत्माका स्वभाव है, आप उसको अनात्मीय किसतरह और क्यों कहते हैं ?

किन्तु इसका उत्तर ऊपरके कथन से ही समझ में आ जा सकता है। प्रथम तो संसारी जीव ही कथंचित् रूपीर मूर्त है। दूसरी बात यह कि यहांपर ज्ञानादिक जो आठ भाव लिये हैं वे सभी कर्मापेक्ष है। या तो पुण्यकर्म के उदयनिमित्तक हैं अथवा घातिकर्मके क्षयोपशमसे जन्य हैं। ज्ञान बल और तप क्षायोपशमिक हैं और शेष पांच—पूजा कुल जाति ऋद्धि और शरीर औदयिक हैं। इन में भी शरीर पुद्गलविपाकी और बाकीके चार यथायोग्य जीवविपाकी कर्मोंके उदयसे हुआ करते है। तथा ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होनेवाला ज्ञान, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होनेवाला बल तथा चारित्रमोहके क्षयोपशमसे जन्य तप ही प्रकृतमें विवक्षित हैं। आत्माके शुद्धस्वभावरूप क्षायिक ज्ञान और वीर्य विवक्षित नहीं है। इस तरहके क्षायोपशमिक तथा औदयिक भाव तत्त्वतः विचार करनेपर आत्मीय नहीं माने जा सकते[२]।

शंका—आगममें बलके तीन भेद बताये हैं—मनोबल वचनबल और कायबल। इनकी उत्पत्ति क्रमसे मनोवर्गणा वचनवर्गणा और कायवर्गणाके द्वारा हुआ करती है। जो कि नोकर्मवर्गणाके भेद हैं और शरीरनामकर्मके उदयके अनुसार प्राप्त हुआ करती है। अत एव आप बलको क्षायोपशमिक कहते हैं सो ठीक नहीं है। औदयिक कहना चाहिये।

समाधान—मनोवर्गणा आदिक पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्मके उदयसे प्राप्त होती हैं, और वे बलमें निमित्त या अवलम्बन होती हैं, ये दोनों ही बाते ठीक हैं। परन्तु बल औदयिक नहीं है क्षायोपशमिक ही है यहांपर वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशमसे उद्भूत वीर्यशक्तिकाही नाम बल[३] है। अवलम्बनरूप वर्गणाओं के भेद से इस के तीन भेद होजाते हैं। क्योंकि अन्यस्थानों में जहां बलके लिये शक्ति शब्दका प्रयोग किया है वहां उसका अर्थ पराक्रम[४] ही किया है जिसका कि सम्बन्ध आत्मा से ही युक्त हो सकता है। अन्यथा उनमें क्रमवर्तित्व नहीं बन सकेगा। तीनों ही वर्गणाएं अपना २ कार्य एक समय में ही कर सकती हैं यह बात भी मानी जासकेगी जो कि आगम[५] के विरुद्ध है।

१—संसारत्था रूवा कम्मविमुक्का अरूवगया। २—अनादिनित्यसम्बन्धात्सह कर्मभिरात्मनः। अमूर्तस्यापि सत्यैक्ये मूर्तत्वमवसीयते ॥१७॥ बन्धं प्रति भवत्यैक्यमन्योन्यानुप्रवेशतः। युगपद्भावितः स्वर्णरौप्यवज्जीवकर्मणोः ॥१८॥ तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात्। न ह्यमूर्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी ॥१९॥ त० सा० अ० ५ ॥

३—देखो राजवार्तिक-योगश्च वीर्यलब्धिग्रहणेन गृहीतः ५-५-८ ननु च योगप्रवृत्तिरात्मप्रदेशपरिस्पन्दक्रिया वीर्यलब्धिरिति क्षायोपशमिकी व्याख्याता-२० ६-६, योगाश्च क्षायोपशमिकाः २—७—१२ इत्यादि। ४—अन० २—८७ की टीका—शक्तिः—पराक्रमः।

५—जोगोवि एक्ककाले एक्केव य होदि णियमेण। गो० जी० २४१ ॥

ऋद्धि शब्दसे ग्राम सुवर्ण धन धान्य दासी दास कुप्य भांड रूप बाह्य विभूतिसे यहां प्रयोजन है जिसकी कि प्राप्तिमें लाभान्तराय कर्मका क्षयोपशम भी एक अन्तरंग बलवत्तर कारण है। अत एव उसको क्षायोपशमिक भाव ज्ञानादिकके साथ गिनाना चाहिये था परन्तु हमने वैसा न करके औदयिक विषयों में गिनाया है। क्योंकि इनकी प्राप्तिमें साता आदि पुण्यकर्मके उदयकी प्रधानता है। लाभान्तरायके क्षयोपशमका काम इतना ही है कि पुण्योदयसे जो प्राप्ति होरही हो उसमें विघ्न उपस्थित न हो। अतः वह गौण है। देखा भी जाता है कि इस विभूतिकी प्राप्तिमें जिसको कि लोकमें उन्नति समझा और कहा जाता है उसके साधनभूत माने गये उद्यम साहस धैर्य बल और पराक्रम जो कि अन्तरङ्गमें वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे सम्बन्धित है उनके यथेष्ट रहतेहुए भी यदि पुण्योदय न हो तो इच्छित विभूति प्राप्त नहीं होती और नहीं हो सकती है। आगम के वाक्यों से भी यही भाव व्यक्त होता है। भरतेश्वरने जो प्रयत्न किया था वह भी दैवको [1]प्रमाण मानकर ही किया था।

ज्ञानादिकके सम्बंधको लेकर धर्मात्माओंके साथ किसतरहसे आभिमानिक भावोंकी प्रवृत्ति हुआ करती है इसका वर्णन ग्रन्थान्तरोंमें[2] किया गया है वहांसे देखलेना चाहिये। हम यहांपर दो बातों को स्पष्ट करदेना चाहते हैं। प्रथम तो यह कि सम्यग्दर्शनके मलोत्पादनमें अन्य कषायोंको भी कारण रूपमें रहते हुए मान कषायको ही प्राधान्य देनेका क्या कारण है? दूसरी बात यह कि इस तरहकी अस्मयवृत्तिके-द्वारा सम्यग्दर्शनको निर्मल और सफल बना सकनेवाले मुख्यतया उसके स्वामी कौन हैं?

यद्यपि यह ठीक है कि--सम्यग्दर्शन सामान्यतया चारोंही गतियोंमें पाया जाता है अतएव उसके मल दोषोंकी प्रवृत्ति भी चारों ही गतियोंमें सम्भवहै। किन्तु जब हम सिद्धांतानुसार चारों-गतियोंकी स्थितिके विषयमें दृष्टि देकर विचार करते हैं तो एक विशेषता पाते हैं। वह यह कि चारों ही गतियोंके सभी जीव जहांतक कषायका सम्बंध है सभी कषायों--क्रोध मान माया लोभरूप कषायके चारों ही भेदोंसे युक्त रहते हुए भी मुख्यतया एक २ कषायसे आविष्ट माने गये हैं[3]। नरकमें क्रोध तिर्यग्गतिमें माया, मनुष्यगतिमें मान, और देवगतिमें लोभकी प्रधानता बताई गई है। यद्यपि यह सर्वथा नियम नहीं है, फिर भी प्रायः करके उन २ गतियोंमें निर्दिष्ट कषायकी ही बहु-

---

१—तस्मिन् पौरुषसाध्येऽपि कृत्ये दैवं प्रमाणयन्। लवणाब्धिजयोद्युक्तः सोऽभ्यैच्छद्दैविकी क्रियाम्॥ आदिपु० २८-४३॥

२—अनगार धर्मामृत अ० २ श्लोक ८६ से ६४ तक मूल संस्कृत अथवा हमारा हिन्दी अनुवाद जो कि सोलापुरसे कई वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका है। इसी तरह और भी ग्रंथ।

३—यद्यपि यह बात उत्पन्न होनेके प्रथम क्षणकी दृष्टिसे ही आगममे कही गई है जैसाकि जीव काण्ड की गाथा नं० २८७ णारयतिरिक्खणरसुर आदिसे मालुम होता है किन्तु पूरी पर्यायमे उन्ही कषायोकी बहुलता रहा करती है। जैसाकि उनकी परस्थितिसे विदित हो सकता है।

लतासे प्रवृत्ति पाई जाती है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि यह कथन पर्यायाश्रित भावोंको ही दृष्टिमें रखकर किया गया है। किन्तु इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य गतिमें जो प्रवृत्तियां हुआ करती है उनमें आभिमानिक भावकी ही प्रचुरता रहा करती है। आप्त भगवानने जो मोक्ष मार्गका वर्णन किया है वह भी उसके मुख्य पात्र मनुष्य—आर्य मनुष्यको दृष्टिमें रखकर ही किया है। कारण यह है कि तीर्थके यथावत् तथा पूर्णरूपमें पालन की सामर्थ्य और योग्यता अन्यत्र नहीं पाई जाती। जब सम्पूर्ण मोक्षमार्गका ही वर्णन मनुष्य और उसकी योग्यता तथा पात्रताको लक्ष्यमें रखकर किया गया है तब उस समस्त वर्णनरूप मंदिरकी नींवके समान सम्यग्दर्शन एवं उसके अंग और मल दोषोंका वर्णन भी उसीकीअपेक्षासे मुख्यतया समझना चाहिये। फलतः मद सम्बंधी दोष भी इसी दृष्टिसे हैं। और यहींपर पाये जानेवाले आठविषयोंके कारण उसके आठ भेद भी बताये गये है।

दूसरी बात स्वामित्व के विषय में हैं। इस तरह की असमय प्रवृत्ति किन मनुष्यों में पाई जाती है इस बातका विचार करनेपर मालुम होता है कि इसके मुख्यतया स्वामी तपोभृत् हैं क्योंकि मुख्यतया उन्हींके वह शक्य तथा संभव भी है। जैसा कि दीक्षा धारण करके तपश्चरण के लिये प्रवृत्त साधुओं के लिये बताये गये २७ पदों के स्वरूप को दृष्टिमें लेनेपर मालुम हो जा सकता है।

पारिव्राज्य से सम्बधित २७ पदों के नाम आगम[१] में इस प्रकार बताये हैं—

जातिर्मूर्तिश्च तत्रत्यं लक्षणं सुन्दरांगता। प्रभामण्डलचक्राणि तथाभिषवनाथते ॥१६३॥

सिंहासनोपधाने च छत्रचामरघोषणाः। अशोक वृक्षनिधयो गृहशोभावगाहने ॥१६४॥

क्षेत्रज्ञाज्ञासभाः कीर्तिर्वन्द्यता वाहनानि च। भाषाहारसुखानीति जात्यादिः सप्तविंशतिः ॥१६५॥

अर्थात् १ जाति २ मूर्ति ३ उसमें पाये जानेवाले लक्षण ४ शरीर की सुन्दरता ५ प्रभा ६ मण्डल ७ चक्र ८ अभिषेक ९ स्वामित्व १० सिंहासन ११ उपधान १२ छत्र १३ चमर १४ घोषण १५ अशोक वृक्ष १६ निधि १७ गृहशोभा १८ अवगाहन १९ क्षेत्र २० आज्ञा २१ सभा २२ कीर्ति २३ वन्द्यता २४ वाहन २५ भाषा २६ आहार २७ सुख।

मदके जो आठ विषय बताये हैं वे प्रायः सभी इन २७ पदोंमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। आचार्योंने जात्यादिका मद छोडकर तप करनेका और वैसा करनेपर जो फल प्राप्त होता है उसका वर्णन किया है उदाहरणार्थ जातिके विषय में लिखा है कि—

जातिमानप्यनुत्सिक्तः सभजेदर्हतां क्रमौ। यतो जात्यन्तरे जात्यां याति जातिचतुष्टयीम् ॥१६७॥

१—आदिपुराण पर्व ३९। विशेष जिज्ञासुओंको यह प्रकरण वहीं देखना चाहिये और उसके सम्बन्ध में विचक्षण गम्भीर विद्वानोंको अच्छीतरह विचार करना चाहिये।

अर्थात् उत्तम जातिवाला होकर भी जो उसका उत्सेक—गर्व छोडकर अरिहंत भगवान के चरणयुगल की सेवा करता—तपश्चरण करता है वह जन्मान्तर धारण करने पर ऐन्द्री विजया परमा और स्वा इन चार जातियों को प्राप्त किया करता है।

इसीतरह मूर्ति लक्षण सुन्दरांगता आदिके विषय में भी अभिमान[१] छोडकर तपश्चरण करने और वैसा करने पर जो फल होता है उसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्णन किया है।

इस कथनसे अस्मय श्रद्धाके साथ २ कीगई तदनुकूल प्रवृत्तिका स्वामित्व और उसके ही अनुसार प्राप्त होनेवाले असाधारण फलका अधिकार मुनियोंको है, यह स्पष्ट होजाता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि देशसंयमी या असंयतसम्यग्दृष्टिको निरभिमान श्रद्धानका कोई भी असाधारण फल प्राप्त नहीं हुआ करता उनको भी अपनी २ योग्यतानुसार फल अवश्य प्राप्त होता है किन्तु हमने जो स्वामित्वका उल्लेख किया है वह उत्कृष्टताकी अपेक्षासे है।
सम्यग्दर्शनकी अस्मयताजन्य महत्ताको गतस्मय महात्माओंने ही समझा है, उन्होंने कहा है, और जो श्रद्धालु उसपर श्रद्धा रखकर उसी प्रकारकी प्रवृत्ति करता है वहभी उसी तरहके महान् फलको प्राप्त करलेता है। किन्तु इसके विपरीत जो व्यक्ति इन आठों विषयोंमें मदसहित होकर चेष्टा करता है उसको क्या हानि उठानी पडती है यह बात स्वयं ग्रन्थकार आगेकी कारिकामें बताते है

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥ २६ ॥

अर्थ—गर्वयुक्त आशयको रखनेवाला जो व्यक्ति उक्त ज्ञानादि विषयक मदके द्वारा दूसरे सधर्माओंका अतिक्रमण करता है वह अपने ही धर्मकी अवहेलना करता है। क्योंकि धर्म धर्मात्माओंके विना नहीं रहा करता।

प्रयोजन—सम्यग्दर्शनका लक्षण बताते समय श्रद्धानरूप क्रियाके तीन विशेषण दिये थे और तीनही उसके विषय बताये थे विचार करनेपर मालुम होता है कि यद्यपि तीनोंही क्रियाविशेषणोंका सामान्य सम्बंध तीनोंही विषयों—आप्त आगम और तपोभृत्के साथ पाया जाता है। किन्तु इनमें से एक २ विषयके साथ एक २ क्रिया विशेषणका परस्पर कुछ विशिष्ट सम्बंध भी है। अष्टांग का आप्त के साथ, त्रिमूढापोढता का आगमके साथ और अस्मयताका तपोभृतके साथ विशेष सम्बंध है, ऐसा मालुम होता है, क्योंकि मोक्षमार्गके मूलभूत नेता आप्त परमेष्ठीहैं जिनका कि लक्षण या स्वरूप ऊपर बताया जा चुका है। उनके परोक्ष रहते हुए भी उनकी तथाभूततामें श्रद्धाका न केवल निःशंक[२] रहना ही आवश्यक और मुख्य है किंतु निरतिचार रहना भी उतना ही आवश्यक है। वीतराग भगवानसे किसी भी अपने विषयमें आकाङ्क्षा रखना तात्त्विक अज्ञान और श्रद्धानका दुर उपयोग है। इसीतरह उनके स्वरूपके विषयमें विचिकित्सा और मूढताका रहना भी श्रेयोमार्ग से उन्मार्गकी तरफ जाना ही है।

१—"स्वेषु तेष्वकृतादरः" २—"नान्यथावादिनो जिनाः"।

सर्वज्ञ वीतराग भगवानके उपदिष्ट आगम जिसका कि लक्षण ऊपर बताया जाचुका है, और तदनुसार जोकि आप्तोपज्ञ है उसके बदले लौकिक अज्ञानी जीवोंके यद्वा तद्वा कथोपकथनका अन्धानुसरण करना प्रबल मूढ़ता है। अतएव यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती कि आगमकी श्रद्धाका त्रिविध मूढताओंके राहित्यसे अत्यंत निकट सम्बंध है।

इसी तरह अस्मय क्रियाविशेषणका मुख्य सम्बंध तपोभृत्के साथ है। जैसाकि ऊपर बताया जाचुका है। मदके आठों ही विषयोंसे युक्त रहते हुए भी उनमें अनुत्सेकताको धारणकर तपश्चरण करनेवाले साधु अस्मय श्रद्धाके आदर्श हैं। इस तरहके महान् मोक्षमार्गीके साथ जो व्यक्ति अपने उन ऐहिक एवं दैविक उक्त प्राप्त विषयोंके कारणसे मदभरा व्यवहार करता है उसके सम्यग्दर्शनमें कौन २ सा दोष उपस्थित होता है और उससे वह किस तरह एवं कहांतक मोक्षमार्गसे च्युत होजा सकता है यह बताना अत्यंत उचित आवश्यक तथा क्रमानुसार प्रासंगिक है। इससे इस कारिका का प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि अस्मय विशेषणका क्रमानुसार विवेचन करना तो आवश्यक था ही। तदनुसार इस विषयके वर्णनके प्रारम्भमे ऊपरकी कारिकामें केवल स्मयका स्वरूप और विषयमात्र ही बताया गया हैं। यह नहीं बताया गया कि इस स्मयके द्वारा किस २ तरहसे और कौनसा दोष उपस्थित हुआ करता है। सम्यग्दर्शनमें किस २ तरहकी मलिनता आकर हानि हुआ करती है। अतएव यह बताना इस कारिकाके निर्माणका प्रयोजन है।

महान् यौक्तिक एवं तार्किक ग्रन्थकर्त्ता युक्ति और तर्कके द्वारा भी सिद्ध करके इस कारिका के द्वारा बता देना चाहते है कि आभिमानिक चेष्टाके द्वारा यह व्यक्ति किस तरहसे मूलभूत धर्म—सम्यग्दर्शनसे रहित होजा सकता है।

शब्दों का सामान्य विशेष अर्थ—

स्मय—भ्वादिगणकी स्मि धातुसे अच् प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है। इसका अर्थ अनादर करना होता है। प्रकृत में ज्ञानादि आठ विषयों के आश्रयसे अपने सधर्माका तिरस्कार करना अवज्ञा या अवहेलना करना ऐसा अर्थ समझना चाहिये जैसा कि गत कारिकामें बताया-गया है। स्मय शब्द से यहांपर करण अर्थ में तृतीया विभक्ति हुई है।

अन्य—शब्द सर्वनाम है और कारिकागत धर्मस्थ शब्दका विशेषण है। कर्म पदका विशेषण होनेसे यह पुल्लिङ्ग है और उसमें द्वितीयाके बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

अत्येति—यह क्रियापद है। अति उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक इण धातुका वर्तमानकालके अन्य पुरुषके एक वचनमें इसका प्रयोग हुआ है। जिसका अर्थ अतिक्रमण या उल्लंघन करके चलना होता है। मतलब यह कि जहांपर जिसतरहकी मर्यादा रखकर चलना या चेष्टा अथवा व्यवहार करना चाहिये वहां उस तरहकी मर्यादा न रखना। मर्यादा एवं औचित्यका भंग करके शरीर अथवा वचनका प्रयोग करना।

धर्मस्थ—धर्मे–रत्नत्रयात्मके आत्मस्वभावे तिष्ठति इति धर्मस्थः। यह इसकी निरुक्ति है। यह अत्येति क्रियाका कर्मपद है। अत एव इसमें द्वितीयाके बहुवचनका प्रयोग कियागया है।

गर्विताशयः—गर्वेण युक्तः=गर्वितः आशयः अभिप्रायो यस्य सः। जिसका अभिप्राय अहंकारसे युक्त हो। यह कर्तृपद है।

धर्म—इसकी निरुक्ति और अर्थ कारिका नं० २ में बताया जा चुका है।

आत्मीय—आत्मनः अयम् आत्मीयः। आत्मन् शब्दसे छ–ईय प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है। मतलब यह कि जो कोई भी वस्तु अपनी हो–अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाली हो उसको कहते हैं आत्मीय।

धार्मिक—धर्म शब्दसे शील अर्थ में ठक्—इक प्रत्यय हो कर यह बनता है। अर्थात्–धर्म ही शील—स्वभाव है जिसका उसको कहते हैं धार्मिक। 'विना' अव्ययपदका योग रहनेसे इसमें तृतीया विभक्ति कीगई है।

इस कारिकामें हेतु[१] अथवा अनुमान[२] अलंकार है। कारिकाका पूर्वार्ध पक्ष, तीसरा चरण साध्य और चौथा चरण हेतु के अर्थको सूचित करता है।

यद्यपि दोनों अलंकारोंके स्वरूप में परस्पर अन्तर है। किन्तु यहांपर दोनों ही अलंकारोंका सांकर्य होगया है। हेतु अलंकारमें किसी भी कार्यके करनेवालेकी योग्यता के कारण को व्यक्त किया जाता है। अनुमानमें अन्यथानुपपन्न साधनका उल्लेख किसी भी तरह करके साध्य-विषयका बोध कराया जाता है। मर्यादाका अतिक्रमण करके साधर्मीका अपमान करनेवाले मत्सरीकी योग्यताके कारणभूत ज्ञानादिक आठ विषयों के स्मयको यहां प्रकाशित किया गया है इसलिये हेतु अलंकार है। और धर्म धर्मी को छोडकर नहीं रहसकता इसलिये दोनोंमें पाई जानेवाली अन्यथानुपपत्ति अथवा अविनाभावसम्बन्ध को दृष्टि में रखकर प्रयुक्त साधनवाक्यके द्वारा यहां पर साध्य धर्म के अभावका बोध कराया गया है इसलिये अनुमान अलंकार कहा जा सकता है।

तात्पर्य—इतना ही है कि धर्म जिसमें रहे उसको ही धर्मी कह सकते हैं। अमुक व्यक्ति धर्मी है या नहीं यह बात उस धर्म के अनुकूल व्यवहार अथवा प्रवृत्तियोंको देखकर ही जानी जा सकती है। धर्मके विरुद्ध प्रवृत्ति होने पर उसको देखकर मालुम होसकता है कि इसके अन्तरङ्गमें वह धर्म नहीं है; अत एव यह धर्मी भी नहीं है। फिर कदाचित् बाह्य प्रवृत्ति न होने की अवस्थामें अथवा किसी की दृष्टिमें वह न भी आवे तो भी अन्तरंगमें विरुद्ध भावके होनेपर धर्म रह भी किस तरह सकता है। निश्चित है कि धर्म की बाधक या विरोधी कषायके उदयमें आकर काम करने की अवस्थामें धर्म रह ही नहीं सकता। जो व्यक्ति ज्ञानादिकके अभिमान से

१—यत्रोत्पादयतः किंचिदर्थं कर्तुः प्रकाश्यते। तद्योग्यतायुक्तिरसौ हेतुरुक्तो बुधैर्यथा॥ १०५॥ वाग्भट।

२—प्रत्यक्षाल्लिंगतो यत्र कालत्रितयवर्तिनः। लिंगिनो भवति ज्ञानमनुमानं तदुच्यते॥ १३८॥ वागभट।

धर्ममें स्थित व्यक्ति का अपमान करता है वह उसको वस्तुतः कोई हानि न पहुंचाकर अपने धर्मकी हानि अवश्य कर लेता है। यह सब समझते हैं और जानते है कि हाथमें अंगार लेकर दूसरेको जलाने के लिये उसपर फेंकनेकी चेष्टा करनेवाला व्यक्ति सबसे पहले अपना हाथ अवश्य जलालेता है। दूसरेका जलना न जलना निश्चित नहीं। क्यों कि वह तो उसके भाग्यपर निर्भर है। इसी तरह अपमानकी भावना हृदयमें उत्पन्न होते ही अपना धर्म तो नष्ट हो ही जाता है। जब तक धर्मस्थ व्यक्तियों के प्रति धम के अनुकूल यथायोग्य सत्कार पुरस्कार विनय वात्सल्यादिरूप चेष्टा करनेका स्वभाव बना हुआ है तभीतक वह धर्मी है और उसमें वह धर्म भी बना हुआ है, ऐसा माना जा सकता है।

स्मयका प्रकृतमें अभिप्राय क्या है यह ऊपरकी कारिकामें बता चुके है। इस कारिकाके द्वारा स्याद्वाद-न्याय-विद्यावाचस्पति भगवान् समन्तभद्र बतलाना चाहते हैं कि कब कहां किसतरहसे तो यह स्मयभाव सम्यग्दर्शनका मलदोष माना जा सकता है और कब कहां किसतरहसे नहीं। यह बात उनके द्वारा प्रयुक्त कर्तृ पद कर्म पद करणपद और क्रियापदके द्वारा भले प्रकार जानी जासकती है।

धर्म तथा धर्मस्थका अर्थ क्रमसे रत्नत्रय और उसके धारण करनेवाला है यह ऊपर बताया जाचुका है। यह बात भी कही जाचुकी है कि यहांपर धर्मस्थ शब्दसे मुख्यतया प्रयोजन उन तपोभृतोंसे है जो कि रत्नत्रयकी मूर्ति हैं और सम्यग्दर्शनके तीन विषयोंमेंसे अन्तिम श्रद्धाके असाधारण विषय हैं।

आचार्यों या विद्वानोंने बताया है कि तपस्वियों या गुरुजनोंके प्रति अपनी वाचिक कायिक चेष्टाएं किसतरह विनयपूर्ण-अनुत्सेक या निरभिमानताको प्रकट करनेवाली ही नहीं अपितु उनके हृदयमें किसी भी तरहसे कष्मलता पैदा करनेवाली जो न हों एसी ही करनी चाहिये। फिर उनके हृदयमें कष्मलता उत्पन्न हो या न हो। अपना हित चाहनेवालेका कर्तव्य है कि वह उनके प्रति मर्यादाका उल्लंघन करनेवाली कोई भी चेष्टा; पैर फैलाना लेटना, अंगडाई लेना, लापरवाहीसे बैठना उठना, खडे होना, हंसी मजाक करना, तिरस्कारयुक्त वचन बोलना आदि नहीं करनी चाहिये। जिस तरह राजा महाराजाओंके समक्ष स्वाभाविक विनयका भंग नहीं किया जाता उसी तरह गुरुजनोंके प्रति भी अपनी प्राकृतिक विनयशीलताका अतिरेक नहीं करना चाहिये और नहीं होने देना चाहिये[१]। जो इस बातको न समझकर या जानकर भी ध्यान न देकर अथवा लापरवाहीसे

१—उपास्या गुरवो नित्यमप्रमत्तैः शिवार्थिभिः। तत्पक्षतार्क्ष्यपक्षान्तश्चरा विघ्नोरगोत्तराः ॥ ४५ ॥ निर्व्याजया मनोवृत्त्या सानुवृत्त्या गुरोर्मनः। प्रविश्य राजवच्छश्वद्विनयेनानुरंजयेत् ॥ ४६ ॥ पार्श्वे गुरूणां नृपवत्प्रकृत्यभ्यधिकाः क्रियाः। अनिष्टाश्च त्यजेत्सर्वाः मनो जातु न दूषयेत् ॥४७॥ सा० ध० अ० २ तद्दृष्टिपथ्य च-निष्ठीवनमवष्टम्भं जृम्भणं गात्रभंजनम्। असत्यभाषणं नर्म हास्यं पादप्रसारणम् ॥ अभ्याख्यानं करस्फोटं करेण करताडनम्। विकारमंगसंस्कारं वर्जयेद्यतिसन्निधौ ॥

वैसा करता है तो अवश्य ही उसके श्रद्धा भक्तिके योग्य उचित व्यवहारकी यह कमी है जिससे कि सम्यग्दर्शनकी मलिनता एवं अतिक्रमण व्यक्त होता है।

कोई भी ऐसा व्यवहार जो उद्धतता या असभ्यताको प्रकट करता है, सर्व साधारण समाजमें भी अनुचित ही नहीं अपितु गर्ह्य भी माना जाता है। कभी २ तो इस तरहका व्यवहार जिस व्यक्तिके साथ किया गया हो उसकी पद--मर्यादा—योग्यताके अनुसार साधारण या असाधारण अपराध भी माना जाता है। तब त्रिलोक पूज्य मुद्राके धारक वीतराग साधुओंके प्रति किया गया औद्धत्यपूर्ण व्यवहार अपराध क्यों नहीं माना जा सकता? अवश्य माना जा सकता है। उसका दंड और कोई दे या न दे प्रकृति स्वयं देती है[1]। काष्ठाङ्गारके ऊपर रूपगर्विता वेश्याने पानकी पीक डालदी इसका प्रकृतिने उसे क्या दंड दिया यह हमको नहीं मालुम परन्तु श्रेयांसके जीवने पूर्व भव में धनश्रीकी पर्यायमें श्रीसमाधि गुप्त मुनिके ऊपर मृत कुत्तेका कलेवर फेंककर अज्ञानपूर्वक अपमान किया था उसका उसको जो फल भोगना पडा वह परमागममें[2] वर्णित है।

इस परसे यह समझमें आसकता है कि सामान्यतया औद्धत्यपूर्ण व्यवहार किसीको भी कभी भी किसीके भी साथ करना श्रेयस्कर और उचित नहीं है तब सम्यग्दृष्टि जीव सद्धर्माओंके प्रति वैसा करता है तो स्वभावतः उसका सम्यग्दर्शन मलिन हुए विना नहीं रह सकता। धर्मात्माओं रत्नत्रयमूर्तियोंके साथ वैसा करने पर बहुत बडे पापका भी संग्रह होता है। किन्तु इससे भी अधिक सम्यग्दर्शनकी मलिनता और पाप कर्मका बंध उस समय हो सकता है जबकि उक्त आठ विषयों के स्मयके कारण वैसा किया जाय। यदि उसका आशयही गर्वित होजाय अथवा वैसा ही हो तब तो कहना ही क्या! कर्ता द्रव्य आत्मा सम्यग्दर्शनविरोधी असत् विभाव परिणामसे युक्त हो और अनात्मीय ऐहिक क्षणिक पराधीन वस्तुओंकी पक्षपातपूर्ण भावना, अवहेलना करनेमें कारण अंतरंग असाधारण कारणका काम कर रही हो तथा अपमानके लक्ष्य सर्वतंत्र स्वतंत्र, देशकाला-वच्छिन्न आत्मपरिणतिके धारक, परम प्रशांत, वीतराग, सर्वथा निर्विरोध महान् तपस्वी हों, फिर उनका यदि अकारण अपमान—तिरस्कार आदि किया जाय तो उसका परिपाक कितना महान् अहितकर हो सकता है, यह, ऐसे ही योगी के गलेमें मृत सर्पको डालकर अपमानित करने के फलस्वरूप सप्तम नरककी आयुका बन्ध करनेवाले श्रेणिकके दृष्टान्तसे तज्ज्ञ भव्य भलेप्रकार समझ सकते हैं। यहां पर लोकोक्ति ही चरितार्थ होती है कि "एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्।"

ऊपर जैसा कि निरूपण कियागया है उस विषयमें यह बात भी ध्यानमें लेना आवश्यक है कि सम्यग्दर्शन के स्मय नामक दोषके लिये इस कारिकामें जिन चार बातोंका उल्लेख किया है उनमें से किसी भी एक अथवा अनेक यद्वा सबके रहते हुए भी कदाचित यह भी संभव है कि सम्यग्दर्शनमें स्मय नामक मल उपस्थित न भी हो क्योंकि फलका होना उस क्रियाके करने

१—फलिष्यति विपाके ते दुरन्तं कटुकं फलम्। दहत्यधिकमन्यस्मिन्माननीयविमानना ॥आदि ६–१३८॥

२—इसकी कथा आदिपुराण पर्व ६ में है।

वालेके उद्देश्य पर अधिक निर्भर है। यह बात कुछ उदाहरणोंके द्वारा अच्छीतरह स्पष्ट हो सकती है।

आचार्य श्रीसंघके भीतर सभी रहनेवालों पर शासन करते है। ऐसी अवस्था में उनको प्रसङ्गानुसार शिष्यों को दण्ड प्रायश्चित्त भी देना पड़ता है, कदाचित् कटु शब्द भी बोलने पड़ते हैं, संघसे बहिष्कृत भी करना पड़ता है। एक रत्नत्रयमूर्तिके प्रति इस तरहका व्यवहार करने पर भी आचार्य रंचमात्र भी सम्यग्दर्शनके दोष के भागी नहीं हुआ करते। क्यों कि उनका उद्देश्य उसका अपमान करनेका नहीं है उसका और सम्पूर्ण संघके हित का सम्पादन करनेका उनका अभिप्राय है। इसी तरह दीक्षा प्रदानादिके द्वारा किसी का हित सम्पादन करते समय वे उसकी जाति कुल बल बुद्धि आदि को भी देखते हैं; अयोग्य मालुम होनेपर दीक्षा नहीं देते। इस परसे कोई यह समझे या कहे कि उन्होंने उसका अपमान किया और इसी लिये अपने सम्यग्दर्शन को भी स्मय दोषसे मलिन बनालिया तो यह कथन या समझ भी ठीक नहीं है। क्योंकि दीक्षा न देनेका कारण अपमान करने का अभिप्राय नहीं किन्तु जिनशासन की आज्ञाका भंग न करनामात्र है।

राजा दीक्षित होकर अपने साथी साधुओं के प्रति किसी तरहका अपमानरूप व्यवहार न करके भी केवल अपने मन में ही अपने प्रति उत्कर्ष और उनके प्रति अपकर्षकी यह भावना रखता है कि मैं सबका स्वामी और ये सब मेरे नौकर थे और इसीलिये यदि उनके प्रति अवहेलनाका भावमात्र रखता है तो चाहे वह प्रत्यक्ष तिरस्कारादि न भी करता हो तो भी उसका सम्यग्दर्शन स्मय से दूषित ही माना जायगा।

श्रेणिक महामण्डलेश्वर, इन्द्रद्वारा वर्णित उसके सम्यक्त्वके माहात्म्यकी परीक्षा केलिये आये हुए अत एव एक गर्भवती आर्यिकावेशी और दूसरे उसके लिये मछली पकड़नेवाले मुनिवेशी दोनो देवोंको नमस्कार कर घर ले जाकर बोला कि—यदि इस वेशको धारण कर यह काम करोगे तो आपको दण्ड दिया जायगा। क्या इस तरह वेशी मुनि आर्यिका को ठिकाने लानेके लिये डांटनेवाले श्रेणिकके क्षायिक सम्यक्त्व में सस्मयता मानी जायगी? नहीं।

विष्णुकुमारने ऋद्धिसम्पन्न महामुनि होते हुए भी संघ और धर्मकी रक्षाके लिये थोड़ी देरको निम्नस्तरपर उतरकर बलिको न्यक्कृत करके क्या अपना सम्यक्त्व समल बनाया? नहीं। बल्कि वात्सल्यगुणसे विभूषित ही कीया।

उर्विला रानीकी न्यायोचित अधिकारप्राप्त रथयात्रामें अपमान करनेके ही अभिप्रायसे विघ्न उपस्थित करनेवाली बुद्धदासी और उसको अविवेकपूर्ण आज्ञा देने वाले महाराज पूतिक को तिरस्कृत और भयातुर बनाकर उर्विलाके रथका भ्रमण करानेवाले वज्रकुमार का सम्यक्त्व मलिन न होकर प्रभावनाका आदर्श बनगया।

इन उदाहरणोंसे मालुम हो सकता है कि कदाचित् किसी के प्रति कोई क्रिया यदि अपमान-

जनक प्रतीत भी होती हो तो भी यदि कर्त्ताका हेतु वैसा नहीं है—अभिप्राय समीचीन है तो वह क्रिया दोषाधायक नहीं है। इसी तरह जो अभिमानके विषय बताये गये हैं उनका यदि दुरुपयोग न करके सदुपयोग किया जाता है तो उससे भी सम्यक्त्व की विशुद्धिमें बाधा नहीं आती। इसके विरुद्ध यदि अभिप्राय मलिन है और क्रिया अपमान करनेवाली न भी हो तोभी सम्यक्त्व में मलिनता आये विना नहीं रह सकती और न पाप कर्मोका बन्ध ही हुए विना रह सकता है।

ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही क्रिया भिन्न २ व्यक्तियों के लिये भिन्न २ प्रकारका ही फल प्रदान किया करती है। कल्पना कीजिये कि एक विद्वान्की असाधारण रचनाको पढ कर अथवा शास्त्रार्थ में विजय की बात सुनकर यद्वा गंभीर तात्त्विक तलस्पर्शी विवेचनाको सुनकर जब अनेकानेक व्यक्ति उसकी प्रशंसा करते हुए पाये जाते है तब दो व्यक्ति ऐसे भी हैं जो मौन धारण करलेते हैं, न निन्दा ही करते हैं और न प्रशंसा ही। इन दोमें से एक तो है उसका हितैषी गुरु और दूसरा है स्वभावतः ईर्ष्यालु मत्सरी अकारण द्वेषी दुर्जन। मौन धारण करनेमें दोनोंके ही अभिप्राय भिन्न २ हैं। गुरु इसलिये प्रशंसा नहीं करता कि मेरे द्वारा की गई प्रशंसा को पाकर यह कहीं उत्सेकमें आकर अपनी उन्नति करनेसे वंचित न रहजाय। दुर्जन इसलिये प्रशंसा नहीं करता कि उसको दूसरे के गुणोंका उत्कर्ष और यश सह्य नहीं है। ऐसी अवस्था में मौन धारण करनेकी क्रिया दोनों की समान होते हुए भी फल समान नहीं हुआ करता, न होही सकता[१] है। गुरु शुभाशंसी होने से पुण्य फल का भोक्ता होता है और दुर्जन अशुभाशंसी होने के कारण पापबन्ध और अनिष्ट फलका ही भोक्ता हो सकता है।

लोगोंके हृदयमें अनादिकालसे व्याप्त अथवा गृहीत अज्ञानान्धकारको दूर करके सद्धर्मका प्रकाश करनेकी बलवती भावनासे प्रेरित अनेक आचार्य अथवा विद्वान भी कदाचित् प्रसङ्गानुसार स्वयं अपने ही मुखसे अपने ही ज्ञान विज्ञान आदि की इस तरहसे प्रशंसा करते हुए सुने देखे या पाये जाते हैं जिससे कि दूसरे में नगण्यता का भाव अभिव्यक्त हुए विना नहीं रहता। जैसा कि विश्रुत सूक्तियों के अनुसार श्री भट्टाकलंक देवने साहसतुगंकी सभामें जाकर कहा था[२]। किन्तु इस तरह के कथनका यह आशय कभी नहीं हो सकता और न है ही कि उन्होंने इसतरह आत्मप्रशंसा करके या ज्ञानके गर्वको प्रकट करके अपना सम्यग्दर्शन मलिन करलिया

१—हृतेऽपि चित्ते प्रसभं सुभाषितैर्न साधुकारं वचसि प्रयच्छति। कुशिष्यमुत्सेकभयावजानतो गुरोः पदंधावति दुर्जनः क सः॥

२—राजन् साहसतुंग सन्ति बहवः श्वेतातपत्रा नृपाः, किन्तु त्वत्सदृशो रणेविजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वागीश्वरा वाग्मिनो, नानाशास्त्रविचारचातुरधियः काले कलौ मद्विधाः॥ राजन् सर्वारिदर्पप्रविदलनपटुस्त्वं यथात्र प्रसिद्धस्तद्वत्ख्यातोऽहमस्यां भुवि निखिलमदोत्पाटने पण्डितानाम्। नो चेद्देषोऽहमेते तव सदसि सदा सन्ति सन्तो महन्तो, वक्तुम् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदिताशेषशास्त्रो यदि स्यात्॥

था जब कि वास्तविक सत्य यह है कि उन्होने वैसा करके न केवल पुण्यबंध और पापक्षय ही किया था प्रत्युत इससे मोक्षमार्गमें गमन करते हुए उन्होने सम्यग्दर्शन को प्रभावनाङ्ग से पूर्ण और उद्योतित करके अपने को मोक्ष के अधिक निकट पहुंचादिया था १ ।

इसतरह विचार करनेपर मालुम होगा कि सम्यग्दर्शन का जो स्मय नामका दोष बताया गया है वह केवल क्रियाको देखकर ही नहीं माना जा सकता । वह साधन सामग्री प्रसङ्ग परिस्थितिके सिवाय उद्देश्य पर कहीं अधिक निर्भर है । क्योंकि देखा जाता है कि कभी तो क्रिया होते हुए भी दोष नहीं लगता, कभी क्रिया न होने पर भी दोष लगजाता है, कदाचित् दो व्यक्तियोंकी क्रिया समान होनेपर भी एकको दोष लगता है दूसरेको नहीं लगता। कभी ऐसा भी हो सकता है कि उससे एकको तो अत्यन्त अल्प दोष लगे और दूसरे को अत्यन्त अधिक। यह भी हो सकता है कि उसी क्रियासे दोष लगनेके बदले गुणमें उल्टे वृद्धि होजाय । अत एव वस्तुतः दोषका निश्चय एवं निर्णय करने में अनेकान्त रूप वस्तुतत्त्व स्याद्वादसिद्धान्त और उसके प्रयोक्ता गुरुजन ही शरण[२] हो सकते हैं । क्योंकि अपेक्षाको छोडकर कोई भी वाक्य समीचीन अर्थका प्रतिपादक नहीं माना जा सकता । स्यात् पदके द्वारा अभिव्यक्त की जाने वाली अपेक्षा वक्ताके उद्देश्य में छिपी रहती है। "निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्" के कहनेवाले ग्रन्थकर्त्ताका यह वाक्य भी सापेक्षही घटित करना चाहिये ।

यह भी ध्यानमें रखना उचित होगा कि प्रकृत कारिका में कर्तृ पदके स्थानपर आया हुआ गर्विताशय शब्द उद्देश्य या अभिप्राय को नहीं बताता। वह तो मुख्यतया कर्त्ताकी विशेषताको सूचित करता है । क्योंकि कर्त्ता जीवात्माका आशय–चित्परिणाम यदि अनन्तानुबन्धी मानरूप है तो वहांपर सम्यग्दर्शनमें मल उत्पन्न होनेकी बात या विचारका अवकाश ही कहां रहता है। वह तो सम्यक्त्वके सद्भावमें ही उपस्थित हो सकती है। जो मिथ्यादृष्टि है वह तो किसी भी अवस्था में क्यों न हो और कैसी भी क्रिया क्यों न करे भले ही प्रशान्त व्यवहार के साथ घोर तपश्चरण ही क्यों न करता हो उसको समल सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जा सकता । वह तो वस्तुतः मिथ्यादृष्टि है ।

यहां तो ग्रन्थकार जिस आत्मधर्मको दृष्टिमें रखकर विचार कर रहे हैं उसके सद्भावमें ही उसकी मलिनता आदिका विचार युक्तियुक्त अथवा संगत माना जा सकता है । अत एव सम्य-

१—अकलङ्कदेवके समान उनसे पहले और पीछे और भी अनेक महान् आचार्य एव विद्वान हुए हैं। जिन्होने धर्म के प्रचार और प्रभावनाके लिये ऐसा ही किया है जैसे कि भगवान् कुन्द कुन्द विद्यानन्द, नेमिदेव (सोमदेव के गुरु) भट्टारक कुमुदचन्द, हस्तिमल्ल, धनंजय आदि स्वयं ग्रन्थकर्त्ता भ० समन्तभद्र की भी इस विषयमें बहुत बडी प्रख्याति है ! २—परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् । सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥ २ ॥ पुरु० । इति विविधभंगगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनां । गुरवो भवन्ति शरणम् प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः ॥५८॥ पुरुषा०। "स्याद्वाद केवलज्ञाने वस्तुतत्त्वप्रकाशने"

ग्दृष्टि होनेके कारण जो अनन्तानुबन्धी मानके उदय से रहित है उसके ही स्मय नामका दोष माना जा सकता है वह यदि संभव हो सकता है तो शेष तीन प्रकारके मानमें से किसीके भी उदयकी अवस्थामें ही संभव हो सकता है। अत एव उस दोषको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है–उत्तम मध्यम जघन्य। जिसके कि स्वामी क्रमसे असंयत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती और सकल संयमी हो सकते वा माने जा सकते हैं। जिनका अपमान किया जाता है वे भी धर्मस्थ होनेके कारण इन्हीं तीन भेदोंसे युक्त हो सकते हैं। तथा स्मयके विषय आठ हैं। इसलिये विषयकी अपेक्षा सामान्यतया स्मय आठ प्रकारका होसकता है। फलतः तीनोंका ही परस्परमें गुणा करनेपर स्मय नामके दोषके मूलमें ७२ भेद संभव है।

इन भेदोंको ध्यानमें लेनेसे दोष की उच्चावचता तथा उसके फलकी तरतमता या विशेषता जानी जा सकती है और यथास्थान अपने २ सम्यग्दर्शन की विशुद्धिको स्थिर रखनेकी आवश्यकता भी समझमें आसकती है।

इसतरह स्मय नामका सम्यग्दर्शन का मल किस२ के तथा कितने प्रकारसे संभव है यह बात इस कारिकाके द्वारा वताकर अब आक्षेपालंकारके द्वारा स्मय के विषय और धर्ममें अन्तर दिखाकर यह स्पष्ट करदेना चाहते हैं कि इस तरहसे धर्मकी कीगई अवहेलना हेय अथवा दोषका निदान क्यों है ?—

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥२७॥

अर्थ—यदि पापका निरोध हो चुका है तो अन्यसम्पत्तिसे क्या प्रयोजन है। और यदि पापका आस्रव हो रहा है तो अन्य सम्पत्तिसे क्या प्रयोजन है ?

प्रयोजन—ऊपर जो कथन किया गया है वह आगमसे सिद्ध विषय है। फिर भी यदि उसकी सिद्धिके लिये उसी आगमके आधार पर उपपत्ति भी उपस्थित करदी जाय तो उपर्युक्त वह कथन और भी अधिक सुदृढ हो जा सकता है। यही कारण है कि इस कारिकाके द्वारा पूर्वोक्त कथन अत्यन्त दृढ होजाता है। अन्यथा इसतरह का प्रश्न खडा रहसकता है कि "ऐसा क्यों ?" अर्थात् यद्यपि यह कथन सत्य है कि ज्ञान पूजा कुल जाति आदि विषयक मदके द्वारा धर्मात्माकी अवहेलना किये जानेपर अपना ही धर्म नष्ट या मलिन होजाता है परन्तु इसकी कोई ऐसी उपपत्ति नहीं है कि जिसके द्वारा इस कथन को अत्यन्त दृढता के साथ स्वीकार किया जासके। इस संभावनाको दृष्टि में रखकर पूर्वोक्त कथनका दृढीकरण ही इस कारिकाका प्रयोजन है।

शब्दोंका सामान्य विशेषार्थ—

यदि—यह पक्षान्तरको उपस्थित करनेवाला अव्ययपद है। किसी भी विषय के स्पष्टीकरण के समय अनुकूल प्रतिकूल दो पक्ष उपस्थित करके दोनों के ही गुण दोष आदि का जब उल्लेख करना हो तो इस शब्दका प्रयोग हुआ करता है। जैसे कि कृष्ण महाराज यदि हमारे (पाण्डवों

के पक्षमें हैं तो हमको उनकी समस्त सैनासाधन सामग्री की आवश्यकता नहीं है। और यदि वे हमारे पक्षमें नहीं हैं तो उनकी उससम्पूर्ण सेना आदिके मिलजानेपर भी कोई लाभ नहीं है। इसतरह विभिन्न पक्षोंकी उपस्थितिके समय इस अन्ययपदका प्रयोग हुआ करता है।

पापनिरोधः—जो आत्माको सुरक्षित रखता है, उसे अपने कल्याणकी तरफ नहीं जाने देता उसको कहते हैं पाप। अर्थात् समस्त सावद्य क्रियाएं और उनके द्वारा संचित होनेवाले असद्वेद्य अशुभायु अशुभनाम अशुभगोत्र और सम्पूर्ण घाति कर्म चतुष्टयरूप पुद्गल द्रव्य तथा मिथ्यात्व आदि के उदयसे युक्त जीव, ये सब पाप हैं। निरोधका अर्थ रोकना है। मतलब यह कि जिससे पाप रुके अथवा उसका रुकना, यद्वा जिसके वह रुकगया है वे सभी पापनिरोध शब्दसे लिये जा सकते हैं। जैनागममें इसके लिये संवर शब्दका प्रयोग हुआ करता है।

अन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्? यह काकु वाक्य है। जिससे आशय यह निकलता है कि अन्य सम्पत्तिसे कोई प्रयोजन नहीं।

अथ—यद्यपि इस शब्दके अनेक अर्थ होते हैं–यथा मंगल प्रश्न आरम्भ विकल्प इत्यादि। किंतु यहांपर इस शब्दका प्रयोग 'यदि' के स्थानपर अर्थात् पक्षान्तर अर्थको सूचित करनेके लिये ही हुआ है।

पापाश्रवः–पापका अर्थ ऊपर बताया जा चुका है। आश्रवका अर्थ है आना आङ् पूर्वक भ्वादिगणकी गत्यर्थक स्रु धातुसे यह शब्द निष्पन्न[1] हुआ है। मतलब यह है कि पाप कर्मोंका आना या जिनके द्वारा पाप कर्म आते हैं वे सभी भाव पापास्रव शब्दसे कहे जाते हैं।

ऊपर "पापनिरोध" शब्दका प्रयोग जिस अर्थमें किया गया है; यह शब्द उससे ठीक विपरीत अर्थका बोध करानेके लिये प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि ग्रन्थकर्ताकी दृष्टिमें एक महान् सिद्धात है जिसको कि वे प्रकृत विषयमें उपपत्तिको बताते हुए व्यक्त कर देना चाहते हैं।

तात्त्विक दृष्टिसे अथवा जैनागमके अनुसार समस्त वस्तु स्थिति सप्रतिपक्ष व्यवस्थापर निर्भर है। तदनुसार दो तत्त्व है एक जीव दूसरा अजीव,[2] ये दोनोंमें अत्यन्त विरोध रहते हुए भी बहुत बडा सम्बन्ध भी है। वे एक दूसरेके परिणमनमें निमित्त हुआ करते हैं। अतएव दोनो ही की शुद्ध और अशुद्ध अवस्थाएं भी पाई जाती हैं। जीव द्रव्य जितने हैं वे सभी अनादि कालसे अजीव पुद्गलके विशिष्ट संयोगके कारण अशुद्ध हैं। जब उनमेंसे जो जीव अपने ही प्रयत्नसे उस अशुद्धिसे और उसके कारणोंसे सर्वथा मुक्त होजाते हैं तब वे ही शुद्ध सिद्ध परमात्मा कहे जाते हैं। अजीव तत्त्व पांच हैं। जिनमें धर्म अधर्म और आकाश तो जीव पुद्गलकी क्रमसे गति

१—प्रायः सर्वत्र आस्रव शब्दही देखनेमें आता है। किंतु प्रभाचन्द्रीय टीकामें आश्रव शब्द भी कहीं कहीं आया है। स्व० पं० गौरीलालजीने अपनी निरुक्तिमें भी आश्रव ही लिखा है।

२—अजीव द्रव्य पांच हैं; पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल किंतु प्रकृतमें पुद्गल विशेषसे ही अभिप्राय है।

स्थिति और स्थानदानमें अवलम्बन हैं, काल द्रव्य क्रमवर्तिताका कारण है। ये चारों ही अमूर्त है और अपने २ कार्यमें बाह्य उदासीन निमित्त मात्र हैं। पुद्गल द्रव्य मूर्त है वह स्वयं भी परस्परके संयोगसे अशुद्ध होता है और अनादि कालसे संसारी जीवको भी अपने संयोग द्वारा अशुद्ध बनाता आरहा है और बनाता रहता है अतएव इन दोनोंके निमित्तसे पांच तत्त्व और बनते हैं। आस्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्ष। जब तक जीवको पुद्गलसे भिन्न अपने वास्तविक स्वरूप शक्ति और वैभवका परिचय या भान आदि नहीं होता वहांतक पुद्गल कार्यकी प्रधानता रहा करती है और वह जीवको आस्रव एवं बंधके प्रपंचमें ही फसाकर रखता है। किंतु जब जीवको अपनी उन चीजोंके साथ २ अधिक वीर्यताका भी अनुभव होजाता है तभीसे उसका अपने कर्तव्य या साध्यके विषयमें दृष्टिकोण पलट जाता है और अपने उस साध्यको सिद्ध करनेके लिये मार्ग भी पराधीनतासे छूटकर स्वाधीनताकी तरफ परिणत होजाता है यहींसे संवर निर्जरा और मोक्ष तत्त्व बनते है। फलतः जहांतक पुद्गलकी प्रधानता है वहांतक उसीके संयोगकी मुख्यता है और जब उसकी तरफसे दृष्टिके हटजानेपर जीवकी अपनी तरफ दृष्टि मुख्य होजाती है तभीसे संवर निर्जरा और मोक्षके रूपमें पुद्गलके वियोगकी प्रधानता होजाती है फलतः आस्रव और बंध संसारके स्वरूप हैं तथा संवर निर्जरा और मोक्षतत्त्व सिद्धावस्थाके हेतु प्रतीक एवं पूर्वरूप हैं। अतएव दोनोंका स्वरूप स्वामित्व साधन और फल भी परस्परमें विरुद्ध तथा भिन्न २ ही[1] है।

सम्यग्दर्शनादि जिनका कि धर्म रूपसे ग्रन्थकारने यहां वर्णन किया है उनका जीवात्मासे सम्बन्ध है वे तो जीवोंके गुण धर्म या स्वभाव हैं। और संवर आदिके हेतुभद्भाव हैं और जो स्मयके विषयके रूपमें आठ वस्तुएं बताई गई हैं जहांतक स्मयके विषय हैं वहां तक उनका पुद्गलसे संबन्ध है। वे बंध और आस्रव तत्त्वके हेतुमद्भाव हैं। अतएव दोनोंसे विरोध है। यह विरोध लक्ष्मी और सरस्वतीके सापत्न्यभावके समान हैं। साथ ही जड लक्ष्मी सरस्वतीकी महत्ता को प्राप्त नहीं कर सकती। यह जातीय—स्वाभाविक—गुणकृत अन्तर रहते हुए भी लक्ष्मी यदि सरस्वतीका अपमान करे तो वह सिंहिनी पुत्रोंके समक्ष शृगालपुत्रकी गर्वोक्तिके सदृश[2] ही कही जा सकती है।

अस्ति क्रियापदका अर्थ प्रसिद्ध है। और "अन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्" का सामान्यार्थ ऊपरके ही समान है।

१—तत्त्वार्थ सूत्रके अध्याय ६–७मे आस्रव, ८में बंध, ९में संवर–निर्जरा और १०मे मोक्षका वर्णन किया गया है।

२—इसकी कथा हितोपदेशमें आई है। जिसमे सिंहिनीने अपने रक्षित शृगाल पुत्रसे एकान्तमें कहा है कि—सूरोऽसि कृतविद्योसि, दर्शनीयोऽसि पुत्रक। यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते॥

यहांपर ग्रन्थकारने लाटानुप्रास नामक शब्दालंकार और आक्षेप नामक अर्थालंकारको काममें लिया है। अतएव दो पद समान हैं–दूसरे तथा चौथे चरणकी पद या शब्द रचना एक सरीखी है किन्तु अर्थ प्रतिषेधका है। और वह भी काकूक्तिके द्वारा अधिक स्पष्ट कर दिया गया है।

तात्पर्य—यह कि जहां पर समान अक्षरों या पदों की पुनरावृत्ति पाई जाय वहां अनुप्रास नामका शब्दालङ्कार माना जाता[१] है। इसके दो भेद हैं–एक छेकानुप्रास, दूसरा लाटानुप्रास। जहां अक्षरोंकी सदृशता हो उसको छेकानुप्रास[२] और जहां सदृश पद की पुनरावृत्ति हो वहां[३] लाटानुप्रास होता है। यहां पर "अन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्" इस पदकी दूसरे और चौथे चरणमें आवृत्ति पाई जाती है इसलिये लाटानुप्रास है।

"आक्षेप" यह अर्थालंकारका एक भेद है। जहां पर उक्ति या प्रतीति प्रतिषेधको बताती हो वहां यह अलंकार माना जाता है। यहां पर पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनों ही वाक्योंके द्वारा प्रतिषेध अर्थ व्यक्त होता है अत एव आक्षेप अलंकार है।

यद्यपि आद्यकविका यह वाक्य ऊपर लिखे अनुसार शब्दालंकार और अर्थालङ्कार दोनों से ही अलंकृत है परन्तु इसके द्वारा जिस गंभीर अर्थका यहां प्रतिपादन किया गया है वह अत्यन्त महान् है। कहना यह है कि सम्पत्ति दो प्रकारकी है–एक आध्यात्मिक दूसरी भौतिक। दोनों में से जो भी अपने गुणों और परिणामों के द्वारा अपनी महत्ताको प्रकाशित कर देता है उसके सामने दूसरी की तुच्छता हेयता या अनुपादेयता स्वयं ही सिद्ध होजाती है।

भौतिक और आध्यात्मिक सम्पत्तियोंमें चार बातोंका स्पष्ट अन्तर है। १–पराधीनता और स्वाधीनता २–सावधिकता और निरवधिकता, ३–अशुद्धता और शुद्धता, ४–पापबीजता और श्रेयोबीजता।

भौतिक सम्पत्ति इनमें से पहले २ विशेषणोंसे और आध्यात्मिक सम्पत्ति अन्तिमचारों विशेषणोंसे युक्त है। धर्म यह आध्यात्मिक सम्पत्ति है अतएव वह अपने उदयके साथ ही इन चारों ही विशेषताओं और इनके सिवाय अन्य भी अनेक ऐसी विशेषताओंको जन्म देती है जिनके कि सामने बडी से बडी भी भौतिक सम्पत्ति अप्रयोजनीभूत सिद्ध हो जाती है। इसी अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिये आचार्यने दोनों ही के लिये एक २ विशेषण दे दिया है। आध्यात्मिक संपत्ति की विशेषता बतानेकेलिये "पापनिरोध" और भौतिक सम्पत्ति की तुच्छता बतानेकेलिये "पापास्रव" शब्दका प्रयोग कर दिया है।

---

१ तुल्यश्रुत्यक्षरावृत्तिरनुप्रासः स्फुरद्गुणः। अतत्पदः स्याच्छेकानां लाटानां तत्पदश्च सः॥ वाग्भट, ४-१७। अनुप्रासः स बोद्धव्यो द्विधा लाटादिभेदतः। लाटानां तत्पदः प्रोक्तश्छेकानां सोप्यतद्पदः॥ अलं-३-४॥

२-३-छेकानुप्रासो यथा-फलावनम्राम्रविलम्बिजम्बू जम्बीर नारंगलवंगपूगम्। सर्वत्र यत्र प्रतिपद्य पान्थाः पाथेयभारं पथि नोद्वहन्ति॥ लाटानुप्रासो यथा—त्वं प्रिया चेच्चकोराक्षि स्वर्गलोकसुखेन किम्। त्वं प्रिया यदि न स्यान्मे स्वर्गलोकसुखेन किम्॥

रत्नत्रयरूप सम्यग्दर्शनादिक तीनों ही जीवात्माके धर्म होने के कारण स्वाधीन हैं कालानवच्छिन्न हैं, पवित्र निर्मल और स्वयं कल्याणरूप हैं तथा दूसरे असाधारण कल्याणों केलिये बीजरूप हैं। जबकि स्मयके विषयरूपसे परिगणित आठों ही विषय चारों ही प्रकारों में पुद्गलनिमित्तक या पौद्गलिक होने के कारण विरूद्धस्वभाव हैं। यथाक्रम कर्मो की प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेशों के आश्रित हैं। पहले तीन विषयों में जो महान् अन्तर है वह तो स्पष्ट ही है। अन्तिम विषयके अन्तरको यहां थोडा स्पष्ट कर देना उचित और आवश्यक मालुम होता है

मदकी विषयभूत आठों ही सामग्री सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टि—आत्मधर्म से युक्त और रहित अर्थात् जिसके पापका निरोध होरहा है और जिसके पापका आस्रव हो रहा है दोनों ही प्रकारके जीवोंको सामान्यतया अपने२ पापकर्मोंके क्षयोपशम या पुण्यकर्मोंके उदयके अनुसार प्राप्त हुआ करती हैं। फिर भी दोनों के उस वैभवमें जो महत्त्वपूर्ण असाधारण अन्तर है वह ध्यान देने योग्य है।

ज्ञान—इसके पांच भेदोंमें से देशावधिसे ऊपरके परमावधि सर्वावधि मनःपर्यय और केवलज्ञान तो मिथ्यादृष्टि को प्राप्त होते ही नहीं, श्रुतज्ञानमें भी अभिन्न दशपूर्वित्वसे ऊपरके चतुर्दश पूर्वित्व और श्रुतकेवल प्राप्त नहीं होते। मतिज्ञान के भेदोंमें भी बहुत से बुद्धि ऋद्धिके भेद ऐसे हैं जो सम्यग्दृष्टि को ही प्राप्त होते हैं। इसके सिवाय शुद्ध निज आत्मस्वभावकी अनुभूति भी सम्यग्दर्शनसे ही अविनाभाव रखती है। तथा किसी भी ज्ञानकी विषयाव्यभिचारिता जो और जैसी सम्यग्दृष्टिके होती है वैसी अन्यकी नहीं।

पूजा—सम्यक्त्वसहित जीव मरणकरके जिस किसी भी गतिमें जाता है उसीमें उत्कृष्ट अवस्था को ही प्राप्त किया करता[१] है। यह नियम मिथ्यादृष्टिके लिये नहीं है।

कुल आदि के विषयमें भी यही बात है। जैसा कि आगे चलकर स्वयं ग्रन्थकार कहेंगे कि सम्यग्दृष्टि जीव दुष्कुल में जन्म धारण नहीं किया करता उसी प्रकार वह लोकगर्ह्य मातृपक्षमें भी उत्पन्न नहीं हुआ करता। चक्रवर्तीकी केवल दो भुजाओंमें[२] षट्खण्डमें रहनेवाले सम्पूर्ण मनुष्योंके संयुक्त बलसे अधिक बल रहा करता है। शक्रमें समस्त जम्बूद्वीपको भी पलट देनेकी शक्ति रहा करती है। तीर्थंकरोंका गृहस्थ एवं छद्मस्थ अवस्थामें भी जो बल रहा करता है उसका प्रमाण तो किसीकी तुलना करके या उपमा देकर नहीं बताया जा सकता; अतएव उसको अतुल्य ही कहा है। वह भी मिथ्यादृष्टिको फिर चाहे वह कितना भी घोर तपश्चरण करके पुण्यार्जन क्यों न करे प्राप्त नहीं हुआ करता। बल ऋद्धिकी तो बात ही क्या है ? ६४ ऋद्धियोंके लिये भी यही बात है तथा सम्यक्त्व के विना जब वास्तवमें—अनुपचरित धर्मध्यान भी नहीं हो सकता तब शुक्ल ध्यान रूप तपश्चरण तो होही किसतरह सकता है। कामदेवोंका शरीर भी सम्यक्त्व सहचारी पुण्यके द्वारा ही प्राप्त हुआ करता है। देवोंके शरीरमें भी यह एक विशेषता पाई जाती है कि अन्तिम समय में अन्यदेवोंके समान वह म्लान नहीं हुआ करता।

इसके विरुद्ध मिथ्यादृष्टिको यदि कदाचित् निरतिशय पुण्यके बलपर यही विभूतियां प्राप्त होती भी हैं तो वे कितनी हीन होती हैं यह बात ऊपरके कथनसे ही मालुम हो जा सकती है। क्योंकि ऊपर चार प्रकारका जो कर्म निमित्तक अन्तर बताया है उसमे उसकी हेयता स्वयं ही प्रकट होजाती है फिर ये सब वैभव भी तत्त्वतः लौकिक ही तो हैं अतएव चाहे सम्यग्दृष्टिको प्राप्तहों चाहे मिथ्यादृष्टिको, कर्माधीन होनेके कारण कर्म प्रकृतिके अनुरूप ही प्राप्त हो सकते हैं। न कि आत्मस्वभावके अनुसार। तथा कर्मोंकी स्थिति तक ही इनका अस्तित्व सीमित है आगे नहीं। उसी प्रकार इनकी दृढता या दुर्बलता कर्मोंके अनुभाग पर निर्भर है न कि जीवके स्वतःके बल पर। फिर सबसे बडी बात यह है कि इन कर्मोंके प्रदेशोंके अस्तित्वकी संतान तबतक समाप्त नहीं होती जब तक कि सबकर्मोंके मूलभूत पाप कर्म मिथ्यात्वका निरोध नहीं हो जाता। एकबार भी यदि मिथ्यात्वका निरोध होजाय तो फिर उस जीवका संसार सावधिक होजानेसे एक अन्तर्मुहूर्तसे लेकर अर्ध पुद्गल परिवर्तन कालके भीतर समाप्त होकर ही रहता है।

सम्यग्दर्शन प्रकट होनेके पूर्व भव्य अभव्य दोनोंके ही पाई जानेवाली चार लब्धियोंमेंसे पहली क्षयोपशम और दूसरी विशुद्ध लब्धिके परिणामस्वरूप जो पाप कर्मोंका ह्रास और पुण्य कर्मोंमें उत्कर्ष हुआ करता है वह वैभव भी जब इतना असामान्य है कि साधारण निरतिशय मिथ्यादृष्टियों को प्राप्त नहीं होसकता तब सम्यक्त्वके होजानेपर—पापशिरोमणि मिथ्यात्वका सर्वथा निरोध होते ही जो ४१ पाप कर्मोंके विच्छेद—संवरके साथ २ प्रथम निर्जरा स्थानका लाभ होता है उस सम्पत्ति की तो सांसारिक किस विभूतिसे तुलना की जासकती है? किसीसे भी नहीं अतएव जो व्यक्ति अपने कथित सांसारिक बाह्य वैभवके अभिमानवश इस महान सम्पत्तिकी तरफ दुर्लक्ष्यकर धर्मात्माओंके रूपमें धर्मकी अवहेलना करता है वह अपनी ही हानि करता है—अपनेको ही नीचे गिरा लेता है।

मिथ्यात्वका निरोध होजानेपर संसारका ऐसा कोई भी पद या वैभव नहीं है जो उसको प्राप्त न होसकता हो। और जबतक उसका उदय होरहा है तबतक कोई ऐसा दुःखरूप स्थान नहीं है जो उसको प्राप्त न होसकता हो। यह दुःखमयी संसार जो कि पंच परिवर्तनरूप है उसका स्वामी पापास्रवसे युक्त मिथ्यादृष्टि ही है। इसका निरोध होजाने पर सम्यग्दृष्टि जीवको पांचों परिवर्तनों में से सबसे पहले एवं सबसे छोटे एक पुद्गल परिवर्तनका भी अर्ध भागसे अधिक नहीं भोगना पडता। जबकि मिथ्यात्वका निरोध न होने पर—पापास्रवसे युक्त जीव व्यवहार राशिमें भी दो हजार सागरसे अधिक रह नहीं सकता, इसके बाद उसको नियमसे निगोद राशिमें जाना ही पडता है।

भव्याभव्यके सामान्यरूपसे पाई जानेवाली प्रायोग्यलब्धिके प्रकरणमें जो ३४ बन्धापसरण बताये गये हैं उनमें मनुष्यके पाई जानेवाली बंधयोग्य ११७ कर्म प्रकृतियों में मे केवल ७१ हीका बंध होता है, शेष ४६ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति—बंधापसरण हो जाता

हैं। किन्तु मिथ्यात्वकी व्युच्छित्ति नहीं होती। यही कारण है कि इतना होजाने पर भी वह संसार—पंच परिवर्तनके अधिकारसे मुक्त नहीं हुआ करता[१]।

इस सब कथनसे यह बात ध्यानमें आ सकती है कि यदि पाप-मिथ्यात्वका निरोध होजाता है तब तो संसारका बडेसे बडा महान्से महान् और उत्तमसे उत्तम ऐसा कोई वैभव नहीं है जो प्राप्त न हो सकता हो। उसको तो वे सब स्वयं ही-बिना किसी इच्छा या प्रयत्न के ही प्राप्त हो जाया करते हैं। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव निःकाङ्क्ष होनेके कारण सांसारिक वैभवकी इच्छासे पुण्योपार्जन करनेके लिये तपश्चरणादिमें प्रयत्न नहीं किया करता वह तो आत्मसिद्धिके[२] कारण संवर मार्गाच्यवन और निर्जराको सिद्ध करनेकेलिये तपमें प्रवृत्त हुआ करता है। हां, उसको परिणामोंकी विशुद्धिविशेषताके कारण स्वयं ही पुण्य विशेषका अर्जन होता है और उसके असाधारण फलका लाभ भी हुआ करता है। जबकि पापास्रव वाले मिथ्यादृष्टि जीवको वह विशुद्धि न रहनेके कारण वह पुण्य और उसका वह फल भी प्राप्त नहीं हुआ करता[३] अतएव स्पष्ट है कि पापनिरोधी जीव जहां अपनी अन्तरंग विभूति मे स्वयं महान् हैं और स्वयं प्राप्त होनेवाली बाह्य विभूतियों की निःकांक्ष होनेके कारण उसे आवश्यकता नहीं है वहां पापास्रवी जीव अन्तरंगमें दरिद्र है और कदाचित् पापोदयकी मन्दता या पुण्योदयके कारण उसको उक्त बाह्य वैभव जिसके लिये यह लालायित है प्राप्त हो भी गया है तो भी वह नगण्य है—उक्त चार कारणोंसे उसके उस वैभवका कोई मूल्य नहीं है। सम्यग्दृष्टिको चाहिये वह इस सिद्धान्तको दृष्टिमें ले और आठ विषयोंके आश्रयसे होनेवाले स्मयके द्वारा अपने सम्यग्दर्शनको मलिन न होने दे।

इसतरह स्मयका लक्षण, और वह कब कहां किस प्रकार सम्यग्दर्शन का दोषाधायक निमित्त बनजाता है इसके समझने एवं निर्णय करनेकी पद्धति, तथा उसके विषयमें सैद्धान्तिक महत्त्वपूर्ण रहस्यको बताकर आचार्य महाराज कुछ ऐतिहासिक घटनाओंको दृष्टिमें रखकर दृष्टान्तगर्भित सालंकार भाषामें सम्यग्दर्शनकी महत्ता एवं संरक्षणीयताका समर्थन करते हुए उपर्युक्त कारिकामें कथित विषयका ही स्पष्टीकरण करते हैं।—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम् ॥२८॥

अर्थ—मातंग—चाण्डालके शरीरसे उत्पन्न व्यक्तिको भी यदि वह सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न है तो देव—अरिहंत देव या गणधर देव जिसका अभ्यन्तर ओज भस्मसे छिपा हुआ है ऐसे अंगारके समान देव मानते हैं।

१—इस विषयमें अधिक जाननेके लिये देखो लब्धिसारके प्रारम्भकी गाथा नं० ११ से १६ तक और उसकी टीका। २—"मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।" त० सू० ९-८। ३—पुण्णंपि जो समीहदि संसारोतेण ईहिदो होदि। दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि।

प्रयोजन—क्रमके अनुसार श्रद्धान क्रियाके तीसरे विशेषण अस्मयका व्याख्यान करना आवश्यक है। अस्मयका स्पष्ट सीधा अर्थ स्मयका निषेध है। अतएव स्मयके सम्बन्धमें प्रत्येक दृष्टिसे उसके याथात्म्यपर प्रकाश डालना आचार्यको अभिप्रेत है। इस विषयमें चारों ही अनुयोगोंके हृदयको सामने रखकर भगवान् समन्तभद्र पाठकोंके समक्ष स्मय की व्याख्या कर रहे हैं। मालुम होता है कि यह ग्रन्थ चरणानुयोगका है अत एव स्मयका जो सबसे पहले लक्षण किया गया है वह उसी दृष्टिसे है। क्योंकि चारित्र व्यवहार प्रधान है। और स्मय—मानकषाय—आहंकारिक भाव जिन आठ विषयो के निमित्त या आश्रयसे प्रवृत्त होता है उन सबके विषय सम्बन्ध को लेकर ही स्मयका लक्षण किया गया है। इसके बाद वह कब कहां किस तरहसे दोष माना जा सकता है या नहीं माना जा सकता, इस बातको स्पष्ट करनेकेलिये दूसरी कारिकामें द्रव्यानुयोग अथवा स्याद्वादगर्भित अनेकान्त सिद्धान्तके आधारपर कर्तृ पद आदि चार पदोंका उल्लेख करके बताया है कि कौन किनका किस तरहसे किस तरहका व्यवहार करे तो वह सम्यग्दर्शन का स्मय दोष माना जा सकता है। इसके अनन्तर सिद्धान्त—करणानुयोग—आगमके आधार पर स्मयसे दूषित और निर्दोष सम्यग्दर्शनका फल बता कर पुण्योदयसे प्राप्त सम्पत्तिकी हेयता तथा आध्यात्मिक गुण सम्पत्तिकी महत्ताको स्पष्ट करदिया है। अब क्रमानुसार स्मयके करने न करनेका फल प्रथमानुयोग के आधार पर दृष्टान्त उपस्थित करके बता देना भी आवश्यक है। जिस तरह कोई भी तार्किक विद्वान् प्रतिज्ञावाक्य के द्वारा पक्ष और साध्यका उल्लेख करके हेतु का प्रयोग करता है और अन्वयव्याप्ति अथवा व्यतिरेक व्याप्तिके अनुसार अन्वय दृष्टान्त अथवा व्यतिरेक दृष्टान्त उपस्थित करके साध्यसिद्धिका समर्थन करता है उसी प्रकार प्रकृतमें समझना चाहिये।

ऊपर तीनों ही सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विषयोंके आधारपर जो कुछ कहागया है उसी के विषयमें सत्यभूत ऐतिहासिक घटनाका स्मरण दिलाकर इस कारिकाके द्वारा यह बता देना भी आवश्यक समझा है कि धर्मात्माकी ऐहिक सम्पत्तिके आश्रय से अवगणना करनेका प्रत्यक्ष फल क्या होता है एवं तत्त्वतः उस धर्मात्माकी महत्ता कितनी उच्चकोटिकी एवं आदरणीय है। क्योंकि किसी भी घटनाको देखकर तात्त्विक एवं सैद्धान्तिक सत्यताकी प्रतीति सरलता और सुन्दरताके साथ हो सकती है। अतएव इस कारिकाका निर्माण प्रयोजनीभूत है।

यद्यपि प्रथमानुयोगके विषय-दृष्टान्तका सम्बन्ध इस कारिकामें ही नहीं आगेकी कारिकामें भी पाया जाता है। फिर भी दोनों में बहुत बडा अन्तर है। यहां तो अन्तरंग सम्पत्ति की महिमाको प्रधानतया बताया गया है। और आगेकी कारिकामें इष्टानिष्ट या अनुकूल प्रतिकूल धर्माधर्म प्रवृत्तिके फलमें जो अन्तर है वह दृष्टान्त द्वारा दिखाया गया है।

यह बात भी यहां ध्यानमें रहनी चाहिये कि आचार्योंकी इस दृष्टान्तगर्भित उक्तिका प्रयोजन स्मयके विषयभूत पूज्यता सज्जातित्व कुलीनता आदिका वैयर्थ्य दिखाना अथवा उनकी

श्रेयःसाधनताका, जिसका कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, निराकरण करना नहीं है। प्रकृत कारिकाका प्रयोजन प्रधानभूत अन्तरंग सम्यग्दर्शन गुण की महत्ताका ख्यापन करनामात्र है। साथ ही यह भी बताना है कि आत्मसिद्धिके लिये अरिहंत देवने मुमुक्षुओंकी इस आध्यात्मिक निज अंतरंग सम्पत्तिको प्रधान माना है। जो कि सर्वथा उचित संगत और सैद्धान्तिक है। तथा युक्तियुक्त अनुभव सिद्ध और आगमप्रसिद्ध है।

शब्दोंका सामान्य विशेषार्थ—

सम्यग्दर्शनसम्पन्न—सम्यग्दर्शन शब्दका अर्थ और लक्षण यथावसर लिखा जा चुका है। सम्पन्न शब्द सम्पूर्वक पद धातुसे क्त प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। मतलब यह है कि जो अच्छी तरह पूर्ण हो चुका है। यहां यह पद मातंगदेहजम्का विशेषण है। यद्यपि सम्यग्दर्शनके सम्पन्न–परिपूर्ण होनेमें पांच अवस्थाएं क्रमसे हुआ करती हैं। उद्योत, उद्यव, निर्वाह, सिद्धि और निस्तरण[१]। फिर भी यहांपर केवल सामान्यतया मल दोषरहित दृढ श्रद्धानसे ही प्रयोजन है। मतलब इतना ही है कि जो सम्यग्दर्शन रूप सम्पत्तिको सिद्ध कर चुका है और उसका भंग न होनेदेनेके लिये दृढ है।

अपि—यह अव्ययपद है। इसका सम्बन्ध भी मातंगदेहजम् के साथ हीं है।

मातंगदेहजम्—मातंगके[२] शरीरसे जो उत्पन्न हुआ हो। यहां पर ध्यान देना चाहिये कि जो मातंगके शरीरसे उत्पन्न हुआ हो वह भी मातंग ही है। वह भी इसी शब्दसे कहा जाता है। अतएव "देहजम्" इतना साथमें और न कहकर यदि केवल "मातंग" इतना ही कह दिया जाता तब भी काम चल सकता था। ऐसा होते हुए भी आचार्यने जो यह शब्द रक्खा है वह विना जाने अथवा अनावश्यक नही रक्खा है। किन्तु उनको चतुर्थ चरणमें दियेगये व्यक्तिके या रूपकके अभिप्रायकी स्पष्टतया प्रतीति करानेकेलिये ऐसा लिखना उचित और आवश्यक था। जिससे शरीराश्रित व्यवहार और आत्माश्रित धर्म सम्पत्तिकी प्रतीति भिन्न२ रूपमें हो सके। यह मालुम हो सके कि यद्यपि व्यवहार शरीराश्रित है अतएव वह मातंग शरीरसे उत्पन्न होने के कारण लोकमें जात्याहीन माना जाता है किन्तु उसका आत्मा सम्यग्दर्शन के अन्तस्तेजसे प्रकाशमान होनेके कारण देव है–देवोपम है।

देवा देवम्—देव शब्दके अनेक अर्थ होते है। देवगति और देवआयुका जिनके उदय पाया जाय ऐसे सुर असुर, पूज्य पुरुष जैसे अरिहंत देव या गणधर देव; प्रकाश स्वरूप आत्मा, इन्द्रिय, परमात्मा आदि। यहांपर पहले देव शब्दका जो कि कर्तृ पद है अर्थ अरिहंत परमात्मा या गणधर देव है। और दूसरे कर्मस्थानपर प्रयुक्त देव शब्दका अर्थ प्रकाशमान आत्मा या

१—अन० ध० १-६२।

२—मातंग शब्दका अर्थ जो चाण्डाल किया जाता है वह हमारी समझसे ठीक नहीं है। मातंग और चाण्डाल भिन्न जाती हैं।

अन्तरात्मा है। सदृश शब्दकी पुनरुक्ति के कारण लाटानुप्रास नामका शब्दालंकार यहांपर है।

विदुः—क्रियापदका अर्थ होता है जानते हैं–मानते है।

भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्—इसका समास इसतरह करना चाहिये। भस्मना गूढः आच्छादितः सचासौ अङ्गारश्च। अन्तः जातम् आन्तरं, भस्मगूढांगारवत् आन्तरं ओजः यस्य। अर्थात् भस्मसे ढके हुए अंगारके समान है अंतरंगमें ओज जिसके।

प्रकृत पद्य में लाटानुप्रास नामके शब्दालंकारका उल्लेख ऊपर किया गया है। अर्थालंकारों में यहां अनेक अलंकारोंका सांकर्य पाया जाता है—रूपक; व्यतिरेक, समुच्चय और अप्रस्तुत प्रशंसा।

दो पदार्थों में साधर्म्यके कारण जहां अभेद दिखाया जाय वहां रूपक अलंकार, समानता रखनेवाले दो पदार्थोंमेंसे जहां किसी धर्मकी अपेक्षा एकको अधिक बता दिया जाय वहां व्यतिरेक, एक ही जगहपर जहां उत्कृष्ट और अपकृष्ट पदार्थोंका संग्रह पाया जाय वहां समुच्चय और जहां अप्रकृत पदार्थकी भी प्रशंसा की जाय वहां अप्रस्तुत प्रशंसा नामका[१] अलंकार मानाजाता है। ये चारों ही लक्षण यहां घटित होते हैं। अतएव यहां संकर अलंकार—अलंकारोंका सांकर्य हो गया है।

तात्पर्य—जीवका व्यवहार दो तरहसे हुआ करता है। एक आध्यात्मिक दूसरा आधिभौतिक। आत्माकी गुणों की तरफ जब दृष्टि रखकर विचार और व्यवहार किया जाता है तब आध्यात्मिक व्यवहार कहा जाता है। और जब जीवसे सम्बद्ध या असम्बद्ध अन्य पदार्थ-पुद्गल द्रव्य की तरफ मुख्य दृष्टि रखकर विचार किया जाता है या व्यवहार होता है तब उसको आधिभौतिक व्यवहार कहते हैं। यहांपर १ शुद्ध निश्चयनय[१] २ अशुद्ध निश्चयनय[२] ३ अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय[३] अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय[४] ५ उपचरित सद्भूत व्यवहार नय[५] ६ उपचरित-असद्भूत व्यवहार नय[६] इन छह नयों के अनुसार होनेवाले व्यवहारको भी आगम के अनुसार घटित कर लेना चाहिये। क्योंकि आचार्य शरीराश्रित व्यवहार की अपेक्षा आत्माश्रित शुद्ध सम्यग्दर्शन गुणकी ही यहां मुख्यतया महत्ता बता रहे हैं। किंतु अन्य नयाश्रित व्यवहारका निषेध नहीं कर रहे हैं। किंतु गौणतया उसकी भी प्रयोजनीभूतताको प्रकारांतरसे

१—रूपकं यत्र साधर्म्यादर्थयोरभिदा भवेत्। ४–६६। केनाचिद् यत्र धर्मेण द्वयोः ससिद्धसाम्ययोः। भवत्येकतराधिक्यं व्यतिरेकः स उच्यते ॥ ४–८४ ॥ एकत्र यत्र वस्तुनामनेकेषां निबन्धनम्। अत्युत्कृष्टापकृष्टानां तं वदन्ति समुच्चयम् ॥४–१२१॥ प्रशंसा क्रियते यत्राप्रस्तुतस्यापि वस्तुनः। अप्रस्तुतप्रशंसांतामाहुः कृतधियो यथा ॥ ४–१२४ ॥ वाग्भटा०।

१-६ इन छहोंके उदाहरण स्व० प० द्यानतरायजीके "धर्मविलास" के दशवोलपचीसिकाके पद्य नं० २२ से समझलेना चाहिये। यथा—असतकथन उपचार जीवका जनधन जानो, असत बिना उपचार काय आतम को मानो। सांच कथन उपचार हंसको राग विचारो, सांच बिना उपचार ज्ञान चेतनको धारो॥ निहचै [illegible] रागस्वरूपी आतमा, आदेय शुद्ध निहचै समझि, ज्ञानरूप परमात्मा ॥२२॥

व्यक्त कर रहे हैं। क्योंकि साधनरूपमें शरीराश्रित व्यवहार भी मान्य तथा अभीष्ट ही है। फिर भी अन्तमें वह हेय होनेके कारण गौण तथा उपेक्षणीय है। और आत्माश्रित विषय साध्य उपादेय एवं अपेक्षणीय होनेके कारण प्रधान और महान् है। अतएव उसीकी महत्ताका यहां निदर्शन करना है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शनके आन्तर ओजसे युक्त कहकर जहा उसकी प्रशंसा कर रहे और महत्ता बता रहे हैं वहीं उसे मातंगके शरीरसे जन्य भी कहकर और उसको भस्म से छिपे हुए अंगारके सदृश बताकर शरीराश्रित व्यवहारकी अपेक्षा उसकी अमहत्ताको भी व्यक्त कर रहे हैं।

ऊपर जिन चार अर्थालंकारोंकी यहां संभवता बताई है उनका लक्षण साहित्य ग्रन्थोंमें लिखा है। अतएव जो विद्वान हैं वे तो स्वयं ही उनको यहां घटित कर सकेंगे परन्तु अन्य साधारण श्रोताओंके लिये संक्षेपमें घटित करदेना उचित प्रतीत होता है।

रूपक—दो पदार्थोंमें साधर्म्य के कारण अभेद की प्रतीति कराता है। यहां पर देव अरिहंत देव या गणधर देवके देवत्व और सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न मातंगके देवत्वमें अभेदका प्रत्यक्ष कराया गया है। कहा गया है कि सम्यग्दर्शन से सम्पन्न मातंगको भी अरिहंत देव या गणधर देव देव मानते है। मतलब यह कि सम्यग्दर्शन गुणकी समानताके कारण वे उसको अपनी ही जातिका अथवा अपनेसे अभिन्न मानते है। सो ठीक ही है। क्योंकि सम्यग्दृष्टित्वेन दोनोंमें साधर्म्य पाया जाता है और इसीलिये दोनोंमें यदि अभेदका बोध कराया जाता है तो वह भी अयुक्त नहीं है। युक्त ही है।

दोनों ही देव शब्दोंको दिव्य शरीर और देवायु देवगति आदिके कारण स्वर्गीय आत्माका वाचक भी माना जा सकता है इस अवस्थामें तात्पर्य यह लेना चाहिये कि अरिहंत आदि की तरह स्वर्गीय आत्मा भी उसको अपने समान देव ही मानते हैं। क्यों कि अबद्धायुष्क सम्यक् दृष्टि मनुष्य या पशु नियमसे देवायुका ही बन्ध किया करता है। दोनोंकी देव पर्याय में यदि कोई अन्तर है तो केवल इतना ही है कि एक की तो वतमान में देवपर्याय है और दूसरे की होनेवाली है। जो भावी है उसको भी नैगमनय से वर्तमानवत् कहा जा सकता है। अतएव दोनोंकी देवपर्यायमें साधर्म्य एवं अभेदका प्रतिपादन भी असंगत नही है। इतना ही नहीं प्रत्युत तात्त्विक विचार की दृष्टिसे सर्वथा सुसंगत है।

व्यतिरेक—अलंकारमें समानता रखनेवाले दो पदार्थों में से एक की किसी धर्म विशेष की अपेक्षासे अधिकता बताई जाती है। रूपक अलंकार के अनुसार सम्यग्दर्शनसम्पन्न मातंग की अरिहंत देव गणधर देव या स्वर्गीय देवोंके साथ समानता रहते हुए भी इस अलंकारके अनुसार मातंगदेहजन्यता और दृष्टांतरूप अंगारकी भस्माच्छन्नताको दिखाकर दोनोंके अन्तरके साथ साथ एक की अधिकताका भी प्रदर्शन किया गया है। जिससे इस बातका बोध हो जाता है कि यद्यपि सम्यग्दृष्टित्वेन दोनोंमें समानता पाई जाती है फिर भी कर्म नोकर्मके आश्रित वर्तमान

पर्यायकी अपेक्षा दोनोंमें "अन्तरम् महदन्तरम्"[१] है क्योंकि सांसारिक ही नहीं पारमार्थिक भी व्यवहार अधिकतर पर्यायाश्रित ही हुआ करता है। अतएव आत्मासे अभिन्न सम्यग्दर्शन गुणकी अपेक्षा वर्णन करते समय पराश्रित पर्यायकी पर्यायीसे पाई जानेवाली कथंचित् अभिन्नताका परित्याग नहीं किया जा सकता। तथा अनन्तधर्मात्मक और अनेकान्तरूप वस्तुके याथात्म्यका बोध कराने की सद्भावनासे प्रवृत्त हुये कविवेधा भी ऐसे शब्दोंका प्रयोग नहीं कर सकते जिनसे कि तत्त्वस्वरूपमें संशय विपर्यय अनध्यवसाय बना रहे अथवा उत्पन्न हो या अव्याप्त अतिव्याप्त रूप परिज्ञान हो। फलतः दोनोंमें पर्यायाश्रित जो महान् अन्तर है उसको स्पष्टकरनेकेलिये ही नहीं अपितु मातंग पर्यायकी अपेक्षा जो देव पर्यायकी अधिकता एवं उत्कृष्टता है उसको भी व्यक्त करनेकेलिये आवश्यक इस अलंकारका आचार्यने इस अवसर पर प्रयोग किया है। इससे शरीर सम्बन्धके कारण संसारी जीवोंमें जो न्यूनाधिकता पाई जाती है उसकी यथार्थता भी दृष्टिमें आ जाती है। देव शब्दसे अरिहंत देव गणधरदेव और स्वर्गीयदेव इसतरह तीन का ग्रहण किया गया है, अतएव तीनों ही की अधिकताका भी बोध हो सकता है। साथ ही देव शब्द उपलक्षण है इसलिये मातंगके समान ही औदारिक शरीरके धारकोंमें भी जो अन्तर है या परस्परमें एक से दूसरेमें अधिकता पाई जाती है वह भी समझी जा सकती है। इस तरह व्यतिरेकालंकार के द्वारा दो पदार्थोंमें से एक की अपेक्षा दूसरेकी अधिकता मालुम हो जाती है।

समुच्चयमें उत्कृष्ट अपकृष्ट या मध्यम अनेक विषयों का संग्रह हुआ करता है। यहां पर मातङ्गपुत्रमें तीन उत्कृष्ट विषयोंका संग्रह किया गया है;—सम्यग्दर्शनसंपन्नता, आन्तर ओज और देवत्व। अतएव यह अलंकार स्पष्ट है।

अप्रस्तुत प्रशंसामें अप्रकृत विषयकी प्रशंसाकी जाती[२] है। तदनुसार यहां पर भी समझना चाहिये। क्योंकि यद्यपि मातङ्गपुत्रका वर्णन यहां प्रकृत विषय नही है। वास्तवमें तो सम्यग्दर्शन प्रकृत विषय है। परन्तु उसके सम्बन्धको लेकर विषयको दृढ करनेके लिये मातङ्गके देवत्वका ख्यापन किया गया है। अत एव अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार भी यहां कहा जा सकता है।

कारिकाके चतुर्थ चरण में उपमा[३] अलंकार भी पाया जाता है। क्योंकि उपमा अलंकारमें किसी एक वस्तुके किसी एक विवक्षित धर्मकी सदृशता अन्य वस्तुमें बताई जाती है। जिसके धर्मकी सदृशता बताई जाय उसको उपमान और जिसमें वह सदृशता दिखाई जाय उसको उपमेय कहते हैं। यहां पर "भस्मगूढाङ्गार" उपमान है और सम्यग्दर्शनके आन्तर ओजसे युक्त मातङ्गपुत्र उपमेय है। जिस तरह विवक्षित अंगार ऊपरसे तो भस्मसे आच्छन्न है किन्तु भीतरसे

१—वाजिवारणलोहानां काष्ठपाषाणवाससां। नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम्॥

२—प्रशंसा क्रियते यत्राप्रस्तुतस्यापि वस्तुनः। अप्रस्तुतप्रशंसां तामाहुः कृतधियो यथा॥१२४॥

३—उपमा अथवा प्रतिवस्तूपमा।

उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा। प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थसमासैरुपमा मता॥५०॥

अनुपात्ताविवादीनां वस्तुनः प्रतिवस्तुना। यत्र प्रतीयते साम्यम् प्रतिवस्तूपमा तु सा॥ ७१॥

दहक रहा है उसी तरह विवक्षित मातंगपुत्र भी ऊपरसे—शरीरकी अपेक्षा तो हीन है परन्तु अन्तरंगमें सम्यग्दर्शनके ओजसे युक्त है। यही उपमानकी सदृशता उसमें पाई जाती है।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि जो बात जिस अपेक्षासे कही गई है उसको उसी अपेक्षासे देखना चाहिये और उसी तरहसे उसको ग्रहण करना चाहिये तथा तदनुसारही व्यवहार भी करना चाहिये। इसके विरुद्ध देखना मिथ्यात्व है, जानना अज्ञान है और व्यवहार असच्चारित्र है।

आचार्य भगवान्‌ने सम्यग्दर्शनरूप आत्मधर्मकी महिमा बतानेकेलिये मातंगशरीरस्थ आत्माकी प्रशंसा की है न कि उसके शरीरकी। प्रत्युत शरीरको भस्मके स्थानापन्न बताकर उसकी निकृष्टता ही व्यक्त की है। अतएव यदि कोई व्यक्ति आत्मधर्मके सम्बन्धमें बताये गये विषयको शरीरमें देखना चाहता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। और यदि आत्माकी पवित्रताका सम्बन्ध शरीरमें जोडकर शरीराश्रित व्यवहारभी वैसाही करना चाहता है जैसाकि उच्चशरीरके विषयमें विहित है तो अवश्य ही वह भी अतत्त्वज्ञ है विपर्यस्त है और पथभ्रष्ट है। साथ ही साधनरूपधर्मकी यथार्थता और पवित्रताको नष्ट करनेवाला है।

इसी तरह शरीराश्रित हीनताका सम्बन्ध यदि कोई आत्मामें भी जोडकर देखता है और शरीरके हीन होनेसे आत्माको भी हीन समझता है, सम्यग्दर्शन जैसे गुणसे विभूषित भी आत्माको हीन मानता है, तथा उस गुणका उचित सन्मान न कर उसी तरह हीन व्यवहार करता है जैसा कि हीन शरीरके साथ किया जाता है तो अवश्य ही वह भी मिथ्यादृष्टि है अज्ञानी है अथवा जातिगर्विष्ठ और अपने उचित कर्तव्यके पथसे दूर है।

श्रेयोमार्गका मुख्य सम्बन्ध आत्मासे ही है क्योंकि रत्नत्रयआत्माके ही स्वभाव एवं धर्म[१] हैं। किन्तु उसका साधन व्यवहार मुख्यतया शरीरसे सम्बन्धित है। दोनों ही विषय परस्पर विरोधी नहीं हैं। जो जिसका साधन है वह उसका विरोधी हो भी नहीं सकता। जो विरोधी है वह उसका साधन नहीं हो सकता[२]। अतएव दोनों नयोंके विषयमें अविरुद्ध प्रवृत्ति ही मोक्षका उपाय हो सकती है।

अग्निके तीन कार्य प्रसिद्ध हैं—दाह पाक और प्रकाश। परन्तु सभी अग्नि तीनों कार्य कर सकती हैं यह बात नहीं है। किसीमें एक किसीमें दो और किसीमें तीनों ही कार्य करनेकी सामर्थ्य रहा करती है। इसी तरह अग्नि स्थानापन्न आत्माके सम्यग्दर्शन गुणमें भी तीन सामर्थ्य हैं- दाह पाक और प्रकाश। विरोधी कर्मेन्धनका वह दाह करता है, संसारस्थितिको पकाता है और अपने भाईयोंके समान ज्ञानादिगुणोंको प्रकाशित करता है अथवा उन गुणोंमें

१—रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयदु अण्णदवियम्मि। तम्हा तत्तियमइओ होदि मोक्खस्स कारणं आदा द्रव्यसंग्रह ॥ ४० ॥ २—धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विराधकः स्वकार्यस्य। तस्मात्सुखभंगभिया मा भूर्धर्मस्य विमुखस्त्वम् ॥२०॥ आत्मानु०।

वस्तुके याथात्म्यको ही प्रकाशित करनेकी योग्यता उत्पन्न करता है । किन्तु सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंमें यह योग्यता समानरूप में नहीं पाई जाती क्योंकि तीनों ही प्रकारकी योग्यताकी पूर्णता उसकी कर्म नोकर्म सम्बन्धी पर्यायाश्रित योग्यता पर निर्भर है यही कारण है कि वह सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेके बादही अपने स्वामी आत्माको नियमितरूपसे उसी भवमें कर्मनोकर्मके सम्बन्धसे सर्वथा परिमुक्त नहीं बना दिया करता । उसको इस कार्यकी सिद्धिमें कमसे कम अन्तर्मुहूर्त और अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण कालकी अपेक्षा रहा करती है आचार्य भगवान्ने सम्यग्दर्शन गुणकी उपादेय महत्ताको प्रकट करनेकेलिये जिस रूपमें जो दृष्टान्त उपस्थित किया है उससे यह बातभी स्पष्ट होजाती है कि उक्त मातङ्गपुत्रमें उसके सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न रहते हुए भी पर्यायाश्रित कर्मनोकर्मसम्बन्धी वह योग्यता नहीं पाई जाती जिससे कि वह अथवा उसका सम्यग्दर्शन अपने उपर्युक्त तीनों ही—दाह पाक और प्रकाशरूप कार्योंको उसी पर्यायमें पूर्ण एवं परिनिष्ठित कर सके ।

इस दृष्टान्त[१] द्वारा जाति कुल आदिसे गर्विष्ठ सम्यग्दृष्टियोंको इस बातकी शिक्षा दीगई है कि कर्मनिमित्तक सम्पत्तियोंकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनसम्पत्ति अत्यन्त महान है, आदरणीय है, और उपादेय है । वह यदि किसी ऐसे व्यक्तिमें भी पाई जाती है जोकि जाति कुल आदिकी अपेक्षा हीन है ; तथा वह यदि कमसे कम प्रमाणमें भी पाई जाती है तो भी वह आदरणीय ही है । जाति कुल आदिके द्वारा उसकी अवगणना करना किसी भी तरह उचित नहीं है । गुणवान् वही है[२] जो दूसरेके रंचमात्र गुणसे भी प्रसन्न होता और उसका ख्यापन करता है । तथा किसी भी एक गुणकी अन्य[३] कारणोंसे अवहेलना करना किसी तरह उचित संगत एवं विद्वन्मान्य भी नहीं है ।

प्रश्न हो सकता है कि जिस सम्यग्दर्शनरूप धर्मकी आप इतनी महिमा बता रहे हैं उसका वास्तविक फल क्या है ? सभी पुण्यफलोंके सामने वही महान् है, और उसके सामने जितनी भी सांसारिक सम्पत्तियां हैं वे सब तुच्छ और हेय हैं । अतएव इन विभूतियोंके कारणभूत पुण्यसे परे सम्यग्दर्शन का फल बताना आवश्यक है जिससे मालुम हो सके कि यह फल सम्यग्दर्शनके विना अन्य किसी भी पुण्य विशेषसे प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि संसारमें जितने भी अभ्युदय तथा सुखसाधन दृष्टिगोचर होते हैं वे तो सब पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाले हैं । फिर सम्यग्दर्शनका फल क्या रहजाता है ? यदि पुण्यकर्म में अतिशय अथवा विशेषता पैदा करदेना ही इसका फल है तब तो वह भी प्रकारान्तरसे संसारका ही साधन ठहरता है । किन्तु सम्यग्दर्शन तो धर्म है और धर्मकी व्याख्या करते समय कहा यह गया है कि धर्म वह है जो कि संसारके दुःखोंसे छुडाकर उत्तम सुख—मोक्षमें उपस्थित करदे । जब संसार और मोक्ष दोनों

१—इसकी कथाको कथाकोषादि ग्रन्थांतरसे देखना चाहिये । २—परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः । ३—आत्मस्थितेर्वस्तु विचारणीयम् न जातु जात्यन्तरसंश्रयेण । दुर्वर्णनिर्वर्णविधौ बुधानां सुवर्णवर्णस्य मुधानुबन्धः ॥ यश०।

ही विरोधी तत्त्व हैं, तब उसके साधन भी परस्पर विरुद्ध ही होसकते हैं। जो संसारका साधन है वह मोक्षका साधन नहीं हो सकता और जो मोक्षका साधन है वह संसारका साधन नहीं बन सकता। फलतः सम्यग्दर्शनका कार्य पुण्यकर्म में अतिशय पैदा करदेना भी नहीं बन सकता। किन्तु पुण्यकर्मोंमें अतिशय पैदा करदेना भी सम्यग्दर्शन का कार्य देखा जाता है इतना ही नहीं बल्कि अनेक पुण्यकर्म तो ऐसे[1] हैं जिनका कि बंध ही सम्यग्दर्शनके विना नहीं हुआ करता। अत एव सम्यग्दर्शनका वास्तविक फल क्या है? इसका उत्तर इस ढंग से मालुम होना चाहिये कि जिससे किसी प्रकारका विरोध उपस्थित न हो। इसी बातको ध्यानमें रखकर आचार्य दृष्टान्तपूर्वक प्रकारान्तरसे सम्यग्दर्शनका विशिष्ट फल और उसके भेद बतानेकेलिये यहां कारिका उपस्थित करते हैं—

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा, जायते धर्मकिल्बिषात्।
कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥२६॥

अर्थ—धर्म-पुण्यके प्रसादसे कुत्ता भी देव होजाता है, और पापके निमित्तसेदेव भी कुत्ता होजाता है। किन्तु वह सम्पत्ति तो कोई और ही है जो कि संसारी प्राणियोंको धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शनसे प्राप्त हुआ करती है।

प्रयोजन—यद्यपि इस कारिकाके निर्माणका प्रयोजन क्या है यह बात ऊपरके कथन से ही मालुम होजाती है। फिर भी ऊपर जो प्रश्न उपस्थित किया गया है उसका उत्तर इस कारिकाके द्वारा होना आवश्यक है। लोगोंको मालुम होना चाहिये कि पुण्य से अतिरिक्त सम्यग्दर्शनका फल क्या है और वह किंरूप किमाकार है। यह बताना ही इस कारिकाका मुख्य प्रयोजन है।

कारण यह कि प्रथम तो "धर्म" यह सामान्य शब्द है, लोकमें जो अहितकर कार्य हैं वे भी धर्म नामसे कहे जाते हैं जैसा कि पहले बताया जा चुका है। इसके सिवाय कोई ऐसे भी हैं जो कि लोकमें इष्ट समझे जानेवाले विषयोंके साधनोंको ही धर्म समझते हैं। जैसे कि पुण्य कर्म और उसके साधन-परोपकार भक्ति विनय आदि। तीसरे वे हैं जो कि वास्तविक आत्माके हित एवं साधनोंको ही धर्म मानते हैं। इनमेंसे पहले प्रकारके व्यक्तियोंकी मान्यतापर तो ध्यान देने की ही आवश्यकता नहीं है। क्योंकि याज्ञिक हिंसा आदि में धर्मकी भावना को तो थोडीसीभी विचारशीलता रखनेवाला व्यक्ति भी स्वीकार नहीं कर सकता। वह तो उसे नरकादि दुर्गतियों का कारण हिंसक पशुओं जैसा कार्य ही समझेगा। दूसरे प्रकारकी मान्यता वस्तुतः आत्महित से यदि सम्बन्धित नहीं है तो तुच्छ है नगण्य है क्योंकि ऐसा कोई भी साधन जो कि आत्मा को सदाकेलिये सर्वप्रकारके दुःखों से मुक्त नहीं कर देता तो उसका कोई महत्त्व नहीं है[2]। अत

१—जैसे कि तीर्थंकर आहारकद्विक नवग्रैवेयकसे ऊपरके स्वर्गोंके योग्य आयुस्थिति, तथा चक्रवर्ती आदिके योग्य गोत्रकर्म आदि।

२—तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं तत्सुखं यत्र नासुखम्। स धर्मो यत्र नाधर्मः

एव तीसरे प्रकारकी मान्यता ही उपयुक्त है। किन्तु इसमें भी एक बात विचारणीय है। वह है प्रकृत विषय–सम्यग्दर्शनके फलकी गौणमुख्यता। क्योंकि किसी भी कारणके गौण और मुख्य इस तरह दोनों ही प्रकारके कार्य या फल संभव हो सकते हैं। सम्यग्दर्शन केलिये आया हुआ धर्मशब्द भी जो यहां हेतुरूपमें प्रयुक्त हुआ है उसके भी गौण तथा मुख्य दोनों ही फल या कार्य संभव हैं और आगममें माने गये हैं–बताये भी गये हैं। किन्तु इस कारिकाके निर्माणमें आचार्य महाराजका मुख्य प्रयोजन उसके शुद्ध स्वरूप और असाधारण फलको ही बतानेका है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के जितने भी फल बतायेगये हैं या यहां पर भी आगे बताये जायगे वे सम्यग्दर्शनकी अविकल सफलताको व्यक्त नही करते। यद्यपि इसका अर्थ यह नहीं है कि ये सम्यग्दर्शनके किसी भी अपेक्षासे किसीरूपमें या किसी भी अंशतक फल ही नहीं हैं अथवा इनको उसका फल कहना ही अयुक्त है। फिर भी यह कथन मिथ्या नहीं है–सर्वथा युक्तहै कि इसतरहके फल निर्देशोंसे सम्यग्दर्शनका न तो शुद्ध अविकल परानपेक्ष कार्य ही व्यक्त होता है और न उसका अव्यभिचरित विशुद्ध सबसे पृथक् स्वरूप ही प्रतिभासित होता है। जो कि ग्रन्थ कर्त्ताको यहां इस कारिकाके द्वारा बताना अभीष्ट है। अत एव ये दोनों बातें बताना इस कारिकाका प्रयोजन है

शब्दोंका सामान्य–विशेष अर्थ–

श्वापि—श्वा (श्वन्) शब्दका अर्थ–कुत्ता होता है। अपि अव्यय है जिसका अर्थ "भी" ऐसा होता है। देव शब्दका अर्थ सुर असुरपर्यायके धारण करनेवाला जीव। यह लिखा जा चुका है। जायते यह क्रिया पद है। जिसका अर्थ उत्पन्न होना है या "होजाता है" ऐसा करना चाहिये मतलब यह है कि मर्त्य लोकमें "कुत्ता" निकृष्ट माना जाता है और देव उत्कृष्ट। अत एव दोनोंके साथ "अपि" शब्दका प्रयोग करके धर्म और पाप दोनोंसे प्राप्त होनेवाले फलमें क्या अन्तर है यह बतायागया है। अर्थात् अन्यकी तो बात ही क्या कुत्ता सरीखा निकृष्ट प्राणी भी धर्म के प्रसादसे देवसरीखी उत्कृष्ट अवस्था को धारण करलेता है। इसी तरह देवपर्यायको प्राप्त संसारमें उत्तम गिना जानेवाला भी प्राणी जब पापके निमित्तसे कुत्ता जैसी निकृष्ट पर्याय को प्राप्त होता है तब मनुष्यका तो कहना ही क्या? अतएव कर्मनिमित्तक पर्यायसम्बन्धी विषयों के आश्रयसे गर्व करना ठीक नहीं है।

यहां पर 'श्वा' और 'देव' दोनों ही शब्द उपलक्षण हैं। इसलिये श्वा शब्द से तुच्छ गिने जाने वाले संज्ञी[1] पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च मात्र का ग्रहण कर लेना चाहिये। इसीतरह उत्तम गिने जानेवाले राजा महाराजा सरीखे मनुष्यों का भी देव शब्दसे ग्रहण किया जा सकता है।

धर्मकिल्बिषात्—यहां पर धर्म और किल्बिष शब्दोंमें समाहार द्वन्द्व समास है। धर्मश्च किल्बिषश्च अनयोः समाहारः धर्मकिल्बिषम् तस्मात्। समाहार द्वन्द्वमें नपुन्सक लिंग और

1—यद्यपि "ये मिथ्यादृष्टयो जीवाः सञ्ज्ञिनोऽसञ्ज्ञिनोऽथवा। व्यन्तरान्ते प्रजायन्ते तथा भवनवासिनः॥ तत्त्वार्थसार" की इस उक्ति के अनुसार असंज्ञी जीव भी व्यन्तरदेव हुआ करते हैं; परन्तु ग्रन्थकर्त्ता को यहां उसकी विवक्षा प्रधान नहीं मालुम होती। क्योंकि कुत्ता—सञ्ज्ञी का ही ग्रहण किया है।

एक वचन हुआ करता है। यहां पर हेत्वर्थमें पंचमीका प्रयोग किया गया है। कुत्ते का देव होना अर देव का कुत्ता होना ये दो परस्पर विरुद्ध कार्य हैं। धर्म और किल्विष ये दोनों हेतु हैं। अतएव यथासंख्य[1] नामक अर्थालंकार के अनुसार दोनों कार्योंके साथ दोनों हेतुओंका क्रमसे सम्बन्ध जोड लेना चाहिये। अर्थात् धर्मके निमित्तसे कुत्ता देव हो जाता है और पापके निमित्तसे देव कुत्ता हो जाता है।

इस पदमें समाहार द्वन्द्व समास होनेके कारण धर्म और किल्विष दोनों विशेषण हैं, और समाहार—दोनोंका साहित्य प्रधान[2] है—विशेष्य है। अतएव इतरेतर द्वन्द्व में जिसतरह समासगत पद प्रधान होकर निरपेक्ष रूपसे किसी भी द्रव्य गुण पर्याय या क्रियाके साथ अन्वित हुआ करते हैं वैसा समाहारमें न होकर समासगत पद सापेक्ष होकर समाहाररूप किसी भी द्रव्य गुण पर्याय या क्रियाके साथ अन्वित हुआ करते हैं। इसलिये धम अर्थात पुण्य[3] और किल्विष नाम पाप दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं और समाहार रूप मिथ्यात्व भावके साथ अन्वित होते हैं। यही समाहाररूप मिथ्यात्वभाव कुत्तेसे देव और फिर देवसे कुत्तेरूप परिणमनका मुख्य हेतु है।

क्योंकि जब तक अंतरंगमें मिथ्यात्वका उदय रूप प्रधान एवं वलवत्तर कारण बना हुआ है तबतक इस तरह की सांसारिक पर्यायोंके परिवर्तन तो हुआ ही करते हैं और होते ही रहते हैं। मिथ्यात्व के अभाव होने और आत्माके स्वाभाविक गुण सम्यग्दर्शनके उद्भूत होनेपर ही वास्तवमें शुभ और अशुभ गिनी जानेवाली सांसारिक पर्यायोंकी परावृत्तिकी निवृत्ति हो सक्ती हैं। अन्यथा नहीं। अतएव संसाररूप एक सामान्य पर्यायके अन्तरगत जो अनेक तथा अनेकविध परिणमन होते रहते हैं उनका मूल कारण मिथ्यात्व ही है। उसीको "धर्मकिल्विषात्" में समासका वाच्य और धर्म— पुण्य तथा किल्विष—पापका हेतु समझना चाहिये।

का—यह एक सर्वनाम शब्द है जोकि धर्म—सम्यक्त्वसे प्राप्त होनेवाली संपत्का विशेषण है और 'अपि' अव्यय से सम्बधित होकर उसकी अनिर्वचनीय विशेषताको सूचित करता है।

नाम—यह एक अव्ययपद है। इसका प्रयोग अनेक अर्थोंमें हुआ करता है। यहांपर संभाव्य अभ्युपगम या विकल्प अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि सम्यग्दर्शनजन्य सम्पत्तिकी अनिर्वचनीयताको कापि शब्दके द्वारा सूचित किया गया है वह संभव है—युक्तिसिद्ध है, अभ्युपगत है—आगम सम्मत है और विकल्परूप अर्थात् संसारकी संपत्तियोंसे भेदरूप एवं अनुभवसिद्ध है।

१—यथोक्तानां पदार्थानामर्थाः सम्बन्धिनः पुनः। क्रमेण तेन बध्यन्ते तद्यथासंख्यमुच्यते ॥१३५॥ वा०
२—इतरेतरयोगे साहित्यं विशेषणं द्रव्यन्तु विशेष्यं, समाहारे तु साहित्यम् प्रधानम् द्रव्यम विशेषणम् सि० कौ० त० बो० पृष्ठ १६५। ३—यद्यपि इस वाक्यके धर्म-किल्विष शब्दोंको क्रमसे सम्यक्त्व—मिथ्यात्व ऐसा अर्थ कोई कोई करते है। परन्तु हमारी समझसे इनका अर्थ पुण्य पाप है। और समाहार—समासका अर्थ मिथ्यात्व है।

भवेत्—यह क्रियापद है जो कि भ्वादिगणकी भू धातुका विधिलिङ् अन्यपुरुष एकवचन का प्रयोग है। भू का अर्थ होता है होना। और यह प्रयोग कर्तृभूत सम्पत्तिके विधिपूर्वक तद्रूप होने की शक्यताको व्यक्त करता है।

अन्या—यह शब्द भी सर्वनाम और सम्पत्का विशेषण है। जिससे विवक्षित सम्पत्तिकी भिन्नता अपूर्वता और अद्वितीयता बताई गई है। क्योंकि अबतक जितनी भी सम्पत्तियां प्राप्त हुई हैं उन सबसे यह सम्पत्ति सर्वथा भिन्न जातिकी है। अनादि कालसे अब तक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेके समयसे पहले कभी भी प्राप्त नहीं हुई। और दूसरी ऐसी कोई सम्पत्ति नहीं है जो कि इसकी समकक्षता–बराबरीमें उपस्थित हो सके अथवा उपमा या तुलनामें जिसको रक्खा जा सके

सम्पत्–शब्दका अर्थ विभूति प्रसिद्ध है किन्तु यहां पर प्रयोजन आत्माकी स्वाभाविक गुण सम्पत्तिसे है। निरुक्ति के अनुसार इसका अर्थ होता है कि जो सम्यक् प्रकारसे विधिपूर्वक और सर्वथा अभीष्टरूपमें प्राप्त की जाय।

धर्मात्—इस धर्म शब्द का अर्थ स्वयं ग्रन्थकार इसी ग्रन्थ के प्रारम्भ कारिका नं० २,३ के द्वारा बता चुके हैं। किंतु यहां हेतु रूपमें उसका प्रयोग करके किस तरहकी संपत्ति के साथ उसका वास्तवमें हेतुहेतुमद्भाव है यह बताया गया है।

शरीरिणाम्—इस शब्दका सामान्य अर्थ शरीर धारण करनेवाला होता है। किंतु यहां प्रयोजन तो उस सम्पत्तिके स्वामित्व को बताने का है[१]। अत एव सभी शरीरधारी उसके स्वामी हैं या हो सकते है यह बात नहीं है किंतु विशिष्ट सशरीर व्यक्ति ही उसके स्वामी हो सकते हैं। ग्रन्थकार इस शब्दका प्रयोग करके यह भी बताना चाहते हैं कि कदाचित् कोई यह समझे कि धर्म-सम्यग्दर्शनसे प्राप्त होनेवाली सम्पत्तिके स्वामी केवल अशरीर परममुक्त सिद्ध परमात्मा ही हैं। सो यह बात नहीं है किंतु उसका स्वामित्व सशरीर व्यक्तियोंको भी प्राप्त है।

ऊपर यथासंख्य नामके अर्थालंकारका इस कारिकामें उल्लेख किया गया है। किंतु हेतु और परिवृत्ति नामके अर्थालंकार भी यहां घटित होते हैं। क्योंकि जहां पर किसी भी कार्यके उत्पन्न करनेवाले कर्त्ताकी तद्विषयक योग्यता बताई जाती है वहां पर हेतु अलंकार माना जाता[२] है।

प्रकृत कारिकाके पूर्वार्धमें 'धर्मकिल्विषात्' इस हेतु पदका और 'श्वापि देवोऽपि देवः श्वा' इस वाक्यसे उसके कार्य तथा तद्विषयक योग्यताका निदर्शन किया गया है। इसी प्रकार उत्तरार्धमें 'धर्मात्' इस हेतु वाक्यका और 'कापि नाम भवेदन्या' आदि पदके द्वारा उसके कार्य तथा तद्विषयक योग्यताका प्रदर्शन किया गया है। अतएव यहांपर 'हेतु' अलंकारका सद्भाव स्पष्ट होता है।

सदृश अथवा विसदृश पदार्थके द्वारा जहां किसीके भी परिवर्तन–पलटने या बदलनेको कहा जाय वहां परिवृत्ति[२] नामका अलंकार माना गया है।

१–चतुगदि भव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो। जागारो सल्लेस्सो सलद्धिगो सम्मसुवगमई ॥६५१॥ गो.जी.

२–यत्रोत्पादयतः किंचिदर्थं कर्तुः प्रकाश्यते। तद्योग्यतायुक्तिरसौ हेतुरुक्तो बुधैर्यथा ॥१०४॥

सो परिवृत्तिर्मता यथा ॥१२॥ वाग्भट।

प्रकृत कारिकामें पुण्यसे पाप और पापसे पुण्यके परिवर्तनको तथा पुण्य पाप दोनोंसे भिन्न अलौकिक सुख सम्पत्तिके रूपमें परिवर्तनको दिखाया गया है अतएव परिवृत्ति नामका अलंकार माना जा सकता है।

इसके सिवाय जाति नामका अलंकार भी यहां घटित हो सकता है। क्योंकि जहां पर सक्रिय अथवा निष्क्रिय पदार्थके स्वभाव मात्रका वर्णन किया जाय—उपमा आदि अलंकारोंका प्रयोग किये विनाही जिस पदार्थका जैसा स्वभाव उसका वैसाही केवल उल्लेख किया जाय वहां जाति नामका अर्थालंकार माना जाता है। यहांपर धर्माधर्मका और स्वभावतः उनसे उपलब्ध होनेवाले कार्यों का उल्लेख जाति अलंकारको व्यक्त करता है।

इसतरह अनेक अलंकारोंका संगम हो जाने से यहांपर भी संकर—अलंकारोंका सांकर्य माना जा सकता है।

तात्पर्य—प्रकृत कारिकामें धर्म शब्दका प्रयोग दो बार किया गया है। कुछ लोग दोनों का अर्थ सम्यग्दर्शन किया करते हैं। परन्तु हमारी समझसे पहले धर्म शब्दका अर्थ पुण्य अथवा शुभोपभोग करना चाहिये और दूसरे धर्म शब्दका अर्थ सम्यग्दर्शन। कारण यह कि कुत्तेका देव होना वास्तवमें सम्यग्दर्शनका कार्य नहीं है। उसका कार्य तो वह अनिर्वचनीय सम्पत्ति ही है जिसका कि उत्तरार्धमें उल्लेख किया गया है। यद्यपि कुछ तीर्थंकर आदि पुण्यप्रकृतियोंका बन्ध सम्यक्त्वसहित जीवके ही हुआ करता है, यह ठीक है। किंतु उसका अर्थ यह नहीं है कि उनके बंधका कारण सम्यक्त्व है। वास्तवमें सम्यक्त्वसहित जीवके कषायमें जो एक प्रकारका विशिष्ट जातिका शुभभाव पाया जाता है, वही उनके बन्धका कारण हुआ करता है[1] न कि सम्यक्त्व। सम्यग्दर्शन तो मोक्षका ही कारण है। अतएव उसके द्वारा बन्ध न होकर संवर निर्जरा ही होसकती है। और इसीलिये कुत्ता या उसी तरहका अन्य कोई भी जीव यदि देवायु देवगति अथवा तत्सदृश अन्य पुण्य कर्मोंका बन्ध करता है तो वहां पर सम्यक्त्वको वास्तवमें अनुपचरित कारण न समझ कर किसी भी योग्य विषयका और किसी भी तरहका वैसाही शुभराग ही कारण समझना चाहिये।

इसी तरह किल्बिष शब्दका अर्थ भी मिथ्यात्व न करके "पाप" करना चाहिये। हां, यह ठीक है कि समाहार द्वन्द्व समास होनेके कारण जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है धर्म और किल्बिष विशेषण होकर मिथ्यात्वके साथ अन्वित होते हैं। फलतः अभिप्राय यह निष्पन्न होता है कि जबतक मिथ्यात्व भाव बना हुआ है तबतक पुण्यपापकी शृंखला भी बनी हुई है। यह दूसरी बात है कि कभी पुण्यका तो कभी पापका प्राधान्य होजाय। जब कभी पुण्यका निमित्त मिल जाता है जीव देवादि अभीष्ट माने जानेवाली अवस्थाओं और विषयोंको

१—येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१२॥पुरु० तथा देखो परमागमोक्त तीर्थकृत्वभावनाका आशय व्यक्त करनेवाला अनगार धर्मामृतका अ१ का पद्य नं २

प्राप्त कर लेता है और जब पापका निमित्त मिल जाता है तब तिर्यंगादि अनिष्ट गतियों—योनियों एवं विषयोंको प्राप्त कर लेता है, किंतु संसारकी शृंखला का भंग नहीं होता। वह तो मिथ्यात्वके छूटने पर ही हो सकता है। अतएव जब तक मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता तबतक विविध निमित्तों द्वारा संचित पुण्य भी अपना वास्तवमें कोई महत्त्व नहीं रखता। उसको तो केवल चार दिनकी चांदनी मात्र कह सकते हैं। अथवा यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि पुण्यके फल स्वरूप प्राप्त होनेवाले विषयोंसे जन्य सुखमें और आत्माके स्वाभाविक सुखमें अत्यन्त विरुद्ध जात्यन्तरता पाई जाती है। जैसा कि कथित नं १२ और यहींपर इसी कारिकाके उत्तरार्धके कथनसे जाना जा सकता है इस तरहसे पुण्य और पाप सजातीय हैं तथा सहचर हैं। और इनसे प्राप्त होनेवाले विषय भी प्रायः एक जातीय हैं। किंतु सम्यग्दर्शन और उसके फलका इनके साथ सर्वथा विरोध है। क्योंकि जीवोंकी परणति सामान्यतया तीन भागोंमें विभक्त है—पापरूप, पुण्यरूप और वीतराग। इनमेंसे पहली दोनों बन्ध या संसारकी कारण[१] अथवा संसाररूप हैं और अंतिम मोक्षकी कारण अथवा मोक्षस्वरूप[२] है जिसका कि बीज सम्यग्दर्शन है।

कारिकाके उत्तरार्धमें सम्यग्दर्शनसे उत्पन्न होनेवाली सम्पत्तिको "अन्य" और अनिर्वचनीय[३] कहा है। अतएव यहां पर यह जान लेना भी उचित और आवश्यक है कि किससे अन्य ? तथा अनिर्वचनीय कहनेसे क्या अभिप्राय है ?

"अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा" इस न्यायके अनुसार इसी कारिकाके पूर्वार्धमें जो कुछ कहा गया है उससे ही सम्यग्दर्शनजन्य सम्पत्तिको अन्य अर्थात् भिन्न समझना चाहिये यह बात स्पष्ट है। क्योंकि पूर्वार्धमें जिस पुण्यसम्पत्तिका निर्देश किया गया है उसका सम्बन्ध पुद्गलकर्मसे है और सम्यग्दर्शन उससे विरुद्धस्वभाव आत्माका गुण है। अतएव अन्य कहकर ग्रन्थकार बतादेना चाहते हैं कि इन दोनोंका स्वरूप स्वभाव और फल परस्पर विरुद्ध है। पुण्यफलका स्वरूप किस तरहका है यह कारिका नं० १२ में बताया जा चुका है। अतएव सम्यग्दर्शनका फल उससे भिन्नस्वरूप है यह विना कहे ही समझमें आ सकता है। फिर भी सम्यग्दर्शनजन्य सम्पत्तिकी असाधारण विशेषताओंका थोडासा संक्षेपमें यहां परिचय करा देना उचित प्रतीत होता है। पुण्योदयजन्य संपत्तियोंके विरुद्ध सम्यक्त्व सम्पत्ति स्वाधीन है, अनन्त है, शुद्ध है, पवित्र है, सुखरूप है, सुखबीज है, अप्रमाण है, अपूर्व है, अनुपम है, प्रधान है, और अनिर्वचनीय है।

१—परणति सब जीवनकी तीन भांति वरणी॥ एक राग, एक द्वेष, एक राग हरणी। तामे शुभ अशुभ अन्ध दोय करें कर्म बन्ध, वीतराग परिणति है भवसमुद्रतरणी॥ (भागचन्दजी)

२—तीन भुवनमें सार वीतराग विज्ञानता। शिवस्वरूप शिवकार नमहुं त्रियोग सम्भारिके॥

३—"कापि।

स्वाधीनतासे मतलब यह है कि जिस तरह सांसारिक सम्पत्तियां पुण्योदयके अधीन हैं उस तरह यह किसी अन्यद्रव्य के वश या अधीन नहीं है, स्व—अपने ही अधीन है अथवा अपनी आत्माके ही अधीन है। स्वाधीनतासे मतलब उसके कर्त्तव्य[1] या नेतृत्वका भी है। संसारके विरुद्ध मोक्षमार्गके संचालनमें सभी गुणोंको योग्य बना देना इसीका कार्य है। श्रेयोमार्ग में काम करनेवाले सभी गुणोंको इसकी अपेक्षा है। इसके बिना कोई भी गुण आत्माको संसार-पर विजय प्राप्त करानेमें समर्थ नहीं है किन्तु इसके प्रकाशमें सभी गुण अपना २ यथोचित एवं यथेष्ट कार्य करनेमें समर्थ हो सकते हैं और होजाया करते हैं। अतएव यह कहना अत्युक्त न होगा कि आत्माको सर्वथा स्वाधीन बनाकर सिद्धि पदपर प्रतिष्ठित करानेमें मुख्यतया कर्तृत्व वास्तवमें इस सम्यग्दर्शनको ही प्राप्त है। इसी तरह नेतृत्वके विषयमें समझना चाहिये। क्योंकि यही एक ऐसा गुण है जोकि आत्माके अन्य गुणोंको अपने साध्यस्वरूपका प्रत्यय कराता उसमें रुचि उत्पन्न कराता, उधरको अभिमुख बनाता, और योग्य दिशा बताकर प्रेरणा प्रदान करता है। अनन्तसे मतलब यह है कि कालकी अपेक्षा इसकी कोई अवधि नहीं है जिसतरह पुण्य-सम्पत्तियोंका काल प्रमाण निश्चित[2] है उस तरह सम्यक्त्वकी स्थितिका प्रमाण नियत नहीं है वह अनन्त काल तक स्थित रहनेवाला है। यद्यपि पर्यायार्थिक नयसे जिसका कि अंतरंग कारण विपक्षी पुद्गल कर्मोंके सम्बन्धका अस्तित्व है उसके भेदोंका काल अन्तर्मुहूर्तसे लेकर छया-सठ[3] सागर तक आगममें बताया है फिरभी द्रव्यार्थिक नयसे सामान्यतया वह निरवधि ही है क्योंकि संसारपर्यायसे उसका सम्बन्ध छूट जानेके बाद वह अनन्त कालतक अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूपमें ही अवस्थित रहा करता[4] है।

शुद्धिसे मतलब यह है कि वह अन्य किसीभी द्रव्यसे संयुक्त नहीं हैं और इसीलिये तज्जन्य विकारोंसे भी अपरामृष्ट है। वह तो अपनेही पूर्ण शुद्ध स्वरूपमें अवस्थित है। इसीतरह वह पवित्र है। अर्थात् शुद्ध होकर भी मंगलरूप है, सब तरहके दोषोंसे रहित है, उसके निमित्तसे अन्य भी समस्त गुण विकारों या दोषोंसे रहित होकर पवित्र—समीचीन बन जाते हैं। ध्यान रहे शुद्धि और पवित्रतामें अन्तर है। इतनाही नहीं यह सम्यग्दर्शन स्वयं कल्याणकी मूर्ति एवं पिण्ड है और अन्यगुणों या प्रवृत्तियोंमेंसे अकल्याणकारिताका मूलोच्छेदन कर अनन्त निर्बाध कल्याणोंको उत्पन्न करनेकी योग्यतारूप बीजका वपन करने वाला है। इसके अविभाग प्रतिच्छेद अंश भी अप्रमाण अनन्त हैं। यद्यपि आगममें ज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद सर्वाधिक बताये गये हैं फिर भी यह कहना अत्युक्त न होगा कि ज्ञानके प्रत्येक अंशमें जो समीचीनता है वह इसीका परिणाम है और वरदान है। फलतः ज्ञानका वह प्रत्येक अविभाग प्रतिच्छेद अपनी समीचीन-ताके लिये सम्यग्दर्शनका ऋणी है एवं कृतज्ञ है। अपूर्व कहनेका आशय यह है कि इसकी शुद्धावस्था

१—स्वतन्त्रः कर्त्ता। २—ऐसा कोई पुण्यकर्म नहीं है जिसकी स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागरसे अधिक हो।

३—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थितिका यह प्रमाण है।

४—ध्रुव अचल अनुपम पंचमगतिको प्राप्त सिद्धोंके आठ गुणोंमें सम्यग्दर्शन प्रथम एवं मुख्य है।

अनादिकालीन नहीं है। उसकी विवक्षित सम्यक्त्वपर्यायका अनादिकालसे अभाव ही था। परन्तु अपने उस अनादि अभावका अभाव करके शुद्ध स्वरूपमें उद्भूत हुआ है। इस तरह प्रागभावका अभाव करके पूर्ण शुद्ध रूप प्राप्त कर लेनेवाले इस सम्यग्दर्शनका अब कभी भी प्रध्वंस नहीं होगा यही उसकी अनन्तता है। सांसारिक पौद्गलिक पुण्यकर्मजन्य विभूतियोंसे यह अत्यन्त भिन्न है यही उसकी शुद्धता है जो कि अत्यन्ताभावरूप है। इसका अपने सहचारी अनन्त आत्मिक गुणोंसे सर्वथा भिन्नत्व—अन्योन्याभाव रहते हुए भी उनपर समीचीनता आदिके सम्पादनका परम उपकार है, जिसके लिये कि वे सभी गुण इससे उपकृत हैं, यही इसका प्राधान्य है इसकी महत्त्वपूर्ण विशेषताओंका जिससे ठीक २ बोध कराया जासके ऐसा जगत्में कोई उपमान नहीं है। यदि इसकी स्वाधीनताकेलिये इन्द्र नरेन्द्र धरणीन्द्र आदिकी, अनन्तताकेलिये सदा स्थिर रहनेवाले सुवर्णरत्नमय पूज्य सुदर्शनमेरु आदिकी, शुद्धिके लिये सदा निर्लेप निर्विकार आकाशादिकी, पवित्रताकेलिये मंगलरूप अनादिसिद्ध क्षेत्र सम्मेदाचल या कृत्रिमाकृत्रिम चैत्यचैत्यालयोंकी सुखरूपताकेलिये नवनिधि चौदह रत्न अष्ट प्रातिहार्य अष्ट मंगलद्रव्य आदि पुण्यनिमित्तक समस्त संसारके अभीष्ट विषयोंकी, सुख बीजताके लिये कामधेनु चिन्तामणि चित्राबेल कल्पवृक्ष आदिकी अथवा अनन्त पुण्यके कारण देवपूजा तीर्थयात्रा पात्रदान आदिकी, अप्रमाणताके लिये असाधारण गम्भीरता रखनेवाले स्वयंभूरमण समुद्र आदिकी अपूर्वताके लिये अनादिनित्य निगोद पर्यायका परित्यागकर मानव पर्यायमें पात्रदानके प्रसादसे दशविध कल्प वृक्षोंका सुखोपभोग कर नवम ग्रैवेयक तकके पदको प्राप्त करनेवाले अभव्य जीवकी, प्रधानताकेलिये जिसके कारण तीन लोकके सभी अधीश्वर आकर नमस्कार करते हैं उस सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर पुण्य कर्मकी अथवा तज्जन्य जगदुद्धारक चौंतीस अतिशयोंसे विभूषित तीर्थंकर पदकीभी उपमा दीजाय तो वहभी उचित और ठीक नहीं होती। इस सम्यग्दर्शनके अनुपम समीचीन सुख स्वरूपकी महत्ता और अगाधता आदिको दृष्टिमें रखकर ही अतिशयित अनुभव रखनेवाले महर्षियोंने परमागममें कहा है कि यदि तीन लोक और तीन कालके सभी भोगभूमिया विद्याधर चक्रवर्ती आदि समस्त मनुष्यों और चारों ही निकायके देवोंके सम्पूर्ण सुखोंको एकत्र किया जाय तो भी वह सिद्धभगवान्‌के एक क्षणवर्ती सुखकी भी बराबरी नहीं कर[१] सकता।

अनिर्वचनीयसे मतलब यह समझा जाता है कि जो वचनके द्वारा न कहा जा सके। इसका कारण और कुछ नहीं शब्दकी ही अयोग्यता है। क्योंकि मूलमें शब्द संख्यात[२] ही हैं। एक

१—यद्दिव्यं यच्च मानुष्यं सुखं त्रैकाल्यगोचरम्। तत्सर्वं पिण्डितं नार्घः सिद्धक्षणसुखस्य च। आदि ११-२१५—नरकपशू दोनों दुखरूप, बहुनर दुखी सुखी नरभूप। ताते सुखी जुगलिये जान, तातैं सुखी फनेश बखान॥२८॥ ताते सुखी सुरगको ईश, अहमिंदर सुख अतिनिस दीस। सबतिहुँकाल अनन्तफलाय, सो सुख ऐक समै सिवराय॥२६॥ (धर्म विलास—द्यानतराय)

२—क्योंकि आगममें मूल वर्ण ६४ और उनसे बननेवाले अपुनरुक्त शब्दोंकी कुल संख्या एक कम पण्ट्ठी प्रमाण ही बताई है इसके लिये देखो गो० जीव काण्ड गाथा नं ३५२, ३५३।

शब्दके द्वारा एकही अर्थका प्रतिपादन हो सकता है यह मानलेनेपर शब्द संख्यासे अधिक अर्थोंका वे प्रज्ञापन नहीं कर सकते। शब्दोंको अनेक अर्थोंका वाचक मानलेनेपर भी उनमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वे सम्पूर्ण पदार्थोंका निरूपण कर सकें। यही कारण है कि पदार्थोंको प्रज्ञापनीय और अप्रज्ञापनीय इस तरह दो भागोंमें विभक्त कर दिया गया है। अनन्तानन्त पदार्थोंमेंसे सर्वाधिक भाग अप्रज्ञापनीय पदार्थोंका[१] ही है जिनका कि स्वरूप वास्तवमें शब्दके द्वारा नहीं बताया जा सकता ऐसे ही पदार्थोंमें यह सम्यग्दर्शन भी है।

सम्यग्दर्शनजन्य सम्पत्तियों के रूपमें जिन कार्योंका ऊपर उल्लेख किया गया है उन सबको और उनके सिवाय भी जो उसकी अनेक विशेषताएं पाई जातीं और आगममें बताई[२] गई हैं उन सबका किसी भी एक शब्दके द्वारा प्रतिपादन नहीं हो सकता। अतएव सम्पूर्ण विशेषताओं और कार्योंको दृष्टि में रखकर यदि उसके स्वरूपका निरूपण करनेका प्रयत्न किया जाय तो तत्त्वतः उसको अनिर्वचनीय कहनेके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है। इसके कारणोंमेंसे एक कारण यह भी है कि सम्यग्दर्शनका मुख्यतया विषय द्रव्य है न कि पर्याय। इसके साथ ही दूसरी बात यह कि जब कभी भी कहीं पर भी किसी भी शब्दका प्रयोग किया जाता है तब वहां जिस अर्थमें उसका प्रयोग किया गया है मूलमें पदार्थ उतना ही नहीं है। वह शब्द तो उस पदार्थके अनन्तवे अंशको ही बताता है। यदि वही शब्द सकलादेशकी अवस्थामें सम्पूर्ण पदार्थका प्रतिपादन करता है तो पहलेका अर्थ मुख्य न रहकर गौण होजाता है।

इस तरह सम्यग्दर्शनके विषयकी व्यापक स्थिर स्वाभाविक अपूर्व महत्ताको लक्ष्यमें लेकर ही आचार्यने "कापि" कहकर उसकी अनिर्वचनीयता व्यक्त की है जिससे पुण्यकर्मजन्य सम्पत्तियोंके गर्वसे उसकी अवहेलनामें प्रवर्तमान व्यक्ति यह समझ सके कि सुदर्शन मेरु के समक्ष पुण्य रूपी पंचपाद पशुकी[३] ऊंचाईका अभिमान ठीक नहीं है। अथवा शृगालके द्वारा सिंहकी अवहेलना किया जाना योग्य नहीं है। यद्वा क्षीरसमुद्रको अपने कूएसे छोटा समझनेवाले मेंढककी समझ तुच्छ है। पीली किन्तु पालिशदार होनेके कारण ही पीतल यदि सुवर्णकी अवगणना करे तो क्या योग्य होगा? नहीं। अधिक क्या जिस तरह काचरा अमृतका स्थान नहीं पासकता, धतूरा कल्पवृक्षकी समानता नहीं कर सकता, आकका दूध माता या गौके दूध की तुलना नहीं कर सकता, वेश्या सतीके महत्त्वको नहीं पा सकती, कौआ कोयल नहीं हो सकता, बगला हंस नहीं बन सकता, गधा घोडा नहीं माना जा सकता, नपुंसक पुरुषका काम नहीं कर सकता, म्लेच्छ आर्य नहीं हो सकता, और जुगुनू जगत्को आलोकित नहीं कर सकता। तथा

१—पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं। पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो गो० जी० ॥३३३॥

२—जैसाकि आगेके वर्णनसे मालुम हो सकेगा।

३—पंचपाद नाम ऊँटका है। यह लोकमें एक कहावत प्रसिद्ध है कि—ऊँट जब पहाडके नीचे पहुंचता है तब उसे अपनी उचाईके अभिमानकी निःसारता मालुम होती है।

जिस तरह रक्तमें यह सामर्थ्य नहीं है कि जलके समान वस्त्रको शुद्ध कर सके, इसी प्रकार पुण्य सम्पत्तियोंमें यह योग्यता नहीं है कि परम संवर निर्जरा और निर्वाणकी सिद्धिमें वह सम्यग्दर्शनका कार्य कर सके। अतएव पूर्वोक्त आठों ही कारणोंका गर्व करना और उससे सम्यग्दर्शन भूषित धर्मात्माओंकी अवहेलना करना अनुचित ही नहीं स्वयंको धर्मसे च्युत कर लेना है। क्योंकि जो जिस गुणको प्राप्त करना चाहता है वह उसकी और उस गुणवालेकी अवज्ञा करके प्राप्त नहीं कर सकता। उसका विनय करके ही वह उसको प्राप्त कर सकता, स्थिर रख सकता, तथा वृद्धिको प्राप्त कर सकता है।

इस तरह यहांतक सम्यग्दर्शनके विधिनिषेधात्मक आठ अंगोंका वर्णन करके स्व और परमें उसकी निरतीचारता तथा अविनाभावी अन्तरंग बाह्य प्रवृत्तिका स्वरूप बताया, उसके बाद तीन मूढताओंका निषेध करके अनायतनोंकी सेवासे संभव दोषों—मलिनताओं—त्रुटियोंसे उसकी रक्षाकरनेका उपदेश दिया, तदनन्तर यह बात भी स्पष्ट करदी गई और वैसा करके सावधान किया गया कि यदि पुण्यकर्मके उदय अथवा पापकर्मकी मन्दताके कारण प्राप्त वैभवके पक्षमें पड़कर उसके व्यामोहवश तुमने धर्म और धर्मात्माओंकी अवहेलना की तो निश्चय ही तुम स्वयं ही अपने धर्म और उसके फलसे—अनन्त कल्याणके कारण और उसके फलसे वंचित रहजाओगे।

किन्तु अब प्रश्न यह होता है कि ऊपर सम्यग्दर्शनकी रक्षा एवं सफलताकेलिये जो कुछ बताया गया है उतना ही पर्याप्त है अथवा उसके लिये और भी कुछ आवश्यक कर्तव्य शेष है? इसके उत्तरमें आगेकी कारिका द्वारा आचार्य बताते हैं कि सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि पूर्णता तथा वास्तविक सफलताकेलिये यह भी आवश्यक है कि—

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥३०॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टियों को चाहिये कि भय आशा स्नेह और लोभसे कुदेव कदागम और कुलिङ्गियोंको प्रणाम तथा विनय न करें।

प्रयोजन—शुद्ध सम्यग्दर्शनका वर्णन करते हुए आचार्यश्रीने सबसे प्रथम उसके आठ अंगोंका वर्णन किया है जिसमें निःशङ्कितादि चार निषेधरूप अङ्गोंके द्वारा उसकी निरतीचारताका होना आवश्यक बताया है। इसके सिवाय चार विधिरूप अंगोंका वर्णनकरके इस बातको स्पष्ट करदिया है कि सम्यग्दृष्टि की अंतरंग तथा बाह्य प्रवृत्ति किस तरहकी हुआ करती है अथवा किसतरहकी होनी चाहिये। इसी कथनसे यह भी व्यक्त कर दिया गया है कि स्व और परके साथ होनेवाला या किया जानेवाला वह कौनसा व्यवहार है जिसको कि देखकर उसके अविनाभावी सम्यग्दर्शन के अस्तित्वका अनुमान किया जा सकता है। जिस प्रकार रोगनिर्हरण और स्वस्थतासम्पादन [illegible] आयुर्वेद शास्त्र आठ अंगोंमें पूर्ण होता है। उसीप्रकार यह सम्य-

ग्दर्शन भी रोगरूप अतीचारोंसे रहित होकर पथ्यरूप प्रवृत्तियों—उचित आहार विहार अर्थात् अन्याय और अभक्ष्य भक्षणसे रहित आचरणोंके द्वारा अपने आठोंही अवयवोंमें पूर्ण हो जाता है। इसके बाद तीन मूढताओंका निषेध करके आचार्यने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि सम्यग्दर्शनकी शुद्धताको स्थिर रखनेकेलिये यह भी आवश्यक है कि उसे अनायतनोंकी रुचि एवं श्रद्धासे भी दूर रक्खा जाय। ध्यान रहे तीन मूढताओंके कथनसे छहों अनायतनों का सम्बन्ध आजाता है।

अन्तमें आठ मदोंके परित्यागका वर्णन करके यह बात भी स्पष्ट करदी है कि पापकर्मकी मन्दता या पुण्य कर्मके उदयसे लब्ध वैभव के व्यामोहवश धर्म—सम्यग्दर्शनादिकी अथवा तद्वान् व्यक्तियों की अवहेलना करना अपने ही धर्मका विनाश करना अथवा उसको मलिन बनाना है। क्योंकि आठ प्रकारके मदोंमें कुछ तो ऐसे हैं जो कि प्रतिपक्षी पापकर्म—ज्ञानावरण अन्तराय आदिके क्षयोपशमके रूपमें मन्दोदयकी अपेक्षा रखते हैं और कुछ पूज्यता कुल जाति आदि ऐसे हैं जो पुण्य कर्मके उदयविशेषकी अपेक्षा रखते हैं।

सम्यग्दर्शनके २५ मलदोष प्रसिद्ध हैं उन सबकी परिहार्यताका परिज्ञान इस त्रिविध वर्णनसे ही हो जाता है फिर ऐसा कोई विषय शेष नहीं रहता जिसके कि परित्यागके लिये पुनः वर्णन की आवश्यकता हो। अत एव यह कारिका अपना क्या विशिष्ट प्रयोजन रखती है? अथवा पूर्व वर्णनका ही यह उपसंहारमात्र है किसी नवीन भिन्न विषयके वर्णनका प्रयोजन नहीं रखती इस तरहका प्रश्न अथवा जिज्ञासाका भाव उपस्थित होना सहजसंभव है। मालुम होता है कि इसीलिये आचार्य भगवान् उपस्थित हो सकनेवाले इस प्रश्न अथवा जिज्ञासाके भाव का उचित एवं संगत समाधान करदेना चाहते हैं। वे इस कारिकाके द्वारा गत विषयोंका उपसंहार करते हुए उसमें और भी जो कुछ विशेष उल्लेख करना आवश्यक है उसको भी स्पष्ट करदेना चाहते और साथ ही कुछ नवीन परिहार्य विषय का भी निर्देश करदेना चाहते हैं। इस तरह दोनों ही विषयों पर प्रकाश डालना इस कारिकाका प्रयोजन है। जैसा कि आगेके वर्णनसे मालुम हो सकेगा।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—

भयाशास्नेहलोभात्—इस पदमें आये हुए शब्दोंका सामान्यतया अर्थ प्रसिद्ध और स्पष्ट है। भयका अर्थ "डर" यह लोक विदित है किन्तु शंका अर्थमें भी इस शब्दका प्रयोग होता है। इसलोकभय परलोकभय आदि विषय भेदकी अपेक्षा इसके सात भेदोंका उल्लेख किया गया है। यह मुख्यतया दो अन्तरङ्ग कारणोंपर निर्भर है।—भयनामक नोकषायकी उदीरणा तथा वीर्यान्तराय कर्मकी उदीरणा अथवा तीव्रोदय।

आगेकेलिये किसी विषयको प्राप्त करनेकी इच्छा रखना आकांक्षा करना आशा है। स्नेहका सम्बन्ध राग कषायसे है। प्रेम, अनुराग, प्रीति आदि स्नेहके ही भेद अथवा अपर पर्याय हैं। वर्तमानमें किसी वस्तुके प्राप्त करनेकी उत्कट भावनाको लोभ शब्दसे यहां बताया गया है।

चारों ही शब्दोंका यहां पर समाहार द्वन्द्व समास करके हेत्वर्थमें पंचमीका प्रयोग किया गया[१] है। समाहार द्वन्द्व समासके विषयमें यह कहा जा चुका है कि समासगत द्रव्य गुण क्रिया विशेषण और साहित्य प्रधान या विशेष्य माना जाता है। जिस तरह आम पीपल नीम वट जामुन आदि अनेक तरहके वृक्षोंके विशिष्ट समूहको वन कहते हैं, एक दो वृक्षोंको वन नहीं कहते। यद्यपि कदाचित् एक जातिके वृक्षोंका भी बडा समूह हो जाने पर वन कहा जा सकता है। किन्तु इसकेलिये भी उस जातिके वृक्षोंका यथेष्ट प्रमाणमें एकत्र होना आवश्यक है फिर भी जिस तरह एकको समूह नहीं कह सकते और समूहको एक नहीं कह सकते उसी तरह प्रकृतमें भी भयादिकमेंसे किसी एकको समाहार नहीं कहा जासकता और समाहारको भयादिकमेंसे किसी एक रूप नहीं कहा जासकता। इसका तात्पर्य यह होता है कि जहां तक इन चारोंकेही तीव्र उदय अथवा उदीरणाकी योग्यता—ऐसी योग्यता कि जिसके निमित्तसे इनमेंसे किसी भी विभाव परिणामके द्वारा सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाली प्रवृत्ति हो सकती है, बनी हुई है वहां तक वह समाहार भी माना जायगा जो कि वास्तवमें सम्यग्दर्शनकी मलिनताका अन्तरंग कारण है जिसका कि दर्शनमोहनीयकर्मकी सम्यक्त्व प्रकृतिके नामसे बोध कराया जा सकता अथवा जो अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्टयके रूपमें कहा या माना जा सकता है। मतलब यहकि उक्त मल दोषों और इस कारिकाके द्वारा जिसका परिहार बताया गया है वह दोष भी क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी अवस्थामें ही संभव है, न कि औपशमिक एवं क्षायिक सम्यक्त्वकी अवस्थामें। जैसाकि[२] धवला—गोमट्टसार आदिसे जाना जासकता है।

"च" शब्द पूर्वोक्त मलदोषोंके हेतुओंका भी सम्बन्ध बताता है। क्योंकि यहांपर "च" शब्द अपि—भी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। जिससे अभिप्राय यह निकलता है कि उक्त कारणों से तथा भयादिकसे भी कुदेवादिकोंको प्रणाम आदि न करे। अतएव यह "च" शब्द इस कारिकामें बताये गये भयादिक हेतुओंका पूर्वोक्त हेतुओंके साथ संग्रह—संकलन—समुच्चयको स्पष्ट करदेता है।

कुदेवागमलिङ्गिनाम्—सम्यग्दर्शनके विषयभूत आप्तआगम और तपोभृतका स्वरूप पहले बताया जा चुका है। उनका लक्षण या वह स्वरूप जिनमें नही पाया जाता अथवा जिनमें तद्विरुद्ध लक्षण या स्वरूप पाया जाता है वे ही कुदेव कदागम और कुलिङ्गी हैं। अथवा इनके साथ प्रयुक्त होनेवाला "कु" शब्द दर्शनमोहनीयके उदयरूप मिथ्यात्व परिणामके अन्तरंग भावके सम्बन्धको सूचित करता है। जो इस मिथ्याभावसे दूषित हैं उनको कुदेव कदागम और कुलिङ्गी समझना चाहिये ऐसा अर्थ करने पर जो आप्ताभास हैं, आगमाभास हैं, तथा पाखण्डी हैं वे सभी प्रणाम एवं विनयके अविषय होजाते हैं।

१—भयश्च आशा च स्नेहश्च तेषां समाहारः भयाशास्नेहलोभम्, तस्मात्। २—तत्थ खइयसम्मा इट्ठी ण कयाइवि मिच्छत्तं गच्छइ, ण कुणइ संदेहं पि, मिच्छत्तुब्भवं दट्ठूण णो विम्हयंजायदि। एरिसो चेव उवसमसम्माइट्ठी। सत् प्ररूपणा पृ.१७१। वयणेहिं विहेदूहि वि इंदिभय आणएहि रूवेहि। बीभच्छजुगुञ्छाहिं य तेलोकेणवि ण चालेज्जो ॥६४७॥ गो.जी. तथा—"रूपभयंकरैर्वाक्यैर्हेतुदृष्टांतसूचिभिः। जातु क्षायिकसम्यक्त्वो न क्षुभ्यति विनिश्चलः ॥

इस वाक्यमें इतरेतरयोग[1] द्वन्द्व समास है। अतएव यहां पर साहित्य प्रधान नहीं है, द्रव्य प्रधान है। इसलिये कुदेवादिकमेंसे कोई भी क्यों न हो; एक दो हों अथवा तीनों ही हों उनको प्रणाम या विनय करनेपर सम्यग्दर्शन मलिन माना ही जायगा यह वाक्य प्रणाम या विनयरूप क्रियाका कर्म है। किन्तु जहां सम्बन्धमात्रकी विवक्षा होती है तो वहां कर्ममें[2] षष्ठी भी होजाया करती है।

प्रणामं विनयं चैव—दूसरेको अपनेसे बडा या महान् मानकर उसकी महत्ताको प्रकट करते हुए अपना शिर झुकाकर स्वयंकी नम्रताको प्रकट करना प्रणाम माना जाता है। और हाथ जोडकर अथवा वचन द्वारा प्रशंसा करके यद्वा उच्चासन देकर एवं अनुगमनादिके द्वारा आदर सत्कारका भाव प्रकट करना विनय कहा जाता है।

शुद्धदृष्टयः—जिनका सम्यग्दर्शन पूर्वोक्त दोषों—शंका आदि आठ दोष तीन मूढता और आठ मदसे रहित है वे शुद्धदृष्टि है ऐसा समझना चाहिये।

तात्पर्य—यह कि आगममें विनयके पांच भेद बताये हैं जिनका कि नामनिर्देश पहले किया जा चुका है। उन पांच भेदों को सामान्यतया लौकिक और पारलौकिक इस तरह दो भागोंमें विभिक्त किया जा सकता है। लोकाश्रय अर्थाश्रय कामाश्रय और भयाश्रय इन चार भेदोंको विनयके लौकिक भेदमें परिगणित किया जा सकता है। क्योंकि ये भेद ऐहिक—सांसारिक विषयोंसे सम्बन्धित हैं। इन चारोंके सिवाय एक मोक्षाश्रय विनयका भेद ही ऐसा है जिसका कि विषय वास्तवमें पारलौकिक—मोक्षमार्गसे सम्बन्धित है।

सम्यग्दर्शन मोक्षमार्गरूप होनेसे वस्तुतः पारलौकिक है। अतएव उसकी शुद्धि केलिये जिन मल दोषोंका परित्याग करनेका आचार्योंने उपदेश दिया है उसमें भी उनका लक्ष्य मुख्यतया पारलौकिक विनयकी तरफ ही रहा है यह भलेप्रकार समझ में आसकता है। फलतः यहां पर भी ऊपर जिन मूढ़ताओं आदिके छोड़नेका भगवान् समन्तभद्रस्वामीने जो सदुपदेश दिया है वह भी मुख्यतया मोक्षाश्रय विनयकी दृष्टिसे ही दिया है यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसी अवस्थामें चार ऐहिक विनयभेदोंके विषय सम्बन्धको दृष्टिमें रखकर शंका हो सकती है कि सम्यग्दृष्टिको ये चार प्रकारके विनय कर्म भी करने चाहिये या नहीं? अथवा इन विनयों के करनेपर भी सम्यक्त्व निर्दोष रहता या रहसकता है या नहीं? इस शंकाका परिहार करनेकेलिये ही आचार्य प्रकृत कारिकाके द्वारा बताना चाहते है कि प्रणाम और विनय क्रियाका विषय सम्बन्ध कुदेवादिकके साथ है। अत एवं यदि कुदेवादिकको प्रणाम आदि किया जाय तो सम्यग्दर्शन शुद्ध नहीं रहसकता। ऐहिक विनय कर्मोंके साथ कुदेवादिकका वस्तुतः कोई नियत सम्बन्ध नहीं है। उनको प्रणाम आदिका करना दो तरहसे ही संभव हो सकता है। एक तो धार्मिक-पारलौकिककल्याणकी कामनासे भक्तिवश उनको नमस्कार आदि करना, दूसरा अन्तरंगमें

१—देवश्च आगमश्च लिंगी च, देवागमलिंगिनः। कुत्सिताः देवागमलिंगिनः—कुदेवागमलिंगिन., तेषाम्।

२—"कर्मादीनामपि संबन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव"। सि० कौ० पृ० १४६।

भक्तिके न रहते हुए भी किसी के अनुरोधसे अथवा बिना किसी प्रेरणाके स्वयं ही अपने ऐहिक सम्बन्धोंको अच्छे एवं अक्षुण्ण या निर्बाध बनाये रखनेके हेतुसे विवश होकर वैसा करना। इनमेंसे पहला प्रकार तो मिथ्यात्वको ही सूचित करता है। दूसरा प्रकार सम्यग्दर्शनकी कमजोरी या मलिनताका कारण भी है और कार्य भी है। क्योंकि जिसका सम्यग्दर्शन दुर्बल है यद्वा समल है वही इस तरहसे कुदेवादिककी वन्दना आदि में प्रवृत्ति कर सकता है। तथा इस तरह की प्रवृत्ति करनेवालेके सम्यग्दर्शनमें मल उत्पन्न होता और उससे उसकी शक्ति भी क्षीण होजाया करती है।

सम्यग्दर्शनको समल बनानेवाली यह प्रवृत्ति प्रायः करके चार बाह्य हेतुओं पर निर्भर है जिनका कि प्रकृत कारिकाके प्रथम चरणमें उल्लेख किया गया है। अर्थात् भय आशा स्नेह और लोभ। मतलब यह कि राजा आदिके भयसे, भविष्य में प्राप्त होने वाले अर्थ—धन ऐश्वर्य आदि की इच्छासे, मित्रादिके अनुराग से, एवं वर्तमानमें उपस्थित सम्पत्ति की गृद्धिवश यदि कोई सम्यग्दृष्टि कुदेवादिकको प्रणाम आदि करता है तो उसका सम्यग्दर्शन शुद्ध नहीं रह सकता। अवश्य ही वह मलिन होजाता है।

राजा वन्दना करता है, हम यदि इनकी वन्दना नहीं करेंगे तो राजा रुष्ट होकर हमारा अनर्थ कर सकता है। हो सकता है कि हमको अधिकारसे वंचित करदे अथवा हमको आपत्ति में पटक दे या दण्डित करे इस तरहके किसी भी भयसे कुदेवादिककी वन्दना करना।

आगे जो हमारा काम बननेवाला है वह यदि इनकी बन्दना आदि नहीं करेंगे तो नहीं बनेगा, इनके उपासकों आदि के द्वारा हमारा वह काम बिगाडा जा सकता है, अथवा हमारे अभीष्ट योजनकी सफलतामें बाधा पडसकती है, यह विचार करके कुदेवादिकको प्रणाम आदिक करना। ये जितने हमारे सम्बन्धी हैं—जातीय बन्धु हैं, अथवा हमारे सहचर या परिकरके लोग हैं, वे सभी इनकी पूजा भक्ति उपासना करते हैं, इनके साथ रहकर मैं भी यदि इनकी वन्दना आदि नहीं करूंगा तो अच्छा नहीं लगेगा, ऐसा विचारकर अथवा बन्धु बान्धवोंके स्नेहसे या संकोच में पडकर उनकी वन्दना आदि करना। अथवा वैसी प्रवृत्तिका प्रचारकरना कराना।

इस समय हमारे पास जो सम्पत्ति है वह हमारी कमाई हुई नहीं है, हमारे पूर्वजोंकी कमाई या दी हुई भी नहीं है हमको जो यह मिली है या इसका अधिकार मिला है वह ऐसे ही लोगोंकी है जो कि इनके उपासक थे या हैं, अब हम यदि उनके विरुद्ध चलते हैं या उनके नियमका पालन नहीं करते हैं तो यह सम्पत्ति हमारे पास नहीं रह सकती, यद्वा नियमानुसार हम इसके उत्तराधिकारसे वंचित हो जा सकते हैं, इस तरह प्राप्त सम्पत्तिकी गृद्धिवश कुदेवादिककी भक्ति आदि करना।

इस तरह ये चार प्रकार हैं जो कि मुख्यतया तीव्र कषायके परिणाम हैं। इनमेंसे किसी भी प्रकारसे कुदेवादिको प्रणामादि करनेपर सम्यग्दर्शन मलिन होता है। क्योंकि कुदेवादिक न तो

राज्यके ही अधिकारी हैं न उनके साथ कोई जातीय सम्बन्ध है न अर्थपुरुषार्थके ही वे सम्बन्धी या साधक हैं। और न उनसे अन्य किसी प्रकारके अनर्थ अपयश या अपाय होनेकी शंकाका ही कोई कारण हैं। फिर भी यदि उनको बन्दना आदि कोई सम्यग्दृष्टि करता है जैसाकि ऊपर बताया गया है तो अपनी ही कषायकी तीव्र परिणति अथवा तदनुसार होनेवाली दुर्बलता ही उसका अन्तरंग मुख्य हेतु माना जा सकता है। यदि कोई गृहस्थ है तो वह अपने धर्म अर्थ काम या यशसे सम्बन्धित व्यक्तियोंका यदि वे कदाचित् मिथ्यादृष्टि भी हों तो भी उनका कदाचित् ऐहिक विनय एवं यथोचित सम्मान स्वयं सम्यग्दृष्टि होकर भी कर सकता है। जो कि पूर्वोक्त चार प्रकारोंमें बताये गये हैं। परन्तु जिनके साथ इस तरहका कोई भी सम्बन्ध नहीं है ऐसे कुदेव कुगुरु या पाखण्डियोंका विनय करनेमें अपनी अन्तरंग कमजोरीके सिवाय दूसरा कोई भी अन्य उचित कारण नहीं है। और ये कमजोरी सामान्यतया चार प्रकारकी ही संभव है जो कि यहां बताई गई हैं—भय आशा स्नेह और लोभ।

सम्यग्दर्शनका लक्षण-वर्णन करते समय श्रद्धानरूप क्रियाके तीन विशेषण दिये[1] हैं—त्रिमूढापोढ अष्टांग और अस्मय। इनमेंसे अष्टांग विशेषणका आशय भयादिके कथनसे आजाता है क्योंकि भय आशा स्नेह और लोभ क्रमसे शंका कांक्षा विचिकित्सा और मूढदृष्टिके ही रूपान्तर या प्रतीकरूप हैं। अतएव इस एक विशेषणका अभिप्राय कारिकाके प्रथम वाक्यसे ही स्पष्ट होजाता है। फलतः "शुद्धदृष्टयः" के अर्थमें शेष दो विशेषणोंका लक्ष्य रखना ही उचित प्रतीत होता है और इसीलिये इस शब्दकी जो इस प्रकारसे निरुक्ति की गई है कि "मूढत्रयमदाष्टकेभ्यो मलेभ्यः शुद्धा—मृष्टा दृष्टिर्येषाम् ते शुद्धदृष्टयः" सर्वथा संगत और विचारपूर्ण है।

ऊपर जिस चार तरहके लौकिक विनयका उल्लेख किया गया है उसके साथ कारिकोक्त भयादिक चार पदोंका सम्बन्ध स्पष्ट है। क्योंकि भयशब्दसे भयाश्रय विनयका, आशाशब्दसे लोकाश्रय विनयका, स्नेह शब्दसे कामाश्रय विनयका और लोभ शब्दसे अर्थाश्रय विनयका अभिप्राय व्यक्त हो जाता है।

प्रकृत कारिकामें तीन पद मुख्य हैं—हेतुपद (भयाशास्नेहलोभात्) कर्मपद (कुदेवागम-लिंगिनाम्) क्रियापद (प्रणामं विनयं)। तीनों ही पदोंपर एक दृष्टि रखकर विचार करनेसे मालूम होसकता है कि इन तीनोंही विषयोंके मिलनेपर सम्यग्दर्शनकी अशुद्धता सबसे अधिक संभव है किन्तु इनकी विकलतामें भी सम्यग्दर्शन मलिन ही होसकता है। यह दूसरी बात है कि कारण वैकल्यके अनुसार दोषरूप कार्यमें भी न्यूनाधिकता पाई जाय।

हम जैसा कि कारिका नं० २३ की व्याख्यामें लिख चुके हैं उसी प्रकार यहांपर भी विचार किया जासकता है। तथा विचार करनेपर मालूम हो सकता है कि इन तीनोंकी पूर्णता और विकलताकी अवस्थामें सम्यग्दर्शनकी अशुद्धि भी समानरूपमें न होकर न्यूनाधिक भी हो सकती

१—कारिका नं०४।

है। किन्तु यह बात हेतुरूप अन्तरंग आशय या परिणामोंकी जात्यन्तरतापरजिस तरह निर्भर है उसी प्रकार (कर्मरूप) कुदेवादिककी विशेषता पर भी आश्रित है। उस विशेषताके आधारपर ही वास्तवमें सम्यग्दर्शनकी होनेवाली अशुद्धिमें अतिक्रम व्यतिक्रम अतीचार या अनाचारका निश्चय किया जा सकता है अतएव परिस्थितिके अनुसार ही यथायोग्य दोषका निर्णय करना चाहिये। क्योंकि सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होने या न होनेमें जिस तरह अन्तरंग बाह्य दोनों ही कारण अपेक्षित एवं आवश्यक हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होजानेके बाद उसमें किसी भी प्रकारकी मलिनताके न होने देनेमें भी अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही तरहकी प्रवृत्तिमें संभाल रखना आवश्यक है। यहांपर जो हेतु वाक्य दिया है वह अन्तरंग-परिणामोंकी संभालके लिये है और कर्मपद तथा क्रियापदोंका जो प्रयोग किया है वह बाह्य बाधक साधनोंसे बचानेका संकेत करनेके लिये है। फिर भी सम्यग्दर्शनके विरोधी बाह्य विषयोंका परित्याग करना ही संसारसे अपनेको हटाकर विशुद्ध सिद्ध एवं कर्मनोकर्मसे मुक्त अवस्थामें परिणत करदेनेकी न केवल इच्छामात्र रखने वाले किंतु उसके लिये मनसा वाचा कर्मणा अपना अनवरत प्रयत्न करने वाले प्रत्येक भव्यात्मा मोक्षार्थीका प्रथम कर्तव्य है। इसीलिये वह मुख्यतया आवश्यक है। इसका कारण यह भी है कि आजकल यहां हुंडावसर्पिणी काल प्रवर्तमान है जिसकेकि निमित्तसे द्रव्य मिथ्यात्वकी उत्पत्ति होगई है—और दिनपर दिन वह बढती ही जारही है। ऐसी अवस्थामें दुर्बल हृदय भव्योंके सम्यग्दर्शन एवं उसकी विशुद्धिका बना रहना अत्यन्त कठिन होगया है और होता जारहा है। अतएव प्राणिमात्रके निःस्वार्थ सच्चे हितैषी दूरदर्शी आचार्य सम्यग्दर्शन की विशुद्धिको स्थिर रखनेके लिये उपदेश देते हैं कि तीन मूढता और आठ मदोंसे बचाकर अपने अष्टांग सम्यग्दर्शनको शुद्ध रखनेवाले भव्योंको चाहिये कि कुदेवागमलिङ्गियोंको प्रणाम-शिरोनमनादि न करें और न उनका विनय—अभ्युत्थानादिके द्वारा सत्कार ही करें। प्रसंग पडनेपर भयादिकी अन्तरंग दुर्बलताओंको भी स्थान न दें। अपने भीतर जागृत ही न होने दें कदाचित् होने लगें तो उनका सर्वथा निग्रह करनेका प्रयत्न करें।

इस हुण्डावसर्पिणी कालमें कुदेवोंमेंसे महादेवकी अश्लील मूर्तिकी पूजाका जो प्रचार हुआ है वह भयवश हुआ है। श्री कृष्णकी सराग मूर्तिकी पूजाका प्रचार स्नेह एवं लोभवश हुआ है। वेद जैसे हिंसाविधायक कदागमका जो प्रचार हुआ है वह आशावश[१] हुआ है। इसी तरह अनेक प्रकारके पाखंडोंका प्रचार एवं पाखण्डियोंकी जो वृद्धि हुई है उसके अन्तरंग वास्तविक कारण भय आशा[४] स्नेह और लोभ ही हैं। अतएव ग्रन्थकर्त्ता स्वयं उदाहरण बनकर कहते हैं कि कैसा भी भयंकर प्रसंग आ जानेपर भी कुदेवादिको प्रणामादि करनेके लिये अपनेको भयादिकसे अभिभूत नहीं होने देना चाहिये।

१,४—इन सबकी कथाएं कथाकोष हरिवंश पुराणादिसे जानी जासकती हैं।

एक बात और है, आगममें मनुष्योंको दो भागोंमें विभक्त किया है; एक आर्य दूसरे म्लेच्छ[1]। जिनमें सम्यग्दर्शनादि गुणोंके उत्पन्न—प्रकट होनेकी योग्यता है अथवा जो उन गुणोंसे विभूषित हैं वे सब आर्य[2] हैं। जिनमें यह योग्यता नहीं पाई जाती वे सब म्लेच्छ[3] हैं। आर्योंके पांच भेद हैं—क्षेत्रार्य जात्यार्य कर्मार्य चारित्रार्य और दर्शनार्य। जो सम्यग्दर्शन से युक्त है वह दर्शनार्य है। ऐसा व्यक्ति अपनेसे नीचेके चार विषयोंके सम्बन्धको लेकर कदाचित् अपने सम्यग्दर्शनको अशुद्ध बना सकता है। क्योंकि या तो क्षेत्रकी अपेक्षा अपने देश प्रान्त आदिके लोगोंके भयसे अथवा इसके अधिपति राजा आदिके भयसे सम्यग्दर्शनके विरोधी कुदेवादिकी उपासनामें कदाचित् प्रवृत्त होसकता है। अथवा जातीय सम्बन्धोंके निमित्तसे स्नेहवश वैसा कर सकता है। क्योंकि एक ही जातिमें दो भिन्न २ धर्मोंके उपासक होने पर उनका विवाह आदि सम्बन्ध होजानेके बाद ऐसे अवसर सहज ही आसकते है कि जिनमें सम्मिलित होनेसे अथवा उनका संस्कार पडजानेपर सम्यग्दर्शनकी यथेष्ट विशुद्धि प्राय नहीं रह सकती। अथवा कर्म—आजीविका के सम्बन्धसे लोभके वश ऐसे भी काम किये जासकते हैं या कदाचित् कोई कर सकता है किं जिसके कारण सम्यग्दर्शन निर्मल नहीं रह सकता है। चौथी बात चारित्रकी है जिससे कि पर-लोकमें यथेष्ट विषय, अभ्युदय, कल्याण आदिकी आशासे यह जीव सम्यग्दर्शनको मलिन करने वाले चरित्रको धारण करके वैसा कर सकता है। अतएव आचार्यने बताया है कि सम्यग्दृष्टि आर्य पुरुषको अपना सम्यग्दर्शन निर्मल शुद्ध बनाये रखनेकेलिये इस बात पर अवश्य ही ध्यान रखना चाहिये कि इन चारों ही सम्बन्धोंमें रहते हुये भी भयादिके द्वारा स्वयं कुदेवादिकोंको प्रणाम विनय आदिकी प्रवृत्ति न करे प्रत्युत विवेकपूर्वक अपने धर्मको सुरक्षित रखकर सफल बनानेका ही उसे यत्न करना चाहिये।

इसप्रकार सम्यग्दर्शनके स्वरूपका वर्णन यहां तक समाप्त होजाता है। अब प्रश्न यह उप-स्थित होता है कि संसारके दुःखोंसे निकालकर जीवको उत्तम सुखकी अवस्थामें रखनेवाले जिस धर्मका व्याख्यान करनेकी ग्रन्थकी आदिमें प्रतिज्ञा कीगई थी वह रत्नत्रयात्मक है, केवल सम्यग्दर्शनरूप ही नहीं है। फिर क्या कारण है कि सम्यग्दर्शनका ही सबसे प्रथम वर्णन किया गया? तीनोंका युगपत् वर्णन हो नहीं सकता, क्रमसे ही जब वर्णन हो सकता है तो तीनों में से चाहे जिसका ग्रन्थकर्त्ता अपनी इच्छा या रुचिके अनुसार वर्णन करे। तदनुसार पहले सम्यग्दर्शनका वर्णन कर दिया गया है। ऐसा है क्या? या और कोई बात है। इस प्रश्नका उत्तर स्वयं आचार्य ही आगेकी कारिकामें देते हैं—

दर्शनज्ञानचारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥३१॥

१—आर्या म्लेच्छाश्च। त० सू०।
२—गुणैः (सम्यग्दर्शनादिभिः) गुणवद्भिर्वा अर्यन्त इति आर्याः। स०सि०।
३—सब्बा मिलेच्छाण मिच्छत्तं। ति०प०। अथवा "धर्मकर्मबहिर्भूता: त इमे म्लेच्छका मताः। आ०पु०

अर्थ—ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा दर्शन—सम्यग्दर्शन साधुता समीचीनता एवं उत्कृष्टताको अधिक व्याप्त करता है। क्योंकि भगवान उस दर्शनको मोक्षमार्गमें कर्णधार बताते हैं।

प्रयोजन—सम्यग्दर्शनके स्वरूपका वर्णन पूर्ण होजानेके बाद उस वर्णित विषयकी गौणता मुख्यता या समानताका प्रश्न अत्यन्त आवश्यक होजाता है। और इन तीनमेंसे किसी भी एकके मालुम होजानेपर उसके हेतुकी जिज्ञासा हुआ करती है। जिनके हृदयमें "कथमेतत्" का प्रश्न या तो उठता नहीं या उठ नहीं सकता उनके लिये हेतुरहित भी कथन पर्याप्त हो सकता है। जो हेतुपूर्वक समझना चाहते हैं उनके लिये ऐसे हेतुकी आवश्यकता रहती है कि जो उनके अनुभवमें भी आसके। जो आगमपर श्रद्धा रखनेके कारण सम्यग्दृष्टि तो हैं फिर भी यदि वे विशेष जिज्ञासु होनेके कारण वर्णित विषयका अनुभवपूर्ण समर्थन सुनना या जानना चाहते हैं तो समर्थ वक्ताका आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि वह श्रोताके सम्मुख आगम के अनुकूल या उससे अविरुद्ध अनुभवमें आसकनेवाली युक्तियोंको उपस्थित करनेका प्रयत्न करे जिससे श्रोताका ज्ञान सशंक न रहकर वह निर्दिष्ट हितमार्गमें भले प्रकार चलनेमें समर्थ हो सके और उसमें वह दृढ रह सके।

इस तरह युक्ति अनुभव और आगम तीनोंके द्वारा उपस्थित प्रश्नका उत्तर इस कारिकाके द्वारा आचार्य देना चाहते हैं और बतादेना चाहते हैं कि यद्यपि धर्म रत्नत्रयात्मक ही है जैसा कि प्रारम्भमें बताया गया है तथा मोक्ष या संसार निवृत्तिकी हेतुभूतताकी अपेक्षा तीनोंमें समानता भी है, और अपना२ कार्य करनेमें साधक होनेकेकारण तीनों ही असाधारण विशिष्टता रखते हुए भी समान हैं, इसके सिवाय परम निर्वाण की सिद्धि में एक या दोमें नहीं किन्तु तीनों में परस्पर नान्तरीयकत्व भी है क्योंकि तीनोंमेंसे किसी भी एकके न रहने पर वह सिद्ध नहीं हो सकती। फिर भी इनमेंसे सबसे प्रथम सम्यग्दर्शनके ही वर्णन करनेका कारण यह नहीं है कि किसी भी एकका तो वर्णन प्रथम होना ही चाहिये। अथवा यह बताना भी नहीं है कि मोक्ष की सिद्धिमें ये क्रमसे उत्तम मध्यम जघन्य कारण हैं तदनुसार क्रमसे पहले उत्तम कारण रूप सम्यग्दर्शनका वर्णन यहां कर दिया गया है और अब आगे मध्यम कारण ज्ञानका वर्णन करके अन्तमें जघन्य कारण चारित्र का वर्णन किया जायगा। क्योंकि तीनोंमें ही अपने२ अंश में कार्यसाधकताकी अपेक्षा समानता और परस्परमें नान्तरीयकता है यह बात ऊपर कही जा चुकी है। फिर सम्यग्दर्शनके ही प्रथम वर्णन करनेका कारण क्या है?

इसके उत्तरमें आचार्य हेतु हेतुमद्भावको बतानेवाले दो वाक्योंके द्वारा उसकी सापेक्ष साधिमानताका उल्लेख करते हैं। जिससे वे स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि मोक्षमार्ग में तीनों ही साधन हैं और इस दृष्टि से तीनों में समानता भी है; फिर भी इनमें जो सबसे बडी एक विशेषता है वह यह है कि ज्ञान और चारित्र इन दोनों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन की साधुता अधिक प्रशस्त है और उत्कृष्ट है। दृष्टान्तगर्भित युक्ति या हेतुके द्वारा वे बताना चाहते हैं कि सम्यग्दर्शन और ज्ञान

चारित्रकी साधुतामें उपजीव्योपजीवक संबंध है सम्यग्दर्शनकी साधुता उपजीव्य है—ज्ञानचारित्रकी साधुता केलिये आश्रय है। ज्ञान और चारित्र इन दोनोंकी साधुता दर्शनकी साधुताके आश्रयसे जीवित रहती है। ज्ञान और चारित्रकी साधुता उपजीवक—उपजीविकाकेलिये किसीके आश्रयमें रहनेवाले नौकरनौकरानीके समान हैं। अतएव जो स्वामीकी तरह प्रधान है उसका प्रथम वर्णन करना उचित और न्यायसंगत है।

ऊपरके प्रश्नका इस कारिकाके द्वारा दिया गया यह उत्तर न केवल युक्तिपूर्ण ही है अनुभवमें आनेवाला और आगमानुसारी भी है। सभी आगमोंमें उनके प्रणेताओंने रत्नत्रयका वर्णन करते हुए सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्टता एवं प्रधानता स्वीकार की है और बताई है। अतएव आचार्य की प्रतिज्ञाके विरुद्ध कह कर इस कथनका विरोध करनेका अवकाश ही नहीं है। क्योंकि आचार्यने "देशयामि" कहकर जो प्रतिज्ञा की थी कि जो भगवान्ने या गणधरादिकने कहा है उसीको मैं यहां कहूँगा उससे सम्यग्दर्शनकी प्रथम वर्णनीयता विरुद्ध नहीं, अनुकूल ही है। कारण सभी प्राचीन अर्वाचीन आचार्योंने सम्यग्दर्शनकी प्रधानता स्वीकारकी है। साथ ही दृष्टान्त-गर्भित हेतु या सामान्यतो दृष्टानुमानके द्वारा ज्ञान चारित्रकी अपेक्षा अधिक साधुताके समर्थनमें जो युक्ति उपस्थित की है वह भी अनुभवमें आनेवाली है। इस समर्थन में तीन हेतु अन्तर्निहित है जिनको कि दृष्टिमें रखकर स्वयं ग्रन्थकार आगे क्रमसे तीन कारिकाओंके द्वारा स्पष्ट करेंगे।

यदि इस कारिकाके द्वारा यह न बताया गया होता कि ज्ञान चारित्र की साधुताकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन की साधुता विशिष्ट और उत्कृष्ट है तो सम्यक्त्वनिरपेक्ष ज्ञान चारित्र में भी मोक्ष मार्गत्व माना जा सकता था, जब कि ऐसा नहीं है। सम्यक्त्वरहित ज्ञान चारित्र वास्तव में और मुख्यतया मोक्षके कारण नहीं है। तथा सम्यक्त्वके विना ज्ञान चारित्र नहीं रहा करते। क्योंकि वे ज्ञान और चारित्र सम्यक्-यथार्थ नहीं रहा करते। परन्तु ज्ञान चारित्रके विना भी सम्यक्त्व पाया जाता है। क्योंकि केवल ज्ञान तथा श्रुतकेवलके न रहनेपर एवं यथाख्यात अथवा क्षपक श्रेणिगत चारित्र की अनुपस्थितिमें यद्वा मुनि श्रावकके व्रत चारित्रके न रहते हुए भी सम्यक्त्व ही नहीं क्षायिक सम्क्त्व भी पाया जाता है। इस तरहसे सम्यग्दर्शनकी प्रथम वर्णनीयताके विषय में किये गये प्रश्नके उत्तर रूप में कही गई इस कारिकाकी असाधारण प्रयोजनवत्ता स्पष्ट होजाती है।

शब्दोंका सामान्य-विशेपार्थ—

दर्शन—यह शब्द कारिकामें दो वार आया है। दोनों ही जगह इसका अर्थ सम्यक्त्व है। इसका निरुक्त्यर्थ पहले बताया जा चुका है। यद्यपि कारिकामें दोवार प्रयुक्त इस शब्दका अर्थ एक ही है। किन्तु दोनों के पद भिन्न २ हैं। पहला दर्शन शब्द कर्तृकारकपद की जगह प्रयुक्त हुआ है और दूसरा कर्म कारकपदके स्थानपर। कर्त्ता और कर्म कारकका अर्थ सर्वविदित है। "स्वतन्त्रः कर्त्ता[1] अथवा यः करोति स कर्त्ता[2] "और" यत् क्रियते[3] तत्कर्म" अर्थात् जो क्रिया

१—सि० कौ०। २-३—कातन्त्र सू० १४, १३ अ० २—४।

का करनेवाला है और उस क्रियाके करनेमें स्वतन्त्र है उसको कर्त्ता कहते हैं और कर्त्ताके द्वारा जो क्रिया जाय अथवा कर्त्ताके द्वारा जिसमें क्रिया की जाय, यद्वा क्रियाका फल जिसमें रहे उसको कहते हैं कर्म। श्लोकमें पूर्वार्ध और उत्तरार्धके दो भिन्न २ पद हैं। दोनोंकी क्रियाएं भिन्न २ हैं। पूर्वार्धका दर्शनशब्दउपाश्नुते क्रियाका कर्तृपद है। जिसका कर्म है "साधिमानम्" मतलब यह कि दर्शन—सम्यग्दर्शन साधिमाको निकट रहकर भी सबसे प्रथम और विशेष-रूपसे व्याप्त करता है।

ज्ञानचारित्रात्—यहांपर ज्ञान और चारित्र शब्दका समाहार द्वन्द्व समास हुआ है। ज्ञानं च चारित्रं च तयोः समाहारः तस्मात्। मतलब यह कि ज्ञान और चारित्र दोनोंसे, अथवा दोनोंकी।

साधिमानम्—साधु शब्दसे भाव अर्थमें इमन् प्रत्यय होकर यह शब्द बना है। और कर्म कारक होनेके कारण द्वितीया विभक्तीका इसमें प्रयोग हुआ है। साधयति इति साधुः, तस्य भावः साधिमा, तम्। अर्थात् साधुता। यह निरुक्त्यर्थ है। कोषके अनुसार इस शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। कुलीन, सुन्दर, मनोहर, उचित, मुनि, जिनदेव, वीतराग, व्यापारी आदि। यहांपर इस शब्दसे समीचीनता-सुन्दरता, उत्कृष्टता और उपादेयता अर्थ ग्रहण करना चाहिये। मतलब यह कि सम्यग्दर्शन इन समीचीनता आदिको ज्ञान चारित्रकी अपेक्षा पहले और प्रधानतया प्राप्त या व्याप्त करता है।

उपाश्नुते—उप उपसर्गपूर्वक स्वादिगणकी व्याप्त्यर्थक अश् धातुके वर्तमान काल अन्य पुरुष एक वचनका यह प्रयोग है। जिसका अर्थ होता है कि समीप पहुंचकर व्याप्त करता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन सबसे प्रथम समीचीनताके पास पहुँचता है और वह उसको व्याप्त करता है। ज्ञान चारित्रमें जो समीचीनता पाई जाती है वह तो दर्शनकी समीचीनताकी अनुयायिनी अनुसरण करनेवाली है साथही वह व्याप्य है। दर्शनकी समीचीनता व्यापक है। और वह ज्ञानचारित्रकी समीचीनताका अनुसरण नहीं करती, उसपर वह जीवित नहीं रहती, वह स्वतन्त्र है। यह बात भी यहां ध्यानमें रहनी चाहिये कि दर्शनकी समीचीनता जो ज्ञान चारित्रकी समीचीनताको व्याप्त करती है उसमें तीन विषय सम्बन्धित हैं—उत्पत्ति प्रधानता और उपादेयता। इन्ही तीनों विषयोंको दृष्टिमें रखकर स्वयं ग्रन्थकार इस पद्यके अनन्तर ही क्रमसे तीन कारिकाओंके द्वारा स्पष्ट करेंगे अतएव यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

दर्शन— उत्तरार्धके आरम्भमें आये हुये इस शब्दके विषयमें ऊपर कहा जा चुका है कि यह कर्म कारकके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। यह भी कहा जा चुका है कि दोनों दर्शन शब्दोंका अर्थ एक ही है। फिर भी इसका प्रयोग किस अभिप्रायसे किया है यह समझनेके लिये दूसरे सम्बन्धित शब्द तत् और कर्णधार तथा कारिकामें प्रयुक्त न होनेके कारण आक्षिप्यमान कर्तृपद "गणधरादय आचार्याः" को साथमें रखकर प्रकरण और क्रिया वाचक शब्दों—मोक्षमार्गे और प्रचक्षतेको भी साथ रखना चाहिये।

कर्णधार—जिसके द्वारा नाव चलाई जाती है उस लकडीको कर्ण कहते हैं। उस लकडीको हाथमें लेकर चलानेवाले-नाव खेनेवाले मल्लाको कहते हैं कर्णधार। यहांपर इस शब्दका प्रयोग दर्शनकी विशिष्टता बतानेके लिये—अवक्तव्य दर्शनमें छिपी हुई विशेषताको किसी प्रकार अभिव्यक्त करनेके लिये उपमा या दृष्टान्त रूपमें किया गया है। इस शब्दसे नेतृत्वकी योग्यता भी प्रकट होती है। फलतः आचार्य महाराज इस शब्दके प्रयोगसे बताना चाहते हैं कि मोक्षमार्गमें दर्शन—सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रका नेता है।

तत्—शब्द सर्वनाम है इसका प्रयोग पहले उल्लिखित या कथित शब्दके बदलेमें हुआ करता है। अतएव पूर्वपरामर्शी भी है। यहांपर पूर्वार्धकी आदिमें कर्तृ पदरूपमें आये हुये दर्शनके बदलेमें यह प्रयुक्त हुआ है। तत् और यत्का नित्य सम्बन्ध है। इसीलिये इनमेंसे किसी भी एक शब्दका प्रयोग होनेपर दूसरे शब्दका भी प्रयोग समझ लेना चाहिये। और यथास्थान उसका सम्बन्ध जोडकर अर्थ करना चाहिये।

मोक्षमार्ग—इसका अर्थ आत्मासे समस्त पर पदार्थ—द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्मकी पूर्णतया विनिवृत्ति होजानेका असाधारण उपाय होता है। जो कि सर्वत्र आगममें बताया गया है और तरतमरूप अवस्थाओंके अनुसार अनेक प्रकारका है। किन्तु इसका जो सामान्य अर्थ बताया गया है वह यथायोग्य सभी अवस्थाओंमें घटित होता है।

प्रचक्षते—अदादिगणकी व्यक्त वचनार्थक चक्ष् धातुका प्रपूर्वक वर्तमान कालके अन्य पुरुषके बहुवचनका यह क्रियापद है। जिसका अर्थ यह होता है कि "अच्छी तरहसे स्पष्टतया कहते हैं।" इसके कर्तृ पदका पद्यमें प्रयोग नहीं किया गया है। अतएव आचार्याः, गणधरदेवाः, जिनेश्वराः, सरीखा कोई भी कर्तृ पद स्वयं ही यहां जोडलेना चाहिये जैसाकि ऊपर कहागया है।

इन सभी शब्दोंके अर्थपर दृष्टि रखकर कारिकाका अन्वयपूर्वक अर्थ इस तरहसे करलेना और समझलेना चाहिये—

यत् दर्शनं (कर्तृ) ज्ञानचारित्रात् साधिमानम् उपाश्नुते, गणधरदेवास्तत् दर्शनं (कर्म) मोक्षमार्गे कर्णधारं प्रचक्षते ॥ अर्थात्—जो दर्शन ज्ञानचारित्रकी अपेक्षा साधुताको प्रथम प्राप्त करता और व्याप्त करता है गणधरदेव उसको "यह मोक्षमार्गमें कर्णधार है" ऐसा स्पष्ट कहते हैं।

यहां यह बात भी जान लेनेकी है कि "प्रचक्षते" क्रियापद द्विकर्मक है। इसलिये दर्शनं और कर्णधारं ये दोनों ही पद उसके कर्म हैं। जहां पर दो कर्म हुआ करते हैं वहां प्रायः दोमेंसे एक गौण और एक मुख्य हुआ करता है। परन्तु दोनोंमेंसे कौन गौण और कौन मुख्य माना जाय यह बात विवक्षा—वक्ताकी इच्छा या उसके अभिप्राय पर निर्भर है। उदाहरणार्थ "अजां ग्रामं नयति" यहांपर कदाचित् अजा बकरी भी मुख्य कर्म बन सकता है तो कभी ग्राम भी मुख्य कर्म हो सकता है। गांवको जाता हुआ देवदत्त अपने साथ किसको लेजा रहा है? इस प्रश्नके

उत्तरमें बकरी मुख्य कर्म होगी। और बकरीको लेकर जानेवाला यज्ञदत्त खेत पर पहाड पर या कहां जा रहा है? इसके उत्तरमें गांव मुख्य कर्म होजायेगा। इसके सिवाय कदाचित् अकर्म कारकको कर्म कारक बनाये जाने पर वह गौण कर्म और दूसरा मुख्य कर्म माना जाता है। यहां पर दर्शन गौण कर्म है और कर्णधार मुख्य कर्म है। क्योंकि जिस तरह पूर्वार्धमें दर्शनको कर्ता बनाकर साधुताकी प्राप्ति एवं व्याप्तिकी दृष्टिसे उसकी स्वतन्त्रता एवं मुख्यता दिखाई गई है उसी प्रकार उत्तरार्धमें आचार्य उसी पूर्वार्धमें कर्तृरूपसे प्रयुक्त दर्शनको कर्म बनाकर उसीमें उसीकी छिपी हुई असाधारण योग्यताको कर्णधार कहकर कर्णधारताका विधान करना चाहते हैं। इस तरहसे उद्देश्य होनेसे दर्शन गौण, विधेय होनेके कारण कर्णधार-कर्णधारता मुख्य कर्म होजाता है। क्योंकि दर्शनमें पाई जानेवाली कर्णधारताको ही यहांपर अच्छी तरहसे मुख्यतया अभिव्यक्त करके बताना अभीष्ट है। जिससे यह मालुम हो सके कि ज्ञानचारित्रकी साधुताका नेतृत्व करने—कर्णधार बननेकी योग्यता दर्शनमें ही है। ज्ञान चारित्रकी साधुता दर्शनकी साधुताका अनुसरणमात्र किया करती है, वह उसका नेतृत्व करनेमें सर्वथा असमर्थ है।

तात्पर्य—यह है कि यहांपर सम्यग्दर्शनकी प्रथम वर्णनीयताके सम्बन्धमें जो प्रश्न उपस्थित हुआ था उसके उत्तरमें आचार्यने इस कारिकाके द्वारा युक्तिपूर्वक यह स्पष्ट करके बता दिया है कि मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शनकी प्रथमता क्यों है? संक्षेपमें इस कारिकाका आशय यह है कि—आत्माका दर्शन नामका एक ऐसा गुण धर्म या स्वभाव है जो कि सामान्यतया सम्पूर्ण पिण्डरूप आत्मद्रव्यको और उसके सभी गुणों और परिणमनोंको व्याप्त करता है इसलिये ज्ञान और चारित्र भी उसकी व्याप्तिसे रहित नहीं हैं। फिरभी यहां इन दोनोंका ही नाम जो लिया गया है उसका कारण यह है कि मोक्षमार्गमें ये दोनों ही उसके लिये सहवर्ती होकर भी अन्य गुणधर्मोंकी अपेक्षा सबसे अधिक उपयोगी हैं। इस तरहसे मोक्षमार्गकी सिद्धिमें तीनोंका साहचर्य है। फिर भी तीनोंमें सम्यग्दर्शन ही प्रधान है। जिस तरह किसी राज्यके साधनमें यद्यपि राजा मंत्री और सेनापति तीनों ही सहचारी हैं—मिलकर उसका संचालन करते हैं फिर भी स्वतन्त्र और नेतृत्वके कारण उनमें राजाको ही मुख्य माना जाता है। मंत्री बुद्धिबलसे उचित अनुचितको प्रकाशित करके और सेनापति शत्रुओंका विध्वंस करके राजाकी आज्ञाका पालन करानेमें सहायक हुआ करते हैं; उसी प्रकार दर्शन और ज्ञान चारित्रके विषयमें समझना चाहिये। दर्शन राजा, ज्ञान मंत्री और चारित्र सेनापति है। मंत्री और सेनापति जिस तरह राजाकी आज्ञाका पालन करते और उसके अनुकूल तथा अनुसार ही प्रवृत्ति किया करते हैं। वे राजाको आज्ञापित नहीं किया करते और न राजा ही उनका अनुकरण या अनुसरण किया करता है। इसीप्रकार ज्ञान और चारित्र दर्शनकी आज्ञानुसार चलते हैं और उसीका अनुकरण तथा अनुसरण करते हैं। परन्तु दर्शन न तो ज्ञान और चारित्रकी आज्ञामें ही चलता है और न उनका अनुकरण या अनुसरण ही करता है। वह स्वतन्त्र है। इसी बातको अधिक स्पष्ट करनेकेलिये आचार्यने कारि-

मान शब्दका प्रयोग करके अपेक्षा या अपने दृष्टिकोणको भी अभिव्यक्त कर दिया है। जिससे यह मालुम हो सके कि यह बात किस अपेक्षासे कहीगई है। क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुसार कोई भी वाक्य निरपेक्ष होनेपर अभीष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेमें असमर्थ रहनेके कारण व्यर्थ अथवा अप्रमाण ही माना जाता है।

यदि साधिमान शब्दका प्रयोग न किया जाय, केवल "ज्ञानचारित्रात् उपाश्नुते" इतना ही वाक्य बोलाजाय तो नहीं मालुम हो सकता कि दर्शनमें ज्ञान चारित्रसे किस विशेषताको सिद्ध किया जारहा है अथवा कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रताका प्रतिपादन दर्शनमें ही क्यों सभी गुण स्वतन्त्र हैं। जिसतरह कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्यकी अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र अपना अस्तित्व रखती है। उसीतरह उसके जितने अनन्त गुण हैं वे भी सब अपने २ स्वरूपमें स्वतन्त्र हैं। फिर केवल दर्शनको ही स्वतन्त्र क्यों कहा जाय? इसतरहके वाक्यसे कोई असाधारण प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। यही कारण है कि साध्यांशको बतानेके लिये साधिमान शब्दका प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि वस्तु स्वभावसे केवल नित्य—कूटस्थ अथवा सर्वथा अनित्य-परिणामी ही नहीं है। नित्यानित्यात्मक[१] है अथवा न सर्वथा सामान्य या एकान्ततः विशेषरूप ही है। किन्तु सामान्यविशेषात्मक[२] है। अतएव यद्यपि सामान्यतया सभी गुण स्वतन्त्र हैं फिर भी विशेषापेक्षासे ऐसा नहीं है। विशेषताका प्रतिपादन भेद या परिणामापेक्ष है और इसीलिये वह परापेक्ष हुआ करता है। दूसरेकी अपेक्षाके बिना विशेषता सिद्ध नहीं हो सकती। अतएव किसी विशेषताको जब जहां बताना हो तब वहां उस विशेषता का नाम और वह जिसकी अपेक्षासे विवक्षित हो उस परपदार्थका नामोल्लेख करना भी आवश्यक होजाता है।

साधिमान शब्द अभिप्रायको स्पष्ट करदेता है और शङ्का को निरस्त करदेता है। क्योंकि इस शब्दके प्रयोगसे मालूम होजाता है कि यद्यपि सामान्यतया दर्शन ज्ञान चारित्र समान हैं फिर भी इनकी साधुतामें बहुत बड़ा अन्तर है सबसे पहली बात तो यह कि अनन्त गुणोंमेंसे ये तीन ही आत्माके ऐसे गुण हैं जो कि मिलकर अपने स्वामी आत्माको दुःखमय संसारावस्थासे छुडाकर उत्तमसुख रूप अवस्थामें परिवर्तित कर दे सकते हैं। परन्तु इसके लिये सबसे पहले इनको स्वयं अपनी २ अनादिकालीन परिणति—चिरपरिचितप्रवृत्ति रूप प्रियाका प्रेम छोडकर साधुता धारण करना आवश्यक है। ऐसा नहीं हो सकता कि ये असाधु—अब्रह्मचारी रहकर अपने स्वामी आत्माका उद्धार कर सकें। यदि ये साधु होजाते हैं तो सभी अनन्तगुण साधु होजाते हैं और आत्मा भी सम्पूर्णतया साधु बन जाता है। फलतः इन तीन गुणोंका साधु बनना आत्माका साधु बनना है।

अब विचार यह होता है कि इन तीनोंके साधु बननेका क्या प्रक्रम है। ये तीनों स्वयं बिना किसी की अपेक्षालिये ही साधु बन जाते हैं या इनको अपने से भिन्न अन्य किसीकी

१—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् त० सू० ।२०।अ०।५।
२—सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः । प०मु० ४-१।

साधु बनने में अपेक्षा रहा करती है। यदि अपेक्षा है तो किसको किसकी अपेक्षा है ? इसीका स्पष्टीकरण आचार्यने प्रकृत कारिकाके पूर्वार्धमें किया है। तीनों गुणोंकी साधनसामर्थ्य या योग्यता को देखकर वे उन्हे दो भागोंमें विभक्त करदेते हैं। वे एक तरफ दर्शनको और दूसरी तरफ ज्ञान चारित्र को रखते हैं। वे देखते हैं कि ज्ञान और चारित्र अपने स्वामीको उत्तम-सुखरूप में परिणत करने की भावना और उत्साहसे प्रेरित होकर भले ही प्रथम अवस्थामें काम करते हों और दर्शनकी अपनेमें सहायता या सहकारिताकी आवश्यकताका अनुभवकर उसको भी प्रोत्साहित करते हों या प्रेरणा प्रदान करते हों फिर भी उनमें यह सामर्थ्य या योग्यता नहीं है कि दर्शनकी साधुताकी अपेक्षाको छोडकर वे स्वयं साधु बन जांय।। वे दर्शनकी साधुता के मुखापेक्षी हैं। फलतः स्याद्वादविद्यापति महान् तार्किक आचार्यप्रवर भगवान् समन्तभद्र स्वामी ने आगमतीर्थ रूप क्षीर समुद्रका मंथन कर अविनाभावरूप तर्करत्नको हाथमें लेकर लोगोंको बताया कि इन दोनोंकी साधुता में परस्पर क्या अन्तर है। इस कारिकाके पूर्वार्धमें उसी अन्यथानुपपत्तिका प्रदर्शन किया गया है। विवेकी पाठक इसे देखकर स्वयं समझ सकते हैं कि वह किंरूप या किमाकार है। संक्षेप में उसका स्वरूप यह है कि यदि दर्शन साधु बनजाता है तो ज्ञान चारित्र भी साधु अवश्य बनजाते हैं। यदि दर्शन साधुताको धारण नहीं करता तो ज्ञान चारित्र भी वास्तवमें साधुतासे परे ही रहते हैं। अतएव इन दोनों की साधुतामें अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही पाये जाते है। दर्शनकी साधुता कारणरूप साधन है और ज्ञान चारित्र की साधुता कार्यरूप साध्य है। साथ ही इनमें सहभाव—साहचर्य और व्याप्यव्यापक भाव भी पाया जाता है और क्रमभाव—कार्यकारण भाव[१] भी पाया जाता है। किन्तु यह बात भी ध्यानमें रहनी चाहिये कि सहभाव और क्रमभावमें कोई विरोध नहीं हैं। साहचर्य और व्याप्यव्यापक भाव तथा कार्यकारणभाव परस्पर विरुद्ध नहीं है। कोई यह समझे कि जहां कार्यकारण भाव होता है वहां क्रमभाव ही रह सकता है सहभाव नहीं रह सकता। क्योंकि कारणपूर्वक ही कार्य हुआ करता है। सो यह बात नहीं है। सहभावी पदार्थों में भी कार्यकारणभाव पाया जाता है। जैसे कि दीप और प्रकाशमें। इस बातको अमृतचन्द्र आदि आचार्योंने अपने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय आदि ग्रन्थोंमें भले प्रकार स्पष्ट कर दिया[२] है। इस सब कथनको ध्यानमें लेने पर ज्ञान चारित्रकी साधुतासे दर्शन की साधुताकी मुख्यता अच्छी तरह समझमें आ सकती है। साथ ही यह बात भी ध्यानमें रहनी चाहिये कि जहां कहीं इनमें कार्यकारणभाव बताया गया है वहां उन गुणों

१—कार्यकारण भावके विषयमें जानना चाहिये कि—यद्भावाभावाभ्यां यस्योत्पत्त्यनुत्पत्ती तत्तत्कारणकम्। तथा इस विषयको अच्छीतरह समझनेके लिये देखो परीक्षामुख अ० ३ सूत्र नं० ७से१४तथा४२,४३,४४।

२—पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य। लक्षणभेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयो: ॥३२॥ सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिना:। ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥३३॥ कारण-कार्यविधानंसमकालंजायमानयोरपि हि। दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयो: सुघटम् ॥३४॥ पु० सि०

में नहीं किन्तु उनकी समीचीनता में ही बताया गया है। और वह भी सम्यक् व्यपदेश मात्रकी अपेक्षासे ही कहा गया है। जैसे कि पुरुषार्थ सिद्ध युपाय में यह जो वाक्य है कि "सम्यक्त्व के होनेपर ही ज्ञान और चारित्र होता[1] है," उसका अर्थ यह नहीं है कि जहांतक सम्यक्त्व नहीं होता वहांतक ज्ञान और चारित्रका अभाव रहता है। तात्पर्य यह है कि तबतक वे असम्यक् रहते हैं। दर्शन के सम्यक् बनजाने पर ये भी सम्यक् हो जाते हैं। यह सब कथन मोक्षमार्गमें दर्शनके कर्तृत्वको; समीचीनताके सम्पादनमें स्वातंत्र्य को और इसीलिये प्राधान्यको प्रकट करता है। आचार्यने यहां कारिकाके पूर्वार्धमें जो यह प्रतिज्ञावाक्य दिया है कि "दर्शनं ज्ञानचारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते।" वह इस संक्षिप्त कथनके सारको परिस्फुट करनेवाला बीजवाक्य है। जिसका अर्थ या आशय यह होता है कि दर्शन यद्यपि ज्ञान चारित्रका सहचारी है फिर भी वह ज्ञान चारित्रकी अपेक्षा साधुता-समीचीनता को व्याप्त करता है। अर्थात् साधन-दर्शनकी साधुता साध्यभूत ज्ञानचारित्रकी साधुताको व्याप्त करती है। इस कथनसे प्रकृत प्रतिज्ञावाक्यमें पाये जाने वाले साध्य साधनभाव, व्याप्य व्यापकभाव, सहचरभाव और कार्यकारणभावके साथ साथ अविनाभावका भी बोध हो जाता है। क्योंकि इस वाक्यमें जो 'ज्ञानचारित्रात् साधिमानम् और उपाश्नुते' पद दिये हैं वे इन सब भावोंको व्यक्त कर देते हैं क्योंकि 'उपाश्नुते' इस क्रिया पदमें प्रयुक्त उप-उपसर्गसे समीपता अधिकता और आरम्भ अर्थ स्फुट होता है और अश्नुते क्रिया पदसे व्याप्य व्यापकभाव सूचित हो जाता है। इस तरहसे प्रकृतकारिकाका यह पूर्वार्ध प्रतिज्ञावाक्य है जिसमें कि 'दर्शनं' यह पक्ष और 'ज्ञानचारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते' यह साध्यपद है साथ ही यह बीजपद है। जिसमेंकि सफल छाया वृक्षके समान महान अर्थ निहित है। इसी प्रतिज्ञाको सिद्ध करनेके लिये उत्तरार्धमें हेत्वर्थका परिज्ञान कराया गया है। जिसके द्वारा कहा गया है कि यह प्रतिज्ञात कथन इसलिये सर्वथा सत्य और युक्तियुक्त है कि 'भगवान श्रीवर्धमान सर्वज्ञ देवने इस दर्शनको मोक्षमार्गमें कर्णधार' नेतृत्व करनेवाला, बताया है।' क्योंकि कर्णधार यह उपमानपद होनेसे अपने समान नेतृत्व अर्थ को बताता है।

नेताका अर्थ अपने साथ साथ अन्य अपने नेय व्यक्तियोंको भी लक्ष्य सिद्धितक लेजाने वाला-मार्गप्रदर्शन करने वाला--प्रेरणा प्रदान करने वाला और अभीष्ट स्थान तक पहुंचाने वाला होता है। जिस प्रकार नाव और उसमें बैठे हुए पथिकों को एक किनारेसे हटाकर दूसरे किनारे तक पहुंचानेमें लेजानेमें--हवा और पाल आदि भी कारण होते हैं परन्तु उनका नेतृत्व करनेवाला नाविक यदि न हो तो वे उस नावको कहींसे कहीं लिये २ फिरते रह सकते हैं। इसी प्रकार संसार समुद्रमें इस जीवको एक किनारेसे हटाकर दूसरे किनारे तक लेजानेमें ज्ञान और चारित्र भी काम करते हैं फिरभी यदि उनका नेतृत्व करने वाला साधुताको—प्राप्त दर्शन यदि

१—तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन। तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥ २१ ॥ पुरुषा०

उनके साथ न हो तो ये दोनों इस जीव को संसार समुद्रमें कहीं के कहीं भी लिये लिये फिरते रह सकते हैं। दर्शनमें ही यह योग्यता है कि वह ठीक ठीक लक्ष्य की तरफ ही स्वयं भी उन्मुख रहता है और उन ज्ञान चारित्र को भी अलक्ष्य की तरफसे हटाकर अपने लक्ष्य की तरफ ही उन्मुख बनाये रखनेमें प्रेरणा प्रदान करता है और इस तरहसे वह उनमें वास्तविकता साधुता-समीचीनता-लक्ष्योन्मुखताको उत्पन्न करता, उन पर उचित नियन्त्रण को अपने अधिकारमें रखकर अपनी व्यापकताको स्थिर रखता और लक्ष्यतक-अभीष्ट पदतक ठीक तरह से पहुंचाकर अपने नेतृत्वको सफल बनाकर रहता है और अन्तमें अपने सामान्य स्वरूप में ही स्थिर रहकर अनन्त कालतक केलिये विश्रान्ति ले लेता है।

कारण यह है कि स्वभावतः दर्शन सामान्योन्मुख परिणाम है। वह निर्विकल्प शुद्ध अखण्ड त्रैकालिक चिद्द्रव्य को ही विषय करता है जबकि ज्ञान का विषय सविकल्प है तथा शुद्ध अशुद्ध सखण्ड अखण्ड कादाचित्क त्रैकालिक अचित् चित् द्रव्य गुण पर्याय सभी उसके विषय हैं। चारित्रका विषय स्वोन्मुख या परोन्मुख प्रवृत्ति मात्र है। यही कारण है कि ध्रुव एवं परनिरपेक्ष अपने सच्चिदानन्दरूप लक्ष्यतक ज्ञानचारित्रको भी पहुँचानेमें अथवा निज शुद्ध स्थिर आत्म-स्वभाव रूप होकर सदा रहनेके प्रति लक्ष्यबद्ध बनानेमें दर्शन ही समर्थ हो सकता है।

आत्माकी तरह दर्शनकी भी दो ही अवस्थाएं विवक्षित हैं। मिथ्या और सम्यक्। यद्यपि दर्शनकी अशुद्ध शुद्ध उभय अनुभय रूप चार अवस्थाएं भी मानी है किन्तु ये दो भागों में ही गर्भित हो जाती हैं। अनादिकालसे दर्शन मिथ्या रूपमें ही परिणत है किन्तु जब वह सम्यक् रूपमें परिणत होजाता है तभी उसमें वह सामर्थ्य आती है जो कि ऊपर बताई गई है। यही कारण है कि कर्तृपदमें सम्यक् विशेषण रहित दर्शन पदके रहनेपर भी साधुता-समीचीनता-प्रशस्तता धारण करनेके बाद ही उसकी प्रधानता व्यापकता और नेतृत्वकी बात विवक्षित है और वही यहांपर कहीगई है। ऐसा समझलेना चाहिये।

इस तरह इस कारिकाके द्वारा सम्यग्दर्शनकी सहेतुक किंतु स्वाभाविक योग्यताको बताकर इस बातको स्पष्ट करदियागया है कि यद्यपि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र तीनों ही धर्म हैं, और तीनों ही मोक्षके मार्ग हैं—असाधारण उपाय है फिर भी इनमें प्रथम पदपर उपस्थित होनेके योग्य सम्यग्दर्शन ही है। यही कारण है कि यहां सबसे पहले उसीका वर्णन किया गया है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके सिवाय पाठक महानुभावोंको इस पद्यके साहित्यिक रचना सम्बन्धी वैशिष्ट्य पर भी ध्यान देना चाहिये विचार करने पर मालुम हो सकता है कि यह एक चित्र काव्य है। क्योंकि प्रथम तृतीय चरणकी आदिमें 'द' और द्वितीय चतुर्थ चरणके अंतमें 'ते' अक्षर आता है। फलतः इस श्लोकको आकृतिमें लिखनेपर अर्धवृत्त, अर्धचन्द्र या सिद्धशिला जैसा आकार बन जाता है।

इसके सिवाय औदार्य समता कान्ति अर्थ व्यक्ति और प्रसन्नता नामके गुण भी इनमें दिखाई पड़ते हैं और छेकालंकार तथा दृष्टान्त और हेतु[1] नामके अर्थालंकार भी पाये जाते हैं। व्यतिरेकालंकार भी कहा जा सकता है क्योंकि ज्ञानचारित्रकी अपेक्षा दर्शनकी अधिकताका या उत्कृष्टता आदिका यहां प्रतिपादन किया गया है।

ऊपर सम्यग्दर्शनके विषयमें जो कुछ वर्णन कियागया है उससे उसके सम्बन्धमें बीजरूपसे तीन बातें निकलती हैं १ वह ज्ञानचारित्रकी भी समीचीनता आदिका जनक है। २–जीवको मोक्ष तक पहुंचानेके साधनोंमें मुख्य है, वही जीवको मोक्षमार्गमें स्थित करने वाला है। ३–मुख्यतया अन्तिम साध्य मोक्षका असाधारण अन्तरंग कारण होनेपर भी वह लक्ष्य तक पहुंचनेसे पूर्व अपने विविध सहचारी विभागोंके अपराधवश अनेक असाधारण ऐहिक आभ्युदयिक पदोंका भी निमित्त बनता है। इन तीनों ही विषयोंको स्पष्ट करनेका अभिप्राय दृष्टिमें रखकर क्रमानुसार सबसे प्रथम आचार्य दृष्टान्तपूर्वक पहले विषयका वर्णन एवं समर्थन करते हैं।

विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥३२॥

अर्थ—जिसतरह बीजके अभावमें वृक्षकी उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और फलोदय नहीं हो सकते और नहीं होते उसी प्रकार सम्यक्त्वके न रहनेपर विद्या–ज्ञान और वृत्त–चारित्रकी भी उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और फलोदय नहीं हुआ करते, और न हो ही सकते हैं।

प्रयोजन—धर्म अथवा मोक्षमार्ग रत्नत्रयात्मक है, केवल सम्यग्दर्शन रूप ही नहीं है। किन्तु ऊपर जो कथन किया गया है उससे मोक्षमार्गमे सम्यग्दर्शन की ही मुख्यता सिद्ध होती है, क्योंकि ज्ञान चारित्र की समीचीनता भी उसीकी समीचीनतापर निर्भर है और मोक्षमार्गमें नेतृत्व भी उसीका है। फलतः शंका हो सकती है कि दर्शनके सम्यक् हो जानेपर फिर या तो ज्ञानचारित्रका कोई मुख्य स्वतन्त्र कार्य ही नहीं रहता अथवा उनके समीचीन होनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती है, क्योंकि उनका कोई असाधारण कार्य नहीं है। जो कुछ भी मोक्षमार्गमें कर्तृत्व है वह तो सम्यग्दर्शन का ही है। इसके सिवाय कदाचित् ऐसा कहा जाय कि दर्शनके साथ साथ पद्यवचन[1] में ज्ञानचारित्रभी सम्मिलित हो जाते हैं इसलिये ज्ञानचारित्रकी समीचीनता अनावश्यक सिद्ध नहीं होती है तो यहभी ठीक नहीं है, क्योंकि 'ज्ञानचारित्रात्' इसमें समाहार द्वन्द्व समास[2] बताया गया है और यह भी ठीक है कि हेत्वर्थमें पंचमी बताकर कहा जा सकता है कि दर्शनकी समीचीनता ज्ञानचारित्र पर निर्भर है। ज्ञान चारित्ररूप हेतुके बिना दर्शन–सम्यग्दर्शन नहीं बन सकता परन्तु आगममें दर्शनके समीचीन हुए बिना ज्ञानको अज्ञान या कुज्ञान ही कहा है इसीलिये चारित्र को अचारित्र या कुचारित्र ही माना है। फलतः

१—ज्ञानचारित्राद्दर्शनामिति पद्यवचन, साधमानमुपाश्नुते इति भाष्यम्, तद्दर्शनं मोक्षमार्गे कर्णधारं प्रचक्षते इति हेतुवाक्यम्। २—इसका आशय बताया जा

दर्शनके समीचीन हुए विना ज्ञानचारित्र अप्रयोजनीभूत अथवा मोक्षमार्गमें अकिंचित्करही सिद्ध होते हैं। सो क्या ऐसाही हैं? सत्य है—आगममें ऐसा ही कहा है माना है और वह ठीक है। परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि दर्शन में समीचीनताके उत्पन्न करने में ज्ञान और चारित्र वास्तवमें सम्यक् विशेषण से रहित होकर भी कारण रूप हेतु ही नहीं है सर्वथा अप्रयोजनीभूत अकिंचित्कर ही हैं। "तन्निसर्गादधिगमाद्वा"[1], यहां पर हेत्वर्थमें ही आगममें पंचमीका निर्देश किया है। जिसका अर्थ यह होता है कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति अर्थात् दर्शनमें समीचीनताकी उत्पत्तिके निसर्ग और अधिगम ये दो हेतु हैं। इससे सिद्ध है कि अधिगम दर्शनमें समीचीनताकी उत्पत्तिका हेतु अवश्य है और अधिगमका अर्थ ज्ञान ही है।

प्रश्न—दो हेतुओंमें एक निसर्ग भी हेतु है। निसर्गका अर्थ स्वभाव है। इसलिये सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति में अधिगम ही हेतु माना जाय यह नियम तो नहीं बनता। स्वभाव से ही अर्थात् विना किसी हेतुके ही अपने आप भी दर्शन सम्यक् बन सकता है। अतएव ऐसा क्यों न माना जाय कि अनादिकालीन मिथ्यादृष्टीको सबसे पहले जो सम्यग्दर्शन होता है वह स्वभावसे ही होता है। उसके बाद ज्ञानचारित्र सम्यक बन जाने पर मोक्षमार्ग में उसके सहायक होजाया करते हैं।

उत्तर—ऐसा नहीं है। निसर्गका आशय अधिगमकी गौणता बताना है। अधिगमकी कारणताके निषेध करनेका उसका आशय नहीं है। जिस तरह कन्याको अनुदरा कहनेका अभिप्राय सर्वथा पेटका नहीं रहना बताना नहीं होता केवल गर्भभारको धारणकरने में उसकी असमर्थता बताना ही होता है उसी प्रकार जहां दर्शन को सम्यक् बनानेमें अधिगम मुख्यतया काम नहीं करता—उसकी साधारण निरपेक्ष अवस्थासे ही वह कार्य होजाता है वहां निसर्गशब्दका प्रयोग होता है।

प्रश्न—यह कथन आप किस आधारसे करते हैं। निसर्गका स्वभाव अर्थ तो जगत् प्रसिद्ध है

उत्तर—ठीक है। परन्तु किसी भी शब्द या वाक्य का अर्थ आगम के अनुसार अथवा जिनमें उससे विरोध न आवे इस तरहसे ही करना उचित है। प्राचीन आचार्योंने निसर्ग और अधिगमका अर्थ अल्प प्रयत्न और अनल्प प्रयत्न ही बताया है। जहां यह विशेष प्रयत्न किये विना साधारण उपदेशसे ही तत्त्वार्थ श्रद्धान हो जाता है वहां निसर्गज सम्यग्दर्शन माना जाता है। और जहां अनेक तरहसे और बार बार तत्त्वार्थका श्रद्धान कराने केलिये उपदेशादिक दिये जानेपर या समझाये जानेपर सम्यग्दर्शन होता है तो वहां अधिगमज सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इतना ही दोनोंमें अन्तर है। इसलिये निसर्गज सम्यग्दर्शनमें तत्त्वोपदेश और तज्जन्य

(१) तत्त्वार्थसूत्र अ। १। २ निसर्गः स्वभाव इत्यर्थः। अधिगमोऽर्थावबोधः। तयोर्हेतुत्वेन निर्देशः। कस्याः? क्रियायाः। का च क्रिया? उत्पद्यते इत्यध्याह्रियते सोपस्कारत्वात् सूत्राणां। तदेतत् सम्यग्दर्शनं निसर्गादधिगमाद् वा उत्पद्यते इति। स० सि० (२) निसर्गोऽधिगमो वापि तदाप्तौ कारणद्वयं। सम्यक्त्वभाक् पुमान् यस्मादल्पानल्पप्रयासतः। यशस्तिलकचम्पू आश्वास ६

बोध हेतु हो नहीं है, यह समझना ठीक नहीं है। श्रीसोमदेव सूरी आदिने यशस्तिलकादिमें ऐसा ही बताया[1] है।

बात यह है कि देशनालब्धि कारण है, करण नहीं है। जो समर्थ कारण होता है उसको करण कहते हैं। जिसके होनेपर नियमसे कार्यकी उत्पत्ति उसी समय हो जाय उसको समर्थ कारण या करण कहते है। कारण उसको कहते है कि जिसके बिना कार्य न हो। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके मिलने पर नियमसे और उसी समय कार्य हो ही जाय। क्योंकि वह करण—समर्थ कारण नहीं है। कारण है—दूसरे अन्तरंग बहिरंग सहायकोंके साहचर्यके विना असमर्थ है, मिलनेपर कार्य करता है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्तिमें पांच लब्धियां हेतु हैं ऐसा आगम[2] है। इनमें से चार कारण हैं और एक करण है। यही कारण है कि उन चार कारण रूप लब्धियोंके मिल जानेपर भी करणके विना सम्यग्दर्शनरूप कार्य उत्पन्न नहीं होता। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन चार लब्धियोंके विना भी कार्य हो जाता है। क्षयोपशम विशुद्धि आदि लब्धियां तो न हों और केवल करण लब्धि होकर उसीसे सम्यक्त्वोत्पत्ति हो जाय ऐसा नहीं हो सकता और न ऐसा होता ही है। यदि विना देशनालब्धिके भी कार्य हो जाता है तो उसको कारण कहना ही व्यर्थ है। क्योंकि कारण कहते ही उसको हैं कि जिसके होनेपर कार्य हो और न होनेपर न हो। अन्वयव्यतिरेकके द्वारा ही कार्य कारणभाव माना जा सकता है। इसलिये यह निश्चित है कि सम्यक्त्व की उत्पत्तिमें देशना और तज्जन्य बोध भी कारण है। उसके विना उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। किन्तु यह ठीक है कि केवल देशना सामान्य कारणके मिलते ही सम्यग्दर्शन हो जाय अथवा उसके मिलनेपर नियमसे सम्यग्दर्शन हो ही जाय यह नियम नहीं है।

१—एतदुक्तं भवति—कस्यचिदासन्नभव्यस्य तां(?)न्नदानद्रव्यक्षेत्रकालभावभवत्संपत्सेव्यस्य विधूतैतत्प्रतिबन्धकान्धकारसम्बन्धस्याक्षिप्तशिक्षाक्रियालापनिपुणकरणानुबन्धस्य नवस्य भाजनस्येवासंजातदुर्वासनागन्धस्य झटिति यथावस्थितवस्तुरूपसंक्रान्तिहेतुतया स्फाटिकमणिदर्पणसगन्धस्य पूर्वभवसंभालनेन वा वेदनानुभवनेन वा धर्मश्रवणाकर्णनेन वार्हत्प्रतिनिधिध्यानेन वा महामहोत्सवनिहालनेन वा महर्द्धिप्राप्ताचार्यवाहनेन वा नृषु नाकिषु वा तन्माहात्म्यसंभूतविभवसंभावनेन वाऽन्येन वा केनचित्कारणमात्रेण विचारकान्तारेषु मनाविहारास्पदं खेदमनापद्य यदा जीवादिषु पदार्थेषु याथात्म्यसमवधानश्रद्धानं भवति तदा प्रयोक्तुः सुकरक्रियत्वाल्लूयन्ते शालयः स्वयमेव विनीयन्ते कुशलाशयाः स्वयमेवेत्यादिवत् तन्निसर्गात्संजातमित्युच्यते। यदा त्वव्युत्पत्तिसंशीतिविपर्यस्तिसमधिकबोधस्याधिमुक्तियुक्तिसूक्तिसम्बन्धसविधस्य प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगोपयोगावगाह्येषु परीक्षोपक्षेपादतिविलक्ष्यनिःशेषदुर्गाशाचक्राशाङ्कमन्दराचारचरेण स्वेषु रुचिः संजायते तदा विधातुरायासहेतुत्वान्मया निर्मापितोऽयं सूत्रानुसारो मंदिर संपादित रत्नरचनाधिकरणमाभरणमित्यादिवत् तदधिगमादाविर्भूतमित्युच्यते। उक्तं च—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः। बुद्धिपूर्वकापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्॥

२—खयउवसमिय विसोही देसणपाओग्ग करणलद्धी य। चत्तारि वि सामण्णं करणं पुण होदि सम्मत्ते॥

प्रश्न—कारणके अनुसार कार्य हुआ करता हैं, यह नियम हैं। फिर क्या असमीचीन कारणसे समीचीन कार्य हो सकता है?

उत्तर—कारणके अनुसार कार्य होता है, यह तो ठीक है, किन्तु समीचीनसे ही समीचीन और असमीचीनसे असमीचीन ही उत्पन्न हो, यह नियम ठीक नहीं है। अन्यथा अशुद्ध असमीचीन संसारावस्थासे शुद्ध समीचीन सिद्धावस्थाका उत्पन्न होना ही असिद्ध एवं असम्भव हो जायगा। अतएव यह ठीक है कि योग्य कारणसे उसके योग्य कार्य उत्पन्न होता है। इसलिये किसी भी विवक्षित या अभीष्ट कार्यके लिये तद्योग्य कारण आवश्यक है, दर्शनमें समीचीनता रूप कार्यके लिये भी उसके योग्य ज्ञानचारित्र की आवश्यकता है। यदि ऐसा न माना जायगा तो उसके लिये किसीभी तरहके नियमकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। चाहे जब चाहे जहां चाहे किसीभी अवस्थावाले जीवके सम्यग्दर्शन हो सकता है, ऐसा कहना होगा। किन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये दर्शनमे समीचीनता की उत्पत्तिकेलिये जिस तरहके ज्ञानचारित्रकी आवश्यकता है उसके लिये यह मानना ही उचित है कि उनके मिलनेपर दर्शन सम्यग्दर्शन बन सकता है।

प्रश्न—ऐसा ही है तो सम्यग्दर्शन की मुख्यता बताना व्यर्थ है क्योंकि इस कथनसे तो ज्ञानचारित्र की मुख्यता सिद्ध होती है।

उत्तर—नहीं। गौणमुख्यता सापेक्ष हुआ करती है जिस कार्य को जो अपेक्षित है वह उस कार्यमें मुख्य माना जाता है। मोक्षमार्गरूप कार्य की सिद्धिमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र तीनोंकी अपेक्षा है। अतएव उसमें तीनोंकी ही मुख्यता है।

दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों ही आत्माके स्वतन्त्र गुण हैं। और वे आत्मासे अभिन्न हैं, अनाद्यनन्त हैं, तथा परिणामी हैं। ऊपर यह बात भी कही जा चुकी है कि यद्यपि सभी द्रव्यों की तरह आत्मा भी अनन्त गुणोंका अखण्ड पिंड है परन्तु उनमें से इन तीनका ही उल्लेख इसलिये किया गया है कि मोक्षमार्गरूप कार्य की सिद्धिमें ये ही तीन सबसे अधिक उपयोगी—असाधारण साधन हैं। आत्माकी दो ही अवस्थायें हैं—संसार और मुक्त। अनादिकालसे ये तीनों गुण संसार अवस्थाके कारण बने हुये हैं। और जबतक वे उसीके साधन रहेंगे तबतक उसको मिथ्या ही कहा जयगा। किन्तु जब वे ही संसारके विरोधी हो जाते हैं तब सत्-प्रशस्त-समीचीन शब्दसे कहे जाते हैं। इसलिये यह बात स्पष्ट है कि इनके साथ सम्यक् विशेषणके लगनेका अथवा इनको सत् शब्दके द्वारा कहे जानेका कारण आत्माको संसार परिणतिपरम्परा की तरफसे मोडकर शुद्ध स्वाधीन ध्रुव आनन्दरूप अवस्थामें परिणत एवं स्थित करने की योग्यता तीनोंमें ही है। तीनों ही समीचीन होकर समान रूपसे आत्मा की सिद्धिमें साधन हैं फिर भी इनमें जो पारस्परिक अन्तर है वह भी यहां विस्मरणीय नहीं, ध्यान देने योग्य है। और वह यह कि जिस तरहसे दर्शनको सम्यग्दर्शन बनानेवाले ज्ञान चारित्र हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन का भी यह महान प्रत्युपकार है कि अपने साथ ही वह ज्ञान चारित्रको भी सम्यक् बना लेता है।

इस महान प्रत्युपकारके कारण ही सम्यग्दर्शनकी महत्ता एवं मुख्यताका ख्यापन किया गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सम्यक् विशेषणसे रहित होकर ज्ञानचारित्र दर्शनको सम्यग्दर्शन बनानेमें हेतु नहीं हैं। यद्यपि यह ठीक है कि श्री १००८ आदिब्रह्मा भगवान वृषभेश्वरने जन्म लेकर अपने माता पिताको त्रिलोकपूज्य और नियम[1] से परम निःश्रेयस पदकी प्राप्ति केलिये सर्वथा योग्य बना दिया। किन्तु यह बात भी तो उतनी ही सर्वथा सत्य है कि वे मरुदेवी एवं नाभिराय ही उनके जनक हैं। विवाह करने पर सन्तान उत्पन्न होती ही है, यह नियम नहीं है; फिर भी विवाह--पतिपत्नी संयोगके विना सन्तानोत्पत्ति नहीं होती, यह नियम है। जिसके विना कार्य न हो यह कारण का अर्थ ऊपर बताया जा चुका है। दर्शन को सम्यक् बनानेमें ज्ञान चारित्र कारण हैं और ज्ञान चारित्र को सम्यक् बनाने में सम्यग्दर्शन करण है। यही दोनों की योग्यतामें विशेषता है और महान अन्तर है।

प्रश्न—ज्ञान चारित्र, दर्शनको समीचीन बनानेमें असमर्थ कारण हैं, और सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को समीचीन बनानेमें समर्थ कारण है। इससे तो मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शनकी ही उपयोगिता सिद्ध होती है। ज्ञान चारित्र की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। अथवा उनके समीचीन होनेकी भी क्या आवश्यकता है ? यदि दर्शन सम्यग्दर्शन बन जाता है तो ज्ञान चारित्र समीचीन न भी हों तो क्या हानि होगी ?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर देना ही इस कारिकाका मुख्य प्रयोजन है। क्योंकि आचार्य बताना चाहते है कि यदि दर्शन सम्यक् भी हो जाय, परन्तु ज्ञान चारित्र यदि सम्यक् न हों तो मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं हो सकता। आत्मा संसार पर्याय को छोडकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि वास्तवमें सम्यग्दर्शनके पूर्ण हो जानेपर भी ज्ञान चारित्रकी समीचीनता और पूर्णता का होजाना मोक्षमार्गके समर्थ बनने में शेष रह जाता है। जबतक ये दोनों सम्यक् होकर भी पूर्ण नहीं हो जाते तबतक धर्म-मोक्ष मार्ग भी अपूर्ण-अधूरा-असमर्थ ही रहा करता है। यदि सम्यग्दर्शन ही मोक्षकेलिये पर्याप्त कारण हो तो न केवल १४ गुणस्थान ही व्यर्थ हो जायंगे, मोक्षमार्गकी प्ररूपणा भी असिद्ध हो जायगी। जिस तरह जीवके दो भेद हैं, एक संसारी और दूसरा मुक्त। उसी तरह उन दोनों अवस्थाओं की सिद्धि केलिये उपाय भी दो ही पर्याप्त माने जा सकेंगे; एक मिथ्यात्व और दूसरा सम्यक्त्व। और तदनुसार दो ही गुणस्थान भी उचित कहे जा सकेंगे, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि। इसके सिवाय क्षायिक सम्यग्दर्शनके पूर्ण होने ही तत्काल मोक्ष भी हो जायगी। किन्तु ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शनके पूर्ण हो जानेपर भी सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की आवश्यकता रहती है। यही कारण है कि इन तीनोंमे से पूर्वके पूर्ण हो जाने

---

[1]—१६६ पदवीधर जीव नियमसे मोक्ष प्राप्त किया करते हैं। तीर्थंकर २४, चक्रवर्ती १२, नारायण ९, प्रति नारायण ९, बलभद्र ९, तीर्थंकरो के माता और पिता ४८, कामदेव २४, कुलकर १४, रुद्र ११, नारद ९=१६९॥

पर भी उत्तर की भजनीयता[1] और मोक्षरूप कार्य की सिद्धिमें तीनों ही की क्रमसे पूर्णता का होना एवं तीनोंकी सम्पूर्णतामें ही समर्थ कारणता[2] का आचार्योंने प्रतिपादन किया है।

अतएव सम्यग्दर्शनकी तरह सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी भी अत्यावश्यकताको स्पष्ट करना इस कारिकाका मुख्य एवं प्रथम प्रयोजन है। इसके सिवाय ऊपरकी कारिकामें दिखाये गये हेतु–हेतुमद्भाव या साध्य साधन भावमें व्याप्ति का निश्चय कराना भी इस कारिका का प्रयोजन है। क्योंकि उक्त कारिकामें जिस साध्य और हेतु-साधनका उल्लेख किया गया है उसके अविनाभावका बोध-निश्चय करानेकेलिये विपक्षमें बाधक बल दिखाना भी आवश्यक[3] है। क्योंकि जबतक यह निश्चित न हो जाय कि साध्यके अभावमें भी हेतुके रहनेपर अमुक आपत्ति है तबतक व्याप्तिको निश्चित नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ-अग्निके साथ धूमकी व्याप्ति है। यहांपर साध्यभूत अग्निके अभावमें भी यदि धूम हेतु रह सके तो इनकी व्याप्ति ठीक नहीं मानी जा सकती। और वह अपने साध्यका ज्ञान कराने वाला यथार्थ साधन भी नहीं माना जा सकता और न उसके द्वारा साध्यका ज्ञान ही यथार्थ माना जा सकता है। किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि इनकी व्याप्ति के विपक्षमें--अग्निके अभावमें भी धूमके रहने पर कार्यकारणभावके भंग का प्रसंग बाधक है। कारण यह है कि धूम और अग्निमें कार्यकारणभाव है। अग्नि कारण है और धूम उसका कार्य है। यह एक सामान्य नियम है कि कारणसे ही कार्य उत्पन्न हुआ करता है। फलतः अग्निरूप कारणके विना भी यदि धूमरूप कार्य पाया जा सकेगा या माना जा सकेगा तो कार्यकारणभावके सामान्य नियमका भंग हो जाता है। यह भी मानना पड़ेगा कि विना कारणके भी कार्य हो सकता है। परन्तु ऐसा होता नहीं, हो भी नहीं सकता। इसीलिये धूमकी अग्निके साथ व्याप्ति निश्चित मानी जाती है और कभी भी कहीं भी धूमको देखकर जो अग्नि का ज्ञान होता[4] है या कराया जाता[5] है तो वह सत्य-प्रमाणरूप ही माना जाता है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी यह बताना आवश्यक है कि साध्यके अभावमें हेतुके रहनेपर क्या आपत्ति है—हेतु रहे और साध्य न हो तो क्या बाधा है? इस बाधाको स्पष्ट कर देना इस कारिका का प्रयोजन है। क्योंकि दर्शनके सम्यक् हुए विना ज्ञान चारित्र भी सम्यक् होते नहीं और हो भी नहीं सकते

१—एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम् ॥२८॥ उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः ॥२९॥ राजवा० अध्याय १ आ० २।

२—तेषां पूर्वस्य लाभेऽपि भाज्यत्वादुत्तरस्य च। नैकान्तेनैकता युक्ता हर्षामर्षादिभेदवत् ॥६६॥

तत्त्वश्रद्धानलाभे हि विशिष्टं श्रुतमाप्यते। नावश्यं नापि तल्लाभे यथाख्यातममोहकम् ॥६७॥ श्लोकवा अ० १ सू० १॥ इसके सिवाय देखो श्लोकवार्तिक अ० १ सू० १ वार्तिक ८७ से ९२ और उनका भाष्य। तथा—

रत्नत्रितयरूपेणायोगकेवलिनोऽन्तिमे। क्षणे विवर्तते ह्येतदबाध्यं निश्चितान्नयात् ॥९४॥

३—विपक्षे बाधकप्रमाणबलात्खलु हेतुसाध्ययोर्व्याप्तिनिश्चयः, व्याप्तिनिश्चयतः सहभावः क्रमभावो वा, सहक्रमभाव नियमोऽविनाभाव इति वचनात् न्या० दी०। ४ स्वार्थानुमान ५ परार्थानुमान।

तथा ऐसा हुए बिना मोक्षमार्ग प्रवृत्त नहीं हो सकता यह बात ऊपरकी कारिका में यद्यपि सूचित कर दी गई है फिरभी ग्रन्थकर्त्ताने यह बात अभी तक स्पष्ट नहीं की है कि सम्यग्दर्शनके हो जानेपर भी या रहते हुए भी यदि ज्ञान चारित्र सम्यक् न हों या सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र न रहें तो आपत्ति क्या है ? बाधाओंका निर्देश करके यह नहीं बताया गया है कि ऐसी अवस्थामें ये बाधायें आती हैं अतएव इस बातका समाधान करनेके लिये तथा इसके साथ ही इस प्रश्नके अन्तर्गत और भी जो जो प्रश्न उपस्थित होते है या हो सकते हैं उन सबों का भी समाधान करनेके लिये यह कारिका अत्यन्त प्रयोजनवती है जिसमें कि इस अध्यायके अन्त तक आगे कही जाने वाली सम्पूर्ण कारिकाओंके प्रयोजनका उल्लेख भी बीजरूपमें अन्तर्निहित है। क्योंकि विपक्षमें जिन चार विषयोंकी असिद्धिकी बाधा यहां बताई गई है, उन्हीं सम्भूति, स्थिति, वृद्धि और फलोदय का ही तो आगे चलकर कारिका नं० ३५ से ४० तक ६ कारिकाओंमें अथवा अध्यायके अन्त तक व्याख्यान किया गया है जैसाकि आगेके वर्णनसे मालुम हो सकेगा। इस प्रकार यह कारिका देहली दीपकन्यायसे दोनों ही तरफ अपनी प्रयोजनवत्ता और महत्ताको एक तरफ आवश्यक समाधानके द्वारा प्रयोजनको और दूसरी तरफ वक्ष्यमाण विषयके प्रोत्थापनके निर्देशको प्रकाशित करती है। अतएव स्पष्ट है कि इस कारिकाका प्रयोजन और महत्त्व असाधारण है।

शब्दों का सामान्य—विशेष अर्थ—

विद्यावृत्तस्य—विद्या च वृत्तं च तयोः समाहारः विद्यावृत्तं तस्य। इस निरुक्तिके अनुसार एक वचन का प्रयोग और समुदाय का प्राधान्य समझा जा सकता है, जैसाकि समाहार द्वन्द्व समासके विषयमे पहले कहा जा चुका है। विद्याका अर्थ ज्ञान और वृत्त का अर्थ चारित्र प्रसिद्ध है।

सम्भूति-स्थिति वृद्धि-फलोदयाः—इन चारों ही शब्दों का इतरेतर द्वन्द्व समास होता है। सम् पूर्वक भू धातु से भाव-क्रिया मात्र अर्थमें कृदन्त की ति (क्तिन्) प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है। सम् उपसर्ग का अर्थ समीचीन और भू धातु का अर्थ उत्पन्न होना है। अतएव सम्भूति शब्द का अर्थ भले प्रकार उत्पत्ति होता है। किन्तु इसका अर्थ सभव-शक्य भी होता है। जैसे कि 'इत्यर्थः सभवति' पद का अर्थ 'ऐसा अर्थ संभव है।' यह होता है। यहां पर समीचीन उत्पत्ति और संभव ये दोनो ही अर्थ ग्रहण करने चाहिये। अर्थात् सम्यक्त्वके विना सम्यग्दर्शनके अथवा समीचीनताके विना ज्ञान--चारित्र भले प्रकार अभीष्ट रूपमे उत्पन्न नहीं होते अथवा उत्पन्न नहीं हो सकते--मोक्षमार्गरूप नहीं बनते इस तरह से दोनों ही प्रकारसे अर्थ करना उचित एवं संगत है।

स्थिति—स्था धातु का अर्थ गतिनिवृत्ति है। इससे भी क्तिन् प्रत्यय होकर यह शब्द बना है। निरुक्तिके अनुसार इसका अर्थ गमन न करना होता है। किन्तु इसका प्रसिद्ध अर्थ ठहरना, मर्यादा, परिस्थिति; स्थिरता-न्याय्य मार्ग पर स्थिर रहना अ[illegible] करता

प्रकरण मोक्षमार्ग का है। अतएव उसको दृष्टिमें रखकर अर्थ करने पर मतलब यह होता है कि सम्यक्त्वके विना ज्ञान–चारित्रमें ये वातें घटित नहीं हो सकतीं। किन्तु सम्यग्दर्शनके हो जाने पर अथवा समीचीनताके आ जाने पर ज्ञान-चारित्रमें ये सभी अर्थ घटित हो सकते हैं और हो जाते हैं। क्योंकि ज्ञान-चारित्रके समीचीन बन जाने पर जीवकी गतिनिवृत्ति[1] हो जाती है उसका संसार मर्यादित हो जाता[2] है उसकी अवस्था और परिस्थिति भी बदल जाती है। वह मोक्षमार्गमें स्थिर हो जाता[3] है।

वृद्धि—इस शब्दके समृद्धि, अभ्युदय, सम्पत्ति और बढवारी आदि प्रसिद्ध अर्थ हैं। उपर्युक्त दोनों शब्दोंकी तरह यह शब्द भी वृध धातुसे[4] जिसका कि अर्थ बढना होता है भाव अर्थमें क्तिन् प्रत्यय होकर बनता है। क्योंकि सम्यक्त्वके हो जाने पर ही सम्यग्दर्शनके होनेपर अथवा ज्ञानके सम्यग्ज्ञान और चारित्रके सम्यक्चारित्र हो जाने पर ही यह जीव मोक्ष मार्गमें आगेको बढता है। अन्यथा नहीं तथा उसके सभी गुण और ज्ञान चारित्ररूप अथवा रत्नत्रयरूप तीनों ही मुख्य गुणोंकी सम्पत्ति भी दिनपर दिन मोक्ष मार्गमें आगेको—परमनिःश्रेयस पदकी लब्धि तक बढती ही[5] जाती है।

फलोदय—शब्दका अर्थ फलका प्रकट होना या प्राप्त होना है। किसी भी कार्यके अन्तिम परिणामको फल कहते हैं। ज्ञान चारित्रके समीचीन बने विना मोक्षके मार्गवर्ती असाधारण ऐहिक पुण्य कर्मोदय जनित अभ्युदयरूप फल तथा अन्तिम रसानुभवके समान परमनिःश्रेयस पदके लाभका फल प्राप्त नहीं हो सकता[6]।

न सन्ति असति सम्यक्त्वे—इन शब्दोंका अर्थ ऊपर किया जाचुका है और स्पष्ट है। फिर भी यह बात ध्यानमें रहनी चाहिये कि इस वाक्यका प्रयोग इसलिये किया गया है कि जिससे साध्यके अभावस्थान विपक्षका बोध होसके और यह जाना जासके कि विपक्षमें यह बाधा आती है जिसके फलस्वरूप मोक्ष मार्गको सिद्ध करनेके लिए ज्ञान चारित्रका अथवा तीनोंकाही समीचीन होना आवश्यक है। क्योंकि प्रशस्तताको प्राप्त किये विना इन तीनों गुणोंमें और मुख्यतया ज्ञान चारित्रमें मोक्ष रूप कार्यको निष्पन्न करनेकी या तद्रूप परिणत होनेकी औपादानिक योग्यता नहीं आसकती।

बीजाभावे तरोरिव—यह दृष्टान्तरूप वाक्य है। इसके द्वारा यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि जिस तरह अंकुरोत्पत्तिसे लेकर फल आने तककी वृक्षकी चार अवस्थाएं बीजकी

१—देखो कारिका नं० ३५ तथा उसके पोषक समर्थक अन्य ग्रन्थ। २—सावधिं विदधाति (त्या) जवंजवीभावं नियमेन संपादयति कंचित्कालम्। य० ति० ३—देखो आगेकी कारिका नं० ३३। ४—भ्वादि आत्मनेपदी तथा तुदादि आत्मनेपदी।

५—गुण स्थान क्रमसे आध्यात्मिक विशुद्धि बढती जाती है। ६—यह बात सप्त परम स्थानोंके लाभको बताने वाली यहीं आगेकी कारिका नं० ३६ से ४१ तकके प्रकरणके अन्तिम फल वर्णनसे जानी जा सकती है।

योग्यता पर निर्भर हैं क्योंकि समुचित बीजके बिना वृक्षकी यथोदित एवं यथेष्ट अवस्थाएं निष्पन्न नहीं हो सकतीं। उसी प्रकार ज्ञान चारित्रमें प्रशस्तता प्राप्त हुए बिना वह समुचित बीज रूप योग्यता नहीं आती जिससेकि अन्तिम फलोदय तककी सभी अवस्थाएं प्राप्त हो सकें।

तात्पर्य—सम्यग्दर्शनकी तरह ज्ञान चारित्रको भी सम्यक् बननेकी आवश्यकता क्यों है इसका समाधान दृष्टांत पूर्वक आचार्यने इस कारिकामें भले प्रकार किया है। दृष्टांत जो दिया गया है उससे उपादानोपादेयभाव व्यक्त होता है। बीज वृक्षका उपादान है वही अंकुररूप होकर वृक्ष बनता है, अपने स्वरूपमें स्थित रहते हुए बढते बढते क्रमसे पत्र पुष्प रूप होकर अन्तमें फलरूपको धारण कर लिया करता है। यदि बीज योग्य न हो तो उससे आगेकी ये अवस्थाएं भी उत्पन्न नहीं हो सकती। उसी प्रकार मोक्ष तककी सभी अवस्थाओंका बीज सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। यदि ज्ञान और चारित्र सम्यक् विशेषणसे युक्त न हों तो उनमें मोक्ष तककी अवस्थाओंके रूपमें परिणत होनेकी योग्यता नहीं आती। फलतः मोक्षरूप कार्य और उसकी पूर्ववर्ती कारणपरम्परा रूप अवस्थाएं भी सिद्ध नहीं हो सकती।

आगममें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप इन चारों ही आराधनाओंकी[१] क्रमसे होने वाली पांच पांच अवस्थाएं मानी गई है और बताई गई हैं—उद्योत उद्यवन निर्वाह सिद्धि और निस्तरण[२]। मालुम होता है कि इन्हीं पांच अवस्थाओंको यहां पर सम्भूति आदि चार शब्दोंके द्वारा कहा गया है और पांचोंको चार अवस्थाओंमें ही घटित कर लिया गया है। मिथ्यात्व आदि दोषोंको दूर करनेमें उद्यत रहना, और सम्यक्त्वमें लगनेवाले शंकादिक अतीचारोंको न लगने देना, तथा उपगूहनादि और संवेग निर्वेद निन्दा गर्हा उपशम भक्ति वात्सल्य और अनुकम्पा आदिके द्वारा उसे प्रकाशमान बनानेका सम्यग्दर्शनका उद्योतन कहा जाता है। उद्यवनका अर्थ अपने विरोधी भावोंसे आत्माको मिश्रित न होने देकर दृढता पूर्वक अपनी विशुद्धिमय ही आत्माको बनाये रखना होता है। निर्वाहका आशय यह है कि उस विशुद्धिके वहन करनेमें धारण करने और आगे बढानेमें किसीभी प्रकारकी आकुलता या क्षुब्धता न हो। सिद्धिका तात्पर्य उसकी अवस्थाका सम्पूर्ण हो जाना और प्रति समय-नित्यही उसका फिर वैसाही बना रहना होता है। इसका संस्कार आत्मामें इतना अधिक व्याप्त हो जाय कि फिर वह मोक्ष होने तक बनाही रहे उसी भवमें या तो आत्माको मुक्त करदे या भवान्तरमें परन्तु अन्त तक वह बना रहे, इसको निस्तरण कहते है।

प्रकृतमें विचार करनेसे मालुम हो सकता है कि उद्योतन और सम्भूतिका अर्थ एक ही है। तथा अबतक जो कुछ यहां वर्णन किया गया है वह मुख्यतया इसीसे सम्बन्धित है। अब जो कहना चाहते हैं उसका तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शनके उत्पन्न हो जानेके बाद उद्यव

१, २—उज्जोयणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं। दंसणणाणचरित्ततवाणमाराहणा भणिया॥ अन० ध० २-११२ टीका

निर्वाह सिद्धि और निरतरण अथवा मोक्ष मार्गकी स्थिति वृद्धि और फलोदय सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रपर निर्भर है। क्योंकि उन्हींके द्वारा सम्यग्दर्शन निस्तरण अवस्था तक पहुंच सकता है। ज्ञान और चारित्रके सम्यक् हुए बिना क्रमसे अन्ततककी सभी अवस्थाएं सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि देखा जाता है कि आज्ञा सम्यक्त्वसे लेकर परमावगाढ़ सम्यक्त्व तक जो सम्यग्दर्शनकी उत्तरोत्तर विकाशरूप दश१ अवस्थाएं हैं उनमें मुख्य सम्बन्ध सम्यग्ज्ञानका है साथ ही सम्यक्चारित्र का भी अन्तरंग सम्बन्ध है। बुद्धि ऋद्धि अथवा सम्यग्ज्ञानके अनेक भेद ऐसे हैं जो कि सम्यक् चारित्रके बिना सिद्ध नहीं होते। यही कारण है कि अभव्य मिथ्यादृष्टि नौ पूर्वसे अधिक अध्ययन नहीं कर सकता२। यदि कदाचित् कोई भव्य होकर भी मिथ्यादृष्टि है तो वह भी दशपूर्वित्व ऋद्धि सिद्ध नहीं कर सकता। जिस प्रकार श्रुत सम्यग्दर्शनको केवल अवगाढ, केवलज्ञान परमावगाढ बनाता है उसी प्रकार वीतरागता श्रुत केवल एवं केवल ज्ञान को उत्पन्न करती है। किन्तु ज्ञान और चारित्रकी ये अवस्थाएं तबतक नहीं हो सकती जब तक कि सम्यग्दर्शनके निमित्तसे वे सम्यक् नहीं बन जाते। इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि, सम्यग्दर्शनके बिना अथवा समीचीनताको प्राप्त किये बिना ज्ञान चारित्रकी भी सम्भूति आदिक वे अवस्थाएं नहीं हो सकतीं जिनके कि बिना मोक्ष मार्ग ही सिद्ध नहीं हो सकता।

इस तरह इस कारिकाके द्वारा विपक्षमें बाधक बल दिखाकर आचार्यने बताया है कि पूर्व कारिकामें निहित हेतुका साध्यके साथ जो अविनाभाव सम्बन्ध निश्चित है वह यहांपर इस कथनसे स्पष्ट हो जाता है। साथही सम्यग्दर्शनकी तरह मोक्षमार्गमें सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी भी उतनीही आवश्यकता है यह बात भी दृष्टिमें आ जाती है,

पहली कारिकामें जिस प्रकार कर्णधारका दृष्टांत देकर अथवा मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शन का कार्य भी उसे कर्णधारके ही सदृश बताकर सम्यग्दर्शनके नेतृत्वको व्यक्त किया था उसी प्रकार यहां बीज वृक्षका महत्वपूर्ण दृष्टांत देकर रत्नत्रय अथवा सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का मोक्ष एवं उसके मार्गमें उपादानोपादेयभाव बड़ी सुन्दरताके साथ स्फुट कर दिया है।

पूर्व कथित कारिकामें कर्णधार नाविकका दृष्टांत देकर रत्नत्रय मोक्षमार्गरूप तीनोंही गुणोंमें सम्यग्दर्शनको मुख्य बताते हुए भी तीनोंमें परस्पर सहभावके साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बताया गया है जिसका आशय यह है कि इनमेंसे किसीकेभी उत्तरोत्तर होने वाले क्रमवर्ती विकासमें शेष दोनोंही गुण निमित्त पडते हैं। इस कारिकामें बीजवृक्षका दृष्टांत उन गुणों की क्रमसे होने वाली अवस्थाओंमें पाये जाने वाले उपादानोपादेय भावको दिखाता है। इस तरहसे मोक्षमार्गमें पाये जाने वाले कार्य कारण भावमें आवश्यक अन्तरंग निमित्त और उपादान को दोनों कारिकाओंके द्वारा व्यक्त किया गया है।

यद्यपि इस कारिकाके पूर्वार्धसे यह प्रकट होता है कि—ज्ञान-चारित्र तो उपादान है और उनकी सम्भूति आदिक अवस्थाएं उपादेय है। किन्तु 'विद्यावृत्तस्य'में समाहारद्वन्द्वके कारण

यह समझना गलत होगा कि किसी भी आगे होनेवाली विवक्षित एक पर्यायके प्रति ये दोनों ही उपादान कारण बताये गये हैं। क्योंकि वस्तुतः ज्ञान और चारित्रके परिणमन भिन्न भिन्न ही हैं। ज्ञान अपनी पर्यायोंका उपादान कारण है और चारित्र अपनी पर्यायोंका उपादान है। ज्ञान चारित्रकी पर्यायोंका और चारित्र ज्ञानकी पर्यायोंका उपादान नहीं है और न हो ही सकता है। फिर भी एकके प्रति दूसरा परिणमनमें निमित्त अवश्य होता है। वास्तवमें दर्शन ज्ञान और चारित्र आत्माके अभिन्नसत्ताक गुण होते हुए भी स्वरूप संख्या विषय फल आदिकी अपेक्षा भिन्न भिन्न ही हैं। सम्यग्दर्शनका स्वरूप सामान्य निर्विकल्प वचनके अगोचर[1] है। उसका विषय भी वास्तवमें अनन्त गुणोंका पिण्ड अखण्ड शुद्ध आत्मद्रव्य है। कोई भी उसका खण्ड अथवा उससे सम्बन्धित पदार्थ व्यवहारसे अथवा उपचारसे ही उसका विषय कहा और माना जाता है। सम्यग्ज्ञानका स्वरूप विशेष एवं सविकल्प है। उसके आकार विशेपको[2] वचनके द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। आत्माके अनन्त गुणोंमें यही एक गुण-चेतनाकी ऐसी साकार परिणति है जो कि स्वयं अपने और दूसरोंके भी स्वरूपको विशेष रूपसे ग्रहण करनेमें समर्थ[3] है। और जिसके कि द्वारा सभी पदार्थों एवं आत्माके भी गुणों एवं पर्यायोंका बोध कराया जा सकता है। सम्यक् चारित्रका लक्षण-स्वरूप भी सम्यग्ज्ञानकी तरह आगे बताया जायगा किन्तु इसका मूल सम्बन्ध आत्माके वीर्य गुणसे है। मनोवर्गणाओं, वचनवर्गणाओं और कायवर्गणाओंके अवलम्बनसे जब इसकी प्रवृत्ति होती तब इसीको योग कहते है। और जब इसके साथ अनादि कालसे चला आया मिथ्यात्व और कषायके उदयादिका सम्बन्ध हट जाता है तब इसीको सम्यक् चारित्र कहते हैं। योगको इन भिन्न भिन्न अवस्थाओंमें उसके कार्य भी भिन्न भिन्न प्रकारके ही हुआ करते हैं। योग शब्द युज धातुसे बना है अतएव निरुक्तिके अनुसार आशय यह होता है कि इसका आस्रव एवं बन्ध-प्रकृति बन्ध और प्रदेशबन्धरूप जो कार्य है वह उसकी संयुक्त अवस्थाके द्वारा ही संभव है। जब तक वीर्यशक्तिमें मोहका सम्बन्ध-संयोग बना हुआ है तभी तक वह अपने इस कार्यको कर सकता है और किया करता है। मोहका सम्बन्ध न रहने पर वर्गणाओंके अवलम्बन मात्रसे भी इसके द्वारा कर्मोंके आगमनका कार्य होता है। किन्तु वह नगण्य है। क्योंकि उसमें स्थिति और अनुभाग नहीं रहता। वीर्य गुणकी क्षायोपशमिक दशामें मोहके उदयका जो विशिष्ट सम्पर्क है वही योगमें मुख्यतया विवक्षित है। अतएव इसकी सामान्यतया तीन दशाएं होती हैं—मिथ्यात्व कषायसहित, मिथ्यात्वरहित कपायसहित, मिथ्यात्व

१—सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम्। गोचरं स्वावधिस्वान्तपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥३७५॥ न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोर्मनाक्। नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धित. ॥३७६॥ अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित् सम्यक्त्व निर्विकल्पकम्। तद्दृङ्मोहोदयान्मिथ्यास्वादुरूपमनादितः ॥३७७॥ सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्। तस्माद्वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ॥४००॥ पंचा०

२—श्रुतं पुनः स्वार्थं परार्थं च भवति।

३—ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः। सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः ॥३९५॥ ततो वक्तुमशक्यत्वात् निर्विकल्पस्य वस्तुनः। तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥३९६॥ पंचा०

कषाय दोनोंके संयोगसे रहित। किन्तु केवल मनोवर्गणाओं वचनवर्गणाओं और कायवर्गणाओं के अवलम्बनसे युक्त। ज्ञानकी भी इसीतरह तीन दशाएं होती है परन्तु उसमें यह एक विशेषता है कि मोहका संपर्क हट जानेपर ज्ञानकी क्षायोपशामिक एवं क्षायिक इस तरह क्रमसे जो दो दशाएं हुआ करती हैं उन दोनों दशाओंमेंसे क्षायिक अवस्थामें किसीके भी अवलम्बनकी उसे अपेक्षा नहीं रहा करती।

इन तीनों अवस्थाओंमेंसे ज्ञान और चारित्र दोनों हीकी पहली मिथ्यात्वसहित अवस्था कर्मबन्ध–संसाररूप बन्धकी कारण है। और उससे रहित दोनोंही अवस्थाएं सिद्धि–मुक्तिकी कारण हैं। अनादिकालसे चली आई मिथ्यात्वसहित अवस्था छूटकर जब दूसरी अवस्था प्राप्त होती है तब सर्वथा अपूर्व लोकोत्तर स्वयंसिद्ध अविनश्वर स्वाधीन अभीष्ट अवस्थाकी प्रादुर्भूति होनेके कारण उनका नया जन्म माना जाता है। यही उनकी संभूति है। इसके बाद इनकी जो स्थिति वृद्धि और फलोदयरूप अवस्थाएं हुआ करती हैं, वे ग्रन्थान्तरोंसे जानी जा सकती हैं। किन्तु इस विषयमें ग्रन्थकार जो यहां कह रहे हैं उसका सारांश यही है कि ये दोनों ही गुण मोक्षमार्गमें तबतक जन्म धारण नहीं कर सकते और न आगे बढते हुए क्रमसे स्थिति वृद्धि फलोदयको ही प्राप्त कर सकते हैं, जब तक कि सम्यग्दर्शनके निमित्तसे सद्रूपता–मोक्षमार्ग रूप वृक्षके लिये औपादानिक योग्यता समीचीन बीजरूपताको वे धारण नहीं कर लेते।

ऐसा देखा जाता है कि रंगीन कपास उत्पन्न करनेके लिये उसके बीजमें यथायोग्य मजीठ आदि वस्तुओंका संस्कार किया जाता है। यह संस्कार इतना दृढ होता है कि उस बीजमें परम्परातक सदाही रंगीन कपास उत्पन्न करनेकी योग्यता आजाती है। इसी प्रकार ज्ञान और चारित्रमें सम्यग्दर्शन इस तरहका संस्कार उत्पन्न करता है कि—आत्मामें या उसके ज्ञानादिगुणों में परसंयोगसे जो विकृत रंग अनन्तकालसे चला आरहा है, वह छूटकर स्वाभाविक शुद्ध रंग अनन्तकालके लिये आजाता है। वे क्रमसे अपने शुद्ध स्वरूपमें सदाके लिए स्थिर होकर रहने लगते हैं। यही कारण है कि बीज वृक्षका दृष्टांत देकर उपादानोपादेयभावको व्यक्त करते हुए कहा गया है कि "विद्यावृत्त"–ज्ञान और चारित्र जब तक सम्यक्त्वको प्राप्त नहीं कर लेते-सम्यग्दर्शनके प्रसादसे मोक्षमार्गोपयोगी समीचीनतारूप संस्कारसे युक्त नहीं हो जाते तब तक अनन्त ज्ञान और शुद्धात्मस्वरूपमें स्थितिरूप सिद्धत्वफलको उत्पन्न करने वाले मोक्षमार्गरूप विवेक-भेदज्ञान और सत्पुरुषार्थ-चारित्ररूप वीर्यगुण जैसे वृक्षोंकी संभूति आदिके लिये वे वास्तव में बीजरूप नहीं माने जा सकते। उनसे इस तरहके फलप्रद वृक्षकी संभूति आदि नहीं हो सकती यही कारण है कि सम्यग्दर्शनको धर्मोमें सबसे मुख्य माना गया[1] है।

प्रश्न हो सकता है कि ऐसा भी क्यों?

१—यस्मादभ्युदयः पुंसां निःश्रेयसफलाश्रयः। वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरयः॥ यश०। यतो ऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः॥ अ० १ सू० २ वैशेषिकदर्शनम्। नीतिवाक्यामृत अ० १ सू० २।

यद्यपि इस प्रश्नका उत्तर ऊपरके वर्णनसे ही हो जाता है फिर भी संक्षेपमें उसको कुछ अधिक स्पष्ट कर देना भी उचित और आवश्यक मालुम होता है।

यह कहा जा चुका है कि आत्माके तीनों ही गुण स्वतन्त्र हैं फिर भी उनका स्वरूप साधन विषय फल भिन्न भिन्न ही हैं। सम्यग्दर्शनका विषय सामान्य है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस तरह रोग और स्वास्थ्यका प्रभाव शरीरके किसी एक भागपर ही न पड़कर सम्बन्धित सभी भागों पर पडता है। उसी तरह प्रकृतमेंभी समझना चाहिए। मिथ्यात्व और सम्यक्त्वका प्रभाव आत्माके किसी एक दो गुणों तक ही सीमित नहीं है किन्तु आत्माके जितने भी अनन्त गुण हैं उन सभीसे और उनकी जितनीभी पर्याय हैं तथा सम्पूर्ण गुणों और पर्यायोंका समूह रूप अखण्ड पिण्ड त्रैकालिक सद्रूप आत्मद्रव्य है उन सभीसे सम्बन्धित है। मिथ्यात्वका अर्थ यह है कि विवक्षित आत्मा और उसके सभी गुण पर्याय मूर्छित हैं। सम्यक्त्वका अर्थ यह है कि समस्त आत्मा और उसके सभी गुणों पर्यायोंमेंसे वह मूर्छाभाव दूर हो गया है। सम्यक्त्वके हो जानेपर जब सभी गुण पर्यायोंमेंसे मूर्छाभाव अथवा अस्वास्थ्य दूर होकर चैतन्य एवं स्वरूपावस्थानके साथ साथ पूर्णरूपताके लिये स्फूर्ति प्रकट होजाती है तब ज्ञान और चारित्रही उससे किस तरह वंचित रह सकते हैं। ये दोनों तो आत्माके अनन्त गुणोंमें सबसे अधिक महत्त्व रखते हैं। ज्ञान लक्षणरूप है, मार्गका प्रकाशक है, स्व और परका विवेचक तथा प्रयोजनीभूत तत्त्व एवं कर्तव्यका निश्चायक है तब चारित्रगुण स्वाधीन स्थितिको सिद्ध करनेमें परम सहायक समस्त नीति और व्यूह रचनामें दक्ष मोहराज या सम्पूर्ण कर्मोंका विघटन करनेवाले तन्त्रका असाधारण अधिकारी है। फलतः ये भी मोहक्षोभरूप मूर्छा या अस्वास्थ्यके मूल कारणभूत विकारके निकल जानेसे आत्माके अनुकूल हितके साधक प्रशस्त बन ही जाते या हो ही जाया करते हैं। क्योंकि सामान्य अंशके शुद्धहो जानेपर विशेष अंश विकारी किस तरह रह सकता है। कहा भी है कि—"निर्विशेषं हि सामान्यं, भवेत् खरविषाणवत्। सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव[1] हि" ॥ अस्तु,

इस सब कथनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञान चारित्रकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनकी शुद्धिका विषय सामान्य होनेसे व्यापक है और इसीलिए उसकी प्रधानता है। यह लोक प्रसिद्ध कहावत भी है कि "सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः।"

किन्तु विशिष्ट अर्थ क्रियामें विशेष ही साधक बन सकते हैं। यही कारण है कि मोक्ष मार्गमें ज्ञान और चारित्रकी आवश्यकता स्वीकार की गई है। और इसीलिए इस कारिकामेंभी कहा गया है कि आत्मामें सामान्यतया समीचीनताके आ जाने पर फिर यदि मोक्षमार्गरूप वृक्षकी संभूति स्थिति वृद्धि और फलोदयकेलिये कोई बीजस्थानीय हैं तो ज्ञान चारित्र ही हैं। क्योंकि आगमका रहस्य जाननेवालोंसे यह अविदित न होगा कि उद्योतन उद्यव आदि निस्तरण

१—आप्तमीमांसा

पर्यन्त अपनी सम्पूर्ण सफलताओंके लिये सम्यग्दर्शनकोभी सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्रका मुख देखना पड़ता[२] है। बीज कितना ही उत्तम क्यों न हो मट्टी-उर्वरा भूमि और जलके बिना सुफल वृक्ष नहीं बन सकता। प्रकृत कारिकामें आचार्यश्रीने दृष्टांत[३] गर्भित उपमा अलंकारके द्वारा यह सब अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है विद्वानोंको घटित कर लेना चाहिये।

किन्तु यह सब होते हुये भी यह ध्यान देने योग्य विषय है कि यह सम्यग्दर्शनका प्रकरण है। यहां सम्यग्दर्शनकी जो असाधारण महत्ता है उसीकी तरफ दृष्टि दिलाई जारही है और उसीका ख्यापन किया जा रहा है फलतः यह जो कहा गया है वह रंचमात्र भी मिथ्या नहीं है सर्वथा सत्य है कि ज्ञान और चारित्र यद्यपि मोक्षमार्गकी सिद्धिमें सर्वथा आवश्यक हैं–उनके बिना मोक्ष और उसके मार्ग- उपायकी सिद्धि नहीं होती और न हो सकती है फिर भी वे सम्यग्द-र्शनके प्रतापसे ही प्रशस्त बन जानेपर–मोक्षमार्गमें नया जन्म धारण कर लेने पर ही इस तरहकी योग्यतासे सम्पन्न हुआ करते है। अन्यथा नहीं। ज्ञान जब तक सम्यक् नहीं होजाता तबतक वह स्वानुभूतिरूपको भी प्राप्त नहीं किया करता। और न तबतक स्वनुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम होकर वह विशुद्धि ही प्रादुर्भूत हुआ करती हैं। और इसीलिये तब तक उसके द्वारा निज शुद्ध अखण्ड त्रैकालिक सच्चिदानन्दमय अभिन्न आत्माकी अनुभूति–स्वानुभूति भी नहीं हुआ करती। इसी प्रकार चारित्र भी जबतक सम्यक् नहीं होजाता तबतक भले ही वह प्रतिपक्षी कषायोंके मन्द मन्दतर मन्दतम उदयके अन्तरंग निमित्तकी बलवत्तासे पापोंका परित्याग करके गृहप्रवृत्त श्रावकके अथवा गृहनिवृत्त उत्कृष्ट श्रावकके व्रतोंका यद्वा महान मुनिके योग्य महाव्रतोंका[४] पालन करके नवग्रैवेयक तकके योग्य पुण्यायु आदिका बंध करके परसंग्रह एवं उस परप्रत्ययके प्रसादसे परम शुभ दिव्य किन्तु कादाचित्क—अस्थिर अभ्युदयको भी प्राप्त करले फिर भी वह संवर निर्जराके कारण रूपसे माने गये और बताये गये सामायिक[५] आदि चारित्र रूपको धारणकर परनिग्रही नहीं बन सकता[६]। फलतः ज्ञान और चारित्रको मोक्षमार्गके कुलमें

२—कैवल्यमेवमुक्त्यंगं स्वानुभूत्यैव तद्भवेत्। सा च श्रुतैकसंस्कारमनसातः श्रुतं भजेत् ॥३-२॥ श्रुतसंस्कृत स्वमहसा स्वतत्त्वमाप्नोति मानसं क्रमशः। विहितोपपरिष्वंगं शुद्धयति पयसा न किं वसनम् ॥३-३॥ तथा—अहो व्रतस्य माहात्म्यं यन्मुखं प्रेक्षतेतराम्। उद्योतेऽतिशयाधाने फलसंसाधने च दृक् ॥४-२०॥ अन० ध०।

३—वाग्भटालंकारे-अन्वयख्यापनं यत्र क्रियया स्वतदर्थयोः। दृष्टांतं तमिति प्राहुरलंकारं मनीषिणः ॥४, ८२॥ उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा। प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थसमासैरुपमा मता ॥४-५०॥ अत्र कारिकायाम् इव शब्द प्रयोगात् न प्रतिवस्तूपमा।

४—"छहसत्तमेसु आसव की उक्तिके अनुसार पुण्यास्रवके मुख्यतया कारण भूत इन अणुव्रत और महाव्रतो का त० सू० के छठे सातवे अध्यायमें वर्णन किया गया है।

५—संवर निर्जराके कारणोमे सामायिकादिका वर्णन ९ वे अध्यायमें किया गया है।

६—सम्यक्त्वके बाद ही ज्यो ज्यो चारित्रकी वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा के स्थान बढते जाते है।

जन्म धारण कराकर त्रैलोक्याधिपतित्वका भी अतिक्रमण करनेवाले निज शुद्धस्वरूपावस्थानके शासनकी योग्यतासे अनन्त कालके लिए युक्त कर देना सम्यत्वका ही माहात्म्य है। यही कारण है कि आत्माको दुःखमय संसार परिणतिसे हटाकर अनन्त अव्याबाध सुखमय समीचीन अवस्थामें परिणत कर देनेमें पूर्णतया समर्थ तीर्थरूप धर्म-रत्नत्रयमें सम्यग्दर्शनका ही सबसे प्रथम अधिकार, प्राधान्य और नेतृत्व है।

प्रकृत कारिकाके व्याख्यानके प्रारम्भमें उत्थानिकाके समयपर विषयका सारांश बताते हुए तीन बातें कही गई थीं। जिनमेंसे पहले विषयका कि—सम्यग्दर्शन ही ज्ञान चारित्रकी समीचीनताका जनक है, इस कारिकाके द्वारा युक्तिपूर्ण सालंकार भाषामें दृष्टांतपूर्वक अच्छी तरह किन्तु संक्षेपमें स्पष्टीकरण किया जा चुका है। अब क्रमानुसार दूसरे विषयका कि यह सम्यग्दर्शन ही जीवको मोक्षमार्गमें मुख्यतया लगानेवाला और उसमें स्थित रखनेवाला है, आचार्य स्पष्टीकरण करते हैं—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो; निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान्; निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥३३॥

अर्थ—घरमें रहनेवाला यदि मोहरहित है तो वह मोक्षमार्गमें स्थित है। घरको छोड देनेवाला साधु यदि मोहसहित है तो वह मोक्षमार्गमे स्थित नहीं है। इसलिये मोही मुनिसे निर्मोह गृहस्थ श्रेष्ठ है।

प्रयोजन—इस कारिकाके सालंकार युक्तिपूर्ण और तुले हुए शब्दोंके द्वारा आचार्यका अभिप्राय एक अत्यावश्यक विषयपर नग्न सत्य प्रकाश डालकर सर्वसाधारणके हृदयमें विद्यमान अथवा संभव बहुत बड़े भ्रम-विपर्यास संशय यद्वा अज्ञानका निराकरण करना है। सर्व साधारण जीवोंकी समझ है अथवा सामान्यतया लोग ऐसा ही समझ सकते हैं कि हिंसा आदि पाप संसारके कारण हैं अथवा वे ही स्वयं संसार है। अतएव जो जीव इनका सेवन करते हैं—त्याग नहीं करते वे संसारमार्गी ही हैं संसारी ही है। और जो इनका परित्याग कर देते हैं वे संसार और उसके मार्गसे पृथक ही हैं मोक्षमार्गी ही है अर्थात् इन पाप क्रियाओंका त्याग कर देना मात्र ही मोक्षमार्ग है।

हिंसादिक पापोंकी संख्या सामान्यतया पांच बताई है। जैसा कि इसी ग्रन्थकी आगे चलकर कारिका नं० ४९ के द्वारा मालुम हो सकता है। इसमें हिंसा झूठ चोरी मैथुनसेवा और परिग्रह इन पांच अवद्य कर्मोंको पाप प्रणालिकाके नामसे बताया है। किन्तु इनमेंभी अन्तिम दो पाप—मैथुनसेवा और परिग्रह प्रधान है। जैसाकि उस कारिकाकी व्याख्यासे ध्यान में आ सकेगा[1]। फलतः इन दो प्रधान पापोंका जहां तक त्याग नहीं होता अथवा अंशतः

१—श्री अमृतचन्द्र आचार्यने अपने पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें पांच पापोंमेंसे हिंसाको ही मुख्य पाप बताया है शेष पापोको उसीमें अन्तर्भूत किया है। यथा—आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्। अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥

त्याग होता है वहां तक जीवको गृहस्थ और जिनने इनका तथा इनसे संबन्धित या इनके मुख्य सहायक हिंसादि तीन पापोंका भी साथमें सर्वथा त्याग कर दिया है वे अनगार हैं-मोक्ष-मार्गी मुनि हैं। जो इन पांचोंका एक देश परित्याग करते हैं वे देशसंयमी-संयमासंयमी अणुव्रती श्रावक कहे जाते हैं। इस प्रकरणके आरम्भमें भी स्वयं ग्रन्थकर्त्ताने संसारके दुःखोंसे अथवा दुःखमय संसारसे छुडाकर उत्तम सुखमें रखने—उत्तम सुखरूप अवस्थामें परिणत कर देनेमें असाधारण कारण—उपायस्वरूप जिस रत्नत्रय धर्मका व्याख्यान करनेकी प्रतिज्ञा की है उसी रत्नत्रयकी मूर्ति को तपस्वी गुरुके स्वरूपका सम्यग्दर्शनके विषय—श्रद्धेयरूपमें वर्णन करते हुए प्रथम तीन१ विशेषणोंके द्वारा इन्हीं पांच पापोंके राहित्यसे युक्त बताया है। उससे भी यही मालुम हो सकता है कि जो व्यक्ति पांचों इन्द्रियोंके विषय तथा आरम्भ और परिग्रहका भी सर्वथा त्याग कर देता है वही मोक्षमार्गमें गुरु है, प्रधान है, मुखिया है, नेता है, और आदर्श है।

किन्तु यहां पर इस कारिकाके द्वारा आचार्य बताना चाहते हैं कि केवल बाह्य पाप प्रवृत्तियोंका परित्याग ही मोक्षमार्ग है यह धारणा अपूर्ण है—ऐकान्तिक है; अतएव सत्य नहीं है। क्योंकि यद्यपि यह सत्य है कि मोक्षमार्गको सिद्ध करनेके लिये इन पापोंका परित्याग करना अत्यावश्यक है। बिना इनका सर्वथा त्याग किये मोक्षका मार्ग सिद्ध नहीं हो सकता। फिर भी इन पापोंका परित्याग करने वालोंके लक्ष्यमें यह बात भी आनी और रहनी चाहिए कि इतने से ही मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं हो सकता जब तक कि इन पापोंके मूलभूत महापापका परित्याग नहीं किया जाता अथवा वह छूट नहीं जाता। तथा यह भी मालुम होना चाहिये कि इन सभी पापोंका वह मूलभूत पाप क्या है। संसारके सभी पापोंका जो उद्गम स्थान है, जो स्वयं महा-पाप है, जिसके कि छूटे बिना अन्य समस्त पापोंका परित्याग कर देना भी अन्तमें निरर्थकही सिद्ध होता है, तथा जिसके छूट जानेपर संसारका कोई भी पाप सर्वथा छूटे बिना नहीं रह सकता, जबतक उस पापका परित्याग नहीं होता तब तक उस धर्मकी भी सिद्धि नहीं हो सकती और न मानी जासकती है जो कि मोक्षका मार्ग—असाधारण कारण या अव्यभिचरित—निश्चित उपाय माना गया है। जिसके कि वर्णन करनेकी यहां प्रतिज्ञा की गई है और जो कि श्रीवर्धमान भगवान्के तीर्थमें वस्तुतः अभीष्ट है। इस पापका ही नाम है मोह। और इसके अभावका ही नाम है सम्यग्दर्शन। जिसके कि बिना अन्य पापप्रवृत्तियोंका पूर्णतया परित्याग भी अपने प्रयोजन—परिनिर्वाणकी सिद्धिमें सफल नहीं हो सकता। इस तरहसे मोक्षका अत्यन्त निकटवर्ती साधन सामान्य चारित्र नहीं अपितु सम्यक्चारित्र है। और चारित्र सम्यक्त्वके बिना सम्यक्चारित्र बनता नहीं अतएव मोक्षमार्गमें सफलता सम्यग्दर्शन पर ही निर्भर है। यह स्पष्ट कर देना ही इस कारिकाका प्रयोजन है।

शब्दोंका सामान्य विशेषार्थ—

१—विषयाशावशातीतः, निरारम्भः, अपरिग्रहः। कारिका नं० १०।

गृहस्थ—शीत वात आतप आदिकी बाधासे बचकर मनुष्य प्राणियोंको रहनेके योग्य ईंट चूना मट्टी लकडी आदिके द्वारा बने हुए आवासको गृह कहते हैं। यह गृह शब्दका अर्थ लोकप्रसिद्ध है। व्याकरणके अनुसार ग्रह धातुसे अच् प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है कि ग्रहण करना, लेना, पकडना। अतएव यह शब्द साधारणतया जीवके सांसारिक विषयोंमें अन्तरंगकी आसक्ति या ममत्वभावको सूचित करता है।

किन्तु देखा जाता है कि गृह आदिसे ममत्व सम्बन्ध सर्वथा न रखने वाले भी कतिपय मोक्षमार्गी महापुरुष उसमें शून्यगृह विमोचितावास मठ वसतिका आदिमें क्वचित् कदाचित् रहते हुए पाये जाते हैं। तथा इसके विरुद्ध उसमें आसक्ति रखने वाले भी अनेक संसारी प्राणी उससे रहित हैं— घर छोडकर किंतु उससे ममता रखकर फिरनेवालोंकी संख्या भी कम नहीं हैं। फलतः अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचारके कारण इस शब्दको केवल यौगिक न मानकर रूढ अथवा योगरूढ ही मानना उचित हैं।

गृहमें रहनेवालोंको कहते हैं गृहस्थ। आगमके अनुसार चार[1] आश्रमोंमेंसे द्वितीय आश्रमके कर्तव्य कर्मरूप धर्मका नाम है गृह और उसके पालन करने वालोंको कहते हैं गृहस्थ। इस आश्रमके कर्तव्योंमें शेष तीन आश्रमवासियोंका मुख्यतया पालन पोषण संवर्धन तथा गौणतया अनाश्रमवासियों पर भी सदय व्यवहारके साथ साथ आत्महितके लिये किये जाने वाले अनेक कर्तव्योंमेंसे प्रवृत्तिरूप दो कार्य मुख्यतया बताये गये हैं—पूजा और दान। इन दोनों कर्तव्योंके साधन रूपमें वार्ता और दारपरिग्रह भी कर्तव्य बताया गया है जिसके कि ऊपर आर्योचित त्रिविध[2] क्रिया काण्डरूप धर्मकी इमारत खडी हुई है। इस तरह द्वितीय आश्रमके धर्मका पालन करने वालेको कहते हैं गृहस्थ। गृही सागार आदि भी इसीके पर्याय-वाचक शब्द हैं।

जहां तक गुणस्थानोंसे सम्बन्ध है गृहस्थके आदिके पांच ही गुणस्थान हुआ करते हैं। परन्तु यह बात भी ध्यानमें रहनी चाहियेकि इनके योग्य बाह्य द्रव्यरूप क्रिया प्रवृत्ति द्रव्यार्थिक एवं नैगमनय तथा द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेपकी अपेक्षासे भी मानी जा सकती है। आत्म धर्मरूप व्रत चारित्रके दो ही भेद हैं अणुव्रत और महाव्रत[3]। महाव्रतको धारण करने वाले

१—ब्रह्मचर्यं गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः। चत्वार आश्रमा एते सप्तमांगाद्विनिर्गताः ॥३५८॥

२—५३ गर्भान्वय क्रियाएं, ४८ दीक्षान्वय क्रियाएं, और ७ कर्त्रन्वय क्रियाएं। इस तरह तीन प्रकार की कियाएं आगममें बताई गई है। इसके लिए देखो परमागम श्रीआदिपुराण अपरनाम त्रिषष्टिशलाका-महापुरुष चरित्रके पर्व ३८ से ४० तक। ध्यान रहे इन क्रियाओमे जहां तक गृहस्थाश्रमका परित्याग नहीं किया जाता वहीं तककी क्रियाओंका सम्बन्ध गृहस्थसे है।

३—देशसर्वतोऽणुमहती। त० सू० ७-२। यद्यपि ये व्रत आस्रवतत्त्वके वर्णनमें बताये गये हैं फिर भी "निःशल्यो व्रती" ७-१८ के द्वारा इनकी आत्म धर्म रूपताके होने पर ही मोक्षमार्गताकी मान्यता व्यक्त करदी गई है। जैसा कि इसी कारिकाके तात्पर्यसे मालुम हो सकेगा।

अनगार[१] और अणुव्रतोंको धारण करने वाले तीनों ही आश्रमवासी—ब्रह्मचारी गृहस्थ और वानप्रस्थ अगारी[२] —सागार कहे जाते है। अणुव्रतोंके ग्यारह स्थान हैं जिनकोकि ग्यारह प्रतिमाके नामसे कहा गया है और जिनकाकि आगे चलकर इसी ग्रन्थमें निरूपण किया जायगा। इनमेंसे आदिके ६ ग्रहस्थ उसके वाद तीन ब्रह्मचारी और अन्तके दो वानप्रस्थाश्रमी भिक्षुक कहे गये[३] हैं। निरुक्त्यर्थके अनुसार निश्चय नयसे सालंकार[४] भाषामे क्वचित् कदाचित् अनगार महाव्रतियोंको भी गृहस्थ रूपमें कह दिया गया[५] है फिर भी या तो अव्रती एवं पाक्षिक अथवा मुख्यतया छठी प्रतिमातकके व्रतोंको धारण करने वाले ही गृहस्थ माने गये है। और वे ही सर्वत्र—आगममें और लोकमें गृहस्थ नामसे प्रसिद्ध है। क्योंकि गृहस्थाश्रममें विवाह दीक्षा विधिपूर्वक दारपरिग्रह मुख्य कार्य माना गया है। यद्यपि गृहप्रवृत्त श्रावकोंमें स्त्रीसम्बन्धका परित्याग करके अथवा विना विवाह किये भी अपने व्रतोंका पालन करता हुआ ९ वीं प्रतिमा तकका श्रावक भी घरमें रह सकता है। फिर भी गृहस्थाश्रममें मुख्यता विवाहपूर्वक वार्ताकर्म—अपनी अपनी जाति और वंशके योग्य न्यायपूर्वक आजीविका करने और नित्य नैमित्तिक धर्म क्रियाओंके विधिपूर्वक पालन करनेकी है। क्योंकि ५ प्रकारके ब्रह्मचारियोंमेंसे केवल नैष्ठिक ब्रह्मचारीको छोडकर शेष चारों ही प्रकारके ब्रह्मचारियोंको विवाहपूर्वक गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेका अधिकार[६] है और गृहस्थहो जानेपर वे नित्य एवं नैमित्तिक कर्तव्योंका पालन किया[७] करते हैं।

यद्यपि यहांपर ये जितने भी गृहस्थके कर्तव्य वताये गये हैं वे सब सत्य हैं, उचित हैं, और आवश्यक हैं। तथा यह भी ठीक है कि गृहस्थाश्रमीको अपने पदके योग्य इन सभी कर्तव्योंका पालन करना चाहिए फिर भी ग्रन्थकर्त्ता आचार्य इस कारिकाके द्वारा उसकी प्रकरण प्राप्त विशेषताको मोक्षमार्गस्थः और निर्मोहः इन दो विशेषणोंके द्वारा यह स्पष्ट करके बताना चाहते हैं कि चाहे तो कोई गृहमें रहकर अपने इन कर्तव्योंका पालन करनेवाला हो अथवा गृहस्थाश्रमको छोडकर शेष तीन आश्रमोंमेंसे किसी भी आश्रमके योग्य व्रतानुष्ठान करनेवाला क्यों न हो चाहे ब्रह्मचर्य या वानप्रस्थ आश्रमवाला हो, या महाव्रती मुनि हो, वह तब तक मोक्षमार्गमें स्थित नहीं माना जा सकता जबतक कि वह अन्तरंगमें निर्मोह नहीं है।

१—२—त० सू० अ० ७ सूत्र नं० १९ तथा "अणुव्रतोऽगारी" २०।

३—ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः। चत्वार आश्रमा एते सप्तमाङ्गाद्विनिर्गताः। तथा यशस्तिलके—षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः। भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात् सर्वतो यतिः यश० ॥आ० ८॥

४—रूपक अलंकार।

५—क्षान्तियोषिति यो सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः। स गृहस्थो भवेन्नूनं मनोदैवतसाधकः ॥यश० आ० ८॥

६—प्रथमाश्रमिणः प्रोक्ता ये पंचोपनयादयः। तेऽधीत्य शास्त्रं स्वीकुर्युर्दारानन्यत्र नैष्ठिकात् ॥

७—नित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्थो गृहस्थः ॥१९॥ ब्रह्मदेवपित्रतिथिभूतयज्ञा हि नित्यमनुष्ठानम् ॥२०॥

[illegible]

मोक्षमार्गस्थः—इस पूरे शब्दका अर्थ होता है—मोक्षके मार्गमें रहने वाला। यहां पर इस शब्दका प्रयोग साध्यभूत अभीष्ट किन्तु अप्रसिद्ध[1] अर्थको व्यक्त करनेके लिये किया गया है। जिसको कि सिद्ध करनेके लिये "निर्मोह" यह हेतुरूप विशेषण दिया गया है।

यों तो मोक्ष शब्दका सामान्य अर्थ छूटना है। फिर भी यहां प्रकरणगत अभीष्ट अर्थ आत्माका द्रव्य कर्म भावकर्म और नोकर्मसे छूटना है। ध्यान रहे कि इस अर्थके अनुसार यद्यपि मोक्षका अर्थ परपदार्थसे आत्माका सम्बन्ध विच्छेदमात्र बताया गया है फिर भी इस सम्बन्ध विच्छेदके साथ ही आत्माके गुणोंकी अभिव्यक्ति अर्थ भी अभीष्ट है। क्योंकि छुटकारा यद्यपि दो पदार्थोंमें हुआ करता है और इसलिए दोनोंका सम्बन्धविच्छेद हो जानेपर दोनों ही परस्पर में एक दूसरेसे मुक्त हुए माने और कहे जा सकते हैं। फिर भी यहां आत्माका ही छुटकारा प्रयोजनीभूत हैं। अत एव मोक्ष शब्दका अर्थ उक्त त्रिविध कर्मोंके सम्बन्धविच्छेदके साथ ही आत्माके विवक्षित गुणोंका अथवा सम्पूर्ण आत्माका स्वाभाविक रूपमें प्रकट हो जाना विवक्षित[2] है। यही कारण है कि श्री पूज्यपाद आदि आचार्योंने मोक्षका लक्षण बताते समय कर्मों का अभाव और अपने गुणोंकी अभिव्यक्ति दोनोंको ही दृष्टिमें रक्खा है। तथा शब्दोंका निरुक्त्यर्थ बताते समय भी अनेक साधनों—कारकोंके द्वारा ही उनकी निष्पत्ति—सिद्धि बताई है। इस विषयमें आगे चलकर विशेष लिखा जायगा अत एव यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं हैं।

मार्ग शब्दका अर्थ उपाय है। उपाय अनेक तरहके हुआ करते हैं। साधारण असाधारण, अन्तरंग, बाह्य, उपादान, निमित्त, स्वपररूप समस्त साधक सामग्री और प्रतिबन्धकाभाव, आदि। इनमेंसे उपेयकी सिद्धिमें कब कहां किसको मुख्य और कब कहां किसको गौण कहा जाय यह प्रकरण और विवक्षापर निर्भर है। क्योंकि देखा जाता है कि एक जगह तो श्री ऋषभेश्वर भगवान् जैसों की, यह जानते हुए भी कि ये स्वयंभू—परमात्मा बननेवाले हैं, दीक्षा के लिये चिन्तातुर परम सम्यग्दृष्टी एक भवावतारी अत्यन्त विवेकशील इन्द्रके द्वारा रचे गये नीलांजनाके कपटनृत्य रूप साधारण बाह्य निमित्त साधन सामग्रीकी प्रशंसा की जाती है और उसको मुख्य बनाते हुए उसका व्याख्यान किया[3] जाता है जब कि दूसरी जगह परमार्हन्त्य

१—इष्टमबाधितमप्रसिद्धं साध्यम्। प० मु०

२—सर्वकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः। १-१। अथवा निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति॥स० सि०॥ बन्धहेत्वभाव निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः॥त० सू० १०-२। आत्यन्तिकः सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्षः॥राजवा० १।१।३६॥

३—राज्यभोगात्कथं नाम विरज्येद् भगवानिति। प्रक्षीणायुर्दशं पात्रं तदा प्रायुंक्त देवराट्॥१७-६॥ आ० पु०॥

पदमें स्थित तीर्थकर भगवान्के त्रिलोकोद्धारक लोकोत्तर विभूतियुक्त सर्वोत्कृष्ट पदकी भी केवल स्वपद न होनेकेकारण उपेक्षा की जाती है[१]। यहां पर आचार्य मोक्षके उपायोंमें प्रतिबन्धका भावविशिष्ट अन्तरंग असाधारण उपादान साधनको मुख्यतया बतानेके लिये प्रवर्तमान हैं क्योंकि यह तो सर्वथा युक्तियुक्त एवं सुनिश्चित सिद्धांत है कि कोई भी कार्य अपने योग्य उपादानके अभावमें अथवा उसकी असमर्थताकी अवस्थामें सिद्ध नहीं हो सकता। जिस तरह स्वयं परिणममान द्रव्यके लिये काल द्रव्य सहज निमित्त बन जाता है, अथवा अपवर्त्यायुष्क जीवके मरणमें शत्रु द्वारा यद्वा स्वयं आत्म घातके लिये किया गया शस्त्रप्रहारादि प्रेरक निमित्त माना जाता है; उसी तरह निर्वाण रूप कार्यकी सिद्धिके विषयमें समझना चाहिये। यहां आचार्य बतलाना चाहते हैं कि यद्यपि बाह्य संयम तपश्चरण आदि भी उसमें निमित्त हैं परन्तु वे अन्तरंग योग्यताके बिना वस्तुतः सफल नहीं हो सकते। निर्वाणकी अन्तरंग असाधारण उपादान रूप समर्थ योग्यता सम्यग्दर्शन अथवा रत्नत्रयपर निर्भर है यही कारण है कि रत्नत्रयरूप परिणत आत्मा ही वास्तवमें मोक्षका कारण माना गया[२] है और वही वस्तुतः मोक्षका मार्ग है।

स्था धातुका अर्थ ठहरना है। जो आत्मा इस रत्नत्रयरूप मोक्षके मार्गमें स्थित है उसको मोक्षमार्गस्थ कहते हैं।

निर्मोहः—मोहसे प्रयोजन मिथ्यात्व अथवा दर्शन मोह कर्मका है। जो उसके उदयसे निकल गया—पृथक् होगया वह निर्मोह है। यह हेतुरूप विशेषण पद है। और इसके द्वारा विरोधाभास अलंकार[३] का आशय भी स्फुट हो जाता है। अन्यथा यहां यह विरोध प्रतीत हो सकता और शंका हो सकती थी कि जो घरमें स्थित है वही मोक्षमार्गमें स्थित किस तरह माना या कहा जा सकता है। किन्तु निर्मोह विशेषण इस विरोध और शंकाका परिहार कर देता है। इस वाक्यमें गृहस्थ पक्ष है, मोक्ष मार्गस्थता साध्य है, और निर्मोहता हेतु है। जिससे यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि मोक्षमार्ग स्थितिकी निर्मोहताके साथ व्याप्ति है। जहां निर्मोहता है वहां मोक्षमार्गमें स्थिति अवश्य है। फिर चाहे वह गृहस्थ हो या मुनि हो अथवा किसी भी गतिका जीव हो। यदि निर्मोहता नहीं है तो मोक्षमार्गमें स्थिति भी नहीं है। भले ही वह देश व्रत क्या महाव्रतोंका ही पालन करनेवाला क्यों न हो। कारण यह कि व्रतोंका धारण पालन तो दोनों ही अवस्थाओंमें सम्भव है। मोहके उदयमें उसके मन्द मन्दतर मन्दतम उदयकी अवस्था में भी हो सकना है और सर्वथा उदयके अभावमें भी सम्भव है। किंतु जीवकी मोक्षमार्गमें

१—सपयत्थं तित्थयरं अभिगतबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स। दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसम्पदं तस्स॥

२—द्रव्यसंग्रह—रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयदु अण्णदवियम्हि। तम्हा तत्तियमइयो होदि मोक्खस्स कारणं आदा॥

३—आपाते हि विरुद्धत्वं यत्र वाक्ये न तत्त्वतः। शब्दार्थकृतमाभाति स विरोधः स्मृतो यथा-॥१२१॥ वाग्भट॥

स्थिति तबतक नहीं मानी जा सकती जबतक कि उसके मिथ्यात्वका उदय विद्यमान है। क्योंकि मिथ्यात्व और मोक्षमार्ग इन दोनोंमें वध्यघातक या सहानवस्थान विरोध है। इसलिये मोक्ष मार्गकी नियत व्याप्ति निर्मोह अवस्थाके साथ ही है।

निरुक्तिके अनुसार मोक्षशब्द मोक्ष धातुसे भाव अर्थमें घञ्[1] प्रत्यय होकर बना है जिसका कि अर्थ असन—क्षेपण होता है। इसी तरह मार्ग शब्द शुद्ध्यर्थक मृज धातुसे अथवा अन्वेषणार्थक मृग धातुसे बना[2] है। मार्ग शब्दकी निष्पत्तिमें करण साधन प्रधान है। स्था धातुका अर्थ गतिनिवृत्ति—रुक जाना, खड़े रहना, ठहरना आदि प्रसिद्ध है। अतएव मोक्षमार्गस्थ शब्दका निर्वचन इस प्रकार होता है कि मोक्षणं मोक्षः। मृष्टः शुद्धोऽसाविति मार्गः मार्ग इव मार्गः मोक्षस्य मार्गः मोक्षमार्गः। अथवा मोक्षो येन मार्ग्यते स मोक्षमार्गः। अर्थात् मोक्ष शब्दका अर्थ है छूटना और जो यथेष्ट स्थान पर पहुंचनेके साधनभूत मार्गके समान हो उसको कहते हैं मार्ग। जिस तरह कंकड पत्थर कण्टक गर्त विसंस्थुलता आदिसे रहित मार्गके द्वारा पथिक जन सुखपूर्वक चलकर अभिप्रेत स्थानको पहुंच सकते हैं उसी प्रकार मुमुक्षु भव्य भी मिथ्यात्व अज्ञान असंयम प्रमाद कषाय आदि दोषोंसे रहित परिणामोंके द्वारा मोक्षको प्राप्त कर सकता है—कर्मबन्धरूप संसारावस्थासे छूट सकता है। और अपने सम्यक्त्वादि गुणोंके द्वारा अपनी पूर्ण शुद्ध शांत निश्चल ध्रुव अनुपम अवस्था प्राप्त कर सकता है। अतएव जो जीव कर्म बन्धके प्रतिपक्षी सम्यक्त्वादि परिणामोंमें स्थित है, वही मोक्षमार्गस्थ है और ये परिणाम मोहके अभावके बिना प्रकट नहीं होते इसीलिये जीवकी मोक्षमार्गमें स्थितिको सिद्ध करनेके लिये अथवा यह बतानेके लिये कि जीव मोक्ष मार्गमें स्थित कब माना जाता है "निर्मोह" यह विरुद्ध कारणानुपलब्धिरूप हेतु वाक्य यहां दिया गया है।

नैव मोहवान् अनगारः। न और एव दोनों ही अव्यय हैं। न का अर्थ होता है निषेध और एव का अर्थ होता है अवधारण। किन्तु शब्द शास्त्रके सन्धि प्रकरणमें एव के दो तरहके[3] अर्थ किये गये हैं—नियोग—निश्चित अवधारण और अनियोग—अनिश्चित अवधारण। यहांपर नैव इस तरहका प्रयोग करके आचार्य ने एवका नियोग अर्थ सूचित किया है। जिससे दृढतापूर्वक और जोरके साथ किया गया निषेधके निश्चयका अभिप्राय प्रकट होता है।

मोह शब्दसे तदस्ति यस्य अर्थमें मतुप् प्रत्यय होकर मोहवान् शब्द बना है। यह अनगारका विशेषण है। जो कि उसके अन्तरंगमें दर्शन मोहनीय कर्मकी मिथ्यात्व प्रकृतिके

१—२—मोक्ष असने इत्येतस्य घञ भावसाधनो मोक्षणं मोक्षः असनं क्षेपणमित्यर्थः ॥ मृजेः शुद्धिकर्मणो मार्गं इवार्थाभ्यन्तरीकरणात् ॥४०॥ अन्वेषणक्रियस्ये वा करणत्वोपपत्तेः ॥४१॥ राजवा १–१

३—"एवे चानियोगे अद्येव इहेव। नियोगे तु अद्यैव गच्छ, इहैव तिष्ठ ॥ कातन्त्र तथा पाणि० सिद्धा—क्वेव भोक्ष्यसे अनवक्लृप्तावेव शब्दः (अनवक्लृप्ताविति—क्वेव भोक्ष्यसे इत्युक्ते स्थलसंकार्यत्वादिना नास्ति सम्भवस्तव भोजनस्येति गम्यते, इति तट्टिप्पण्यां) अनियोगे किं तवैव ॥

उदयसे होने वाले मोक्षमार्गके सर्वथा विरोधी आत्मद्रव्य विषयक मूर्च्छा परिणाम विशेषकी स्थितिके अस्तित्वको सूचित करनेके लिये दिया गया है।

अनगार शब्द से यद्यपि अनेक अर्थ लिये जासकते हैं किन्तु यहांपर महाव्रत अथवा मुनिके २८ मूलगुण और उसकेलिये आवश्यक सभी बाह्य क्रियाओंके पालन करनेवाले साधु तपस्वी का अर्थ ग्रहण करना चाहियें।

गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः। यहां पर गृही शब्द गृहस्थके अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। निर्मोह शब्दका अर्थ किया जा चुका है। मोही शब्दका अर्थ स्पष्ट है। मुनि शब्दका अर्थ यद्यपि आगममें कई प्रकारसे बताया गया है। किन्तु यहांपर उपर्युक्त सामान्य अनगारके अर्थ में ही इस शब्दका प्रयोग समझना चाहिये। श्रेयान् शब्दका अर्थ होता है अतिशय से प्रशस्य। क्योंकि अतिशय अर्थ में ही "प्रशस्य" शब्दको, 'श्र' आदेश और ईयस् प्रत्यय होकर इस शब्द की निष्पत्ति होती है। यह शब्द गृहीका विशेषण है। जो कि उस की अतिशय प्रशस्यताको सूचित करता है। प्रशंसाके कारण को निर्मोह विशेषण, तथा किसकी अपेक्षा से उसकी प्रशस्यता विवक्षित है इस बात को "मोहिनो मुनेः" पद स्पष्ट करता है।

प्रकृत कारिकामें तीन वाक्य हैं; जिनमें दो अनुमान वाक्य और एक उनके निष्कर्षको बताने वाला निगमन वाक्य है। यथा—एष गृहस्थो मोक्षमार्गस्थः निर्मोहत्वात्। अर्थात् यह गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है, क्योंकि यह निर्मोह है। २—अयमनगारो नैव मोक्षमार्गस्थो मोहवत्त्वात्। यह अनगार मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है; क्योंकि यह मोहवान् है ३—तस्मात् मोहिनो मुनेः निर्मोहः गृही श्रेयान्। अर्थात् जो जो निर्मोह होते हैं वे मोक्षमार्गमें स्थित हैं, और जो मोहसहित हैं वे नियमसे मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है। अतएव यह निश्चित है और सिद्ध है कि मोही मुनिसे निर्मोह गृहस्थ श्रेष्ठ है; क्योंकि वह मोक्षमार्गमें स्थित है।

तात्पर्य—यह कि मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शन ही मुख्य और मूलभूत है, यही बात यहां बताई गई है। यद्यपि गृहस्थाश्रमसे मोक्षपुरुषार्थकी सिद्धि न होकर मुनिपदसे ही हुआ करती है। और गृहीके पदसे मुनिके पदकी यह विशेषता चारित्र पर ही निर्भर है, यह ठीक है; फिर भी देश चारित्र हो या सकलचारित्र, उसकी वास्तविकता सम्यग्दर्शन मूलक ही है। जिस तरह किसी मकानकी स्थिति उसकी नींवकी दृढता पर है; वृक्ष या लता आदि अपने मूलके विना टिके नहीं रहसकते, मानव सृष्टि की परम्परा वीर्यपर निर्भर है; उसी प्रकार चारित्रकी मोक्षकेलिये साधनभूत संयम या चारित्रकी स्थिति भी सम्यग्दर्शन पर ही है। मोक्षका परम्परा कारण देश संयम हो अथवा साक्षात् कारण सकल चारित्र हो यदि वह सम्यग्दर्शन पर स्थित हैं तो ही वह मोक्षका साधन अथवा मोक्षके साधनभूत संवर निर्जराका निमित्त कारण माना जा सकता है, अन्यन्था नहीं। इसीलिये ग्रन्थकार यहां बताना चाहते हैं कि यद्यपि

मोक्षका साधन चारित्रके द्वारा—ज्ञानपूर्वक चारित्रके द्वारा हुआ करता है फिर भी इन दोनों की स्थिति सम्यग्दर्शन पर ही है। इसके विना जिस तरह विना नींवका कोई मकान आकाशमें खड़ा नही रह सकता, अथवा विना जड़के वृक्ष स्थिर नहीं रह सकता, निर्वीर्य मानव संतान जीवित नहीं रह सकती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनसे रहित ज्ञान चारित्र भी मोक्षमार्गमें खड़े नहीं रह सकते और न अनन्त कालकेलिये अपने स्वाभाविक और पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूपमें आत्मा की स्थितिको उत्पन्न करने तथा बनाये रखनेमें समर्थ ही हो सकते हैं। वे केवल रागी अज्ञानी जीवोंको अभीष्ट किसी प्रकारकी लौकिक सामग्रीको ही किसी एक सीमा तक ही उत्पन्न करनेमें समर्थ हो सकते हैं।

आगममें प्राचीन आचार्योंके द्वारा भी यही बात कही गई है। उमास्वामी भगवान् ने भी व्रतोंका वर्णन करते हुए कहा है–कि ये व्रत उसी अवस्थामें मोक्षमार्ग–मोक्षके असाधारण साधन हो सकते हैं जब कि वे निःशल्य[1] हों। शल्य से अभिप्राय माया मिथ्या निदान रूप मोहके तीन विभाव परिणामोंसे है। जो कि मिथ्यात्वादि प्रथम तीन गुणस्थानोंमें ही सम्भव हैं। अतएव निःशल्यका अर्थ सम्यग्दर्शन ही उचित है, फिर चाहे वह सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयसे संयुक्त ही क्यों न हो। अतएव जो बात अन्य आचार्य कहते आये हैं वही बात यहां भी ग्रन्थकर्त्ताकी इस कारिकाके द्वारा कही गई है।

प्रश्न—तीनों शल्योंका सम्भव प्रथम तीन गुणस्थानोंमें ही कहा, यह किस तरह माना जा सकता है ?

प्रतिप्रश्न—क्यों नहीं माना जा सकता ?

उत्तर—क्योंकि यह कथन आगमके विरुद्ध है।

प्रतिप्रश्न—वह कौनसा आगमका वाक्य है जिससे कि हमारा यह कथन विरुद्ध पड़ता है ?

उत्तर—आगममें आर्तध्यानके चार भेद बताये हैं। उनमें निदानको छोड़कर बाकी तीनों ही आर्तध्यान छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थानतक पाये जाते हैं। और निदान नामका जो एक आर्तध्यान है वह पांचवे गुणस्थान तक ही पाया जाता है। इससे निदानका सम्यग्दर्शन के साथ भी अस्तित्व सिद्ध होजाता है।

समाधान—ठीक है। परन्तु शल्य और आर्त ध्यानमें अन्तर है। आर्तध्यान मोहसहित और मोहरहित दोनों ही अवस्थाओंमें पाया जाता है और वह यथायोग्य कषाय विशेष के उदय की अपेक्षा रखता है। किन्तु शल्य मोहसहित अवस्थामें ही संभव है। मतलब यह है कि या तो जो जीव मिथ्यात्वसहित है उसी के शल्यरूप परिणाम हुआ करते हैं; अथवा तीन प्रकारकी शल्योंमें से किसी भी शल्यरूप परिणामके होने पर सम्यक्त्वसे जीव च्युत हो

१—निःशल्यो व्रती। त॰ सू॰।

जाया करता है। साथ ही यह बात भी ध्यानमें रहनी चाहिये कि सम्यक्त्वकी विरोधिनी सात प्रकृतियां हैं। इनमें से चार अनन्तानुबन्धी कषायोंको यद्यपि चारित्र मोहनीय कर्म के भेदों में गिनाया है फिर भी इनमें सम्यक्त्व और चारित्र दोनोंके विरुद्ध स्वभाव पाये जानेके कारण इनका दर्शन मोहनीय नामसे भी आगम में उल्लेख किया गया है। फलतः जिस समय जीव मिथ्यात्व या सम्यग्मिथ्यात्व अथवा अनन्तानुबन्धी रागद्वेषसे प्रेरित होकर तथा तद्योग्य उचित साधनोंसे सम्पन्न होकर भविष्यके विषयमें–किसी भी सांसारिक सामग्रीकी प्राप्तिके विषयमें यदि संकल्प करता है तो वहां निदान शल्य हो जाती है।

प्रश्न—राग द्वेष और मोह तीनों ही से आपने निदानका होना बताया सो किस तरह बन सकता है? क्योंकि आगामी किसी विषयकी प्राप्तिके संकल्पको निदान कहते हैं। इस तरहका संकल्प राग अथवा मोहके द्वारा तो संभव है; परन्तु द्वेषके द्वारा किस तरह हो सकता है?

उत्तर—जिस तरह रागके निमित्तसे अभीष्ट विषयको प्राप्त करनेका संकल्प हुआ करता है उसी तरह द्वेषके निमित्तसे अनिष्ट विषयको नष्ट करनेका–अप्रिय विरोधी शत्रु आदिके वध करने आदिका भी संकल्प हुआ करता है। इसमें कोई विरोध नहीं है। प्रथमानुयोगमें इस के समर्थक अनेकों दृष्टांत पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ—श्रीआदिनाथ भगवान्ने जयवर्माकी पूर्व-पर्यायमें विद्याधरकी ऋद्धिको देखकर रागपूर्वक उसतरहकी ऋद्धि प्राप्त करनेका निदान करके महाबलकी पर्याय प्राप्त की थी। किन्तु श्रेणिक महाराज के पुत्र कुणिकने सुषेणकी पूर्व पर्याय में द्वेष पूर्वक–राजा सुमित्रके प्रति जो कि श्रेणिकका जीव था, क्रोध करके निदान किया था जिससे वह व्यंतर होकर श्रेणिककी मृत्युका निमित्त बनने वाला चेलना का पुत्र कुणिक हुआ। पहले प्रतिनारायण अश्वग्रीव ने विशाखनन्दी की पूर्व पर्यायमें विद्याधरकी ऋद्धि प्राप्त करनेका रागपूर्वक निदान किया था। जब कि उसके विरोधी प्रथम त्रिपृष्ट नारायणके जीवने अपनी विश्वनन्दीकी पर्यायमें विरोधीका वध करनेकेलिये द्वेषपूर्वक निदान किया था। इनकी कथाएं प्रथमानुयोगमें[1] प्रसिद्ध हैं। इसी तरह और भी अनेक कथाएं हैं जिनसे यह बात सिद्ध होती है कि निदान नामक शल्य रागपूर्वक ही नहीं अपितु द्वेषपूर्वक भी हुआ करती है और साथ ही यह बात भी सिद्ध होती है कि या तो यह निदान शल्य मिथ्यादृष्टि जीवके ही हुआ करती है। अथवा उसके होने पर जीव सम्यक्त्वसे च्युत हो जाया करता है। फलतः युक्ति अनुभव और आगमके आधार पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि निदान नामक शल्य अथवा तीन प्रकारकी शल्योंमें से किसी भी शल्यके रहते हुए जीव चाहे वह व्रतसहित हो अथवा व्रतरहित, किन्तु निर्मोह–निःशल्य–सम्यग्दृष्टी नहीं रहा करता और न मुक्ति ही पा सकता है।

१—श्रेणिक चरित्र, महावीर चरित्र (महाकवि असग)

श्रीविद्यानन्दी आचार्यने जो इस विषयमें लिखा है तथा "निशल्यो व्रती" की जिस ढंगसे व्याख्या और परिभाषा की है उससे भी यही अभिप्राय निकलता है कि निःशल्यः का अर्थ असंयत सम्यग्दृष्टि करना ही उचित एवं संगत है। इस तरह विचार करने पर मालुम होता है और युक्ति तथा अनुमान से भी भले प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी जीव चाहे किसी भी तरहके अणु वा महान् व्रतोंसे भूषित क्यों न हो जब तक अन्तरंगमें निःशल्य--निर्मोह सम्यग्दृष्टि नहीं है तब तक वह मोक्षमार्गमें परमार्थतः स्थित नहीं है।

ध्यान रहे, कदाचित् कोई यह समझे कि इस कथनसे चारित्रका विरोध होता है, अथवा मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शन के ही सब कुछ मान लेने पर चारित्रकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। सो यह बात नहीं है। यह कारिका चारित्रका विरोध नहीं करती प्रत्युत उसको दृढ बनाती है—मोक्षमार्गमें उसको वास्तवमें स्थिर करती है। ऊपर भी इस कारिकाका प्रयोजन मोक्षमार्ग में स्थिति बताया जा चुका है। क्योंकि सम्यक्त्व सहित अथवा तत्पूर्वक चारित्र क्रमबद्ध है और समूल है। इसके विरुद्ध सम्यग्दर्शन के बिना जो व्रत चारित्र होते है वे मोक्ष-मार्ग में निश्चित रूपसे परिगणित नहीं है।

मोह कर्म भी दो भागों में विभक्त है—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। इनमेंसे दर्शन मोह संसार पर्यायका जनक है अथवा संसाररूप है। और चारित्र मोह मोक्ष मार्गका विरोधी है—बाधक है। क्योंकि सम्यक्त्वके रहने पर भी जब तक चारित्र मोहका उदय है तब तक मोक्षमार्गकी सिद्धि नहीं होती। किन्तु दर्शन मोहके हटते ही जिस तरह अनन्त संसार समाप्त होकर सीमित हो जाता है-अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गल परावर्तन प्रमाण मात्रही उसका काल रह जाता है। यह बात सुनिश्चित है। उसी तरह दर्शन मोहके दूर हुए बिना चारित्र मोहके मंद मंदतर मंदतम होने पर व्रतचारित्र के होते हुए भी जिसके कि फलस्वरूप नवग्रैवे-यकतक पहुँचा जा सकता है निश्चित रूपसे संसार पर्याय सीमित नहीं हुआ करती और न मानी ही गई है। यह बात भी सुनिश्चित है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन के प्रकट होने पर जिस तरह जीवको नोसंसारी या जिन आदि शब्दोंसे कहा जाता है उस तरह मिथ्यादृष्टि व्रती को नहीं कहा जाता। और इसी लिये जो दर्शन मोहसे रहित है वह संसार से भी रहित है। वह आगे के लिये चारित्र मोहके भी विरुद्ध प्रयत्नशील होनेके कारण मोक्षमार्गमें स्थित जिन भी कहा जा सकता है। अतएव यह भी कहा जा सकता है कि जो संसार पर्याय का विनाश है वही मोक्षमार्गका प्रारम्भ है। फलतः जो दर्शन मोहसे रहित है वह अवश्य ही मोक्षमार्ग में स्थित है फिर चाहे वह गृही हो अथवा मुनि हो। यदि दर्शन मोह से युक्त है तो निश्चित है कि वह मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है फिर चाहे वह साधु हो या गृहस्थ। यद्यपि यह बात भी निश्चित एवं सुसिद्ध है कि सम्यग्दर्शन के हो जाने पर जीवकी मोक्षमार्ग में संभूति और कदाचित् स्थिति हो सकती है। परन्तु उसके मोक्षमार्ग की वृद्धि एवं फलोदय

तब तक नहीं हो सकते जब तक कि वह व्रत चारित्रसे-बाह्य व्रतानुष्ठानसे भी युक्त नहीं हो जाता। इसलिये ऊपर कहा गया है कि दर्शन मोह संसाररूप या उसका जनक है तब चारित्र मोह मोक्षमार्गका बाधक है।

प्रश्न—दर्शन मोहके दूर होते ही जब संसारका अभाव होगया-तो फिर चारित्र धारण करने की क्या आवश्यकता रह जाती है? दूसरी बात यह कि यदि चारित्र की आवश्यकता है भी तो जिस तरह गृहस्थाश्रम–सवस्त्रावस्था में-या चारों ही गतियों में दर्शन मोहका उपशम क्षयोपशम अथवा क्षय माना गया है उसी तरह चारित्र मोहके भी निरसन पूर्वक उस चारित्र की सिद्धि क्यों नहीं हो सकती?

उत्तर—केवल सम्यक्त्वसे ही काम नहीं चलता यद्यपि उससे संसरण सीमित हो जाता है। फिरभी जिस तरह उर्वरा भूमिमें बीज पड़ जानेसे ही वृक्ष सफल और सम्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार केवल सम्यक्त्वके प्रकट होजाने मात्रसे ही सम्पूर्ण कर्मोंका संवर और निर्जरा नहीं हो जाती। मोक्षरूप—सिद्धावस्थाके लिये बंधहेत्वभाव और निर्जरा आवश्यक है। और ये दोनों ही कार्य अपने अपने कारणोंके बिना सिद्ध नहीं हो सकते। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बाद चारित्र मोहको दूर करनेके लिये अविरतिके त्यागके साथ ही व्रत संयम तप आदि चारित्रके धारण करनेकी आवश्यकता मानी गई है। आगे चलकर स्वयं ग्रन्थकार भी इस बातका प्रतिपादन करनेवाले है[१]। तथा इसके पूर्व गुरुके लक्षणका वर्णन करते हुए[२] पूर्वार्धके तीन विशेषणोंके द्वारा अविरतिके साधनोंकी[३] निवृत्ति बताकर संवरके साधन और उत्तरार्धमें बताई गई तीन प्रवृत्तियोंके द्वारा संवर तथा मुख्यतया निर्जराके साधनोंको स्पष्ट कर दिया है। इस तरह ग्रन्थकारके ही आगे पीछेके वर्णनपर दृष्टि देनेसे चारित्रकी आवश्यकता स्फुट हो जाती है।

यह समझना भी ठीक न होगा कि सम्यग्दर्शनकी तरह चारित्र भी चारों गतियोंमें या सभी मनुष्योंमें पाया जा सकता है। प्रत्युत सत्यभूत तन्त्र यह है कि जिस तरह सम्यग्दर्शनको उद्भूत होनेके लिये योग्य अधिकरण आवश्यक[४] है उसी प्रकार चारित्रको भी अपने योग्य अधिकरणकी आवश्यकता है। यहां अधिकरणसे प्रयोजन जीवकी उन पर्यायोंसे है जो कि उन उन गुणोंकी सम्भूति स्थिति वृद्धि और फलोदयके लिये संभावित पात्रतासे युक्त हैं। जिस तरह असंज्ञी आदि जीवोंमें तथा मनुष्योंमें भी म्लेच्छ[५]-यद्वा आर्योंमें भी जन्मसे सप्तम सप्ताहके

१—रागद्वेष निवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥र० क० ४७॥

२—र० क० कारिका नं० १०॥

३—त० सू० अ० ६ सू० ५ "इन्द्रिय-कषायाव्रतक्रियाः" आदि।

४—चदुगदिमिच्छो सण्णी पुण्णो गब्भज विसुद्ध सागारो। पढमुवसमं स गियहदि पंचमवर लद्धिचरिमम्हि ॥२॥ ल० सा०

५—"सत्र [illegible]"

पूर्व भोगभूमिज[१] और आठ वर्षकी आयुसे पूर्व कर्मभूमिज मनुष्योंमें सम्यग्दर्शनके प्रकट होने की अपात्रता है उसी प्रकार तीन गतिके जीवोंमें एवं मनुष्योंमें भी द्रव्यस्त्री नपुंसक शूद्र असज्जातीय आठ वर्षसे हीन आयुवाले आदिमें सकल संयमकी अपात्रता मानी गई है।

ध्यान रहे सकल संयमके लिये शरीर कुल जाति आयु आदिकी योग्यता रहते हुए भी वस्त्रसहित अवस्था भी बाधक या विरोधी ही है। वस्त्र धारण करते हुए भी उसकी ममता—इच्छा—कषाय आदिसे अपनेको रहित प्रकाशित करनेवाली बातें यदि कोई करता है तो निश्चित ही वे अज्ञानियोंको फसानेवाली छलपूर्ण ही मानी जा सकती हैं। वस्त्रोंको धारण करते हुए भी यदि कोई यह कहता है कि हमको इनसे ममत्व नहीं है, इनकी हमको इच्छा नहीं है, या इनसे हमको कुछ भी कषाय नहीं है तो इस बातको एक पामर कन्या भी मान्य नहीं कर सकती क्योंकि यह ध्रुव सत्य है कि अंतरंगमें तद्योग्य कषायके बिना उन चारित्रविरोधी बाह्य परिग्रहोंका ग्रहण नहीं हो सकता। अस्तु।

आचार्यश्री यहांपर जो मोही मुनिसे निर्मोह गृहस्थको मोक्षमार्गमें स्थित और श्रेष्ठ बता रहे हैं उसका अभिप्राय स्पष्ट है कि वे अन्तरंग और बहिरंग दोनो ही कारणोंको मान्य करते हुए बताना चाहते हैं कि अन्तरंग कारणके बिना केवल बाह्य कारणसे मोक्षमार्गमें सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। सो यह कथन युक्ति अनुभव आगम और आम्नाय सभीसे सिद्ध है। कोडरू मूंग जिसमें कि गलनेकी शक्ति ही नहीं है गलानेके लिये बाह्य प्रयत्न करनेपर भी गल नहीं सकती। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जिस मूंगमें गलनेकी शक्ति विद्यमान हैं वह बाह्य गलानेके निमित्तोंके बिना ही कोठेमें रक्खी रक्खी ही गलकर दाल बन जायगी। साध्य सिद्धिमें बाह्य साधनोंको सर्वथा अमान्य करनेवाला व्यक्ति तत्त्व स्वरूपसे उतना ही अनभिज्ञ—अज्ञानी अथवा एकान्त मिथ्यादृष्टि है जितना कि अन्तरंग साधनको सर्वथा अमान्य करनेवाला[२]

इस प्रकार मोक्षमार्गकी संभूतिके साथ-साथ उसकी स्थिति भी सम्यग्दर्शनपर ही निर्भर है यह यहां बताकर उसकी वृद्धि एवं कल्याणरूप फलोदय भी उसीपर आश्रित है। इस बातको आगेकी कारिकामें दिखाते हैं :—

न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ ३४ ॥

१—सागारधर्मामृत अ० २ श्लो० ६८॥

२—पूर्वभवसे यदि सम्यग्दर्शन साथ आरहा है तो वह यहां विवक्षित नहीं है। यहां तो प्रकट होनेसे मतलब उत्पन्न होनेसे है।

३—जइ जिणमयं पवंजइ ता मा ववहारणिच्छए मुअह। एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं॥ चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावारा। चरणकरणं ससारं णिच्छयसुद्धं ण जाणंति॥ णिच्छयमालंबंता णिच्छयदो णिच्छयं अजाणंता। णासिंति चरणकरणं बाहिरकरणालसा केई॥

अर्थ—शरीरधारी प्राणियोंको तीन लोक और तीन कालमें सम्यक्त्व सरीखा दूसरा कोई भी कल्याण या कल्याणका कारक नहीं और मिथ्यात्व सरीखा कोई दूसरा अहित अथवा उसका साधन नहीं।

प्रयोजन—ऊपर कारिका नं० ३२ की उत्थानिकामें जिन तीन विषयोंका उल्लेख किया गया था उनमेंसे कारिका ३२ में प्रथम विषयको और ऊपरकी कारिका नं० ३३ में दूसरे विषयको दृष्टिमें रखकर वर्णन किये जानेपर क्रमानुसार तीसरा विषय उपस्थित होता है। फलतः इस बातकी जिज्ञासा हो सकती है कि यह सम्यग्दर्शन मोक्षका ही कारण है। अथवा संसारमें भी किसी या किन्हीं विषयोंका कारण हो सकता है? क्योंकि आगममें इस सम्बन्धमें दो तरह के वर्णन मिलते हैं। एक तो यह कि सम्यग्दर्शन अथवा रत्नत्रय मोक्षका[1] ही कारण है। दूसरी जगह अनेक सांसारिक पदों आदिके लाभका भी उसको हेतु[2] बताया गया है। अतएव यह जिज्ञासा हो सकती है कि वास्तविक बात क्या है? सम्यग्दर्शनका सांसारिक फल भी किसी भी सीमा तक और किसी भी अपेक्षासे होता है या नहीं? अथवा केवल मोक्षका ही कारण है। दोनों पक्षोंमेंसे किसी भी एक पक्षके सर्वथा मान लेनेपर दूसरा पक्ष अयुक्त सिद्ध हो जाता है। बस! यही कारण है कि इस कारिकाका निर्माण आवश्यक हो गया है। क्योंकि यह कारिका इस अयुक्तता अथवा एकान्तवादका परिहार करती है। इसके साथ ही यदि इसी विषयको दूसरे रूपमें कहा जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि यह कारिका दोनों ही पक्षोंका अपेक्षाभेदसे समर्थन करती है। जब कि ऐसे कोई भी दो विषय जो कि परस्परमें विरुद्ध मालुम होते हुए भी स्याद्वाद पद्धति और भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी अपेक्षाओंके कारण तत्त्वतः आपसमें विरुद्ध न हों तो उसका स्पष्टीकरण करना साधारण श्रोताओंके भ्रम-परिहारार्थ उचित और आवश्यक भी है। फलतः यह कारिका इस बातको स्पष्ट करती है कि सम्यग्दर्शनका फल पारलौकिक—संसार और उसके कारणोंकी निवृत्तिपूर्वक आत्माके निज शुद्ध स्वभावको प्रकट करना अथवा उसका प्रकटित हो जाना तो है ही, किन्तु ऐहिक—अभ्युदय विशेष भी इसके फल हैं, जो कि आत्माके शुद्ध स्वभावसे भिन्न होते हुए भी उसके साहचर्य एवं निमित्तकी अपेक्षा रखते हैं। जो बात युक्ति, अनुभव और आगमसे सिद्ध है तथा प्रसिद्ध है उस बातको प्रकट न करना, लोगोंको उस सत्यार्थके ज्ञानसे वंचित रखना, उनके संशय विपर्यय अनध्यवसायको बनाये रखना, फलतः हितसे या हितके यथार्थ मार्गसे वंचित रखना, अनुचित ही नहीं, पाप है। साथ ही यदि यह बात अपने अज्ञान-मूलक गृहीत दुराग्रहवश सर्वथा मिथ्या बताई जाय तब तो मिथ्यात्व है—भयंकर पाप है। क्योंकि ऐसा करनेवाला मार्गका विरोध करता है, मुमुक्षुओंको

१—रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य। आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥ २२० ॥ पु० सि०।

यथार्थ मार्गसे वंचित रखता०, इस विषयके प्रतिपादन करनेवाले आचार्यों-श्रद्धेय गुरुओं तथा उनके वचनों—सम्यग्दर्शनके विषयभूत आगमोंके प्रति अश्रद्धा प्रकट करता है। फलतः वह अपने अज्ञान और मिथ्यात्वका पोषण करता है। यही कारण है कि आचार्य भगवान् दोनों ही दृष्टियोंको सामने रखकर वस्तुभूत सम्यग्दर्शनके फलका निर्देश कर रहे हैं। फलतः इस कारिकाके द्वारा वे बताना चाहते हैं कि उपर्युक्त दोनों ही कथन परस्परमें विरुद्ध नहीं हैं। अबतक जो कुछ वर्णन किया गया है वह आत्माके विकास-उसमें समीचीनताकी संभूति आदिको लक्ष्य में रखकर और उसमें भी खासकर ज्ञानचारित्रके ही सम्बन्धको लेकर किया गया है। किन्तु यहांपर आचार्य ऐहिक फलका भी समावेश करके इस कारिकाके द्वारा सम्यग्दर्शनके फलको व्यापक बता रहे हैं।

इस तरहसे यह कारिका गत वर्णनका समारोप करती है और आगत विषयके वर्णनकी सूचना देती है। क्योंकि अबतक जो वर्णन किया गया है वह वस्तुतः सम्यग्दर्शनकी स्वरूप योग्यता—उसका लक्षण, विषय, अङ्गोपाङ्ग, सहचारी गुणों व परिणामोंपर पडनेवाले प्रभाव आदिको दिखाता है; साथ ही अनादिकालसे चले आये संसारके मूलभूत विपरिणामोंको देश त्यागकी–अपने उपभोग्य क्षेत्र आत्माको छोडकर चले जानेके लिये दी गई न केवल आज्ञाका ही, किन्तु दी गई आज्ञाके पालनका प्रारम्भ होनेका भी उल्लेख करता है। जिस प्रकार कोई विजिगीषु अपने क्षेत्रपर अधिकार जमाकर बैठे हुए शत्रु पर केवल विजय प्राप्त करके ही नहीं, अपितु उसको भगाकर और उसकी जगह अपनी आज्ञाका प्रजामें पालन कराकर ही दम लेता है; उसी प्रकार प्रकृतमें समझना चाहिये।

इस कारिकासे आगे सम्यग्दर्शनके आमुत्रिक और ऐहिक फल एवं अभ्युदयोंके लाभका वर्णन किया जायगा। किन्तु उसके स्वरूपका वर्णन यहां समाप्त हो जाता है। अतएव आचार्य ने इस संबंधमें जो कुछ प्रारम्भमें कहा था उसीको वे प्रकारान्तरसे इस कारिकामें दुहरा रहे हैं। साथ ही सम्यग्दर्शनके स्वरूपका जो असाधारण महत्त्व है उसका सम्पूर्ण निचोड भी दिखा रहे हैं।

आचार्यश्रीने जिस धर्मके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा[१] की थी उसका सामान्य स्वरूप उसके बादकी ही कारिका नं० ३ में बताया था कि सम्यग्दर्शनादिक धर्म हैं। अर्थात् वे कर्मोंके और उनके फलस्वरूप दुःखरूप भावोंके विघातक तथा निज उत्तम सुखरूप अवस्थाके साधक हैं। इसके साथही यह भी बताया था कि इसके प्रत्यनीक भाव ही संसारके मार्ग हैं। अब आचार्य उसी धर्मके प्रधान अंग सम्यग्दर्शनके स्वरूपका व्याख्यान करके अंतमें इस कारिकाके पूर्वार्धमें उक्त धर्म की असाधारण महिमा दिखाकर उसकी सर्वोपरि उपादेयताको स्पष्ट कर रहे हैं। और

१—देखो कारिका नं० २

साथ ही जो बात वहांपर "यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः।" इस वाक्यके द्वारा कही गई थी उसीको यहांपर प्रकारान्तरसे "अश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत् तनूभृताम्" इस वाक्यके द्वारा उपसंहाररूपमें दुहरा रहे हैं।

प्रश्न—धर्म तो सम्यग्दर्शन आदि तीनोंकी समष्टिको वहां कहा था और यहां केवल सम्यग्दर्शनका ही महत्त्व बताया गया है। अतएव इस कथनको सम्यग्दर्शनके वर्णनका उपसंहार तो कह सकते है। परन्तु धर्मका उपसंहार किस तरह कहा जा सकता है ? अथवा जो महत्त्व सम्यग्दर्शनादि तीनोंका हो सकता है वह केवल सम्यक्त्वका ही किस तरहसे कहा या माना जा सकता है ? यद्वा क्योंकर यह कथन उचित समझा जा सकता है ?

उत्तर—ऊपर यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गमें प्रधानभूत नेतृत्व सम्यग्दर्शनका ही है। यद्यपि ज्ञानचारित्र भी अपना असाधारणरूप रखते हैं फिर भी उनमें समीचीनताका आधान करके उनको मोक्षमार्गी बना देनेका—उनको योग्य समुचित उपादेय दृष्टि-मोक्षकी दिशामें मोड देनेकी कृतिका श्रेय तो सम्यग्दर्शनका ही है। फिर ऐसा कौन कृतघ्न होगा जो कि इस महान् उपकारके प्रति अपनी कृतज्ञताको प्रकट करना उचित न समझेगा। यही कारण है कि सम्यक्त्वमूर्ति भगवान् समन्तभद्रने मोक्षमार्गकी सम्पूर्ण सफलताओंको सम्यग्दर्शन पर निर्भर मानकर उसीकी यशोगाथाका यहांपर उल्लेख करके समन्ततो भद्र विषयका उपसंहार किया है। उसकी सर्वाङ्गीण कल्याणरूपताको संक्षेपमें—सूत्ररूपसे यहांपर सूचित कर दिया है।

शब्दों का सामान्य-विशेष अर्थ—

"न" यह निषेधार्थक अव्यय है। निषेध दो तरहका हुआ करता है एक पर्युदास और दूसरा प्रसह्य। यहां पर पर्युदास अर्थ नहीं लेना चाहिये क्योंकि किसी की सदृशता बताना अभीष्ट नहीं है। केवल निषेधमात्र ही बताना इष्ट है।

सम्यक्त्वसमं—यहांपर तृतीया समास है। सम्यक्त्वेन समं-सम्यक्त्वसमम्। सम्यक्त्वका अर्थ सम्यग्दर्शन और सम शब्दका अर्थ तुल्य सदृश या समान होता है। ध्यान रहे समानता दो प्रकारकी हुआ करती है १—एक ही वस्तुकी कालक्रमसे होनेवाली अनेक अवस्थाओंमें पाई जानेवाली सदृशता। १—एक ही समयमें विभिन्न वस्तुओंके होने वाले परिणमनोंमें पाई जानेवाली समानता। इन्ही को ऊर्ध्वता सामान्य या तद्भव सामान्य, और तिर्यक्सामान्य या सादृश्य सामान्य शब्दों से आगम में कहा गया है। यह शब्द श्रेयः का विशेषण है। जिससे समस्त श्रेयोरूप पदार्थों में सम्यक्त्व की विशेषता सूचित होजाती है।

किंचित्—यह एक अव्ययपद है। किम् शब्द से चित् प्रत्यय होकर बना है। इस शब्द का प्रयोग ऐसी जगह हुआ करता है जहांपर विशेष नाम आदि का निर्देश विवक्षित न होकर सामान्य उल्लेख अभीष्ट हो। अतएव इसका अर्थ होता है 'कोई भी' आचार्यका अभिप्राय भी इस शब्दसे सम्पूर्ण द्रव्य या आत्मद्रव्य तथा उनके समस्त गुणों और उनकी

सभी द्रव्य पर्यायों एवं अर्थ पर्यायोंसे है। कारण कि किसी भी वस्तुतत्त्वका सर्वाङ्गीण विचार करनेमें उसके द्रव्य क्षेत्र काल भाव इन चारों भेदोंपर दृष्टि रखना उचित ही नहीं आवश्यक भी होता है। इन चार भेदोंमेंसे "त्रैकाल्ये" और "त्रिजगति" ये कण्ठोक्त शब्द क्रमसे काल और क्षेत्रको स्पष्ट कर देते हैं। फलतः द्रव्य और भाव ये दो भेद जो शेष रहते हैं उन्हींका यहां इस किंचित् शब्दसे ग्रहण समझना चाहिये।

त्रैकाल्ये—त्रयश्च ते कालाश्च त्रिकालाः, त एव त्रैकाल्यम्। इस तरह त्रिकालशब्दसे स्वार्थमें यण प्रत्यय करने से यह शब्द बनाता है। अथवा त्रयाणां कालानां समाहारः, त्रैकाल्यं। इस तरह समाहारपूर्वक त्रिकालशब्दसे ष्यञ् प्रत्यय होकर भी यह शब्द बन सकता है। अर्थ एक ही है—तीन कालमें। भूत भविष्यत् वर्तमान ये तीन काल प्रसिद्ध हैं। कालद्रव्यकी भूत भविष्यत् वर्तमान अनन्त समय रूप पर्यायों की यहां मुख्यता नहीं है। किन्तु क्रमसे एक ही द्रव्यमें होने वाली अनन्त पर्यायें विवक्षित हैं। मतलब यह है कि किसी भी विवक्षित एक द्रव्य—जीव द्रव्यमें होनेवाली भूत भविष्यत् वर्तमान सम्बन्धी अनन्तानन्त द्रव्यपर्यायों और अर्थ पर्यायोंमें से, इस तरहका अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

त्रिजगति—त्रयाणां जगतां समाहारः त्रिजगत्, तस्मिन्। अर्थात् तीन लोकमें। जिसतरह ऊपरका "त्रैकाल्ये" शब्द ऊर्ध्वता सामान्यको दृष्टिमें रखकर कहागया है उसी तरह यह "त्रिजगति" शब्द तिर्यक् सामान्यको लक्ष्यमें लेकर कहा गया है। क्योंकि एक जीव की तरह नाना जीवोंकी अपेक्षासे भी आचार्य बताना चाहते हैं कि किसी भी विवक्षित एक समयमें सम्पूर्ण अनन्तानन्त जीवोंके पाये जानेवाले भावोंमें से—समस्त द्रव्यपर्यायों और अर्थ पर्यायोंमेंसे, कोई भी ऐसा भाव नहीं है जो कि सम्यक्त्वकी समानता रखता हो।

अपि—यह अव्ययपद है। यों तो इस शब्दके सम्भावना, निन्दा, प्रश्न, शङ्का, निश्चय आदि अनेक अर्थ होते हैं। धातुओंके साथ उपसर्गके रूपमें भी यह प्रयुक्त हुआ करता है। यहां पर इसका अर्थ "भी" करना चाहिये। मतलब यह कि किसी एक जीव-विशेषके भावोंमें ही यह बात नहीं है अपितु सभी जीवोंके पाये जानेवाले—समस्त संभव भावोंमेंसे भी कोई भी भाव ऐसा नहीं है जो कि सम्यक्त्वके समान माना या कहा जा सके।

श्रेयः—अतिशयेन प्रशस्यं श्रेयः। प्रशस्य शब्दको श्र आदेश और उससे ईयस् प्रत्यय होकर यह शब्द बना है। नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एक वचन और सम्यक्त्वसमं का विशेष्यभूत है। इसका अर्थ होता है—अत्युत्कृष्ट कल्याण। मंगल अभ्युदय शुभ शिव भद्र पुण्य इत्यादि इसके पर्यायवाचक शब्द हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि यहांपर यद्यपि मुख्य रूपसे सम्यग्दर्शनको ही—जो कि जीवका शुद्ध स्वतन्त्र महान् भाव है। अभेद विवक्षासे मंग कहा गया है। किन्तु भेद विवक्षा और व्यवहारसे अन्य भी कल्याणोंका उल्लेख इस वर्ण में अन्तर्निहित है। जोकि गौण होनेपर भी सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। जैसा कि आगेके वर्ण—

से स्पष्ट हो जायगा। और मालुम हो सकेगा कि ग्रन्थकर्त्ता आचार्य स्वयं सम्यग्दर्शन मुख्यमंगल रूप मानकर भी, अन्य भी पर और अपर मंगलोंको सम्यग्दर्शनके फलरूपमें स्वीकार करते हैं। किन्तु प्रकृत कथनसे मालुम होता है कि वे सब इसलिये गौण हैं कि वे सम्यग्दर्शनमूलक हैं, उससे अन्यथानुपपन्न हैं। यही कारण है कि "सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः" की उक्तिके अनुसार यहां सम्यग्दर्शनको ही सर्वोत्कृष्ट श्रेयो रूप बताया गया है।

अश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं अन्यत्। यह वाक्य सम्यग्दर्शन के विषय में जो कुछ यहां कहागया है उससे सर्वथा प्रत्यनीकताको दिखाता है। जो इस बातको बताता है कि सम्यग्दर्शनका ठीक विरोधी भाव मिथ्यात्व है जो कि स्वयं अकल्याणरूप है और उसके जितने भी पर अपर फल है वे सब भी अभद्ररूप ही हैं।

तनूभृताम्—तनूः बिभ्रति इति तनूभृतस्तेषाम्। यहां स्वस्वामिसम्बन्धमें षष्ठी होनेसे मालुम होता है कि सम्यग्दर्शन और उसके श्रेयोरूप फलके स्वामी सशरीर व्यक्तियोंको बताना अभीष्ट है। यद्यपि सामान्यतया सम्यग्दर्शन आत्माकी सशरीर और अशरीर दोनों ही अवस्थाओंमें पाया जाता है। परन्तु अशरीर परमात्मा में पाये जानेवाले परम शुद्ध, अखण्ड, एवं हेतुहेतुमद्भाव या साध्य साधनभाव आदि सम्बन्धोंसे रहित सामान्य सम्यग्दर्शनका वर्णन प्रकृत में प्रयोजनीभूत नही है। संसारावस्थामें सशरीर आत्माओंमें पाये जानेवाले सम्यग्दर्शन के सम्बन्धमें ही आचार्य कथन करना चाहते हैं, जहांपर कि उसके श्रेयोरूप फलकी संभावना पाई जाती है।

विशेष यह कि रत्नत्रयरूप धर्मके वर्णनमें सर्वतः मुख्यतया वर्णनीय सम्यग्दर्शनका आचार्यने जिन अनुष्टुप् कारिकाओंमें यहां वर्णन किया है उनमें यह अन्तिम कारिका है। आगेकी कारिकाओंका सम्यग्दर्शनके फलरूप विषयके परिवर्तनके साथ-साथ वृत्त भी बदल दिया गया है। यहां तक जो कुछ वर्णन किया गया है वह अनुष्टुब छन्दद्वारा केवल सम्यग्दर्शनकी स्वरूप योग्यताके सम्बन्धमें ही है। आगे जो इस अध्याय की अन्य कारिकाओंमें वर्णन किया जायगा, वह केवल उसके असाधारण फलका ही निर्देश करनेवाला होगा।

तात्पर्य— सम्यक् शब्दका व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न दोनों ही पक्षमें अर्थ प्रशंसा ही है। यह विशेषण होनेसे दर्शन ज्ञान चारित्रकी ही नहीं, किसी भी अपने विशेष्यकी प्रशंसाको व्यक्त कर सकता है। श्रेयस् शब्दका अर्थ ऊपर निरुक्तिके अनुसार अतिशय प्रशंसनीय कहा जा का चुका है। फलतः यहांपर कथित सम्यक्त्व शब्दको केवल विशेषण मान लेनेपर अर्थ उचित एवं होकसंगत नहीं बैठता। क्योंकि दोनों ही शब्दोंका समान अर्थ होजानेसे उसका अर्थ होगा कि मी प्रशंसाकी बराबर अतिशय प्रशस्य कोई भी नहीं है। अतएव "नामका एक देश भी पूरे नामका

बोधक होता है," इस उक्तिके अनुसार सम्यक्त्व शब्दसे सम्यग्दर्शन गुण–यह भाव लेना चाहिये कि जिसके यथार्थरूपमें आविर्भूत होते ही आत्माका प्रत्येक अंश अपूर्व समीचीनताके रूपमें परिणत हो जाया करता है। अब इसका अर्थ यह होगा कि इस सम्यग्दर्शनके समान अन्य कोई भी द्रव्य गुण पर्याय या स्वभाव अत्यन्त प्रशंसनीय नहीं है। जिसका मतलब यह होता है कि यद्यपि सामान्यतया अथवा 'अन्य अन्य अपेक्षाओंसे प्रशंसनीय अन्य अन्य गुण धर्म स्वभाव भी हैं परन्तु सम्यग्दर्शनकी बराबर' प्रशंसनीय कोई भी नहीं है।

प्रश्न यह हो सकता है कि ऐसा क्यों ? उत्तर यह है कि इसमें जो दो असाधारण विशेषतायें है वे अन्यत्र नहीं पाई जातीं। इस विषयको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर देना उचित प्रतीत होता है।

प्रश्न—मीठी चीज क्या है ? उत्तर—पुत्रका वचन। पुनः प्रश्न—अच्छा, किंतु और भी अधिक मीठी वस्तु किसको समझना चाहिये ? उत्तर—पुत्रके ही वचनको। पुनरपि पृच्छा—ठीक है, परन्तु संसारमें सबसे अधिक मधुर किसको कहा जा सकता है ? उत्तर—वही पुत्रका वचन यदि श्रुतिपरिपक्व हो। अर्थात् विद्यावृद्धिसे युक्त अनुभवी पुत्रके वचन संसारमें सबसे अधिक मधुर हैं।

यह केवल एक लौकिक[1] सूक्तिके आधारपर कहा गया दृष्टान्त मात्र है। इसपर से इतना ही अर्थ लेना चाहिये कि जो जितना अधिक निर्विकार है वह उतना ही अधिक प्रिय है। उसमें भी अधिकतर प्रिय वह है जो निर्विकार होकर आत्मीयतामें अधिक से अधिक निकटतर हो। बच्चा स्वभावतः निर्विकार है अतएव सबको प्रिय है। यदि अपना बच्चा हो तब तो सहज ही अधिक प्रिय होता है।

एक इसी तरहकी युक्ति और भी है। कहा जाता है कि "समस्त कुटुम्बका जो उद्धार करदे ऐसा व्यक्ति तो गोत्र भरमें एक ही हुआ[2] करता है।" इसका तात्पर्य इतना ही है कि समस्त जीवोंका कल्याण करनेवाली वास्तविक योग्यता सुदुर्लभ है।

दोनों ही दृष्टान्तोंसे अभिप्राय यह लेना चाहिये कि जो अधिक से अधिक निर्विकार है वीतराग है, साथ ही जो अधिक से अधिक ज्ञान-विवेक आदिसे सम्पन्न होकर आत्मीय है, फिर इसपर भी यदि वह सबका उद्धार–कल्याण करनेवाला है तो वही सबसे अधिक श्रेष्ठ है प्रिय है।

सम्यग्दर्शनमें ये तीनों ही बातें पाई जाती हैं, साथ ही पुत्रके दृष्टान्तकी अपेक्षाभी कहीं अधिक और वास्तव रूपमें पाई जाती हैं। सम्यग्दर्शन भी निर्विकार है, विवेकपूर्ण होकर आत्मीय है, आत्माके समस्त द्रव्य गुण पर्यायरूप कुटुम्बका सच्चा उद्धारक है। तीन लोकमें

१—किं मिष्टं सुतवचनं मिष्टतरं किं तदेव सुतवचनं। मिष्टान्मिष्टतरं किं श्रुतिपरिपक्वं तदेव सुतवचनं ॥
२—एको

किसी भी जीवका इस तरहका उद्धारक—हित करने वाला आजतक न कोई हुआ, न है, न होगा।

किसी भी विवक्षित समयमें पाई जानेवाली समस्त जीवोंकी शुभ अवस्थाओं अथवा कल्याणके कारणोंमें सम्यग्दर्शनकी बराबर कोई भी हित रूप अवस्था या उसका कारण नहीं पाया जा सकता यह बात नाना जीवोंकी अपेक्षासे है। किन्तु एक व्यक्ति की अपेक्षा भी यही बात है। उसकी क्रमसे होनेवाली त्रैकालिक सभी प्रशस्त अवस्थाओं अथवा गुणधर्मोंमें से कोई भी ऐसा नहीं पाया जा सकता जो कि जीवका कल्याण करनेमें सम्यग्दर्शनकी तुलना कर सके। अबतक जिन अनन्त जीवोंने संसारके अनन्त दुःखोंसे छुटकारा पाकर अनन्त शास्वत अव्याबाध उत्तम सुखको प्राप्त किया है अथवा कर रहे हैं, या आगे उसको प्राप्त करेंगे उसका श्रेय सम्यग्दर्शनको ही है क्योंकि उसका सबसे प्रधान और मूल कारण सम्यग्दर्शन ही था, है, और रहेगा।

त्रैकाल्ये और त्रिजगति शब्दोंसे श्रेयोरूप विषयोंमें ऊर्ध्वता सामान्य तथा तिर्यक् सामान्य की दृष्टिसे विचार करना चाहिये। यह बात ऊपर कही जा चुकी है। क्योंकि ऐसा करने से एक जीवकी अपेक्षा एवं नाना जीवोंकी अपेक्षासे कोई भी कहीं भी कभी भी होनेवाला हित रूप परिणाम शेष नहीं रहता। इसके साथ ही दोनों शब्दोंमें जिस सप्तमी विभक्तिका निर्देश किया गया है वह अवधारणार्थक[१] है। इससे गौणतया यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि हितरूप या हितका साधक केवल सम्यग्दर्शन ही नहीं है। अन्य भाव भी है। उदाहरणार्थ—यदि कोई यह कहता है कि "गौओंमें काली गौ अच्छा दूध देती है।" तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि काली गौ के सिवाय अन्य गौएं दूध ही नहीं देतीं। उसकाआशय तो इतना ही है कि दूध देनेवाली तो अन्य भी गौएं हैं। परन्तु उन सबमें काली गौ अधिक और अच्छा दूध देती है। इससे अन्य गौओंका भी दूध देना स्पष्ट हो जाता है। प्रकृतमें भी यही बात समझनी चाहिये। जीवके लिये श्रेयस्कर तो अन्य भी परिणाम या भाव होते हैं, परन्तु उन सबमें सम्यग्दर्शन अद्वितीय-असाधारण और मुख्य है, स्वयं सम्यग्दर्शन जिन परिणामों या प्रवृत्तियोंसे अथवा भावोंसे प्रकट होता है, सम्यग्दर्शन की विरोधिनी कर्म प्रकृतियोंका ह्रास जिन भावोंसे होता है, या हो सकता है, करण लब्धिरूप अथवा उसके लिये भी जो परिणाम एवं प्रवृत्तियां साक्षात् अथवा परम्परा निमित्त हैं, जो जो साधक निमित्तरूप है अथवा प्रतिबन्धक कारणके विरोधी हैं वे सब भी आत्माके हितरूप ही हैं फिर चाहे वे जीवके अभिन्न परिणाम हों अथवा भिन्न द्रव्य क्षेत्र काल भाव ही क्यों न हों। इसके सिवाय सम्यग्दर्शनके प्रकट होनेके बाद भी उसके उद्योतन उद्यवन निर्वाह सिद्धि और निस्तरणमें अन्तरंग बहिरंग अनेक एवं अनेकविध जो जो साधन

१—निर्धारणार्थक यथा " निर्धारणे च ॥४०७॥ कातन्त्र। तथा यतश्च निर्धारणम् " ॥ २-३-४१। पाणि० ... गवां गोषु वा कृष्णा गौः सम्पन्नक्षीरा॥

अपेक्षित हैं वे सब भी आत्माके हितरूप ही हैं। यों तो पुण्य कर्म और उसके जितने भी कारण तथा फल हैं वे भी लोकमें इष्ट-प्रशस्त तथा हितरूप माने जाते हैं परन्तु जहांतक उनका सम्यग्दर्शनसे सम्बन्ध नहीं है वहांतक तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें वे परमार्थतः आत्माके हितरूप नहीं हैं। किन्तु सम्यग्दर्शन तो वस्तुतः आत्माके कल्याणकारी भावोंमें सर्वोपरि है। उसकी तुलना कोई भी श्रेयोरूप भाव नहीं कर सकता। मोक्षमार्गका सम्राट् यदि उसको कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। योग्य राजाके रहते हुए--उसकी समीचीन दृष्टिके नीचे राज्यके सभी अंग जिस तरह ठीक ठीक काम किया करते हैं उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये।

अन्य द्रव्योंकी तरह आत्मद्रव्यके भी मुख्यतया चार भाग हैं। द्रव्य क्षेत्र काल और भाव। सम्यग्दर्शनके होनेपर ये चारों ही विभाग दुःखरूप संसारके विरुद्ध और उत्तम सुखमय मोक्षावस्थाके अनुकूल ठीक-ठीक कार्य करने लगते हैं। त्रैकाल्ये और त्रिजगति शब्द सामान्यतया काल और क्षेत्र विभागको जिस तरह सूचित कर देते हैं उसी प्रकार किंचित शब्द द्रव्य और भावको बोध कराता है।

सम्यग्दर्शनके प्रकट होनेपर अथवा उसके पूर्व इस तनूभृत्–संसारी प्राणीके आबद्ध द्रव्य कर्मों या भाव कर्मोंकी अवस्थामें जो लोकोत्तर निर्वाणोन्मुखताको सिद्ध करनेवाला अपूर्व परिवर्तन होता है तथा उसके फल स्वरूप आत्मद्रव्यकी विशुद्धिमें जो सर्वाङ्गीण आविर्भाव होता है, इसके साथ ही आत्माकी द्रव्यपर्यायोंमें प्रदेश या क्षेत्रकृत जो संसारकी अनन्तसंततिको सीमित करनेवाला अद्भुत भाव संस्कार प्रादुर्भूत हो जाता है, अधिकतर निकृष्टतम और निकृष्टतर तथा विविध निकृष्ट अर्थ-पर्यायोंका अत्यन्ताभाव हो जाता है, संसार लतिका और उसके विषफलोंका जो वंश-ध्वंस करनेवाला बीजगत रसक्षय होता है, वह अन्य किसी भी कारणसे संभव नहीं है। तीन लोकमेंसे कहीं भी किसी भी आत्मामें और कभी भी सम्यग्दर्शनके विना अन्य किसी भावके द्वारा कर्म और आत्माका यह चतुर्विध अपूर्व श्रेयोरूप विकाश न हुआ, न है, न होगा। यही कारण है कि आचार्य संसार दुःखोंसे छुटाकर उत्तम सुख–अनन्त अव्याबाध शुद्ध स्वाधीन नैःश्रेयस अवस्थाके असाधारण कारण रत्नत्रयरूप धर्ममें सर्वप्रथम आदरणीय एवं उपादेय सम्यग्दर्शनका इस अध्यायमें वर्णन करके इस कारिकामें उसकी महिमा का सार एक ही वाक्यके द्वारा बताते हुए कहते हैं कि इस जीवका वास्तविक कल्याण करनेवाला सम्यक्त्वकी बराबर तीन लोकोंमें–सुर असुर और नर लोकमें न कोई हुआ, न है, न होगा। साथ ही इस बातको भी वे स्पष्ट कर देते हैं कि जिस तरह जीवका कल्याण करनेवालोंमें सम्य–ग्दर्शन सर्वोपरि है, उसी प्रकार जीवके हितों या कल्याणोंका विध्वंस करनेवालोंमें मिथ्यात्वकी बराबर और कोई नहीं है, वह भी सर्वोपरि है। यह इसलिये कि संसारके दुःखोंसे घबड़ाये हुए भव्य प्राणी अपनी अनादि दुःख परम्पराके मूलभूत वास्तविक अन्तरंग कारणको समझकर उससे सावधान हों और उससे बचे रहनेमें अप्रमत्त बने रहें। साथ ही अनन्त दुःखक्षय कर्म–

क्षयकी[1] कारणभूत बोधि-समाधिकी सिद्धिमें सम्यग्दर्शनको प्राप्तकर सम्पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकें।

सम्यग्दर्शनके होनेपर जीवात्माको जो-जो फल प्राप्त होते हैं उनको सामान्यतया दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। अन्तरंग और बाह्य अथवा नैःश्रेयस और आभ्युदयिक। इस अवसर पर इन दोनों फलोंका निरूपण करना भी उचित और आवश्यक समझकर आचार्य सबसे पहिले अन्तरंग अथवा नैःश्रेयस रूप प्रधान फलका वर्णन करते हैं:—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥

अर्थ—जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं वे व्रतरहित होकर भी नरकगति, तिर्यग्गति, नपुंसक लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, दुष्कुल, विकृत अवस्था, अल्प आयु और दरिद्रताको प्राप्त नहीं किया करते।

प्रयोजन—यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है और यह कहावत भी सर्वजन-सुप्रसिद्ध है कि "या या क्रिया सा सा फलवती" कोई भी क्रिया क्यों न हो उसका कुछ न कुछ फल अवश्य होता है। साथ ही यह भी उक्ति प्रसिद्ध है कि "प्रयोजनमन्तरा मन्दोऽपि न प्रवर्तते।" साधारण ज्ञान रखनेवाला भी व्यक्ति किसी भी कार्यमें विना प्रयोजनके प्रवृत्त नहीं हुआ करता। इन उक्तियों के अनुसार सम्यग्दर्शन—श्रद्धानरूप क्रियाका फल और प्रयोजन बतानेके लिये इस कारिकाका निर्माण आवश्यक हो गया है। क्योंकि देखा जाता है कि अज्ञान और अविवेकपूर्वक कुछ लोग ऊटपटांग क्रियाएं भी करते हैं। फल तो उसका भी फिर चाहे वह हानिकारक ही क्यों न हो, होता[2] ही है। इसी तरह तत्त्वज्ञानसे शून्य—विपरीत संशयित आदि मिथ्या श्रद्धानी मोही पुरुषोंके द्वारा ऐसे प्रयोजनको दृष्टिमें रखकर भी प्रवृत्ति हुआ करती है, जो कि अहितरूप एवं अनिष्ट[3] ही है। अतएव हितरूप अभीष्ट फलको उत्पन्न करनेवाली क्रियायें कौनसी हैं और उनका फल क्या है, यह बताना आवश्यक है। आत्माका वास्तविक हित—कल्याण करनेवाली सर्वोत्कृष्ट क्रिया सम्यग्दर्शन है, यह ऊपरके कथन से मालुम हो सकता है। किन्तु यह कथन उस क्रियाके फल निर्देशके द्वारा समर्थित होना चाहिये। जिस तरह आचार्योंने सम्यग्ज्ञानकी प्रमाणताका वर्णन करते हुए स्वरूप संख्या विषय विप्रतिपत्तियोंका निराकरण करके अन्तमें अज्ञाननिवृत्ति और हानोपादानोपेक्षारूप फलको बताकर फल-विप्रतिपत्तिका भी परिहार करके यह स्पष्ट कर दिया है कि सम्यग्ज्ञानकी प्रमाणता—अथवा ज्ञानकी वास्तविक समीचीनता तभी मान्य—आदरणीय—विश्वसनीय हो सकती है जब कि इन कथित चार[4] प्रकारके फलोंमेंसे कोई भी

१—दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, समाहिमरणं इत्यादि इष्टप्रार्थनायाम् ॥
२—यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केनापि योजितम् ॥ यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति ॥ लोकोक्ति।
३—जीवबलि, गोमेधादि यज्ञ, सतीदाह, यज्ञमें सुरापान आदि ॥
४—अज्ञाननिवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा ॥ अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् पं० मु० ५-१ ॥

उसका फल अवश्य हो। अन्यथा बाहुश्रुत्य प्रकट करने या खण्डन करने आदिके अभिप्रायसे सम्यक्त्वका प्रतिपादन करनेवाले आर्हत शास्त्रोंका अध्ययन करके ज्ञान प्राप्त करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञानको भी जिससे कि वास्तवमें अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हुई है, सम्यग्ज्ञान अथवा प्रमाण मानना पड़ेगा। अतएव सम्यग्ज्ञान वही है और वही सम्यग्ज्ञान प्रमाण है जिसके कि होनेपर ज्ञानमेंसे अतात्त्विक मान्यता अथवा मोहजनित मिथ्या श्रद्धा या रुचि निकल जाती है। और कम से कम इस अज्ञानकी अन्तरंगमेंसे निवृत्तिके हो जानेपर ही वह ज्ञान सम्यक् अथवा प्रमाण माना जा सकता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके विषयमें समझना चाहिये। यह अत्यन्त उचित युक्तियुक्त और आवश्यक है कि कोई भी क्रिया जब हो तब उसका फल भी अवश्य हो। ये फल दो भागोंमें विभक्त हो सकते हैं। अन्तरंग और बाह्य, अथवा प्रत्यक्ष और परोक्ष, यद्वा स्व और पर। यहाँपर इन्हीं फलोंका वर्णन करनेकी दृष्टिसे आचार्य सबसे प्रथम अत्यन्त निकटवर्ती अन्तरङ्ग प्रत्यक्ष स्व-पर फलका उल्लेख करके इस कारिकाके द्वारा बताना चाहते हैं कि जीवमें यदि वह शुद्ध है तो, और नहीं है तो अर्थात् अबद्धायुष्क या बद्धायुष्क दोनों ही अवस्थाओंमें सम्यग्दर्शन-श्रद्धानरूप क्रियाके होते ही स्व—उस जीवमें और पर--उससे बंधनेवाले कर्मोंमें इस प्रकारका विवक्षित परिवर्तन हो जाता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन प्रकृतमें उस प्रतिज्ञात धर्मका प्रधानभूत मुख्य और प्रथम भाग है, जो कि संसारके दुःखोंसे हटाकर जीवको उत्तम सुखरूपमें परिणत करनेवालोंमें से एक है। फलतः यह आवश्यक है कि सम्यग्दर्शनरूप धर्मके आत्मामें प्रकट होते ही यह जीव यथासंभव दुःखरूप अवस्थाओंसे मुक्त हो और उनके कारणोंसे भी रहित होकर नैःश्रेयस सुखरूप अवस्थाके मार्गमें अग्रसर हो। अतएव सम्यग्दर्शनके होते ही जीव इन दोनों ही विषयोंमें कमसे कम कितनी सफलताको निश्चित रूपसे प्राप्त कर लेता है, यह बताना ही इस कारिकाका प्रयोजन है। क्योंकि इस कारिकाके अर्थको हृदयंगम करनेपर श्रद्धावान आस्तिक संविग्न मुमुक्षु निकट भव्यको ऐसा मालुम होने लगता है कि मेरा यह अनादि दुःखपूर्ण संसार अब समाप्तप्राय है—और जो कुछ शेष है उसको भी निष्प्राणित कर देना मेरे बायें हाथका खेल है। तथा अनन्त अव्याबाध मेरा सुख मेरे हाथमें है। इसी दृढ श्रद्धाके कारण उसका परम पुरुषार्थ, परम पुरुषार्थके विरोधी कर्मोंका क्षय करनेके लिये उद्युक्त होता है। और उसके असम साहसका वह ऊर्ध्वमुखी सतत प्रयोग चालू रहता है, जो कि शुद्ध सिद्धात्माको तनुवातवलयके अन्तमें शीघ्र ही उपस्थित करनेमें समर्थ होता है, जिसका कि भगवान् उमास्वामीने पूर्वप्रयोग[1] शब्दके द्वारा हेतुरूपमें उल्लेख किया है।

ऊपरकी कारिकामें सम्यक्त्व और मिथ्यात्वकी क्रमसे अनुपम श्रेयोरूपता और दुःखरूपता का उल्लेख किया है जिससे उनकी मोक्षरूपता तथा संसारबीजता तो स्पष्ट होती ही है, साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दर्शनके प्रादुर्भूत होते ही

१—पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च। त० सू० १०—६।

संसार और मोक्षकी साधक अवस्थाओंके अन्तरङ्ग-बहिरंग कारणोंमें अपूर्व एवं महान् परिवर्तन भी अवश्य होजाता है, जो कि होना चाहिये। संसारके कारणभूत कर्मोंमें और मोक्षके साधनभूत आत्माके शुद्ध भावोंमें वह परिवर्तन कितने प्रमाणमें और किस रूपमें हो जाता है यही बात इस कारिकाके द्वारा बताई गई है।

मिथ्यात्वके साहचर्यमें जिन जिन पापकर्मोंका बन्ध अतिशयपूर्ण हुआ करता है, अथवा उसके निमित्तसे ही पापरूप कर्मोंका बन्ध हुआ करता है, वे सम्यग्दर्शन के होनेपर बंधको प्राप्त नहीं हुआ करते। फलतः संसार और उसके कारणोंका ह्रास रूप फल स्पष्ट होता है। इसके लिये वे कर्म कौन-कौनसे है—कितने है, तथा उनका क्या-क्या वह कार्य है जो कि दुःख रूप संसारके मुख्य स्थान माने गये हैं और जो कि आत्माके गुणका स्थान बढते ही छूट जाते हैं, उनका इस कारिकाके द्वारा उल्लेख किया गया है। यद्यपि इसके साथ ही मोक्षकी साधक अवस्थाओंके कारणभूत पुण्य कर्मोंमें सम्यक्त्वके सान्निध्यके ही कारण जो विशिष्ट अतिशय आता है उसका उल्लेख करनेसे सम्यग्दृष्टि जीवकी मोक्षमार्गमें होनेवाली अग्रेसरता-प्रगतिरूप फलका भी स्पष्टीकरण होता है अतएव उसका भी वर्णन करनेकी आवश्यकता है। किन्तु इसका वर्णन आगेकी कारिकाओंमें क्रमसे किया जायगा। यद्यपि प्रतिपक्षी कर्मोंकी अवस्थाओके परिवर्तनको जान लेनेसे बढती हुई आत्म गुणोंकी विशुद्धिका परिज्ञान भी स्वयं ही हो जाता है या हो सकता है। फिर भी अन्तरंग-बहिरंग उन अनेक आभ्युदयिक अवस्थाओंका सम्यग्दर्शनके फलरूपमें बताना भी आवश्यक है जो कि सातिशय पुण्यकर्मोंसे सम्बन्धित हैं और उत्तम सुखकी सिद्धि तथा मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति और प्रतिपक्षी कर्मोंकी निवृत्तिमें बलवत्तर बाह्य असाधारण साधन है। इनका उल्लेख आगेकी कारिकाओंमें किया जायगा। परन्तु इसके पूर्व संसारनिवृत्तिरूप फलका प्रथम उल्लेख करना इस कारिकाका मुख्य प्रयोजन है।

आत्माकी सिद्धावस्थाके उपादान एवं मूलभूत प्रतीक सम्यग्दर्शनके प्रकट होनेपर भी यदि संसारकी उपादानकारणता उसमें बनी रहती है और भव-भ्रमणके कारणभूत कर्मोंका बंध भी ज्योंका त्यों ही होता रहता है तो दुःखरूप संसारसे सर्वथा विरुद्ध-मोक्ष अवस्थाका सम्यग्दर्शनको असाधारण कारण मानने या कहनेका तथा अपूर्व उत्तम अनन्त निर्बाध सुखका उसको हेतु बतानेका कोई अर्थ ही नहीं रहता। और न उसको इस तरहका धर्म ही वस्तुतः स्वीकार किया जा सकता है, जो कि संसारका विरोधी होनेके सिवाय मोक्षका ही साधक हो। किन्तु इस कारिकाके द्वारा मालुम हो जाता है कि किस तरहसे सम्यग्दर्शनके होते ही संसारका समूल विनाश और मोक्ष-अवस्थाका प्रारम्भ होजाता है।

शब्दोंका सामान्य-विशेष अर्थ—

"सम्यग्दर्शनशुद्धः"—इस शब्दका अर्थ तीन तरहसे किया जा सकता है अथवा हो सकता है।

पहला "सम्यग्दर्शनं शुद्धं निर्मलं येषां ते[१]" । अर्थात् शुद्ध-निर्मल है सम्यग्दर्शन जिनका । दूसरा "सम्यग्दर्शनेन शुद्धाः[२] । अर्थात् जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हैं । इन दोनों अर्थोंमेंसे पहलेमें सम्यग्दर्शनकी शुद्धता—निरतीचारता अथवा २५ मलदोषोंसे रहितताका अर्थ व्यक्त होता है । और दूसरे अर्थसे सम्यग्दर्शनसे विशिष्ट आत्माकी विशुद्धि—द्रव्यकर्म, भावकर्म नोकर्म विशेषोंके सम्बन्धसे राहित्य तथा आत्माके द्रव्यक्षेत्रकालभावमें अंशतः अपूर्व स्वास्थ्य स्वाधीनता प्रकाश आनन्द और प्रतिपक्षीपर लोकोत्तर विजयलाभसे जन्य मुक्ति सुखके अनुभवकी पर-सम्बन्ध रहित महत्ता सूचित होती है । इस तरह दोनों अर्थोंमेंसे एकमें—पहलेमें धर्मकी और दूसरेमें धर्मीकी विशुद्धि बताई गई है ।

संस्कृत टीकाकार श्रीप्रभाचन्द्रने इस शब्दका अर्थ बताते हुए जो कुछ लिखा है उससे मालुम होता है कि उनको शुद्ध शब्दसे अबद्धायुष्कता अर्थ अभिप्रेत[३] है, जो कि सर्वथा उचित संगत और प्रकृत कथनके अनुकूल है । किन्तु उन्होंने जिस तरहका बहुव्रीहिसमासका विग्रह किया है, उससे वह अर्थ स्पष्ट नहीं होता । अतएव हमारी समझसे इसी अर्थको बतानेके लिये यदि यह विग्रह किया जाय कि "सम्यग्दर्शनं येषां ते सम्यग्दर्शनाः सम्यग्दृष्टयो जीवाः तेषु शुद्धाः—अबद्धायुष्का इति" अर्थात् सम्यग्दर्शनशुद्धाः इस शब्दसे यहांपर मुख्यतया जो सम्यग्दृष्टि होकर अबद्धायुष्क हैं— जिनके परभव-सम्बन्धी आयुकर्मका अभीतक बन्ध नहीं हुआ है, इस तरहका तीसरा अर्थ ग्रहण करना चाहिये ।

यद्यपि जो बद्धायुष्क हैं--जिन जीवोंने मिथ्यात्व अवस्थामें परभव-सम्बन्धी आयुकर्मका बन्ध कर लिया है वे जीव भी आयुकर्मका बंध होनेके बाद सम्यग्दर्शनको प्राप्त होजाते हैं; ऐसे जीव बद्ध आयुकर्मके अनुसार सम्यग्दृष्टि होकर भी उस गतिको--नरक तिर्यंच गतिको भी प्राप्त किया करते हैं । क्योंकि आयुकर्म बन्धनेके बाद उदयमें आये बिना छूटता नहीं है । किन्तु इस अवस्थामें भी उस जीवका वह सम्यग्दर्शन महान् उपकार किया करता है क्योंकि जिसके नरकायुका बंध होकर सम्यक्त्व हुआ है । वह जीव सम्यक्त्व सहित मरण करनेपर प्रथम नरकसे नीचेके नरकोंमें जन्म धारण नहीं किया करता[४] । इसी प्रकार तिर्यगायुका बंध होनेके बाद जिस जीवने सम्यक्त्व ग्रहण किया है वह सम्यक्त्वसहित मृत्युके अनन्तर भोगभूमिमें पुरुष तिर्यंच हुआ करता[५] है । यदि कोई तिर्यंच अथवा मनुष्य परभवकी मनुष्यायुका बंध करके सम्यग्दृष्टि

१—प्रभाचन्द्रटीका । २—निरुक्ति (सि० शा० पं० गौरीलाल जी) । ३—सम्यग्दर्शनलाभात्पूर्वं बद्धायुष्कान् विहाय अन्येन मव्रजन्ति-न प्राप्नुवन्ति ।

४—यत्सकृदेकमेव यथोक्तगुणतया संजातमशेषकल्मषधिषणतया नरकादिषु गतिषु, पुण्यवतामपि मनुष्याणां षट्सु तलपातालेषु ······न भवति संभूतिहेतुः । य० ति० आ० ६ । तथा "प्रथम नरकविन षट्भू ज्योतिष, आदि छहढाला ।

५—क्षपणप्रारम्भिककालात्पूर्वं तिर्यक्षु बद्धायुष्कोऽपि उत्कृष्टभोगभूमितिर्यक्पुरुषेष्वेवोत्पद्यते ध० सि० ।

बनता है और सम्यक्त्वसहित ही मृत्युको प्राप्त होता है तो वह भी भोगभूमिमें पुरुष ही हुआ करता है। देव और नारकियोंकी आयुके विषयमें अन्तर है। क्योंकि उनके मनुष्य और तिर्यग्आयुका ही बंध हुआ करता है। देव मरकर देव या नारकी नहीं हुआ करता उसी प्रकार नारकी मरकर नारकी या देव नहीं हुआ करता[1]।

किन्तु यहांपर आचार्य सम्यग्दृष्टिको नरक और तिर्यग्गतिमें जन्म ग्रहण करनेका सर्वथा निषेध कर रहे हैं। अतएव स्पष्ट है कि यह कथन अबद्धायुष्क जीवोंकी अपेक्षासे ही समझना चाहिये। और इसीलिये "सम्यग्दर्शनशुद्धाः" शब्दका अर्थ अबद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि ऐसा ही करना उचित संगत है। नारक-तिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि—नारक आदि चारों शब्दोंका इतरेतर समास करके भाव अर्थमें त्व प्रत्यय करनेपर नपुंसकलिंगके बहुवचनमें यह शब्द[2] बनता है। इतरेतर और समाहार द्वन्द्वमें जो विशेष्यविशेषणभावमें अन्तर पड़ता है उसका वर्णन पहले किया जा चुका है। तदनुसार यहांपर भी समझना चाहिये। शब्दोंका अर्थ इस प्रकार है—जिस जीवके नरक आयु और नरकगति नामकर्मका तथा कदाचित् नरक गत्यानुपूर्वी नाम कर्मका भी उदय पाया जाता है उसको नारक अथवा निरुक्तिभेदके अनुसार[3] नारत भी कहा जाता है। इस पर्यायके धारण करनेवाले जीवोंमें प्रायः सुखकी मात्रा नहीं पाई जाती इसलिये इनको नारक और इनके वहांके द्रव्य क्षेत्र काल भावमें अथवा परस्परमें स्नेहका भाव नहीं रहा करता इसलिये नारत भी कहा जाता है। क्योंकि नरक आयु आदि कर्मोंके उदयसे प्राप्त द्रव्य-व्यंजन पर्यायके धारक इन जीवोंको वहांकी शरीर एवं इन्द्रियोंकी विषयभूत द्रव्य सामग्रीमें तथा उत्पत्ति उठने बैठने घूमने आदिके क्षेत्रमें और अपने जीवनकाल एवं वेदना कषाय आदि भावोंमें अनुराग नहीं हुआ करता।

इस तरहसे इसपर्यायकी लब्धि आदिमें नरकायुका उदय मुख्य कारण है इसलिये उसके उदयसे युक्त जीवको नारक कहा जाता है। किन्तु जबतक उसका उदय नहीं हुआ है केवल उस आयुका बंधमात्र होजानेसे उसका अस्तित्व ही जिन जीवोंके पाया जाता है, उनको भी उपचारसे नारक कहा जा सकता है क्योंकि वह उस पर्यायको अवश्य ही प्राप्त करनेवाला है अत एव नैगमनयसे वह भी नारक ही है और वह वैसा कहा जा सकता है। फिर भी इस कथनकी यहां मुख्यता नहीं है। क्योंकि इस पर्यायके कारणभूत उस आयुकर्मका बंध मिथ्यात्व

१—नारकाणां सुराणां च विरुद्धः सक्रमो मिथः। नारको नहि देवः स्यान्न देवो नारको भवेत ॥१४४॥ त० सा०।

२—नारकश्च तिर्यक् च नपुंसकश्च स्त्री चेति नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रियः तेषां भावाः इति नारक-तिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।

३—न रं सुखं यत्र स नरकस्तत्र जाता नारकाः। नरान् कायति इति वा। न रता नरतास्तत्र भवा नारताः। ण रमंति जदो णिच्चं दव्वे खेत्ते य कालभावे य। अण्णोण्णेहिं य जह्मा तह्मा ते णारया भणिया ॥१४७॥ जी० का० दवा बदूनं १ गाथा नं० १२८

अवस्थामें और तीव्र संक्लेशके अवसरपर ही हुआ करता है। तद्वत् तिर्यगायुकर्मका बंध भी सासादन गुणस्थान तक ही संभव है। किन्तु यहांपर तो आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दर्शनशुद्ध जीव इन अवस्थाओंको प्राप्त ही नहीं हुआ करता अत एव यह कथन अबद्धायुष्क सम्यग्दृष्टिकी ही अपेक्षासे है ऐसा समझना चाहिए जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

तिर्यक्-शब्दका अर्थ भी नारक शब्दके समान ही समझलेना चाहिये। अर्थात् तिर्यगायु और तिर्यग्गति नामकर्मके उदय से तथा कदाचित् तिर्यग्गत्यानुपूर्वी नामकर्मके भी उदय से जन्य द्रव्यपर्यायके धारण करनेवाले जीवको तिर्यक् कहते हैं। किन्तु नैगम नयसे उन जीवों को भी तिर्यञ्च कहा जाता या कहा जा सकता है कि जिनके तिर्यगायुकर्मका बंध तो हो चुका है परन्तु अभीतक उसका उदय नहीं हुआ है, केवल उसकी सत्ता पाई जाती है। इस कर्मका बन्ध-सासादन गुणस्थानतक अर्थात् जहांतक अनन्तानुबन्धी कर्मका उदय पाया जाता है—उसकी व्युच्छित्ति नहीं हुई है, हुआ करता है। निरुक्तिके अनुसार इस शब्दका अर्थ होता है कि "तिरः अञ्चति इति तिर्यक्"। अर्थात् जो कुटिलताको प्राप्त हैं—मायाचारके द्वारा जिस अवस्थाकी प्राप्ति होती है और वर्तमानमें भी जो कुटिलताको धारण करनेवाले है, विपुलसंज्ञाओंसे पूर्ण, निकृष्ट अज्ञान तथा पापके बाहुल्यसे युक्त हैं उनको तिर्यञ्च समझना[1] चाहिये।

नपुंसक—न स्त्री न पुमान् इति नपुंसकः। इस निरुक्तिके अनुसार जो न स्त्री हो, न पुरुष ही-दोनों ही लिङ्गोंसे रहित है उसको नपुंसक[2] कहते हैं। इसके दो भेद हैं–एक द्रव्यलिङ्ग दूसरा भावलिङ्ग। आङ्गोपाङ्ग नाम कर्म विशेषके उदयसे जिसका शरीर स्तन योनी आदि स्त्रीके योग्य चिन्होंसे तथा मेहन स्मश्रु आदि पुरुष चिन्होंसे रहित होता है, उसको द्रव्य नपुंसकलिङ्ग कहते हैं। नपुंसक वेद नामकी नोकषायके उदयसे जिसके परिणाम पुरुषके साथ रमण करनेकी इच्छारूप स्त्रीवेद और स्त्रीके साथ रमण करनेकी अभिलाषारूप पुरुषवेदसरीखे न होकर दोनोंसे रहित विलक्षण ही हों उसको भाव नपुंसक समझना चाहिये। वेद और लिङ्ग पर्याय वाचकशब्द हैं। इसके योग्य कर्मका बंध प्रथम—मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही हुआ करता है, आगे नहीं।

इसीतरह स्त्रीशब्दका अर्थ समझना चाहिये। निरुक्तिके अनुसार स्तृणाति-स्वं परं वा दोषैराच्छादयति आवृणोति सा स्त्री, जो अपनेको और दूसरेको अनेक दोषोंसे आच्छादित करे उसको स्त्री कहते हैं। यह अर्थ प्रायोवादकी अपेक्षासे है। सिद्धान्तके अनुसार जो स्त्रीवेद

१—तिरयंति कुडिलभावं सुविउलसण्णा णिगिट्ठमण्णाणा। अच्चंतपावबहुला तह्मा तेरिच्छया भणिया ॥१४८॥ जी० का० षट्खं० १ गाथा नं० १२६ ॥

२—न स्त्री न पुमान् इति नपुंसकः ॥ णेवित्थी णेव पुमं णवुंसओ उभयलिंगवदिरित्तो। इट्ठावग्गिसमाणगवेयणगरुओ कलुसचित्तो ॥२७५॥ जी० का०। षट्खं० गाथा नं० १७२। खं० ६ पृ० ४७—जेसिमुदएण इट्ठावागग्गिसारिच्छेण दोसु वि आकंखा उप्पज्जइ तेसि णउंसगवेदोत्ति सण्णा ॥ तथापि...भावनपुंसक वदोऽस्तीति आचार्यस्य तात्पर्यं ज्ञातव्यम् ॥ जी० म० टी०।

नामक नोकषायके उदयसे एवं तदनुकूल आंगोपांग नामकर्मके उदयसे तथाविध चिन्हयुक्त शरीरको धारण करनेवाला है उस जीवको स्त्री समझना चाहिये। इस अवस्थाके योग्य कर्मका बन्ध दूसरे सासादन गुणस्थानसे आगे नहीं हुआ करता।

दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां—दुष्कुल आदि शब्दोंका द्वन्द्व समास करके भाव अर्थमें ता प्रत्यय करनेपर द्वितीयाके एकवचनमें यह शब्द बनता है। क्योंकि उपर्युक्त नारकादि शब्दकी तरह यह भी 'व्रजन्ति' क्रियाका कर्मपद है।

दुष्कुल शब्दका अर्थ होता है—दूषित कुल। यह गोत्रकर्म विशेषके उदयसे प्राप्त हुआ करता है। संतान क्रमसे चले आये जीवके आचरणको गोत्र कहते हैं। इसके दो भेद हैं—एक उच्च दूसरा नीच। जो लोकपूजित या लोगोंके द्वारा सम्मानित है उसको कहते हैं उच्चकुल और जो लोकगर्ह्य है अथवा जिसका आचरण उत्तम पुरुषोंके द्वारा सम्मानित न हो उसको कहते हैं नीचकुल। कुल वंश अन्वय ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं। जिस वंश में चलाआया आचरण किसी भी तरह दूषित या अप्रशस्त हो अथवा हो गया हो उसको दुष्कुल कहते हैं। जिन कुलोंमें सज्जातित्वके विरुद्ध आचरण प्रवर्तमान हो उन सभी कुलों को दुष्कुल समझना चाहिये। ध्यानमें रहना चाहिये कि इसतरहके आचरणसे यहां अभिप्राय किसी व्यक्तिके तात्कालिक एवं कादाचित्क आचरणसे नहीं किन्तु कुलक्रमागत आचरणसे है। साथ ही आचरणसे प्रयोजन उसके शरीरकी उत्पत्तिके सम्बन्धको लेकर मातृपक्ष तथा पितृपक्षकी शुद्धिसे है। जो मातृपक्ष अथवा पितृपक्ष असदाचारके कारण परम्परासे दूषित है वह दुष्कुल है। यद्यपि यह अर्थ मनुष्यगतिकी अपेक्षासे ही घटित होता है फिर भी इस शब्दसे देवदुर्गतिका भी अर्थ ग्रहण किया जा सकता है। क्योंकि यद्यपि सामान्यतया सभी देव उच्चकुली हैं क्योंकि सभीके उच्चगोत्र कर्मका ही उदय पायाजाता है। फिर भी सम्यक्त्व सहित जीव भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषियोंमें उत्पन्न नहीं हुआ करता[२]। फलतः देवोंके इन तीन निकायोंको तत्त्वतः देव दुर्गति शब्दसे कहा जा सकता है। अत एव देवगतिमें भी जो अप्रशस्त हैं उनका भी दुष्कुल शब्दसे ग्रहण किया जा सकता है। कारण यह कि यहांपर सम्यक्त्वसहित जीव किन-किन अवस्थाओं को प्राप्त नहीं होता यह बात आचार्य बतारहे है। जिससे श्रोताको यह बात मालुम हो सके कि सम्यग्दर्शनके होते ही इस जीवका संसार किस सीमातक समाप्त होजाता है और जबतक वह सम्यक्त्वसहित है, संसार में रहते हुए भी किन किन अवस्थाओंको प्राप्त नहीं किया करता और फलतः किन-किन अवस्थाओंको प्राप्त किया करता है।

१—छादयदि सयं दोसेण यदो छाददि परं वि दोसेण। छादणसीला जह्मा तह्मा सा वण्णिया इत्थी॥ २७४॥ जी० का०।

२—सम्यक्त्वं हि ……… अष्टविधेषु, व्यन्तरेषु दशविधेषु भवनवासिषु, पंचविधेषु ज्योतिष्केषु ……… न भवति संभूतिहेतुः॥ यश० आ० ६ पृ० २७२।

आगममें आयुकर्म पुण्य पापके भेदसे दो प्रकारका बताया है। एक नरक आयु पापकर्म है और शेप तीनों ही आयु पुण्य हैं। तद्वत् गतिकर्ममें नरक तिर्यक् दो गति पाप हैं और बाकी देव गति तथा मनुष्यगति दोनों पुण्य हैं। अवद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि नरक और तिर्यग्गतिको प्राप्त नहीं हुआ करता जैसाकि ऊपर कहागया है। किन्तु यदि इसतरहका कोई मनुष्य या तिर्यंच है तो वह देवायुका ही बन्ध किया करता है। यदि वह देव या नारक है तो वह मनुष्य आयुका ही बन्ध करता और वहींपर जन्म धारण किया करता है। देवोंमें उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दृष्टि जिसतरह भावनत्रिक देवदुर्गतिमें उत्पन्न नहीं हुआ करता उसीप्रकार मनुष्यगतिमें उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दृष्टि देव या नारक; अनार्य[1] असज्जातीय एवं अन्य दूषित मनुष्यकुलों में उत्पन्न नहीं हुआ करता।

मनुष्यगतिमें उत्पन्न होनेवाले जीव चार भेदोंमें विभक्त हैं। सामान्य, पर्याप्त, योनिमती और अपर्याप्त। सामान्य मनुष्योंके भी दो भेद हैं—एक आर्य दूसरे अनार्य। आर्य शब्दका अर्थ होता है—"गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्त इत्यार्याः[2]"। जिनको सम्यग्दर्शनादि गुण प्राप्त हो सकते हैं उनको आर्य और जिनको वे प्राप्त नहीं हो सकते उनको अनार्य कहते हैं। अनार्योंको म्लेच्छ भी कहते हैं यह 'आर्य म्लेच्छ व्यवस्था अनाद्यव्युच्छिन्नसंतानपरम्परा[3] पर निर्भर है। सम्यक्त्वसहित जीव मनुष्यगतिमें उत्पन्न होने पर आर्यकुलमें ही जन्म धारण किया करता है; अनार्य-म्लेच्छकुलमें नहीं। योनिमती और अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्तक सम्मूर्छन मनुष्योंमें भी सम्यक्त्वसहित जीव उत्पन्न नहीं हुआ करता किन्तु इनका वारण स्त्री नपुंसक अल्पायु शब्दों से होजाता है।

विकृत—यह शब्द "वि" उपसर्गपूर्वक "कृ" धातुसे "क्त" प्रत्यय होकर बनता है। कोपके अनुसार इसके बीभत्स निन्दित, मलिन, और रोगी आदि अर्थ हुआ करते हैं। श्रीप्रभाचन्द्रदेवने इसका अर्थ काण कुब्ज आदि किया है। यद्यपि इसका अर्थ करण इन्द्रियां और अन्तःकरण-मनसे विकल-रहित भी हो सकता है और इस अर्थके अनुसार एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियतककी सभी अवस्थाओंका निषेध किया जा सकता है। और वह ठीक भी है क्योंकि सम्यक्त्वसहित जीव स्थावरों विकलेन्द्रियों एवं असंज्ञियोंमें उत्पन्न नहीं हुआ करता। परन्तु इस अर्थ की यहां मुख्यता नहीं है। इसकेलिये ही इस शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है। क्योंकि तिर्यक् शब्दसे ही इन अवस्थाओंका ग्रहण होजाता है। अत एव उत्तमकुलमें उत्पन्न हुए मनुष्यके सम्बधमें ही इसका अर्थ करना उचित और संगत है। फलतः विशिष्ट अंग-उपांगोंसे हीन यद्वा अपूर्ण अंगोपांगसे युक्त अर्थ करना ही ठीक है। अर्थात् सम्यक्त्वसहित जीव मनुष्य

१—म्लेच्छ॥ २—सर्वार्थसिद्धि ३-३६। ३—सम्प्रदायाव्यवच्छेदादार्यम्लेच्छव्यवस्थितः। संतानेन विनिश्चेयात्तद्वद्भिर्व्यवहारिभिः ॥९॥
स्वयं संवेद्यमाना च गुणदोषनिबन्धना। कथंचिदनुमेया च तत्कार्यस्य विनिश्चयात् ॥ १० ॥ श्लो० वा० अ० ३ सू० ३७

गति-उत्तमकुलमें उत्पन्न होकर भी काणा अन्धा बहरा बूचा गूंगा नकटा टोंटा लूला लंगडा आदि नहीं हुआ करता।

अल्पायु—लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यकी आयु सामान्यतया अन्तर्मुहूर्त है। सम्यक्त्वसहित जीव उसको प्राप्त नहीं हुआ करता। इतना ही नहीं, अपितु पर्याप्त होकर भी दो चार अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही जीवित रहे अथवा गर्भस्राव गर्भपात आदिके द्वारा यद्वा स्तनन्धय एवं शैशव जैसी छोटी उम्रमें ही मरणको प्राप्त होजाय, ऐसा भी नहीं हुआ करता। सम्यग्दृष्टि जीवके बंधनेवाली शुभ दोनों आयुओंके स्थितिबंधकी दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो देवगति सम्बन्धी आयुमें आभियोग्योंके समान हीन स्थिति नहीं हुआ करती। शुभ आयुओंमें देव तथा मनुष्य आयुका बंध करनेवाले मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि मनुष्य एवं देवोंमें जो सम्यक्त्वसहित है, वह मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा आयुकी अधिक स्थितिका ही बंध किया करता है। अतएव इस शब्दका ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है कि—सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अल्प आयुको प्राप्त नहीं हुआ करता।

दरिद्रता—इस शब्दका लोकप्रसिद्ध अर्थ अर्थाभाव–पैसेकी कमी होता है। किन्तु श्रीप्रभाचंद्रदेवने इसका अर्थ दारिद्र्योपेत कुलमें उत्पत्ति बताया है। अतएव दरिद्रताका यहांपर व्यक्तिगत निर्धनता अर्थ न लेकर कुल क्रमागत निर्धनता अर्थ लेना ही अधिक उचित एवं संगत है।

चातुर्वर्ण्यव्यवस्थाके अनुसार आर्य पुरुषोंके लिये जो वंशानुक्रमसे पालन करने योग्य वार्ताकर्म बताया गया है वह प्रशस्त[1] है। इस तरहसे अपने वंशानुगत एवं प्रशस्त वार्ताकर्म करनेवाला व्यक्ति आर्थिक—साम्पत्तिक स्थितिमें अप्रशस्त कर्म द्वारा अधिक धनवान बन जाने वालोंकी अपेक्षा अल्प अल्पतर या अल्पतम होते हुए भी दरिद्र नहीं है। क्योंकि वह दारिद्र्योपेत कुलमें उत्पन्न नहीं हुआ है। इसके विरुद्ध वंशानुगत प्रशस्तकर्मा धनहीन व्यक्तिकी अपेक्षा जो कोई अन्यायानुगत अप्रशस्तकर्मके द्वारा अधिकाधिक धनवान हो गया है, तो वह वैसा बन जानेपर भी दरिद्र है। कारण यह कि यहां दरिद्रतासे प्रयोजन केवल धनके न होनेसे ही नहीं है। किन्तु धनसंचयके वंशानुगत एवं आगमविहित प्रशस्त साधनोंके विरुद्ध हिंसाकर्म दैन्यवृत्ति–कुलक्रमागत सेवा आदि अप्रशस्त एवं निम्न कोटिके साधनोंके द्वारा धनसंग्रह करना मुख्यतया गुणोंकी अपेक्षा दरिद्रताका परिचायक है। वंशपरम्परासे हिंसाकर्म–खटीक चाण्डालादिका धन्धा करनेवाले, मांस चर्म हड्डी आदिका विक्रय करनेवाले, मत्स्योत्पादन सरीखा निकृष्ट सावद्य कर्म करनेवाले, दस्युकर्म–लुटेरे तस्कर आदिका काम करनेवाले, वेश्यावृत्ति या भंडकर्म करनेवाले आदि अनेक मनुष्य निरतिशय एवं पापानुबंधी पुण्यके उदयसे बड़े-बड़े श्रीमन्त भी देखे जाते हैं। एतावता वह कर्म प्रशस्त नहीं माना जा सकता[2]। इस तरहके कर्म

१—सा० धा० १—११ में न्यायोपात्तधनः—एतदर्थः "स्वामिद्रोह मित्रद्रोह विश्वसितवंचनचौर्यादिगर्ह्यार्थोपार्जनपरिहारेणार्थोपार्जनोपायभूतः स्वस्वपवर्णानुरूपः सदाचारः न्यायः।

२—यहांपर यह एक सुभाषित स्मरणीय है—निरक्षरे वीक्ष्य महाधनित्वं विद्यानवद्या विदुषा न हेया।
रत्नावतंसाः कुलटाः समीक्ष्य किमार्यनार्यः कुलटा भवन्ति॥

जिन कुलोंमें परम्परासे चले आते हैं उन्हें दारिद्र्योपेत ही समझना चाहिये। इस तरहके कुलमें सम्यक्त्वसहित जीव उत्पन्न नहीं हुआ करता। धन वही प्रशंसनीय माना जा सकता है, जिसका क अर्जन कमसे कम महापापरूप—संकल्पी हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रहसे युक्त साधनके द्वारा न होता हो और जो विहित कर्मोंके अविरुद्ध हो तथा वर्णसंकरता आदिके द्वारा राष्ट्र हितका तथा परिणामोंकी विशुद्धता एवं उदात्तताका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपमें घातक न हो। जो इस लोकमें निंद्य और परलोकमें यथासंभव कल्याणका बाधक न हो। मतलब यह कि—सम्यग्दृष्टि जीवकी मानसिक एवं आध्यात्मिक विशुद्धिकी अपूर्वताके कारण अन्तरंग वासनाओंका संस्कार भी अपूर्व ही प्रशस्तताको धारण कर लिया करता है; अतएव वह उसके विरुद्ध अप्रशस्त संस्कारों से युक्त सामाजिक कुलोंको अपना जन्मक्षेत्र नहीं बनाया करता।

अव्रतिकाः।—व्रतमस्ति येषां ते व्रतिनः। न व्रतिनः अव्रतिनः। त एव अव्रतिकाः। अथवा व्रतमस्ति येषु ते व्रतिकाः, न व्रतिका अव्रतिकाः। यहांपर "क" प्रत्यय जो की गई है उससे स्वार्थ तथा कुत्सा, अनुकम्पा, अल्प, ह्रस्व, अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं[1]।

इस निरुक्तिके अनुसार जो व्रतरहित हैं वे सब अव्रतिक हैं। यह "सम्यग्दर्शनशुद्धाः" का विशेषण पद है। दोनों पदोंको मिलाकर चतुर्थ गुण स्थानवर्ती—अव्रतसम्यग्दृष्टि अर्थ होता है। यदि यह विशेषण न देकर केवल सम्यग्दर्शनशुद्धाः इतना ही कह दिया जाता तो उससे केवल चतुर्थ गुणस्थानवर्तीका ही नहीं, देशसंयमी, सकलसंयमी और सिद्धोंतकका भी ग्रहण हो सकता था। परन्तु उन सबका यहांपर ग्रहण करना अभीष्ट नहीं है। अतएव उनका वारण करने के लिये यह विशेषण दिया गया है। केवल यदि अव्रतिकाः ही कहा जाता तो उससे नीचेके प्रथम मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थानवर्तियोंका भी ग्रहण हो सकता था। अतः उनका वारण करनेके लिये सम्यग्दर्शनशुद्धाः ऐसा कहा गया है। दोनों पदोंका मिलाकर व्रतरहित किन्तु निर्मल सम्यग्दर्शनसे युक्त इस तरहका अथवा किसी भी संयम—देशसंयम तथा सकलसंयमसे रहित अबद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि ऐसा अर्थ होता है।

अपि (भी) शब्द प्रकृत अभिप्रेत अर्थको दृढ करता है। जिससे मालुम होता है कि विना किसी व्रतसम्बन्धके ही केवल सम्यक्त्वकी निर्मलता ही जब इतने संसार और उसके कारणोंका उच्छेद करनेमें समर्थ है, तब व्रतसम्बन्धको पाकर तो वह क्या नहीं कर सकती। अर्थात् सम्पूर्ण संसारका सहज ही वह निर्मूल विनाश कर सकती है।

व्रजन्ति—व्रज क्रियाका अर्थ प्राप्ति होता है। "न" यह निषेधार्थक है।

तात्पर्य—यह कि सम्यग्दर्शनके उत्पन्न हो जानेपर जीवकी दो अवस्थाएं पाई जा सकती हैं। १ बद्धायुष्क, २ अबद्धायुष्क। एक आयुकर्मको छोड़कर शेष सातों ही कर्मोंका बन्ध संसारी जीवके प्रतिक्षण होता रहता है। आयुकर्मका बन्ध त्रिभागके समय ही हुआ

१—सि० कौ० पृ० ३०१, ३०६।

करता[1] है। इस तरहके त्रिभाग काल भुज्यमान आयु स्थितिके भीतर आठ बार आते हैं। यदि इनमेंसे किसी भी त्रिभाग कालमें आयुका बन्ध न हो तो फिर आयुके अन्तिम अन्तर्मूहूर्तकालके पहले असंक्षेपाद्धा कालमे उसका बन्ध अवश्य हुआ करता है। जिस आयुका बन्ध हो जाता है उस गतिमें उस जीवको अवश्य ही जाना पड़ता है। हां, आयुकर्मका बन्ध होजानेपर उसकी स्थितिमें जीवके परिवर्तित परिणामोंके अनुसार उत्कर्षण अपकर्षण हो सकता है।

सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेके पूर्व यदि उस जीवके किसी भी आयुका बन्ध नहीं हुआ है तो वह अबद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि है। यदि किसी भी आयुका बन्ध होगया है तो वह बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि है। ध्यान रहे—आयुकर्मके चार भेद हैं। उनमेंसे परभवके योग्य किसी भी एक ही आयुका एक भवमें बन्ध होता है। इस तरहसे किसी भी संसारी जीवके कमसे कम एक भुज्यमान आयुका और अधिकसे अधिक परभवके योग्य किसी भी एक आयुका बन्ध होजानेपर दो आयुकर्मका अस्तित्व एक समयमें पाया जा सकता है।

अबद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि जीव यदि मनुष्य या तिर्यंच है तो वह देवायुका ही बन्ध किया करता है और यदि वह देव या नारक है तो मनुष्य आयुका ही बन्ध किया करता है। प्रकृत कारिकामें जो वर्णन है, वह अबद्धायुष्क सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षासे है। यह बात ऊपर कही जा चुकी है। फिर भी बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टिके विषयमें यह समझ लेना आवश्यक है कि यदि उसने नरक आयुका बन्ध किया हो तो उसकी स्थिति सम्यक्त्वके प्रभावसे घटकर पहले नरकके योग्य ही रह जाती है और इसीलिये ऐसा सम्यक्त्वसहित जीव श्रेणिककी तरह प्रथम नरकसे आगे उत्पन्न नहीं हुआ करता। तिर्यगायुका या मनुष्य आयुका बन्ध करके सम्यक्त्वको प्राप्त करनेवाला मनुष्य या तिर्यंच मरकर भोगभूमिमें तिर्यक्पुरुष अथवा मनुष्य पुरुष ही हुआ करता है। यह भी सम्यक्त्वका ही माहात्म्य है।

वास्तवमें सम्यक्त्व बन्धका कारण नहीं है। वह तो संसारोच्छेदका ही कारण है। सम्यग्दृष्टि जीवके जो बन्ध होता है, उसके कारण मिथ्यादर्शनसे अवशिष्ट अविरति प्रमाद कषाय भाव हैं। यहांपर भी यह नहीं बताया है कि उसके अमुक अमुक कर्मका बन्ध हुआ करता है। जिन जिन अवस्थाओंको वह प्राप्त नहीं किया करता उनका ही उल्लेख करके उन अवस्थाओंके योग्य कारणरूप जिन जिन कर्मोंका बन्ध वह नहीं किया करता उसका ही दिग्दर्शन कराया गया है।

प्रश्न यह हो सकता है कि अनेक कर्मप्रकृतियोंके यथा तीर्थंकर और आहारक शरीर एवं आहारक आङ्गोपाङ्गके बन्धका कारण तथा अनेकों पापप्रकृतियोंकी स्थिति अनुभागशक्तिके

१—लेस्साणं खलु अंसा छव्वीसा हुंति तत्थ मज्झिमया । [illegible]
॥५१८॥ जी० का०।

अपकर्ष एवं विवक्षित पुण्यप्रकृतियोंकी स्थिति और अनुभागशक्तिके उत्कर्षका कारण आगममें सम्यग्दर्शनको ही बताया है। फिर यह किस तरह कहा जासकता है कि सम्यक्त्व बन्धका कारण नहीं है। किन्तु इसका उत्तर पहले दिया जा चुका है कि जहांपर उसको बन्धका कारण बताया गया है वहां उसका आशय सम्यक्त्वसहचारी उन भावोंसे है जो कि अशुभ कषायोंकी मन्दता विशेष तथा शुभकषाय विशेषरूप उदयसे होनेवाले है। क्योंकि सम्यग्दर्शनके होनेपर बन्धके कारणोंमेंसे मिथ्यात्वके हट जानेपर भी जब तक शेष अविरति आदि कषायजन्य भाव अथवा कोई भी सकषाय परिणति बनी हुई है तबतक उनका कार्य भी यथायोग्य होता ही रहता है। ज्यों ज्यों जीवके पुरुषार्थके फलस्वरूप वे कारणरूप भाव छूटते जाते हैं त्यों त्यों आगे आगे उन कर्मोंका बन्ध भी छूटता जाता और संवर तथा निर्जराकी सिद्धिमें भी वृद्धि होती जाती है। किन्तु सिद्धान्त रूपसे यह असम्भव है, कि जो मुक्तिका कारण है वही बन्धका भी कारण हो।

यद्यपि यहां पर आचार्यने नारक आदि आठ अवस्थाओंका ही नाम गिनाया है फिर भी उनके सहचारी कर्मोंका भी इसीसे ग्रहण किया जा सकता है। अतएव सम्यक्त्वके होजानेपर जिन ४१ कर्मप्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति आगममें बताई है, उन सभीका यहांपर ग्रहण कर लेना चाहिये और इन्हीं आठमें उन शेष सभीका अन्तर्भाव समझ लेना चाहिये।

सम्यग्दर्शनके होने पर १६ और २५ इस तरह मिलाकर कुल ४१ प्रकृतियोंका बन्ध छूट जाता है। उनमेंसे मिथ्यात्वके उदय तक ही जिनका बन्ध होता है, उसके आगे द्वितीयादि गुणस्थानोंमें जिनका बन्ध न होकर संवर होता है, वे १६ कर्मप्रकृतियां ये हैं—१ मिथ्यात्व, २ हुंडकसंस्थान, ३ नपुंसकवेद, ४ असंप्राप्तासृपटिक संहनन, ५ एकेन्द्रिय, ६ द्वीन्द्रिय, ७ त्रीन्द्रिय, ८ चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावर नामकर्म, १० आतप, ११ सूक्ष्म, १२ अपर्याप्त, १३ साधारण, १४ नरकगति, १५ नरकगत्यानुपूर्वी, और १६ नरक आयु। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषायके उदयके निमित्तसे जिनका द्वितीय गुणस्थान—सासादान तक ही बन्ध पाया जाता और उसके ऊपर संवर हो जाया करता है उन २५ प्रकृतियोंके नाम इस प्रकार हैं—अनन्तानुबन्धी, १ क्रोध, २ मान, ३ माया, ४ लोभ, ५ स्त्यानगृद्धि, ६ निद्रानिद्रा, ७ प्रचलाप्रचला, ८ दुर्भग, ९ दुःस्वर, १० अनादेय, ११ न्यग्रोध संस्थान, १२ स्वाति सं०, १३ कुब्जक सं० १४ वामन सं० १५ वज्रनाराच सं०, १६ नाराचसं०, १७ अर्धनाराच सं०, १८ कीलक सं०, १९ अप्रशस्त विहायोगति, २० स्त्री वेद, २१ नीचगोत्र, २२ तिर्यग्गति, २३ तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, २४ तिर्यगायु, २५ उद्योत।

इन सब कर्मोंके नामोंको देखकर मालुम हो जा सकता है कि जो अबद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि है वह नरक और तिर्यग्गतिमें तो उत्पन्न नहीं ही होता कदाचित् मनुष्यगतिमें जन्म धारण करे तो वह नपुंसक, स्त्री, नीच कुली, विकृत—हुंडक आदि संस्थानोंसे युक्त, अल्पायु और दरिद्र नहीं हुआ करता। जो बद्धायुष्क है वह भी यथायोग्य इन बन्धव्युच्छिन्न प्रकृतियोंके अनुसार निकृष्ट स्थानोंको प्राप्त नहीं हुआ करता।

व्याकरणके द्वन्द्वसमास प्रकरणमें चार प्रकारका चार्थ बताया गया है यथा–समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतर और समाहार। इनमेंसे अन्तिम दो अर्थोंके अवसरपर तो द्वन्द्व समास होता है किन्तु प्रथम दो प्रसङ्गोंमें प्रयुक्त अनेक शब्दोंका समास न होकर केवल वाक्यका ही प्रयोग हुआ करता है। जिस वाक्यमें प्रयुक्त अनेक पद परस्परमें निरपेक्ष रहकर किसी क्रियाके साथ समानरूपसे अन्वित हों वहां समुच्चय और जहांपर उनमेंसे किसी एककी मुख्यता और दूसरेकी गौणता विवक्षित हो वहां अन्वाचय चार्थ माना जाता है। उदाहरणार्थ "देवं गुरुं च भजस्व" यहांपर समुच्चय और "भिक्षामट गां चानय" यहांपर अन्वाचय चार्थ माना गया है।

मालुम होता है कि ग्रन्थकार ने प्रकृत कारिकामें "च" शब्दका प्रयोग अन्वाचय अर्थमें किया है। क्योंकि विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वार्धमें कथित विषयोंका निषेध मुख्य और उत्तरार्धमें कथित चारों विषयोंका निषेध गौण है। गौण कहनेका अर्थ यह नहीं है कि वह सम्यग्दृष्टि जिसके कि महत्त्वका यहां वर्णन किया जा रहा है कदाचित् इन दुष्कुल आदि चार अवस्थाओंको प्राप्त कर लिया करता या कर सकता है। किन्तु इसका आशय इतना ही है कि अवद्धायुष्क सम्यग्दृष्टिके जिस तरह उसकी बन्धव्युच्छिन्न प्रकृतियोंमें नारक और तिर्यगायुको गिनाया गया है उस तरह मनुष्य आयुको नहीं। अतएव आगमके अनुसार सिद्ध है कि वह मनुष्य आयुका बन्ध करके मनुष्यगतिमें उत्पन्न हो सकता है। किन्तु नरकगति और तिर्यगगति को तो वह सर्वथा प्राप्त नहीं कर सकता।

यद्यपि आगममें सम्यक्त्वको—सम्यग्दृष्टिके परिणामविशेषोंको देव आयुके ही बंधका कारण बताया[1] है। किन्तु यह कथन मनुष्य और तिर्यंचोंकी अपेक्षासे ही है। देव और नारक यदि अवद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि हैं तो वे मनुष्य आयुका ही बंध किया करते हैं। अतएव दुष्कुल आदि वाक्यके द्वारा जो निषेध किया गया है, वह गौण है। मालुम होता है कि ग्रन्थकार इस तरहसे अन्वाचयरूप चार्थके द्वारा निषेधके विषयमें बतलाना चाहते हैं कि—अवद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि जिस तरह नरक और तिर्यग् गतिको सामान्यरूपमें भी प्राप्त नहीं किया करता; क्योंकि उसकी कारणभूत कर्मप्रकृतियों का उसके मूलमें बन्ध नहीं हुआ करता; उस तरहसे मनुष्य गतिके विषयमें नहीं है। वह तद्योग्य कर्मोंका बन्ध करके मनुष्यगतिको तो प्राप्त कर सकता है परन्तु हां! उसमें वह दुष्कुल आदि कथित निम्न अवस्थाओंको प्राप्त नहीं किया करता। अतएव जिस तरह नरक तिर्यग्गति सामान्यतया निषिद्ध हैं उस तरह मनुष्यगति सामान्यतया निषिद्ध नहीं है। मनुष्यगतिका तो कुछ अवान्तर विशेष अवस्थाएं निषिद्ध हैं। तात्पर्य यह कि—मनुष्यगतिकी तो वह कथित दुष्कुल आदि अप्रशस्त अवस्थाओंको प्राप्त नहीं होता। फिर वह मनुष्यगतिमें किस-किस तरहकी अवस्थाओंको धारण किया करता है? तो यह बात आगेकी कारिकामें कही जायगी, उससे इस प्रश्नका समाधान हो जायगा।

१—तत्त्वार्थ सूत्र अ० ६ सूत्र नं० २१

यहां तो केवल निषेध्य अवस्थाओंको ही आचार्य बता रहे हैं, जिससे मालुम हो सके कि सम्यग्दर्शनके प्रकट होते ही इस जीवका दुःखमय और पापप्रचुर संसार किस तरह समाप्तप्राय हो जाता है और उसके कारण भी किस तरह व कहांतक निर्मूल हो जाया करते है। तथा अनन्तानन्त संसार किस तरह सावधिक बन जाया करता है।

अव्रतिक शब्दका अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है। उससे यह तो स्पष्ट ही है कि इस शब्द का प्रयोग चतुर्थगुणस्थानवर्ती असंयत् सम्यग्दृष्टिके लिये किया गया है। आगम[1] में कहा गया है कि जो न तो इन्द्रियोंके विषयोंसे विरत है और न त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरत है। परन्तु जो जिनोक्त विषयोंका श्रद्धान करनेवाला है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है। इस लक्षणमें चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टिके लिये जो इन्द्रिय संयम और प्राणासंयमसे विरत न होनेकी बात कही गई है उपरसे तत्त्वस्वरूप और आगमके रहस्यसे अनभिज्ञ कुछ लोग ऐसा समझ बैठते है कि इस असंयत सम्यग्दृष्टिकी प्रवृत्तियोंमें और मिथ्यादृष्टियोंकी प्रवृत्तियोंमें कोई अन्तर नहीं है। वह अनर्गल प्रवृत्ति करते हुए भी सम्यक्त्वसे युक्त रहता है, अथवा रह सकता है। परन्तु यह बात नहीं है। वास्तविक बात यह है कि--मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टिकी चेष्टाओंमें अद्भुत अपूर्वता पाई जाती है। जिस तरह आगमोक्त लक्षण वाक्यमें "अपि" शब्दका प्रयोग किया गया है। उसी तरह यहांपर ग्रन्थकर्त्ताने भी अपि शब्दका प्रयोग किया है इसलिये इस "अपि" का अर्थ भी वैसा ही किया जा सकता है अथवा वैसाही समझना अनुचित न होगा जैसाकि लक्षणगत "अपि" शब्दका आशय उसके टीकाकारोंने किया है। जीवकाण्डकी जीवप्रबोधिनी टीकामें इस "अपि" शब्दसे सम्यग्दृष्टिके संवेगादि गुणों और अनुकम्पाभावको सूचित किया है। तथा मन्दप्रबोधिनी टीकाके वर्तान लिखा है कि—सम्यग्दृष्टि जीवके अनुकम्पा आदि गुणोंका सद्भाव पाया जाता है इसलिये वह निरपराध हिंसा नहीं किया करता। पंडित टोडरमल जी सा० ने भी लिखा है कि "कोऊ जानेगा कि विषयनिविषैं अविरति है तातें विषयानुरागी बहुत होगा सो नहीं है, सवेगादिगुण संयुक्त है। बहुरि हिंसादि विषैं अविरती है तातैं निर्दयी होगा सो नहीं है, दयाभाव संयुक्त है।"

तात्पर्य इतना ही है कि—असंयत सम्यग्दृष्टिकी अविरतिका अर्थ पंचमादिगुण स्थानोंमें सम्भव देशव्रत अथवा महाव्रतोंका न पाया जाना ही है। उसका यह आशय कदापि नहीं है कि उसकी प्रवृत्ति अनर्गल हुआ करती है। वह पंचेन्द्रियोंके अन्यायपूर्ण विषय—पर स्त्री-सेवन, वेश्यागमन, मद्य मांस मधुका भक्षण संकल्पी हिंसा झूठ चोरी आदि दुष्कर्म तथा बहु आरम्भ परिग्रहका धारण, अवर्णवाद, देवशास्त्र गुरु तत्त्वस्वरूप आदिके विषयमें विश्वासघात—वंचकना आदि करते हुए भी वह सम्यक्त्वसहित रह सकता है, ऐसा यदि कोई समझे तो यह ठीक

१—णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि ॥ जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ २९ ॥ जी० कांड

नहीं है। यही बात अपि शब्दके द्वारा यहां सूचित होती है कि—यद्यपि वह देशव्रत या महाव्रतसे युक्त नहीं है फिर भी इन आठ अवस्थाओंको प्राप्त नहीं किया करता। मतलब यह कि वह ऐसा कोई काम नहीं करता और न अन्तरंगमें उसके उन कामोंके करनेका भाव ही हुआ करता है जिनके कि करनेसे उपर्युक्त १६+२५=४१ बन्धव्युच्छित्तिके योग्य कर्म प्रकृतियोंका आस्रव एवं बंधका होना माना गया है और जिनका कि इस कारिकोक्त आठ विषयोंमें संक्षेपसे अन्तर्भाव होजाता है।

आगममें किन किन कामोंके करनेसे कौन कौनसे कर्मका आस्रव होता है यह बताया गया है, वहांसे यह जाना जा सकता है कि—इन आठ विषयोंके कारणभूत और इनमें जिनका अन्तर्भाव होजाता है तथा इनसे जिन जिनका सम्बन्ध पाया जाता है उन ४१ कर्मोंके आस्रव एवं बन्धकी कारणभूत प्रवृत्तियां कौन कौनसी हैं।

यद्यपि ग्रन्थविस्तारके भयसे उन सभी आस्रव एवं बन्धकी कारणभूत प्रवृत्तियोंका यहां वर्णन नहीं किया जा सकता। फिर भी प्रकरणगत विषयोंसे सम्बन्धित कर्मोंके आस्रवकी कारणभूत क्रियाओंका उदाहरणरूपमें कुछ उल्लेख करते हुए दिग्दर्शन करादेना उचित और आवश्यक प्रतीत होता है।

अरिहंत परमेष्ठी, तीर्थंकर भगवान्, उनकी दिव्यदेशना, उनके उपदेशका अर्थावधारण करके ऋद्धिधारी गणधर देवके द्वारा शब्दरूपमें रचित द्वादशाङ्गश्रुत, उससे अविरुद्ध अथवा उसीके आधारपर अन्य आरातीय आचार्योंके द्वारा निर्मित आगम ग्रन्थ, उनके उपदिष्ट मोक्ष मार्गका पालन करनेवाले मुनि आर्यिका श्रावक श्राविकाका चतुर्विध संघ, निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गरूप धर्म, और धर्मके फलके विषयमें असद्भूत दोष लगानेसे दर्शनमोहनीय—मिथ्यात्वकर्मका आस्रव हुआ करता है। तथा उत्सूत्र भाषण करने और मार्गको सदोष बतानेसे भी उसका आस्रव हुआ करता है। स्पष्ट है कि—ये क्रियाएं प्रथम गुणस्थानमें ही सम्भव हैं। क्योंकि उसके ऊपर दर्शनमोहकी बन्धव्युच्छित्ति हो जानेसे उसका आस्रव न होकर संवर ही पाया जाता है। फलतः जो चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि हैं उनके ये क्रियाएं नहीं पाई जाती हैं तो निश्चय ही वह अन्तरंगमें मिथ्यादृष्टि हैं। इसी तरह शिलाभेद समान क्रोध आदि जिस तीव्रकषायके उदयसे सद्धर्मके, समीचीनतत्त्वके, आयतनोंके विरोध, अवहेलना, जुगुप्सा आदि करने कराने आदिमें प्रवृत्ति हुआ करती है उनसे अनन्तानुबन्धी कर्मका आस्रव हुआ करता है। इन दोनों भावोंसे प्रयुक्त प्रवृत्तियोंके रहते हुए जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हैं यह निश्चित समझना चाहिए। जहांपर ये नहीं हैं वहींपर सम्यग्दर्शनका अस्तित्व माना जा सकता है। और जो वास्तवमें सम्यग्दृष्टि हैं उनके ही माहात्म्यका वर्णन यहांपर किया गया है कि वे नरकादि अवस्थाओंको प्राप्त नहीं किया करते। इससे सिद्ध होता है कि इस कारिकामें कहे गये माहात्म्यकी पात्रताके अधिकरणभूत वे सम्यग्दृष्टि जीव ही माने जा सकते हैं जिनका कि सम्यग्दर्शन उक्त सम्यक्त्वविरोधी परिणतियोंकी उपरतिद्वारा प्रमाणित है।

इसी तरह नारकत्व आदिके विषयमें समझना चाहिये—उत्कृष्ट—तीव्रमान, शिलाभेदसमान रोष, मिथ्यात्व, तीव्रलोभ, सतत निर्दयता और जीवघातकता, निरंतर मिथ्या भाषण, परस्वापहरणमें नित्य प्रवृत्ति, सदा मैथुन सेवन, कामभोगाभिलाषाओंकी तीव्र गृद्धिका भाव प्रति समय बने रहना, जिन भगवानकी आसादना, साध्वाचारका विनाश, हिंसक पशुपक्षियों आदिका पालन पोषण, निःशीलता, महान आरंभ और परिग्रह, कृष्णलेश्यारूप परिणत चतुर्विध रौद्रध्यान, युद्धमें मरने और पाप निमित्तक आहारमें अभिरुचि, स्थिर वैर, क्रूरकर्मोंमें प्रसन्नता, धर्मसे द्वेष और अधर्मसे संतोष, साधुओंको दोष लगाना—उनसे मात्सर्य रखना, तथा निष्कारण रोष करना उनकी हत्या करना, मद्यपान, मांसभक्षण, मधुका सेवन आदि अनेक दुष्कर्मोंके करनेवाले, करानेवाले अथवा अनुमोदना करनेवाले हैं उनके नरक आयु नरकगति नरकगत्यानुपूर्वी कर्मोंका बन्ध हुआ करता है।

मिथ्यात्वयुक्त अधर्मका उपदेश देना, महान् आरम्भ करना परिग्रह रखना तथा उनके लिये ठगई करना, कूटकर्म पृथ्वीभेदसमान रोष निःशीलता आदिके विषयमें दूसरेके साथ शाब्दिक अथवा चेष्टा द्वारा वंचकतापूर्ण प्रवृत्ति करना, माया प्रचुरकार्योंमें अत्यासक्ति रखना, फूट डालना डलवाना, अनर्थ करना कराना, वर्ण गंध रस स्पर्शमें परिवर्तन करके उनका विक्रय आदि[1] करना कराना, जातिशीलता कुलशीलता एवं सदाचारमें दूषण लगाना लगवाना विसंवाद करना, ढोंगी जीवन बिताना, दूसरेके सद्गुणोंका उच्छेद और अपने असद्गुणोंका ख्यापन करना कराना, नील और कपोतलेश्याके परिणामोंसे आर्तध्यान और वैसे परिणामोंसे मरण होना, इत्यादि और भी अनेक ऐसे कार्य करना जिनमें कि तीव्र माया परिणामोंका सम्बन्ध पाया जाता है, तिर्यग्भवके कारण हैं। ऐसे कृत्योंसे तिर्यगायु तिर्यग्गति और तिर्यग्गत्यानुपूर्वी कर्मोंका आस्रव हुआ करता है।

प्रचुर क्रोध मान माया लोभ रूप परिणामोंके द्वारा गुह्येन्द्रियका व्यपरोपण—घात[2] करना, स्त्री या पुरुषका अनङ्गक्रीडासम्बन्धी व्यसन, शील व्रत गुणोंके धारण और दीक्षाग्रहणका विरोध करना, दूसरेकी स्त्रीका अपहरण उसके साथ उस पर आक्रमण, उसके साथ बलात्कार आदि करना और तीव्र अनाचार आदिके कारण नपुंसक वेदकर्मका आस्रव होता है।

प्रकृष्ट क्रोध परिणाम, और अत्यन्त अभिमानमें रहना, ईर्ष्यापूर्ण व्यापार करना, झूठ बोलनेका स्वभाव, भोगोपभोगमें अत्यासक्ति, बढते हुए रागके द्वारा पराङ्गनागमन, प्रेम तथा

१—कृत्रिमागुरुकर्पूरकुङ्कुमोत्पादनं तथा। तथा मानतुलादीनां कूटादीनां प्रवर्तनम् ॥३६॥ सुवर्णमौक्तिकादीनां प्रतिरूपकनिर्मितिः। वर्णगंधरसादीनामन्यथापादनं तथा ॥ ३७ ॥ तक्रक्षीरघृतादीनामन्यद्रव्यविमिश्रणम्। वाचान्यदुक्त्वा करणमन्यस्य क्रियया तथा ॥ ३८ ॥ त० सा०। अ ४ ॥

२—यथा गायके बछड़ोंको बधिया करना कराना आदि।

रुचिपूर्वक स्त्रियोंके सुन्दर अंगोपांगका अवलोकन करना एवं उनके सेवनकी भावना आदि रखनेसे स्त्रीवेद कर्मका आस्रव या बन्ध हुआ करता है।

परनिंदा, आत्मप्रशंसा, दूसरोंके सद्भूत गुणोंको ढकना—दबाना और अपने असद्भूत गुणोंको प्रकाशित करना, अपने ज्ञान पूज्यता कुल जाति आदिके निमित्तसे दूसरेका तिरस्कार करने, उपहास करने, निंदा करने, आदिका स्वभाव, धार्मिक पुरुषोंकी निन्दा अवहेलना करना, दूसरेके यशका घात करना, अपकीर्ति करना, गुरुजनोंका परिभव करना, उनके प्रशस्त गुणोंमें भी दोष लगाना, अन्य तरहसे भी अपमान करना, उनकी भर्त्सना करना, अथवा उनका अंजलि—हाथ न जोड़ना, स्तुति अभिवादन अभ्युत्थानादि न करना, इत्यादि प्रवृत्तियोंके द्वारा नीचगोत्रकर्मका आस्रव हुआ करता है।

किसीके भी अंगोपांगोंका छिन्न भिन्न करना, विकारी बनाना या दोष लगाने आदिसे विकृत काण कुब्ज आदि अवस्थाके कारणभूत कर्मोंका आस्रव हुआ करता है। अथवा द्वादश मिथ्योपपादकी निमित्तभूत क्रियाओंसे भी इस तरहके कर्मोंका आस्रव एवं बन्ध हुआ करता है।

आगममें जीवस्थानोंके अन्तर्गत १४ जीव समास भी गिनाये हैं। और वे कई प्रकारसे बताये गये हैं। उनमें एक प्रकार यह है १—बादर[1] २—सूक्ष्म एकेन्द्रिय ३ द्वीन्द्रिय ४ त्रीन्द्रिय ५ चतुरिन्द्रिय ६ असंज्ञि पंचेन्द्रिय और ७ संज्ञी पंचेन्द्रिय। इनके पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे १४ जीव समास हुआ करते हैं। सम्यक्त्वसहित जीव इनमेंसे संज्ञी पंचेन्द्रियके पर्याप्त अपर्याप्त (निर्वृत्यपर्याप्त) इन दो भेदोंको ही प्राप्त किया करता है। बाकी १२ स्थानोंको वह प्राप्त नहीं करता। उनको मिथ्यादृष्टि ही प्राप्त किया करता है। अतएव इन १२ स्थानोंको मिथ्योपपाद कहा जाता है। ये स्थान विकल—इन्द्रिय और मनसे रहित हैं अतः ये भी विकृत ही हैं। इनके कारणभूत कर्मोंका आस्रव भी सम्यग्दृष्टिके नहीं हुआ करता।

हिंसा-निर्दयताके परिणामोंसे शुभ आयुकी स्थितिमें अल्पता अथवा अपवर्त्यता और पाप-नरक आयुकी स्थितिमें अधिकता उत्पन्न हुआ करती है। ऊपर जैसा कि कथन किया गया है ये सम्यग्दृष्टिको प्राप्त नहीं हुआ करतीं।

दरिद्रताका कारण असातावेदनीय अथवा मुख्यतया अन्तराय कर्मका उदय है। अन्तराय कर्मके बन्धके कारण सामान्यतया इस प्रकार हैं—

ज्ञानका प्रतिषेध, किसीके सत्कारको न होने देना, तथा दान लाभ भोग उपभोग वीर्यमें विघ्न करना, स्नान अनुलेपन गन्ध माला वस्त्र भूषण शयनासन भक्ष्य भोज्य लेह्य पेय आदि भोगोपभोगमें विघ्न उपस्थित करना, वैभव सम्पत्ति समृद्धि आदिमें विस्मय तथा द्रव्यमें ममत्व का त्याग न करना, दूसरेको द्रव्यका समर्पण न करना और उसका अदत्ति अथवा अपहरणादि

१—बादरसुहुमं इंदिय वि ति चउरिंदिय असण्णिसण्णीय। पज्जत्तापज्जत्ता एव ते चोद्दसा होंति॥

का समर्थन करना, कन्या आदिमें दूषण लगाना, देवद्रव्य ग्रहण करना, निरवद्य उपकरणोंका त्याग, परके वीर्यका अपहरण, धर्ममें विच्छेद, कुशल आचार तपस्वी गुरु चैत्यकी पूजामें व्याघात, दीक्षित अथवा दयनीय दीन अनाथ यद्वा सत्पात्रोंको आश्रय आदिके दानका प्रतिषेध, दूसरे व्यक्तियोंको रोककर रखना बांधना पीटना उसके गुह्यांगका छेदन, नाक कान ओठ आदिका कतरना, प्राणिवध करना, इत्यादि प्रमादपूर्वक और दुर्भावनासे किये गये सभी विघ्न उपस्थित करनेवाले कार्य अन्तरायके बन्धमें कारण हैं। इसी तरह असाता वेदनीय के बन्धमें जो कारण हैं उनको भी दरिद्रताका अन्तरंग कारण समझना चाहिये।

यहां पर यह ध्यान रखना योग्य है कि यद्यपि उक्त ४१ कर्मोंके सिवाय अन्य कर्मोंका सामान्यतया बन्ध सम्यग्दृष्टि जीवके भी हुआ करता है और उनके बन्धके योग्य परिणाम तथा प्रवृत्तियां भी हुआ ही करती हैं किन्तु उनमें मिथ्यादृष्टिके समान तीव्रता न रहनेके कारण उसके मिथ्यादृष्टिके समान तीव्र अनुभाग आदिका बन्ध भी नहीं हुआ करता। कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवके संसारकी सीमा प्रायः समाप्त होने पर आ गई है अतएव उसके कर्मबन्धनकी संततिके कारण और स्वरूपमें भी स्वभावतः इस तरहका अपूर्व परिवर्तन हो जाया करता है जिसके कि फलस्वरूप उसके इन कर्मोंकी स्थिति एवं अनुभागमें यथायोग्य सातिशय अल्पता आ जाया करती हैं। अस्तु। यहांपर यह सब वर्णन करनेका तात्पर्य इतना ही है कि यह मालुम हो सके कि सम्यग्दर्शनके प्रकट होते ही संसारके कारण कितने प्रमाणमें निर्मूल हो जाया करते हैं और उसका संसार—चातुर्गतिक भ्रमण किसतरह सीमित हो जाया करता है।

प्रकृत कारिकामें अतिशयोक्ति अलंकार माना जा सकता है परन्तु ऊपरके कथनसे यह भी मालुम हो सकेगा कि यह कथन केवल आलंकारिक ही नहीं है। वह सैद्धान्तिक है। और इसीलिये तत्त्वव्यवस्थाके आधारपर स्थित है। अतएव सर्वथा प्रमाणभूत है।

प्रकृत कारिकाके दोनो वाक्योंमें जिस अन्वाचयका ऊपर उल्लेख किया गया है उसके आधार पर कुछ और भी विशेषताएं हैं जो कि विचार करने पर समझमें आ सकती हैं। प्रथम यह कि यहां पर जिन-जिन विषयोंका निषेध किया गया है उनमें पूर्व-पूर्व सामान्य और उत्तरोत्तर विशेष है। सबसे प्रथम निषेध्य नारक भाव है जिसके कि कारणभूत कर्मोंकी बन्धव्युच्छित्ति प्रथम गुणस्थानमें हुआ करती है। साथ ही जिस नपुंसकताका निषेध किया गया है नारक भावके साथ केवल उसका ही नियत सम्बन्ध है। क्योंकि नरक गतिमें स्त्रीवेद और पुंवेद न रहकर केवल षण्ढ भाव ही पाया जाता है। नारकत्वके बाद तिर्यक्त्वका निषेध किया गया है। जिसके कि योग्य कर्मोंकी बन्धव्युच्छित्ति दूसरे सासादन गुणस्थानमें बताई गई है। यहां यह बात भी ध्यानमें रहनी चाहिये कि यह गुणस्थान सम्यक्त्वलाभके अनन्तर ही हुआ करता है। और प्रथम गुणस्थानमें जिन कर्मोंकी बन्धव्युच्छित्ति बताई गई है उसका फल भी वास्तवमें मिथ्यात्व गुणस्थानमें न होकर द्वितीयादि गुणस्थानोंमें ही हुआ करता है। इससे स्पष्ट होता

है कि तत्त्वतः इन भावोंके न होनेमें सम्यग्दर्शनकी प्रादुर्भूति ही निमित्त है। साथ ही यह बात भी विदित हो जाती है कि इन भावोंके साथ सम्यग्दर्शनका उसी तरह सहानवस्थान विरोध है जैसे कि अन्धकार और प्रकाशका।

नारक भावके साथ जिस तरह एक षण्ढवेदका ही नियत सम्बन्ध है वैसा तिर्यग्भावके साथ नहीं, तिर्यक् पर्यायमें तीनों ही वेदोंका अस्तित्व माना गया है। अतएव यथाक्रम वर्णन को दृष्टिमें रखनेवाले आचार्य नारकभाव के अनन्तर तिर्यग्भावका और उसके भी अनन्तर क्रमसे नपुंसकत्व और स्त्रीत्वका उल्लेख करके बताना चाहते हैं कि जिस तरह कदाचित् बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि नारकभावको पाकर नपुंसक हो सकता है। क्योंकि वहांपर वही एक वेद नियत है। वैसा तिर्यग्गतिके विषयमें नहीं है। क्योंकि तिर्यग्गतिमें तीनों ही वेद पाये जाते हैं। इसलिये यदि कोई बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि तिर्यग्गतिको प्राप्त करता है तो वहां पाये जानेवाले वेदोंमेंसे निम्नकोटिके माने गये नपुंसकवेद और स्त्रीवेदको वह प्राप्त नहीं हुआ करता। इस तरहसे प्रथम वाक्यमें उत्तरोत्तर विशेषता बताई गई है। साथ ही दोनों वेदोंका पृथक् उल्लेख इस बात को भी सूचित करता है कि सम्यग्दृष्टिको वेदप्राप्तिके विषयमें एक सामान्य नियम है कि वह जिस गतिमें भी जाता है वहां पाये जानेवाले वेदोंमेंसे निकृष्ट वेद या वेदोंको नहीं, अपितु उत्तमवेदको ही प्राप्त हुआ करता है। यह नियम मनुष्य और देवगतिमें भी घटित होता है। क्योंकि यह सर्वत्र घटित होनेवाला सामान्य नियम है। यही कारण है कि सामान्य कथनको दृष्टिमें रखकर कहा गया प्रथम वाक्य प्रधान है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि अन्वाचय अर्थके कारण उत्तरार्धमें आया हुआ वाक्य गौण अर्थको बताता है। तथा गौणतासे प्रयोजन कुछ विशेषविषयक नियमको बतानेका है। फिर भी प्रथम वाक्यकी तरह इस द्वितीय वाक्यमें जिन चार विषयोंका कथन करके सम्यग्दृष्टी-को उनकी प्राप्तिका निषेध किया गया है वे भी अपने अपने पूर्वसे उत्तरोत्तर विशेषता रखने वाले हैं। अबद्धायुष्क सम्यग्दृष्टिका नरक तिर्यग्गतिकी तरह शेष दो गतियोंमें गमन निषिद्ध नहीं है, यह बात ऊपर कही जा चुकी है। इनमेंसे देवायुके विषयमें कोई विशेष वर्णनीय नहीं है। फलतः मुख्यतया मनुष्यगतिको दृष्टिमें रखकर कारिकाका यह दूसरा वाक्य कहा गया है। जिसके कि द्वारा बताया गया है कि मनुष्यगतिमें भी वे कौन कौन सी दशाएं हैं जो कि सम्यग्दृष्टिको ग्रहण करनेमें उत्तरोत्तर अयोग्य हैं।

बोधि–दुर्लभ भावनाके प्रकरणमें आचार्योंने मनुष्यभवको दुर्लभ बताया है। तथा मनुष्यभवमें भी उत्तम कुल[1], इन्द्रियादिकी पूर्णता, अनल्प आयुष्य आदिकी प्राप्ति उत्तरोत्तर

१—इसके लिये देखो सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक द्वादशानुप्रेक्षा आदि। तथा यशस्तिलक आ० २। यथा-संसारसागरमिमं भ्रमता नितान्तं, जीवेन मानवभवः समवापि दैवात्। तत्रापि यद्भुवनमान्यकुले प्रसूतिः सत्संगतिश्च तदिहाधिकवर्तकीयम् ॥१४३॥ कृच्छ्राद्धनस्पतिगतेश्च्युत एष जीवः, श्वभ्रेषु कल्मषवशेन पुनः प्रयाति। तेभ्यः परस्परविरोधिमृगप्रसूतावस्थाः पशुप्रतिनिभेषु कुमानुषेषु ॥१४४॥ इत्यादि ॥

कठिन बताई गई है। प्रकृत कारिकाका यह वाक्य भी बताता है कि सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्य गतिको पाकर भी दुष्कुलको प्राप्त नहीं करता, उत्तम कुलमें उत्पन्न होकर भी इन्द्रियों आदि अथवा अंगोपांगसे विकल या विकृत नहीं हुआ करता और निर्विकृत होकर भी अल्पायु नहीं होता तथा योग्य आयुको पानेपर भी दरिद्रकुलोत्पन्न नहीं हुआ करता। इस तरहसे वह जीव सम्यक्त्वके प्रभावसे मनुष्यभवको पाकर भी उसमें उन अवस्थाओंको नहीं प्राप्त किया करता जो कि उन भिन्न भिन्न पाप कर्मोंके फलस्वरूप हैं जिनका कि या तो सम्यक्त्व प्राप्तिके अनन्तर उसके बन्ध नहीं हुआ करता यदि उससे पहलेके बन्धे हुए सत्तामें हैं तो वे फल देनेमें समर्थ नहीं रहते क्योंकि या तो सम्यक्त्वके कारण उनको उदयमें आकर फल देनेमें निमित्तभूत द्रव्य क्षेत्रकालभावरूप सामग्री ही प्राप्त नहीं हुआ करती अथवा पुण्यप्रकृतियोंके रूपमें वे संक्रान्त होजाया करते हैं।

इस तरह फल विप्रतिपत्तिके निराकरणके प्रकरणको पाकर सम्यक्त्वके अंतरंग माहात्म्य का दिग्दर्शन किया गया। इससे मालुम हो सकता है कि सम्यग्दर्शनके उदित होनेपर दुःखमय संसारके अन्तरंग कारणभूत कर्मोंका—उसके द्रव्य क्षेत्र काल भावका—प्रकृति प्रदेश स्थिति और अनुभागका कितना अभाव होता और उसके फलस्वरूप आत्माकी विशुद्धि—उत्तम सुखके रूपमें अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावके अनुसार कहां तक प्रकाशित हो जाती है तथा वह जीव मोक्षमार्गमें कितना आगे बढकर निर्वाणके कितने निकट पहुंच जाया करता है।

अब यह जिज्ञासा हो सकती है कि सम्यग्दृष्टि जीव जिन जिन अवस्थाओंको नही प्राप्त किया करता उनको तो बताया परन्तु यहां यह भी बताना उचित और आवश्यक है कि वह किन किन अवस्थाओंको प्राप्त किया करता है। इसीका समाधान करनेके लिये आचार्य कहते हैं कि—

ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः ।
माहाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥३६॥

अर्थ—दर्शन—सम्यग्दर्शनसे जो पूत—पवित्र हैं वे[1] महान्—लोकपूज्य—उच्च कुलमें उत्पन्न होते हैं, महान् अर्थ—धर्म अर्थ काम और मोक्षरूप पुरुषार्थोंके साधक होते हैं, और मनुष्योंमें तिलकके समान पूज्य स्थान प्राप्त किया करते हैं। साथ ही वे ओजस्वी तेजस्वी विद्वान पराक्रमी या बलवान यद्वा उत्साही तथा यशस्वी कुटुम्बी गुणोत्कर्षके धारक और सम्पत्तिसे युक्त हुआ करते हैं।

प्रयोजन—ऊपर निषेधमुखसे वर्णन करते हुए सम्यग्दृष्टी जीव जिन जिन अवस्थाओं को प्राप्त नहीं किया करता उनका दिग्दर्शन कराया गया है वह आंशिक वर्णन है। उतनेसे

१—भवान्तरमें

ही सर्वसाधारणको तत्त्वका पर्याप्त परिज्ञान नहीं हो सकता जबतक कि विधिमुखेन प्राप्य अवस्थाओंका भी वर्णन करके वर्णनीय विषयके दूसरे भागका भी स्पष्टीकरण न कर दिया जाय।

ऊपरकी कारिकामें दो गतियोंका निषेध करके और पारिशेष्यात् प्राप्य दो गतियोंमें भी कुछ निम्न अवस्थाओंकी अप्राप्यता दिखाकर यह सूचित कर दिया गया है कि इनके सिवाय सभी विशिष्ट अवस्थाओंको सम्यग्दृष्टि जीव प्राप्त किया करता है। किन्तु फिर भी यहांपर जो एक शंका खड़ी रहती है वह यह कि क्या वे सभी शेष अवस्थाएं सम्यग्दृष्टी जीवको ही प्राप्त हुआ करती है? मिथ्यादृष्टि जीवको प्राप्त नहीं हुआ करतीं? यदि दोनोंको भी प्राप्त होती हैं तो फिर उनमें सम्यग्दर्शनके अभावका क्या विशेष फल पाया जाता है? अथवा दोनों को प्राप्त होनेवालीं उन अवस्थाओंमें कोई विशेषता न रहकर समानता ही रहा करती है? यद्वा कोई नियम ही नहीं है? इन उठनेवाली शंकाओंका आचार्य महाराज इस कारिकाके द्वारा समाधान करना चाहते हैं। यह भी इस कारिकाका प्रयोजन है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनोंको लक्ष्यमें रखकर उक्त निषिद्ध दशाओंसे भिन्न अवस्थाओंको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक सामान्य दूसरी विशेष। सामान्यसे प्रयोजन उन अवस्थाओंका है जो कि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनोंको ही प्राप्त हुआ करती है। और विशेषसे अभिप्राय उन अवस्थाओंका है जो कि सम्यग्दृष्टिको ही प्राप्त हो सकती हैं। इनमेंसे इस कारिकामें जिन प्राप्त होनेवालीं अवस्थाओंका उल्लेख किया गया है वे सामान्य हैं। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनोंको ही प्राप्त हो सकती हैं।

प्रश्न—यदि यही बात है तो सम्यग्दर्शनके महत्त्व और उसीके असाधारण फलको ही जब बताया जा रहा है तब यहां ऐसी दशाओंका उल्लेख करना जो कि सम्यग्दर्शके बिना भी पाई जाती हैं, व्यर्थ है।

उत्तर—यह ठीक है कि इस कारिकामें जिन अवस्थाओंको बताया गया है वे साधारण-तया सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनोंको ही प्राप्य हैं परन्तु आचार्य यहां इनका उल्लेख करके बताना चाहते हैं कि ऐसा होनेपर भी ये ही अवस्थाएं यदि सम्यग्दृष्टिको प्राप्त होती हैं तो उनमें कुछ विशेषता रहा करती है। और यह विशेषता किस तरहसे तथा किन किन विषयोंमें हुआ करती है इसके लिये दृष्टान्तरूप कुछ विषयोंका उल्लेख करते हैं। फलतः इस कथनकी प्रकृत वर्णनके साथ संगति स्पष्ट हो जाती है।

आगममें[१] प्राप्य अवस्थाओंके वर्णन करनेवाले प्रकरणमें तीन तरहकी क्रियाओंका उल्लेख पाया जाता है; गर्भान्वय; दीक्षान्वय, और कर्त्रन्वय। जैनधर्मका पालन जिन कुलोंमें

१—आदिपुराण पर्व ३८, ३९, ४०।

चली आता है उनमें उत्पन्न होनेवाले जीवके संस्कारोंसे सम्बन्धित तथा इसके लिये उचित और आवश्यक क्रियाओंको गर्भान्वय क्रिया कहते हैं। और जिनमें जैनधर्म नहीं पाया जाता ऐसे कुलमें उत्पन्न हुआ व्यक्ति जब जैन धर्ममें दीक्षित होना चाहता है तो उससे सम्बन्धित एवं उसके लिये उचित और आवश्यकरूपसे की जानेवाली क्रियाओंको दीक्षान्वय क्रिया कहते हैं। और जो सन्मार्गका आराधन करनेवालोंको पुण्य कर्मके फलस्वरूप प्राप्त हुआ करती हैं उनको कर्त्रन्वय क्रिया कहते हैं।[१] गर्भान्वय क्रियाओंके ५३, दीक्षान्वय क्रियाओंके ४८ और इन कर्त्रन्वय क्रियाओंके सात भेद हैं;—सज्जाति, सद्गृहित्व, पारिव्राज्य, सुरेन्द्रता, परम-साम्राज्य, परमार्हन्त्य और परमनिर्वाण। इन कर्त्रन्वय क्रियाओंको ही परमस्थान भी कहते हैं। क्योंकि ये परम—उत्कृष्ट—पुण्यविशेषके द्वारा प्राप्त होनेवाले स्थान हैं। तथा परमस्थान—मोक्षके कारण हैं इसलिए भी इनको परमस्थान कहा गया है।

सात परम स्थानोंमें आदिके तीन स्थान सामान्य हैं। साधारणतया सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनोंको ही प्राप्त हुआ करते हैं। किन्तु इन्हीं तीन विषयोंमें यदि वे सम्यग्दृष्टिको प्राप्त हुए हैं या होते हैं तो उनमें मिथ्यादृष्टिको प्राप्त होनेवाले इन्हीं विषयोंकी अपेक्षा उत्कृष्टता महत्ता असाधारणता पाई जाती है या रहा करती है। इस तरहसे सामान्य विषयोंमें भी सम्यग्दर्शनके फलकी महिमाका स्पष्टीकरण हो जाता है एवं च पुण्यकर्म उसके उदयसे मिथ्या-दृष्टि तथा सम्यग्दृष्टिको प्राप्त होनेवाले आभ्युदयिक फलकी विशेषता—उनमें पाये जानेवाले अन्तरको दिखाना भी इस कारिकाका प्रयोजन है। और यह उचित तथा आवश्यक भी है। क्योंकि ऐसा करनेसे मिथ्यात्वकी अपेक्षा सम्यक्त्व सहचारी भावोंके द्वारा संचित पुण्यकर्मके वैशिष्ट्यके विषयमें तत्त्वज्ञान हो जाता है। तथा मोक्षमार्गमें आगे बढनेके लिये प्रमादका परिहार और उत्साहकी वृद्धि होती है। जिसके फलस्वरूप ज्यों ज्यों आगे आगे बढता जाता है त्यों त्यों उदितोदित पुण्यका संचय विशेष भी होता जाता और उसके मोक्षके साधनोंमें प्रकर्ष भी बढता जाता है।

सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके फलस्वरूप विवक्षित कर्मोंके बन्धका निषेध बताकर ऊपरकी कारिकाके द्वारा संवर तत्त्वकी सिद्धि बताई गई है। किन्तु इस कारिकामें निर्जरा तत्त्वकी सिद्धिके साधन तपके साधनोंकी तरफ दृष्टि रक्खी गई है। नवीन कर्मोंका आनेसे रुकना संवर और पूर्व-बद्ध कर्मोंका आत्माके साथ जो सम्बन्ध है उसका विच्छेद हो जाना अथवा उनमेंसे कर्मत्वका निकल जाना ही निर्जरातत्त्व है। आत्मामें सम्यक्त्वके प्रकाशित होते ही मिथ्यात्व अवस्थामें होनेवाली प्रवृत्तियोंका परिवर्तन हो जानेसे जिन-जिन कर्मोंका नवीन आगमन रुकता है उतने अंशमें उसके संवर हुआ करता है। किन्तु उन्हीं पूर्वबद्ध कर्मोंका जबतक क्षय नहीं होता तबतक जो उनका सत्त्व बना हुआ है तथा शेष कर्म भी जो सत्तामें है उनके पृथक्करणकी तरफ भी

१—आदिपुराण ३८, ६२।

मुमुक्षुकी दृष्टिका रहना या रखना अत्यावश्यक है। इस पृथक्करणकी सिद्धि ही निर्जरातत्त्व है। संवरके मुख्य साधन जिस तरह गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा परीषहजय और चारित्र हैं; उसी प्रकार निर्जराका मुख्य साधन तप है। सम्यक्त्वके होने पर दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न रहनेसे तदनुकूल प्रवृत्तियोंका भी अभाव हो जानेके कारण जो त्रियोगमें परिवर्तन होता है उससे उक्त संवरके कारणोंकी यथायोग्य सिद्धि भी स्वभावतः हो जाया करती है। मिथ्यात्वके अनुकूल मन वचन कायकी प्रवृत्तियोंका समीचीन निग्रह, मोक्षमार्गमें जिससे बाधा न आवे इस तरहसे उसके त्रियोगकी प्रवृत्ति, अनन्तानुबन्धी कषायका उदय न रहनेसे तद्योग्य उत्तम क्षमा मार्दव आर्जवादि धर्मोंकी सिद्धि, मोक्षमार्गके विरुद्ध और संसरणके अनुकूल पर्यय बुद्धिमें तथा संसार शरीर भोगोंमें हेयताका चिन्तन और इसके विरुद्ध संसरणके प्रतिकूल एवं श्रेयोमार्गके अनुकूल अपने एकत्व-ध्रुवत्व आदिकी उपादेयताके विषयका अनुप्रेक्षण होने लगता है। वह अपने लक्ष्यके विरुद्ध कदाचित् उपस्थित होनेवाली आपत्तियोंको भी सहन करनेका उनपर विजय प्राप्त करनेका यथाशक्ति प्रयत्न करता और स्वरूपाचरणसे भी युक्त रहा करता है।

ऐसा होनेपर भी उसके अभीतक ४१ उक्त कर्म प्रकृतियोंका ही संवर हो सकता है अधिकका नहीं। हां, उसके मन और इन्द्रियों तथा शारीरिक पहलेकी प्रवृत्तियोंके निरोधलक्षण तपका भी अंश पाया जाता है। और इसीलिये वह निर्जराके स्थानोंमेंसे सातिशय मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जराके प्रथम स्थानका भी भोक्ता हुआ करता है। फिरभी वह विशिष्ट संवर और असाधारण निर्जराका स्वामी तबतक नहीं बन पाता जबतक कि उसके योग्य अन्तरंग बहिरंग अवस्थाको आत्मसात् नहीं कर लेता। यह वही अवस्था है जो कि तपोभृतका लक्षण या स्वरूप कथन करते हुए स्वयं ग्रन्थकारने कारिका नं० १० में बताई है। किन्तु उस अवस्थाकी प्राप्तिमें जो तीन योग्यताएं अपेक्षित हैं उन्हींका इस कारिकामें निर्देश किया गया है। क्योंकि मुख्यतया निर्जरा और गौणतया संवरके कारणभूत उस तपकी संभावना जिनलिंगको धारण किए विना नहीं हो सकती। और उस तरहकी तपस्वि अवस्थाके लिये इन तीनों योग्यताओंकी आवश्यकता है जो कि इस कारिकामें परिगणित हैं और जिनका कि ऊपर कर्त्रन्वय क्रियाओंके भेदोंकी आदिमें सज्जातित्व सद्गृहित्व और पारिव्राज्य नामसे उल्लेख किया जा चुका है।

मानव पर्यायके सामान्यतया दो भेद हैं। एक आर्य दूसरा म्लेच्छ। आर्योंके[1] पांच भेद हैं। क्षेत्रार्य, जात्यार्य कर्मार्य, चारित्रार्य और दर्शनार्य। इनमें पूर्व-पूर्व महाविषय—व्यापक

१—गुणैः (सम्यग्दर्शनादिभिः) गुणवद्भिर्वा अर्यन्त इत्यार्याः। स० सि०

२—सुदेशकुलजात्यंगे ब्राह्मणे क्षत्रिये विशि। निष्कलंके क्षमे स्थाप्या जिनमुद्रार्चिता सताम्॥ ८८॥ अ० ध० अ० ९।

या सामान्य हैं और उत्तरोत्तर अल्पविषय—व्याप्य या विशेषभेदरूप हैं। जो जात्यार्य है वह क्षेत्रार्य अवश्य है—यह नियम है। परन्तु जो-जो क्षेत्रार्य हैं वे सभी जात्यार्य हैं, यह नियम नहीं है। यही बात आगे भी समझनी चाहिये। फलतः जो चारित्रार्य हैं वे क्षेत्र जाति और कर्मकी अपेक्षा आर्य अवश्य हैं। जो क्षेत्र जाति और कर्मकी अपेक्षा आर्य हैं वे सभी चारित्रकी अपेक्षासे भी आर्य हों यह नियम नहीं है। अस्तु; इस क्रमके अनुसार दीक्षा धारण करनेके लिये सुदेश कुल और जातिका उस व्यक्तिमें पाया जाना आवश्यक है। आगमका नियम भी ऐसा ही है कि जो त्रैवर्णिक देश कुल जातिसे शुद्ध है और प्रशस्तांग है वही दीक्षा धारण करनेका अधिकारी[1] है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि प्रकृत कारिकामें कथित तीनों ही परम स्थान सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनोंको ही प्राप्त हुआ करते हैं फिर भी सम्यग्दृष्टिको प्राप्त इन स्थानोंमें विशेषता रहा करती है। प्रथम तो यह कि जो सम्यग्दृष्टि है वह नियमसे महाकुलमें जन्म धारण किया करता है जबकि मिथ्यादृष्टिके लिये नियम नहीं है। वह असत्कुलोंमें भी उत्पन्न हो सकता है। दूसरी बात यह है कि सम्यक्त्वसहित जीवके ये तीनों ही परमस्थान मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा अतिशायी रहा करते हैं। कारण यह कि—जिस पुण्य कर्मके उदयसे ये परमस्थान जीवको प्राप्त हुआ करते हैं उनके बन्धकी कारणभूत विशुद्धि जो सम्यग्दर्शनके साहचर्यमें हुआ करती है वह अन्यत्र नहीं पाई जाती और न संभव[2] ही है।

सम्यग्दृष्टिका लक्ष्य परमनिर्वाणको सिद्ध करना है। और वह तबतक सिद्ध नहीं हो सकती जबतक कि प्रतिपक्षी कर्मोंकी आमूल निर्जरा नहीं हो जाती। इस निर्जराका कारण तप और तपका आधार आर्हत दीक्षा है जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। यह निर्वाणदीक्षा सज्जाति एवं सद्गृहीकी ही सफल हो सकती है। अन्यकी नहीं। यह भी सुनिश्चित है। यही कारण है कि आचार्य इस कारिकामें सम्यग्दर्शनकी अन्तिम सफलताके लिये प्रथम स्थानीय एवं आवश्यक विषय समझकर इन तीन परम स्थानोंका सम्यग्दर्शनके फलरूपमें निर्देश करना प्रयोजनीभूत समझते हैं। जो कि माहाकुला महार्था और मानवतिलका शब्दोंके द्वारा क्रमसे सूचित किये गए हैं।

शब्दोंका सामान्य—विशेष अर्थ—

ओजस्—यह शब्द उब्ज (तुदादि) धातुसे अस् प्रत्यय और बका लोप और गुण हो कर बनता है। कोषके अनुसार इसके अनेक अर्थ हुआ करते हैं। श्रीप्रभाचन्द्र देवने अपनी

१—तथा—ब्राह्मणे क्षत्रिये वैश्ये सुदेशकुलजातिजे। अर्हतः स्थाप्यते लिंगं न निन्द्यबालकादिषु॥
पतितादेर्न सा देया जैनी मुद्रा बुधार्चिता। रत्नमाला सतां योग्या मण्डले न विधीयते॥

२—पुण्णं पि जो समीहदि संसारो तेण ईहिदो होदि। दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि॥

संस्कृत टीकामें इसका अर्थ उत्साह दिया है। किन्तु प्राणोंका बल अथवा आयुर्वेदके अनुसार बताया गया धातुरसका पोषक तत्त्व अर्थ भी संगत हो सकता है। जो कि ओजके लिए नोकर्म अथवा सहकारी निमित्त है।

तेजस्—यह शब्द भी तिज् धातुसे असुन् प्रत्यय होकर बना है। इसके भी अग्नि, धूल, वीर्य, सूर्य प्रकाश, प्रभाव, पराक्रम, अपमानको न सह सकनेका भाव आदि अनेक अर्थ होते हैं। किन्तु प्रकृतमें इसका अर्थ प्रताप या कान्ति करना ही उचित है। संस्कृत टीकामें भी ये दो ही अर्थ बताये हैं। कान्तिसे अभिप्राय शारीरिक दीप्ति और प्रतापका आशय कोप एवं दण्डसे उत्पन्न होनेवाला[1] तेज हुआ करता है। यहां दोनों ही अर्थ उचित हैं। और अनुकूल हैं।

विद्या—विद् धातुसे क्यप् प्रत्यय होकर यह शब्द बना है। इसका अर्थ बोध, अवगम, जानना, तत्त्व साक्षात्कार आदि हुआ करता है। किन्तु सहज और आहार्य बुद्धि अर्थ सर्वथा उपयुक्त है जैसा कि संस्कृत टीकामें भी किया गया है। यद्यपि विद्या और बुद्धि दोनों भिन्न-भिन्न[2] हैं। शास्त्रों आदिके अध्ययनादि द्वारा प्राप्त विषय-ज्ञानको विद्या और ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके अनुसार लब्ध विशुद्धिको बुद्धि कहा जाता है। जिसके कि निमित्तसे ग्रहण धारण विज्ञान ऊहापोह आदि विशेषरूपमें भेद हो सकते हैं। टीकाकारका भी अभिप्राय आहार्य बुद्धि शब्दसे विद्या और सहज बुद्धि शब्दसे क्षायोपशमिक विशुद्धिका ही मालुम होता है। कारिकोक्त विद्या शब्दसे दोनों ही अर्थोंका ग्रहण किया जा सकता है, अथवा करलेना चाहिये।

वीर्य—वीर शब्दसे यत् प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है। इसका अर्थ विशिष्ट सामर्थ्य किया गया है। जीव द्रव्य और अजीवद्रव्य दोनोंमें पाई जानेवाली यह एक शक्ति[3] है जो कि जीवमें तो अपने प्रतिपक्षी कर्म—अन्तरायके क्षयोपशम विशेषके अनुसार अथवा सर्वथा क्षयसे प्रकट हुआ करती है। और अजीव द्रव्यमें उसकी पर्याय तथा योग्य द्रव्यादि चतुष्टय—द्रव्य-क्षेत्र काल भावका निमित्त पाकर प्रकट हुआ करती है। किन्तु यहां मुख्यतया जीव-शक्ति अभिप्रेत है।

यशस्—इसका अर्थ कीर्ति प्रसिद्धि ख्याति गीति आदि हुआ करता है ये सब यशके पर्यायवाचक शब्द हैं। यशके होनेमें अन्तरंग कारण यशस्कीर्ति नाम कर्मका उदय[4] है जिसका

१—प्रतापः कोपदण्डजं तेजः।

२—भाग्यानुसारिणी लक्ष्मीः कीर्तिर्दानानुसारिणी। अभ्याससारिणी विद्या बुद्धिः कर्मानुसारिणी॥

३—देखो गो० सार क० गाथा जीवाजीवगदमिदि चरिमे॥

४—पुण्यगुणख्यापनकारणं यशस्कीर्ति नाम ॥८, ११, ३८॥……ननु यशः कीर्तिरित्यनयो र्नास्त्यर्थविशेषः इति पुनरुक्तत्वप्रसंगः। नैष दोषः। यशो नाम गुणः (यशस्यं कर्म) कीर्तनं संशब्दनं कीर्तिः यशसः कीर्तिरित्यस्त्यर्थभेदः॥ रा-वा०।

कि प्रतिपक्षी अयशस्कीर्ति नामकर्म हैं। जहापर कि यशस् और अयशस् शब्दोंका अर्थ क्रमसे यशस्य—प्रशस्त गुण एवं कार्य और अयशस्य—अप्रशस्त गुण एवं कार्य हुआ करता है। और कीर्तिका अर्थ ख्यापन–कीर्तन हुआ करता है। यशस्कीर्तनके विरोधी अयशस्कीर्ति नाम कर्मके उदयकी इस अव्रती भी सम्यक्त्वपूत व्यक्तिके व्युच्छित्ति[1] मानी गई है जो कि मिथ्या-दृष्टिकी अपेक्षा उसकी विशिष्ट यशस्यताका सूचक है।

वृद्धि—बढने अर्थकी वृध् धातुसे क्तिन् प्रत्यय होकर यह शब्द बना है। अतएव सामान्यतया इसका अर्थ बढवारी होता है। कोषके अनुसार इसके समृद्धि, अभ्युदय, सम्पत्ति समूह, व्याज आदि अनेक अर्थ हुआ करते है। परन्तु यहांपर गुणोंकी अथवा कुटुम्बकी इस तरह दोनोंकी ही बढती अर्थ करना उपयुक्त है। क्योंकि यहां पर मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टिके गुणों अथवा कौटुम्बिक सुख शान्ति संतोष आदि सभी विषयोंकी विशेषता बताना अभीष्ट है। पुत्र पौत्र आदि संततिकी उत्पत्तिको भी वृद्धि शब्दसे ही कहा जाता है अत एव यहांपर या तो ओजस्विता, तेजस्विता, विद्या—कला गुणों आदिकी प्राप्ति या अभिज्ञता, पराक्रम-शालिता, सद्गुणोंका प्रख्यापन इन गुणोंकी अथवा इस तरहके गुणोंमें वृद्धि ऐसा अर्थ किया जा सकता है, यद्वा इन गुणोंके साथ साथ कौटुम्बिक वृद्धि—कलत्र पुत्र पुत्री पौत्र दौहित्र आदिका लाभ यह अर्थ करना चाहिए। संस्कृत टीकाकारने अन्तिम अर्थ ही ग्रहण किया है। इस पक्षमें 'सनाथ' शब्दके पूर्वमें जितने शब्दोंका प्रयोग इस वाक्यमें किया है उन सबका इतरेतर द्वन्द्व समास करना चाहिये।

विजय—यह शब्द विपूर्वक "जि" धातुसे बनता है। इसका अर्थ स्पष्ट है। किसी भी कला, गुण, शक्ति, पुण्यबल, या वैभव आदिके द्वारा अपनी उत्कृष्टता प्रमाणित कर देना विजय है। किन्तु जहांपर किसी भी साधनके द्वारा दूसरेका अभिभवपूर्वक अपना उत्कर्ष, महत्त्व, स्वामित्व स्थापित किया जाता है वहींपर प्रायः इस शब्दका प्रयोग हुआ करता है।

विभव—यह शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक भू धातुसे अच् प्रत्यय होकर बनता है। यहां पर इसका अर्थ धनधान्य आदि सम्पत्ति है। यद्यपि इसका अर्थ अर्हत्परमेष्ठी, तीर्थकर भगवान्, अथवा संसारातीत मोक्ष अवस्था भी होता है।

सनाथ—नाथ शब्द याचनार्थक नाथ् धातुसे बनता है। जो याचना करने योग्य है, जिससे याचना की जाय उसको नाथ कहते हैं। मतलब यह कि जो उपजीव्य है, शरण्य है, वही नाथ है। ओज आदि गुणोंके लिये जो अपनी इस योग्यतासे युक्त है वह सनाथ है। अर्थात् दर्शनपूत व्यक्तिके ओज आदि गुण सम्यग्दर्शन गुणके कारण अपनेको सनाथ समझते

१—चतुर्थगुण स्थानमे १७ कर्मोंकी उदय व्युच्छित्ति होती है। अतएव यद्यपि अयशस्कीर्तिका अनुदय-पांचवें गुणस्थानसे ही होता है फिर भी उसकी व्युच्छित्ति जिस विशुद्धिपर अवलम्बित है वह सम्यग्दर्शन पर ही निर्भर है, यही बात यहां दिखाई गई है।

हैं। फलतः वे सभी गुण इस तरहके व्यक्तिके शरण्य मानकर उसका आश्रय लिया करते हैं। अथवा सभी गुण सम्यग्दर्शनको नाथ शरण्य मानकर जहां वह रहता है वहांपर ये भी आकर उपस्थित हो जाते हैं।

माहाकुलाः—महच्च तत्कुलं। तत्र जाताः, भवाः, तस्य वा अपत्यानि=माहाकुलाः। महान् कुलोंमें उत्पन्न होनेवाले।

ऊपर सम्यग्दृष्टिका दुष्कुलोंमें जन्मग्रहण वर्जित बताया है। अतएव इस प्रश्न या जिज्ञासाके कि जब वह दुष्कुलमें या दुष्कुलोंमें जन्म धारण नहीं करता तो फिर किस तरहके कुलोंमें वह उत्पन्न हुआ करता है? उत्तरमें यह कहागया है कि जो सम्यग्दर्शनसे पवित्र हैं वे महान् कुलोंमें ही जन्म धारण किया करते हैं। इस शब्दके द्वारा आचार्यका अभिप्राय, उस का जात्यार्योंमें और सज्जातित्व परम स्थानमें ही जन्म ग्रहण करनेके नियमको बतानेका है जिसमें कि मातृपक्ष तथा पितृपक्ष दोनों ही वंशोंमें विशुद्धि पाई जाती है। उस कुलक्रमागत विशुद्धिको सूचित करनेके लिये ही कुलके विशेषणरूपमें महा शब्दका प्रयोग किया गया है। जिस तरह किसी भी व्यक्तिके विषयमें यदि यह कहा जाय कि यह रूपवान् है, यह ज्ञानी है, तो कोई भी शरीरधारी ऐसा नहीं मिल सकता कि जो रूपवान् न हो क्योंकि सभी शरीर रूप गुणसे युक्त ही हैं। अतएव "रूपवान्" कहनेका अर्थ होता है विशिष्ट रूपको धारण करने वाला। इसी तरह कोई भी आत्मा ऐसा नहीं है जो कि ज्ञानशून्य हो, अतएव "ज्ञानवान्" कहनेका अर्थ होता है असाधारण ज्ञानका धारक। इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिए। कोई भी संसारी प्राणी ऐसा नहीं है जो कि किसी न किसी आगम निर्दिष्ट कुलमें जन्म ग्रहण न करता हो। फिर जब ऊपरकी कारिकामें सम्यग्दृष्टिकी दुष्कुलमें उत्पत्तिका निषेध किया जा चुका है तब पारिशेष्यात् उसका सत्कुलमें जन्म ग्रहण करना स्वयं सिद्ध हो जाता है। कुलीन शब्दका लोकमें अर्थ भी 'उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ' ही होता है। अतएव विचार करनेपर कुलका 'महा' विशेषण अर्थ विशेषका बोधक ही सिद्ध होता है। अतएव आगमके अनुसार इस शब्दसे शरीर जन्म और संस्कार जन्म दोनों ही तरहकी शुद्धिसे युक्त मातृपक्ष तथा पितृपक्षके कुलोंका समूहरूप सज्जातित्व नामका प्रथम परमस्थान ही अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

महार्थाः—महान्तः अर्थाः येषां ते महार्थाः। इस निरुक्तिके अनुसार इसका अर्थ होता है कि जिनका अर्थ पुरुषार्थ अथवा धर्म अर्थ काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ महान् हैं। ध्यान रहे यहां पर महत्ताका आशय मुख्यतया विपुलतासे नहीं, अपितु प्रशस्तता, मान्यता—आदरणीयता न्यायपूर्णता एवं अपापोपहतता तथा अदीनवृत्तिसे है। क्योंकि इस शब्दसे आचार्यका अभिप्राय

दूसरे परम स्थान—सद्गृहित्वका बोध करानेका है। अतएव तीन वर्णवालोंमें अन्वय क्रमसे चले आये अपने अपने वार्ताकर्मके द्वारा न्यायपूर्वक अर्थोपार्जन करके जो अर्थतः— धन सम्पत्तिकी अपेक्षा महान् है, उन गृहीशियोंको ही वास्तवमें महार्थ कहा जा सकता है।

प्रश्न—क्या जो विपुल सम्पत्तिके धारक हैं वे महार्थ नहीं हैं ?

उत्तर—यदि उक्त गुणरहित केवल धनकी ही अपेक्षा हो तो उन्हें भी महार्थ कहा जा सकता है। परन्तु यहां तो आचार्यकी मुख्यतया दृष्टि गुणोंकी तरफ है। सम्पत्ति और अर्थोपार्जनके उपाय यदि विवक्षित गुणोंसे रहित हैं तो वे उनकी दृष्टिमें आदरणीय नहीं हैं। यदि वे उक्त गुणोंसे युक्त हैं तो ही प्रशंसनीय है। अतएव विवक्षित गुणोंको सुरक्षित रखकर यदि अर्थका संचय विपुल प्रमाणमें भी होता है तो वह भी अनादरणीय नहीं, प्रशस्त है। वीतराग आचार्यको धन या सम्पत्तिसे द्वेष नहीं है, गुणोंसे अनुराग अवश्य है।

प्रश्न—ऊपर आनुवंशिकताकी बात कही गई है। परन्तु यदि कोई व्यक्तिगतरूपसे न्यायपूर्वक और अपापोपहतवृत्ति द्वारा विपुल या अविपुल धनका संग्रह करता है तो क्या वह महान् या महार्थ नहीं है ?

उत्तर—न्याय और अपापप्रवृत्ति सदा प्रशंसनीय है।

प्रश्न—फिर !

उत्तर—बात यह है कि—आनुवंशिकता भी एक महान् गुण है जिसके कि सम्बन्धसे वैयक्तिक गुण भी वास्तवमें और अन्तरंगसे अधिक महान् बन जाया करते हैं। यही कारण है कि गुणोंके कारण मानव जातिके किये गये दो भेदोंमेंसे आर्योंमें आनुवंशिकताको प्रथम स्थान दिया गया है। जहां वह नहीं है वे म्लेच्छ हैं। वह व्यक्तिगतरूपसे न्यायपूर्वक और अपापप्रवृत्तिरूप जीविकाका साधन करके विपुल या अविपुल अर्थ संग्रह करनेपर आदरणीय होनेपर भी आनुवंशिक सद्गृहीकी तुलनामें महत्ता प्राप्त नहीं करसकता। सम्यक्त्व विभूषित जीवको आनुवंशिक सद्गृहित्व ही प्राप्त हुआ करता है।

मानवतिलकाः—मनुष्योंमें जो तिलकके समान है वे मानवतिलक हैं। मानव और तिलक दोनों शब्दोंका अर्थ प्रसिद्ध है। जो मनुष्य आयु और मनुष्यगति नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न हुये हैं, मनुओं- कुलकरोंकी संतान हैं, नरक तिर्यक् देवगतिमें न पाये जानेवाले आचार विचारके धारक हैं वे सब मानव मनुष्य है। तिलक शब्दके यों तो अनेक अर्थ होते है परन्तु दो अर्थ प्रसिद्ध और उपयुक्त हैं। चन्दन आदिके द्वारा संस्कार तथा सम्मान आदिके लिये माथेपर की जानेवाली भिन्न भिन्न आकृतियां। तथा प्रधान--मुख्य, जैसे कि यदुकुलतिलक। यहां पर दोनों ही अर्थ उपयुक्त हैं क्योंकि यह शब्द पारिव्राज्य नामके तीसरे परमस्थानका द्योतक है। तथा आर्य मनुष्योंमें चारित्रार्यताको सूचित करनेवाला होने के कारण प्राधान्यको बताता है। देश कुल जाति आदिसे विशुद्धि रहनेके कारण निर्वाण दीक्षाके योग्य तथा व्रतमंत्रोंके द्वारा

किये गये संस्कार और पालन किये जानेवाले आचरणोंके निमित्तसे वह सबमें पूज्य[१] एवं प्रभाव है। अतएव वह मानवतिलक है।

दर्शनपूताः—इसका दो तरहसे अर्थ किया जा सकता है। दर्शनं पूतं येषाम्। अथवा दर्शनेन पूताः। अर्थात् जिनका सम्यग्दर्शन अतिक्रम व्यतिक्रम अतीचार अनाचार दोषोंसे रहित है, अथवा इस तरहके मानस आदि अशुद्धियोंसे रिक्त सम्यक्त्वके सम्बन्धसे जो पवित्र हैं। दोनों अर्थोंमे खास विशेषता नहीं है। जो कुछ हो सकती है वह पहले बताई जा चुकी है।

तात्पर्य—ऊपर शब्दोंका जो अर्थ एवं आशय लिखा गया है उससे कारिकाका तात्पर्य सब समझमें आ सकता है, अतएव विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। फिर भी संक्षेपमें थोड़ासा स्पष्ट करना उचित प्रतीत होता है। यहां पर जिन तीन परमस्थानोंका लाभ बताया गया है यद्यपि वे तीनों ही परमस्थान मिथ्यादृष्टिको भी प्राप्त हुआ करते है फिर भी दोनोंके स्थानोंमें असाधारण एवं महत्त्वपूर्ण जो अन्तर पाया जाता है उसीको दृष्टिमें रखकर उसके ओज आदि विषयोंका उल्लेख करते हुए सम्यग्दर्शनके फल विशेषको यहां स्पष्ट कर दिया गया है। यह बात समझमें आने योग्य है कि स्वामीके भेद अथवा सहचारी गुणोंके भेदके कारण किन्हीं भी गुणधर्म स्वभावोंके स्वरूप एवं फलमें भी स्वभावतः अन्तर पाया जाय। जो शक्ति दुर्जनको प्राप्त है वही यदि सज्जनको भी प्राप्त है तो यह स्वाभाविक है कि एक जगह उसका दुरुपयोग हो और दूसरी जगह उसीका सदुपयोग[२] हो। यही बात मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिके इन स्थानोंके विषयमें समझना चाहिये। दूसरी बात यह भी है कि जिन पुण्य कर्मोंके उदय आदिके निमित्तसे ये ओज आदि गुण प्राप्त हुआ करते है वे यदि मिथ्यात्वसहचारी मन्द कषायके निमित्तसे संचित हुए है अथवा सम्यक्त्वसहचारी विशिष्ट शुभ भावो या कथंचित् विशुद्ध परिणामोंके द्वारा अर्जित हुए हैं तो स्वभावतः उनके स्थिति अनुभाग आदिमें असामान्य विशेषता तथा जात्यन्तरता आये विना नहीं रह सकती। इसके सिवाय एक बात यह भी है कि सम्यग्दृष्टि जिस तरह मुख्यतया द्रव्यदृष्टि और इसीलिये जिस प्रकार निःशंक एवं निर्भय रहा करता है वैसा मिथ्यादृष्टि नहीं। क्योंकि वह पर्यायदृष्टि रहनेके कारण अथवा पर पदार्थ—भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म आदिसे भिन्न दृष्टिवाला न रहनेके कारण सदा सशंक एवं भयातुर ही रहा करता है। फलतः उसके ओज और उसके साथ ही साहस धैर्य आदि गुण सम्यग्दृष्टिसे निकृष्ट ही रह सकते हैं। प्रथमानुयोगमें सम्यग्दृष्टि भव्य स्त्रियों तथा पुरुषोंकी अनेक वर्णित

१—सम्यक्त्वात्सुगतिः प्रोक्ता, ज्ञानात्कीर्तिरुदाहृता। वृत्तात्पूजामवाप्नोति, त्रयाच्च लभते शिवम्॥ य० ति०।

तथा—एवं विहाणजुत्ते मूलगुणे पालिऊण तिविहेण।
होऊण जगदिपुज्जो अक्खयसोक्खं लहइ मोक्खं॥ मूलाचार १—३६।

२—विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय। खलस्य, साधोर्विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥ लोकोक्तिः।

कथायें इस विषयका समर्थन कर सकती हैं कि—अनेक अनन्त भयंकर आपत्तियों परिषहों उपसर्गों आदिके आनेपर भी वे सम्यग्दृष्टि भव्य कायर नहीं हुए और अनेक ओज—सात्त्विक आत्मबलके प्रभावसे उन पर विजय पाकर असाधारण सफलता—देवों द्वारा भी पूज्यता आदिको पासके सम्यग्दृष्टिका ओज या आत्मबल इतना अधिक हुआ करता है कि वह मरणके समय अथवा स्वर्ग विभूतिके छूटनेपर भी व्यग्र नहीं हुआ करता। साक्षात् नरकोंमें अथवा नरक जैसी वेदनाओंके प्रसङ्गमें भी घबराता नहीं हैं। चक्रवर्तीके राज्यके बदलेमें भी तत्त्वप्रतीतिमें परिवर्तन नहीं किया करता।

यह बात भी यहां पर ध्यानमें रखनी चाहिये कि इस कारिकामें ओज आदि जिन आठ विषयोंका नाम निर्देश किया गया है वे उपलक्षणमात्र हैं, अतएव इसी प्रकारके अन्य भी गुणों का संग्रह कर लेना चाहिये। अथवा सम्बन्धित अवान्तर भेदरूप विविध भावोंका इन आठ भेदोंमें ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिये। जैसाकि साहस धैर्य उद्यम ये ओजमें ही अन्तर्भूत हो सकते हैं। शरीरका सौन्दर्य सौभाग्य आदेयता आदिके साथ पुण्यबल तथा वह प्रभाव जिसके कि कारण बाहुबलीके समक्ष भरतके दूतकी तरह, चक्रेश्वरीके सामने कालीकी तरह, भट्टाकलंकके सम्मुख तारा देवी और रामचन्द्रके सामने अनेक देव विद्याधर आदि राजाओंकी तरह सामने आनेवाले अनेकों भी महान व्यक्ति प्रभावित हो जाया करते है, यह सब अन्तरंग बहिरंग महिमा तेजमें अन्तर्भूत हो सकती है। प्रतिभा, ग्रहण, धारण, ऊहापोहरूप तर्कशक्ति, विवेक-शीलता, तत्त्व परीक्षकता, आदि बौद्धिक प्रकार एवं वैज्ञानिक योग्यता तथा विभिन्न कलाओंकी चतुरताके भेद विद्याशब्दसे गृहीत किये जा सकते हैं। पराक्रम स्फूर्ति आदि वीर्यगुणोंके ही परिणाम हैं। यश शब्द कीर्तिके कारणभूत दाक्षिण्य, औदार्य; दया, परोपकारपरता, औचित्य, दान, सन्मानप्रदान, न्यायप्रियता, गुणग्राहकता, कृतज्ञता सौजन्य आदिका बोध करा सकता है। इसी प्रकार वृद्धि विजय और विभवके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिये। इनके द्वारा भी पुण्यविशेषका परिचय मिलता है। यद्यपि यह ठीक है कि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके पुण्यमें जो सातिशयता और निरतिशयताका अन्तर पाया जाता है वह सर्व साधारणकी दृष्टिका प्रायः विषय नहीं हुआ करता फिर भी वह विशेष परीक्षकोंके सूक्ष्मेक्षिकाको गोचर तो हो सकता है। और वह इस कारिकामें उक्त सज्जातित्व सद्गृहित्व तथा पारिव्राज्य इन तीनों ही परमस्थानोंमें भी यथा योग्य जाना या समझा जा सकता है।

गुण-धर्म-स्वभाव यों तो अनन्त है और उनके प्रकार भी अनेक तरहसे किये जा सकते हैं फिर भी प्रकृतमें उन गुणधर्मस्वभावोंको अन्तरंग—बहिरंगके भेदसे अथवा सात्त्विक—आध्यात्मिक और शारीरिक—भौतिक भेदसे यद्वा सहज—नैसर्गिक और आगन्तुक—शिक्षासंगति आदिसे उत्पन्नके भेदसे दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। और उन सभीको यहां पर यथा-योग्य समझ लेना चाहिये और सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्वके निमित्तसे उनमें जो विशेषता आती है—परस्परमें अन्तर पड़ता है उसको भी दृष्टिमें ले लेना चाहिये। ऐसा करनेपर

का व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण आशय लक्ष्यमें आ सकेगा। किन्हीं भी गुणधर्म या पर्यायाश्रित भावोंमें निमित्त भेदके अनुसार अन्तरका पड़ना स्वाभाविक है। अतएव सम्यक्त्व या मिथ्या-स्वरूप अन्तरङ्ग परिणामोंके साहचर्य भेदके कारण ओज आदिमें भी अन्तर रहता है यह बात सहज ही समझमें आने योग्य है। यह अन्तर चमड़ेकी आंखोंसे दिखाई पड़नेवाला भले ही न हो परन्तु बुद्धिगम्य अवश्य है। यह बात आगेके दृष्टान्तोंसे ही स्पष्ट हो सकेगी।

कर्मोंके उपशम क्षय क्षयोपशमसे प्रकट होनेवाले आत्माके गुणों या भावोंको अन्तरङ्ग तथा उनके उदयसे होनेवाले गुणधर्मोंको बाह्य समझना चाहिये। औदयिक गुणधर्म भी दो तरहके हो सकते हैं—जीवाश्रित तथा शरीराश्रित।

आत्मासे जिनका संबंध है फिर चाहे वे औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक हों चाहे जीवविपाकी कर्मोंके उदयसे होनेवाले हों वे सब सात्त्विक हैं। सत्यभाषण, निर्लोभता—उदारता या पवित्र आचार, सहनशीलता, दान बुद्धिमत्ता—तत्त्व ग्रहण शक्ति या विवेकपूर्णता अथवा विचारशीलता, उत्साह, दयाभाव, इन्द्रियविजय, प्रशम—कषायोंका अनुद्रेक, एवं विनय प्रभृति सब सात्त्विक गुण माने गये है। तथा शरीरसे जिनका सम्बंध है ऐसे सौन्दर्य क्रांति दीप्ति लावण्य प्रियवाक्यता कलाकौशल आदि सब शारीरिकगुण हैं। कोई-कोई गुण सम्बंध भेदके कारण सात्त्विक एवं शारीरिक दोनों तरहका भी मान लिया जाता है। जैसे कि बल[१]। अस्थियोंके बंधन विशेष और उनके दृढताके संबंधकी अपेक्षा लेनेपर यही बल शारीरिक और उत्साह धैर्य साहस आदि मानसिक भावोंके सम्बन्धकी अपेक्षा लिये जानेपर सात्त्विक कहा जा सकता है।

जिन गुणोंमें शिक्षा संगति अभ्यास या संस्कारोंके आधानादि बाह्य निमित्तोंकी मुख्य-तया अपेक्षा हुआ करती है उनको आगन्तुक और जिनमें उनकी अपेक्षा नहीं होती वे सब सहज अथवा नैसर्गिक कहे जाते हैं। भोगभूमिजोंमें जो गुण पाये जाते है वे प्रायः नैसर्गिक[२] ही रहा करते हैं। कर्मभूमिमें भी कहीं कहीं[३] नैसर्गिक गुण पाये जाते हैं जैसे कि तीर्थकरोंमें जन्मसिद्ध सहज दश अतिशय।

इन सभी गुणोंमें सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्वके निमित्त—साहचर्य भेदके कारण जो सूक्ष्म तथा अपूर्व विशिष्ट अन्तर पाया जाता है वह प्रत्यक्ष अनुमान अथवा आगमके द्वारा जाना जा सकता है। फलतः सम्यग्दृष्टिको और मिथ्यादृष्टिको दोनोंको ही प्राप्त होनेवाले सज्जातित्व

१—चरमागतयैवास्य वर्णितं बलमागिक। सात्त्वक तु बलं बाह्यैर्लिंगैर्दिग्विजयादिभिः ॥२१०॥ आदि-पुराण १५।

२—महासत्त्वा महाधैर्या महोरस्का महौजसः। महानुभावास्ते सर्वे महीयन्ते महोदयाः ॥ आदि ३-२६ ॥ स्वभावसुन्दरं रूपं स्वभावमधुरं वचः। स्वभावचतुरा चेष्टा तेषां स्वर्गजुषामिव ॥२४॥ स्वभाव मार्दवायोगवक्रतादिगुणैर्युताः। भद्रकास्त्रिदिवं यान्ति तेषां नान्या गतिस्ततः ॥४३॥

३—देखो आदि पुराण ४-१३४, तथा ६-४६ तथा १५-२८।

सद्गृहित्व एवं पारिव्राज्यसे सम्बन्धित ओज तेज विद्या वीर्य आदि प्रकृतमें बताये गये गुणोंमें भी जो विशेषता रहा करती है वह भी दृष्टिमें आ सकती और समझी जा सकती है।

इसी प्रकार प्रकृत कारिकामें सम्यग्दर्शनके इस आभ्युदयिक फल वर्णनमें तीन परम स्थानोंका जो उल्लेख किया है उनमेंसे प्रत्येकके साथ ओज आदि गुणोंमें जो अपने अपने योग्य विशेषता पाई जाती है वह भी ध्यानमें लेनी चाहिये। क्योंकि यद्यपि ये गुण एक ही नामके द्वारा बताये गये है और एकही हैं भी, फिर भी इन गुणोंके कार्यकी प्रकटताके लिये क्षेत्रभेद हो जानेपर वे अपने अपने कार्यको यथायोग्य क्षेत्रके अनुसार ही दिखा सकते हैं। अतएव जो ओज या तेज या विद्या आदि गुण कुलीन व्यक्तिमें उस कुलकी परम्परागत[1] सदाचार सम्बन्धी महत्ता अथवा विशेषताको दिखावेगा वही गुण सद्गृहस्थमें आनुवंशिक अर्थार्जन संरक्षण विनि-योगके विषयमें अपनी विशिष्ट योग्यताको और पारिव्राज्य परमस्थानको प्राप्त व्यक्तिमें संयम तप आदिके रूपमें अपनी असाधारण चमत्कृति अविचलता अक्षुब्धता आदिको दिखानेवाला होगा। अतएव गुण एक ही रहने पर भी उनका उपयोग या कार्य भिन्न भिन्न रूपमें ही होगा। और वह भी मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टिका गुण अपनी असाधारण विशेषतासे ही युक्त रहेगा अथवा पाया जा सकेगा।

इस अवसर पर यह स्पष्ट करदेना भी उचित और आवश्यक मालुम होता है कि आचार्य भगवान्ने-सम्यग्दर्शनके आभ्युदयिक फलोंको बताते हुए सबसे प्रथम जो इस कारिकामें सज्जातित्व आदि तीन परम स्थानोंको बताया है वह सधारण बात नहीं है। ये तीनों ही विषय मोक्षमार्गकी सिद्धिमें मूलभूत साधन हैं। जिस तरह रत्नत्रय अन्तरंग असाधारण मुख्य साधन हैं उसी प्रकार ये तीन परमस्थान बाह्य साधनोंमें सबसे मुख्य और प्रधान साधन है। जिस प्रकार रत्नत्रयमेंसे किसी भी एकके बिना निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता उसी प्रकार इन तीन बाह्य साधनोंमेंसे भी किसी भी एकके न रहने पर भी यह जीव सर्वथा मोक्षको प्राप्त नहीं करसकता है।

सम्यग्दर्शन मोक्षके अन्तरंग साधनोंमें प्रथम स्थानीय है यह बात ऊपर बताई जा चुकी है। स्वयं ग्रन्थकारने भी यह अच्छी तरह स्पष्ट करदिया है। किन्तु यह बात भी सुस्पष्ट है कि कि बाह्य साधनोंके विना वह भी अपना वास्तविक प्रयोजन सिद्ध करनेमें सफल नहीं हो सकता अतएव आचार्य भगवान् बताना चाहते हैं कि वह सम्यग्दर्शन अपने सहचारि शुभसराग परि-णामोंसे सबसे प्रथम यह लाभ उठाना चाहता है कि अपने लक्ष्यकी सिद्धिमें जो सर्वाधिक साधन हैं उनको वह प्रप्त करले। फलतः वह परात्मनिन्दाप्रशंसा आदि नीचगोत्रके कारणभूत परिणामोंका साहचर्य छोडकर उनके विरोधी एवं नीचैवृत्त्यनुत्सेक आदि परिणामोके बलवत्तर

[1]—गुणोंकी आनुवंशिक विशेषताके लिये देखो आदि पु० प० १५ श्लोक १६६, १६७, १६८॥

सहयोगके निमित्तसे नियमसे सज्जातित्व को प्राप्त करलिया करता है। इसी प्रकार संसारके समस्त ऐश्वर्य वैभव आदिमेंसे अहंभाव अथवा आकांक्षाकी भावना तथा परावलम्बनकी आदत छूट जाने और उसके विरुद्ध स्वाधीन वास्तविक सदर्थ सुखशान्तिमय आत्मार्थका बोध होजाने और आत्मायत्तप्रवृत्तिसे प्रेमपूर्णपरिचयका सरस स्वभाव बन जानेके कारण ऐहिक लब्ध धनका पात्रदान देवपूजा जैसे सत्कार्योंमें ही मुख्यतया सदुपयोग करने और उसीसे उसकी सफलता माननेकी श्रद्धा रुचि चर्या के परिणामोंके फलस्वरूप आनुवंशिक सद्गृही होनेके साथ साथ वह महार्थ ही हुआ करता है। इसी प्रकार वह संसार और उसके कारणोंको आत्मघातका—शत्रुका सर्वोत्कृष्ट कारावास समझकर और शरीर तथा भोगोंको कुलटा स्त्रीके हाव भाव विलास विभ्रमके स्थानापन्न मानकर जो स्वरूपरतिमें ही प्रीति करनेको श्रेयस्कर समझ पुनः पुनः उधर ही चित्त-वृत्तिकी अनुवृत्ति बने रहनेके कारण जो क्षोभके कारणोंमें सातिशय मन्दता आजाती है उसके फलस्वरूप साधारणसे निमित्तको पाकर अथवा विना ही निमित्तके उपदेश एवं गुरुका प्रसङ्ग पाते ही अवश्य ही पारिव्राज्यको प्राप्त करलिया करता है।

इस तरह विचार करने पर सहजही मालुम हो सकता है कि जो व्यक्ति सम्यग्दर्शनसे पवित्र है वह स्वभावसे ही अपने लक्ष्यभूत निर्वाणके बाह्य साधनरूप उन आभ्युदयिक पदोंको सहभावी विशिष्ट परिणामोंके निमित्तके बल पर नियमसे ही प्राप्त करलिया करता है जिनको कि मिथ्यात्वकलङ्कित व्यक्ति कभी भी[१] प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि प्रथम तो उसतरहके परिणामोंकी विशुद्धिसे वंचित रहनेके कारण उसकेलिये नियम ही नहीं है कि वह उत्तम कुलमें ही जन्म ग्रहण करे मोक्षकी साधनभूत सज्जातीयताका ही भागी हो। कदाचित् महाकुलमें भी उत्पन्न होजाय तो भी उसके सहचारी भावों गुणों या धर्मोंमें वह सातिशयता तथा सम्यक्त्वके निमित्तसे प्रादुर्भूत हुई अपूर्व महान् संस्कारोंकी संतति नहीं पाई जाती जो कि सम्यक्त्वके साथही उत्पन्न होनेवाली-आनेवाली एवं सतत निर्वाणमार्गको सिद्ध करनेकेलिये प्रतिदिनके कार्यक्रमको सम्मुख रखनेवाले सहायक सेवकके समान प्रेरित करनेवाली है।

सम्यग्दृष्टिको मोक्षमार्गमें आगे बढनेकेलिये प्रथम तीनों ही परमस्थानोंके समानरूपसे आवश्यक होनेपर भी उनमें सज्जातित्व प्रथम मुख्य और प्रधान है। क्योंकि जो जात्यार्य हैं वही सद्गृही हो सकता है और उनमेंसे ही कोई कोई विरल व्यक्ति पारिव्राज्यको प्राप्त कर सकता है।

१—'कभी भी' कहनेका आशय यह है कि जिस तरह यह त्रैकालिक—सदातन नियम है कि जो सम्यक्त्व सहित है वह कभी भी दुष्कुलमें उत्पन्न नहीं होता, सदा महान् कुलोंमे ही जन्म ग्रहण करता है; वैसा मिथ्यादृष्टिके लिये कभी भी कोई भी नियम नहीं है।

आचार्योंने सज्जातित्वका निश्चय कर सकनेमें तीन निमित्त बताये हैं; प्रत्यक्ष अनुमान और आगम[१]। इनमेंसे प्रत्यक्ष वह दिव्यज्ञान है जिसके कि द्वारा विवक्षित व्यक्तिके अन्तरंगमें सद्गोत्र आदि तद्योग्य कर्मोंके उदयको बिना किसी परावलम्बनके सीधा स्पष्टतया ग्रहण करके जाना जा सकता है कि यह व्यक्ति अवश्य ही सज्जातीय है। अविनाभावी—अन्यथानुपपन्न चिन्ह विशेषोंके द्वारा अनुमानसे भी उस व्यक्तिकी सज्जातीयताका निश्चय किया जा सकता है। तीसरा साधन आगम है। प्रमाणभूत—अवंचक व्यक्तियोंके कहनेपर भी व्यक्तिकी सज्जातीयताका निश्चय किया जा सकता है जैसा कि प्रायः आजकल पाया जाता है।

यद्यपि यह ठीक है कि सज्जातित्व जैसे विषयका सर्वथा निर्णय करनेमें समर्थ इन तीन साधनोंमें से प्रत्यक्षज्ञान तो आजकल यहां पर उपलब्ध नहीं है। अनुमान ज्ञानकी योग्यता भी इस हीयमान युगमें प्रायः अत्यल्प और विरल होगई है। फलतः जानकार सम्बन्धित या जातीय व्यक्तियोंका पारस्परिक व्यवहार ही इसका निर्णय करनेके लिये साधन शेष रह जाता है। पुरातन कालमें जबकि प्रत्यक्ष ज्ञान असम्भव या सर्वथा दुर्लभ न था और आनुमानिक योग्यता भी प्रखररूपमें पाई जाती थी उस सरल पवित्र प्रशस्त युगमें भले ही आगम—जातीय जानकार व्यक्तियोंके व्यवहाररूप साधनकी नगण्यता रही हो किन्तु हालमें तो प्रायः वही एकमात्र शरण है।

उस युगमें केवली श्रुतकेवली गणधर चारण आदि ऋद्धिके धारक मनःपर्ययज्ञानी सर्वावधि परमावधि प्रभृति हजारों ऋषियों मुनियों यतियोंका जब सर्वत्र बिहार पाया जाता था तब उनकी सज्जातीयता विषयक अज्ञानान्धकारको दूर करनेके लिये कहींसे प्रकाश ढूंढकर नहीं लाना पड़ता था। स्वयं ही उनके मातृपक्ष एवं पितृपक्ष सम्बन्धी कुलकी महत्ता पवित्रता और पूज्यता जगन्मान्य रहनेके कारण प्रसिद्ध रहा करती थी। प्रत्युत उन दिव्यज्ञानियोंके सम्बन्धसे तथा कथनसे अन्य वंशोंकी भी उत्कृष्टताका बोध हो जाया करता था।

गृहस्थोंमें भी इस योग्यताके व्यक्ति पाये जाते थे कि वे केवल आकृति चेष्टा या अन्य कर्मोंको देखकर जान सकते थे कि अमुक व्यक्ति महान् वंशका है अथवा असज्जातीय है।

१—वसुदेवकी कृपासे जब कंस जरासंधकी घोषणाके अनुसार युद्धमे विजय लाभ लेकर आया तब जरासंधको यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि प्रतिज्ञाके अनुसार राजपुत्री जीवंज-

---

१—सम्प्रदायाव्यवच्छेदावरोधादधुना नृणाम्। सद्गोत्राद्युपदेशोऽत्र यद्वत्तद्वद्विचारतः ॥६॥ श्लोक वार्तिक अ० १॥ भाष्यम्—कथमधुनातनानां नृणां तत्संप्रदायाव्यवच्छेदाविरोधः सिद्ध इति चेत् सद्गोत्राद्युपदेशस्य कथं ? विचारादिति चेत् मोक्षमार्गोपदेशस्यापि तत एव। कः पुनरत्र विचारः ? सद्गोत्राद्युपदेशे कः ? प्रत्यक्षानुमानागमैः परीक्षणमत्र विचारोऽभिधीयते। सोमवंशः क्षात्रियोऽयमिति हि कश्चित्प्रत्यक्षतोऽतीन्द्रियादध्यवस्यति तदुच्चैर्गोत्रोदयस्य सद्गोत्रव्यवहारनिमित्तस्य साक्षात्करणात्। कश्चित्तु कार्यविशेषदर्शनादनुमिनोति तथागमादपरः प्रतिपद्यते ततोऽप्यपरस्तदुपदेशादिति सम्प्रदायस्याव्यवच्छेदः सर्वदा तदन्यथोपदेशाभावात्, तस्याविरोधः पुनः प्रत्यक्षादिविरोधस्यासम्भवादिति। तद्वत्तन्मोक्षमार्गोपदेशेऽपि समानम्।

साका विवाह तो यद्यपि कंसके साथ होना ही चाहिये परन्तु उसकी जातिका तो निश्चय ही नहीं है। अस्तु पूछनेपर कंसने अपनेको एक कलालीका पुत्र बताया। परन्तु जरासंधको बात जंची नहीं। मनमें सोचा—

आकृतिः कथयत्यस्य नायं सीधुकरीसुतः[1] ॥१४॥

जांच शुरू हुई। कलाली बुलाई गई। प्रमाण देखे गये। रहस्य खुला। मालुम हुआ कि यह क्षत्रियपुत्र ही है।

सीतापुत्र लवकुशने भी अपनी कुलशीलतापर संदेह रहनेके कारण पुत्री देनेसे मनाई करके वज्रकर्णके साथ अपना भी अपमान करनेवाले महाराज पृथुको रणांगणमें समस्त सेनाओं से रहित करके भागनेसे रोककर कहा था कि—हमारी कुलीनताका परिचय तो लेते जाओ[2]

राजपुत्र वरांगके विषयमें भी युद्धके अनन्तर सज्जातीयताका संदेह हुआ ही था जो कि फिर दूर होगया।

पुरोहित पुत्रीने दासी पुत्रके साथ विवाह हो जानेके बाद कुछ चेष्टाओंसे ही तो निश्चय कर लिया था कि अवश्य ही यह कोई असज्जातीय है। जो कि अन्तमें सत्य ही सिद्ध हुआ।

इस तरहके आप्तोपज्ञ प्रथमानुयोगमें अनेकों ही उदाहरण पाये जा सकते हैं जिनसे कि तत्कालीन व्यक्तियोंकी सज्जातीयताका पता व्यवहार और उसका परिचय देनेके ढंग तथा उसके समझ सकने या परीक्षाकी क्षमता—योग्यता आदिके द्वारा लग जाता है।

अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार प्रसंगोपात्त थोड़ासा सज्जातीयताके विषयमें लिखा गया है उसी प्रकार सद्गृहित्व और पारिव्राज्यके विषयमें भी यथायोग्य समझ लेना चाहिये। ग्रन्थ विस्तार भयसे यहां अधिक लिखा नहीं जा सकता।

सम्यग्दर्शनके जो फल यहां बताये जा रहे हैं वे सब आभ्युदयिक हैं। इनकी प्राप्तिमें पुण्य कर्मका उदय अपेक्षित है। किन्तु यहांपर ये सम्यक्त्वके फलस्वरूप बताये गये हैं। यद्यपि यह ठीक है कि वास्तवमें सम्यक्त्व निर्वाणका ही कारण बताया गया है, न कि अभ्युदयों और उनके भी कारणभूत पुण्यकर्मोंके बन्धका, जैसा कि पहले बताया जाचुका है। फिर भी अन्यत्र[3] आगम ग्रन्थोंमें अभ्युदयोंका कारण भी धर्मको बताया गया है। यद्यपि यह सत्य है कि जहां धर्मको अभ्युदयोंका कारण बताया गया है वहां धर्मसे प्रयोजन सराग भाव अथवा उपचारसे सरागसम्यक्त्वको बतानेका है। तथा इस उपचारका भी प्रयोजन व्यवहार मोक्षमार्गकी सिद्धि[4]

१—हरिवंश पुराण सर्ग ३३

२—पद्मपुराण अ० ११ श्लोक १५४—१५८

३—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसिद्धिः सुनिश्चिता। स धर्मस्तस्य धर्मस्य विस्तरं शृणु साम्प्रतम् ॥ २०॥
आदिपु० प० ५।

तथा "यस्मादभ्युदयः पुंसां निःश्रेयसफलाश्रयः। वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरयः॥ यशस्ति०

४—प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते।

है और यह व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्गका साधक एवं पूर्वरूप होनेसे धर्म ही है। यही कारण है कि ग्रन्थकारने भी यहांपर उस कथनका भी प्रकारान्तरसे संग्रह कर लिया है।

सम्यग्दृष्टि जीवको मोक्षमार्गकी सिद्धिमें जिनकी सबसे प्रथम आवश्यकता है उन सम्यग्दर्शनके फलस्वरूप उन तीन परमस्थानोंके होनेवाले लाभका वर्णन करके अब इन्द्रपदका लाभ भी सम्यक्त्वके प्रसादसे होता है, यह बताते हैं:—

अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे॥ ३७॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान्‌में है भक्ति जिनकी ऐसे सम्यग्दर्शनसे विशिष्ट भव्य जीव चिरकाल तक स्वर्गमें देवोंकी और अप्सराओंकी सभाओंमें रमण किया करते, और आठ गुण तथा पुष्टिसे अथवा आठ गुणोंकी पुष्टिसे संतुष्ट रहते एवं अन्य देवोंकी अपेक्षा प्रकृष्ट शोभासे भी सेवित रहा करते है।

प्रयोजन—सम्यग्दृष्टिको प्राप्त होनेवाले सप्त परमस्थानोंमेंसे आदिके तीन परमस्थानोंको सम्यग्दर्शनके फलस्वरूपमें वर्णन करनेके अनन्तर चौथे सुरेन्द्रता नामक परमस्थानका निरूपण करना क्रमानुसार स्वयं अवसर प्राप्त है। अतएव यह कारिका प्रयोजनवती है। इसके सिवाय बात यह भी है कि उपर्युक्त परमस्थान निमित्त हैं—साधन है और यह सुरेन्द्रता नामका परमस्थान नैमित्तिक—साध्य—कार्य है। क्योंकि परमागममें कर्त्रन्वय क्रियाओंका वर्णन करते हुए इसको पारिव्राज्य नामकी क्रियाका फल[१] ही बताया है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि सुरेन्द्रतासे मतलब केवल इन्द्रका ही नहीं अपितु इन्द्र उपेन्द्र अहमिन्द्र लोकपाल लौकान्तिक आदि तथा अन्य भी तत्सम महर्द्धिक वैमानिक देवोंका है। क्योंकि यह ध्यानमें रहनी चाहिये कि यहां आचार्य सम्यग्दर्शनका असाधारण फल बता रहे हैं। ग्रन्थकारका आशय यह है कि जिस प्रकार उपर्युक्त तीन परमस्थान सामान्यतया मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनोंको ही प्राप्त हो सकते हैं वैसा यहां नहीं है। शेष चार परमस्थान तो सम्यग्दृष्टिको ही प्राप्त हुआ करते हैं। फलतः इस आभ्युदयिक फलसे तो वैमानिक देवोंमें भी उन उत्कृष्ट पदोंका ही ग्रहण करना चाहिये जो कि सम्यग्दृष्टिको ही प्राप्त हो सकते है। इस तरह सम्यग्दर्शनका सातिशय फल एवं उसकी मोक्षमार्गमें अग्रेसरता तथा प्रगतिको प्रकट करके बताना ही इस कारिकाका प्रथम प्रयोजन है। जिसका कि वर्णन यहांपर क्रमानुसार अवसर प्राप्त भी है। सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यादृष्टियोंके समान भवनत्रिकमें उत्पन्न न होकर नियमसे वैमानिक ही हुआ करता है। यद्यपि मिथ्यादृष्टि भी वैमानिक हुआ करते है फिर भी उनकी वहां मुख्यता नहीं है। जैसा कि कारिकामें प्रयुक्त विशेषणोंके द्वारा भी जाना जा सकता है। इन विशेषणोंसे युक्त वैमानिक सम्यग्दृष्टि ही संभव हो सकता है।

१—या सुरेन्द्रपदप्राप्तिः पारिव्राज्यफलोदयात्। सैषा सुरेन्द्रता नाम क्रिया प्रागनुवर्णिता॥ २०१॥ आदि० प० ३८

ऊपर पारिव्राज्यका फल सुरेन्द्रता बताया है। बात यह है कि आगममें निर्वाणदीक्षा धारण कर लेनेवाले मुमुक्षुके लिये २७ पदोंका[1] आशय समझकर उनके पालन करनेका उपदेश दिया गया है। किस पदके धारण करनेसे क्या फल प्राप्त होता है यह बात भी वहां बताई गई है। परन्तु निर्वाणेच्छु मुमुक्षु साधु उन ऐहिक फलोंकी रंचमात्र भी आकांक्षा न करके ही—समस्त संसारके विषयोंसे तत्त्वतः उद्विग्न रहकर—पूर्ण निष्काम भावसे तपश्चरण करने पर ही योग्यतानुसार उन फलोंको प्राप्त किया करता है। उक्त २७ पदोंमें पहला पद जाति है। इसके अनुसार बताया गया है कि जो सज्जातीय व्यक्ति निर्वाणदीक्षा धारण करके अपनी जातिका मद न रखकर जिनेन्द्र भगवानकी चरणसेवा भक्ति अथवा तपश्चरण करता है उसको भवान्तरमें ऐन्द्री विजया परमा और स्वा इन चार जातियोंमेंसे योग्यतानुसार कोई भी जाति प्राप्त हुआ करती[2] है। पारिव्राज्यके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाली उस ऐन्द्री जातिका ही इस कारिकामें सूचन किया गया है। विजया और परमा जातिका वर्णन आगेकी दोनों कारिकाओंमें क्रमसे किया जायगा। "स्वा" जातिका वर्णन ऊपरकी कारिकामें 'महाकुला" के नामसे किया जा चुका है। क्योंकि "स्वा" का अर्थ वह आत्मोत्था[3] जाति है जो कि नियमसे मोक्ष प्राप्त करनेवाले इन्द्र चक्रवर्ती और अरिहंतके सिवाय अन्य सम्यग्दृष्टि भव्यात्माओंको प्राप्त हुआ करती है।

मालुम होता है ग्रन्थकार इस बातको स्पष्ट करना चाहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव जबतक मोक्षको प्राप्त नहीं कर लेता तबतक वह नियमसे देवगति और मनुष्यगतिके उत्तमोत्तम पदोंको ही प्राप्त होता रहता है। यदि वह अबद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि मनुष्य है तो नियमसे देवायु का ही बन्ध करेगा[4]। यह बात पहले भी स्पष्ट की जा चुकी है। किन्तु देवगतिमें वह साधारण देव न होकर विशिष्ट देव हुआ करता है यह बतानेका यहां प्रयोजन है।

भवनत्रिक—देवोंकी भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषियोंकी तीन निकायोंमें तथा चारों ही निकायोंकी स्त्री पर्यायमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं हुआ करता। इसके सिवाय अन्य भी किन-किन अवस्थाओंको वह प्राप्त नहीं किया करता सो आगमानुसार पहले बताया जा चुका है। किन्तु इस कारिकाके द्वारा आचार्य बताना चाहते हैं कि वह वैमानिकोंमें भी सामान्य—साधारण—आभियोग्य किल्विषिक जैसा देव न होकर असाधारण—अनेकों देवोंका स्वामी

१—तत्र सूत्रपदान्याहुर्योगीन्द्राः सप्तविंशतिं। यैर्निर्णीतैर्भवेत्साक्षात् पारिव्राज्यस्य लक्षणं ॥ १६२ ॥
जातिर्मूर्तिश्च तत्रत्यं लक्षणं सुन्दरांगता। प्रभामण्डलचक्राणि तथाभिषवनाथते ॥ १६३ ॥
सिंहासनोपधाने च छत्रचामरघोषणाः। अशोकवृक्षनिधयो गृहशोभावगाहने ॥ १६४ ॥ क्षेत्रज्ञाऽऽज्ञासभाः कीर्तिर्वन्द्यता वाहनानि च। भाषाहारसुखानीति जात्यादिः सप्तविंशतिः ॥ १६५ ॥

२—जातिमानप्यनुत्सिक्तः संभजेदर्हतां क्रमौ। यतो जात्यन्तरे जात्यां याति जातिचतुष्टयीम् ॥ १६७ ॥
आदि० प० ३९

३—स्वात्मोत्थां सिद्धिमीयुषाम् ॥ १४८ ॥ आदिपु० प० ३९ ॥ ४—सम्यक्त्वं च ॥ ६-२१ त० सू०

—देवेन्द्र हुआ करता है। तथा वह असाधारणता किन-किन विषयोंमें हुआ करती है सो दिये गये विशेषणोंके द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। जिस तरह वह यदि मनुष्य पर्यायको प्राप्त करे तो या तो वह असाधारण आभ्युदयिक पदों—चक्रवर्ती तीर्थंकर सरीखे महान् पदोंको भोगनेवाला होता है अथवा तद्भवमोक्षगामी—चरमशरीरी यद्वा कुछ भवमें ही निर्वाण प्राप्त करनेपर भी मध्यवर्ती भवोंमें सम्मानित महान् व्यक्ति ही हुआ करता है। जैसाकि आगेके कथनसे मालुम हो सकेगा। कोई पदवीधर जैसा न होकर यदि कदाचित् अन्य साधारण मनुष्य होता है तो वह नियमसे सज्जातीय सद्गृहित्व एवं पारिव्राज्यको ही प्राप्त किया करता है और उनको प्राप्त करके भी मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा ओज तेज आदि गुणोंमें असामान्य विशेषतासे युक्त हुआ करता है जैसाकि ऊपरकी कारिकामें बताया जा चुका है। उसी प्रकार यहां देवगतिके विषयमें भी समझना चाहिये। यहांपर भी वह किन-किन बातोंमें मिथ्यादृष्टि देवकी अपेक्षा विशिष्ट हुआ करता है यह बात प्रयुक्त विशेषणोंके द्वारा खुलासा कर दी गई है। यद्यपि वैमानिक देवोंमें मिथ्यादृष्टि जीव भी उत्पन्न हुआ करते हैं फिर भी उनकी प्रधानता नहीं है। उनमें जो परस्पर अन्तर रहा करता है वह दिये गये विशेषणोंके अर्थपर विचार करनेसे मालुम हो सकता है।

सब अवस्थाओंमें सम्यग्दर्शनके निमित्तसे क्या क्या विशेषता प्राप्त होती है यह दिखाकर उसका विशिष्ट माहात्म्य प्रकट करके दिखाना ही ग्रन्थकारको अभीष्ट है अतएव यही बात वे देवगतियोंमें भी विशेषणोंके द्वारा अभिव्यक्त करके इस कारिकाके द्वारा स्पष्ट कर देना चाहते हैं। अपने इस प्रयोजनको बतानेमें कारिका पूर्णतया सफल है।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—

अष्टगुणपुष्टितुष्टाः।—इसका विग्रह दो तरहसे हो सकता है।

१—अष्टौ च ते गुणाश्च=अष्टगुणाः। तेषां पुष्टिः तथा तस्यां वा तुष्टाः।

२—अष्टगुणाश्च पुष्टिश्च=अष्टगुणपुष्टी। ताभ्यां तयोर्वा तुष्टाः॥ अर्थात् आठ गुणों की पुष्टिसे संतुष्ट, अथवा आठ गुण और पुष्टिके द्वारा संतुष्ट रहनेवाले। यहांपर प्रथम अर्थमें पुष्टि अष्टगुणात्मक ही मालुम होती है और दूसरे अर्थमें दोनो—आठ गुण और पुष्टि भिन्न भिन्न विवक्षित हैं। दोनों अर्थोंमें यही अन्तर है।

अष्टगुण शब्दसे—अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व और वशित्व इस तरह विक्रियाके आठ[१] भेदोंका ग्रहण किया जाता है। कोषमें भी ऋद्धिके ये आठ भेद गिनाये हैं। किन्तु ग्रन्थकारने केवल "अष्टगुण" शब्दका उल्लेख किया है। उन आठोंका नामोल्लेख यहां नहीं किया है। अतएव इस शब्दसे विक्रियाके इन आठ भेदोंका ही ग्रहण

१—प्रभाचन्द्रीय टीकामे गरिमाका उल्लेख न करके उसकी जगह कामरूपित्वको गिनाकर आठ भेद बताये हैं।

करना चाहिये अथवा दूसरे किन्हीं आठ गुणोंका ग्रहण करना चाहिये यह बात विचारणीय है। कारण यह कि प्रथम तो आगममें[1] विक्रियाके आठ ही भेद न गिनाकर अनेक भेद बताये हैं। अतएव उसके आठ ही भेद बताना उचित प्रतीत नहीं होता। दूसरी बात यह कि देवोंको पर्यायाश्रित गुणोंमें एक विक्रिया ही नहीं अन्य भी अनेक गुण प्राप्त हैं। अतएव यदि एक ही विक्रिया गुणके आठ भेदोंको आठगुणोंके स्थानपर गिना जाय तो शेष गुणोंका संग्रह नहीं हो पाता। सात गुण छूट जाते हैं। अतएव इस अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषका वारण करनेके लिये उचित है और आवश्यक है कि इस शब्दसे केवल विक्रियाका ही नहीं अपितु भिन्न भिन्न आठ गुणोंका ग्रहण किया जाय अर्थात् अष्टभेदरूप विक्रियाको एक ही गुण मानकर शेष सात गुण और भी लेने चाहिये। और उनको सम्मिलित करके ही आठ गुण गिनना चाहिये। इन सात गुणोंके स्थानपर स्थिति प्रभाव सुख द्युति लेश्याविशुद्धि इन्द्रियविषय और अवधिविषय[2] इनको सम्मिलित करना चाहिये। अथवा इन सात भेदोंके सिवाय विक्रियाको न गिनकर उसके स्थानपर देवगतिको गिनना चाहिये। इस तरहसे भी आठ गुण होजाते हैं। और उनमें प्रायः देवगतिसम्बन्धी सभी विशेष गुण संगृहीत होजाते है।

इस तरहसे संगृहीत इन आठ गुणोंका अर्थ संक्षेपमें इस प्रकार समझना चाहिए।

१—देवगति—तद्योग्य आयु और गति नामकर्मके उदयसे होनेवाली जीवकी व्यंजन पर्याय। अथवा विक्रिया—अपने प्राप्त शरीरसे भिन्न अथवा अभिन्न विचित्र एवं विविध आकार बनानेकी योग्यता। अणिमा—इतना छोटा शरीर बनालेना कि कमलके छिद्रमें भी प्रवेशकर वहीं बैठकर चक्रवर्तीके भी परिवार एवं विभूतिको उत्पन्न कर सकना। महिमा—मेरुसे भी बड़ा शरीर बना लेना। लघिमा—वायुसे भी हलका शरीर बनालेना। गरिमा—वज्रसे भी भारी शरीर बनालेना। प्राप्ति—पृथ्वीपर बैठे बैठे ही अङ्गुलिके अग्रभाग द्वारा मेरुकी शिखर या सूर्य बिम्बका भी स्पर्श कर सकना। प्राकाम्य—जल पर भूमि की तरह चलना और भूमिमें जलकी तरह डुबकी लगाना और उछलना आदि। ईशित्व—चाहे जिसको वश कर लेना[3]।

२—स्थिति—आयुप्रमाण, ३ प्रभाव—शापानुग्रहशक्ति; ४ सुख—साता वेदनीय कर्मके उदयसे प्राप्त इष्ट विषयोंका अनुभव, ५ द्युति—शरीर वस्त्र भूषणकी दीप्ति-कान्ति;

१—त० राजवार्तिक अ० ३ सू० ३६ वा० २ का भाष्य—विक्रियगोचरा ऋद्धिरनेकविधा अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वमप्रतिघातोऽन्तर्धानं कामरूपित्वमित्येवमादि। इन सबके लक्षण भी भिन्न भिन्न वहां बताये गये है।

२—देखो त० सू० अ० ४ सूत्र २०॥

३—इनके सिवाय विक्रियाके अन्तर्धान—अदृश्यरूप होजाना तथा कामरूपित्व—एक समयमें अनेक और नाना प्रकारके रूप बनालेना आदि और भी भेद हैं। किन्तु यह बात यहां ध्यानमें रहनी चाहिये कि विक्रियर्द्धिवाले मुनिको लक्ष्य करके आगममें इन भेदोंका जो अर्थ बताया है तदनुसार ही हमने यहा लिखा है। देवोंमें उनके योग्य आगमानुसार समझना चाहिये।

लेश्या—कषायोदयसे अनुरंजित मन वचन कायकी प्रवृत्ति, ६-७ इन्द्रियं और अवधिके विषयका प्रमाण और क्षेत्र।

इस तरहसे आठ गुणोंके ग्रहण करने पर प्रायः आगमोक्त देवगतिसम्बन्धी सभी गुण-पर्योका संग्रह होजाता है और इन के द्वारा सम्यग्दर्शनके निमित्तसे प्राप्त होनेवाली विशेषता का भी परिज्ञान हो सकता है।

पुष्टि—इस शब्दसे शरीर उसके अवयवोंका उपचय विशेष तथा तद्योग्य परमाणुओंका संग्रह होकर उनके निर्माण बंधन संघातमें विशेष परिणमन अर्थ ग्रहण करना चाहिये जैसा कि आगममें बतायागया है।

आगममें औदारिक शरीरकी अपेक्षा वैक्रियिक शरीरके योग्य परमाणु—आहारवर्गणाके स्कन्ध अधिक सूक्ष्म[1] हुआ करते है और प्रदेशोंकी संख्याकी अपेक्षा वे असंख्यातगुणे रहा करते[2] हैं। उत्तरोत्तर ये दोनों ही विषय अधिकाधिक हैं फिर भी उनकी अवगाहना छोटी[3] छोटी होती है। यह देवशरीरके परिणमन एवं बंधन संघातकी विशेषता है। जो ऊपर २ के देवो में अधिकाधिक पाई जाती है। मिथ्यादृष्टियोंकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टियोंके शरीरमें यह पोषण अधिक प्रशस्त और महान् हुआ करता है।

तुष्टा—तोष—संतोषके धारण करनेवालोंको तुष्ट कहा जाता है। प्रीत्यर्थक तुष धातुसे क्त प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है। इच्छानुसार विषयके प्राप्त न होनेपर भी अरति —अप्रीति अथवा अकृतार्थताके कारण आकुलताका न होना तुष्टि यद्वा संतोष कहा जाता है। इसतरह यथाप्राप्त विषयमें भी प्रसन्न रहने या आकुलित न होने को तुष्टि कहते हैं। जो इस तरहके अन्तरङ्गभावसे युक्त हैं वे सब तुष्ट समझे जाते हैं।

दृष्टिविशिष्टाः—दृष्ट्या-दर्शनेन विशिष्टाः युक्ता महान्तो वा इस विग्रहके अनुसार इस शब्दका अर्थ दर्शनसे युक्त अथवा दर्शनकी अपेक्षा महान् ऐसा होता है। इसका अर्थ करते समय अधिकतर लोग "सम्यग्दर्शनसे युक्त—सहित" ऐसा कहा करते है। क्योंकि उनकी दृष्टिमे "दृष्टि" शब्दका अर्थ सम्यग्दर्शन है। किन्तु हमारी समझसे यहांपर दृष्टिशब्दका अर्थ सम्य-ग्दर्शन न करके दर्शनोपयोग करना चाहिये।

प्रकृष्टशोभाजुष्टाः—प्रकृष्ट—सातिशय अथवा उत्तम शोभाके द्वारा जिनका प्रीतिपूर्वक सेवन किया जाता है। यह सामान्य शब्दार्थ है। इसमें जो विशेष अर्थ है उसपर भी ध्यान देना चाहिये। यहांपर प्रकृष्ट शब्द सापेक्ष है। प्रकृष्टता किसी न किसी अन्य व्यक्ति की

१—२—त० सू० अ० ३ "परं परं सूक्ष्मम्" ॥३७॥ "प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात्" ॥३८॥

३—सौधर्म स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट अवगाहना ७ अरत्नि और अन्तिम सर्वार्थसिद्धिविमानके देवोंकी अवगाहना १ अरत्नि प्रमाण ही हुआ करती है।

अपेक्षा ही कही जा सकती है। जिस तरह कोई कहे कि "यह अधिक सुन्दर है" तो यहां पर अधिक शब्द उस व्यक्ति अथवा उन व्यक्तियोंका बोध करादेता है जिसकी या जिनकी कि अपेक्षासे विवक्षित व्यक्तिकी सुन्दरताका प्रतिपादन किया जा रहा है। इसी प्रकार यहां पर भी समझना चाहिये। ग्रन्थकारको इस शब्दके द्वारा भी मिथ्यादृष्टि देवोंकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि देवोंके शरीरकी शोभा प्रकृष्ट हुआ करती है यह बताना अभीष्ट है। अथवा सामान्य देवोंकी अपेक्षा उन देवेन्द्रोंकी, जिनको कि सम्यक्त्वके फलस्वरूपमें सुरेन्द्रताका लाभ होना यहां बताया जा रहा है, शोभा[1] सातिशय हुआ करती है यह प्रकट करना है। इस वाक्यमें जुष्टा शब्दका जो प्रयोग किया है वह साधारण 'सहित' अर्थको नहीं अपितु प्रीतिपूर्वक सेवन अर्थको बताता है। क्योंकि यह शब्द जिस जुष धातुसे बनता है उसके प्रीति और सेवन दोनों ही अर्थ होते हैं। और यहां पर वे दोनों ही अर्थ करने चाहिये। कारण यह कि यहांपर सम्यग्दृष्टि की विशेषता बताना अभीष्ट है। जिस तरह "मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता"[2] में जोषिताका अर्थ प्रीतिपूर्वक सेवन करना ही लिया गया[3] है उसी प्रकार यहां भी करना चाहिये। मतलब यह है कि सम्यग्दृष्टियोंके निःकाङ्क्ष होते हुए भी उनके शरीरकी वह विवक्षित शोभा मिथ्यादृष्टि देवोंके शरीर की अपेक्षा प्रकर्षताके साथ और अधिक प्रीतिपूर्वक सेवा किया करती है।

यहांपर प्रकृष्टा चासौ शोभा च तया जुष्टाः—सेविताः। इस विग्रहके अनुसार तथा प्रयुक्त 'प्रकृष्ट' शब्दके द्वारासम्यग्दृष्टि देवोंके शरीरकी शोभामें अतिशय सूचित कर दिया गया है कि—यद्यपि सम्यग्दृष्टि निःकांक्ष हैं-वे उसको नहीं चाहते फिर भी वह शोभा अत्यन्त प्रीतिपूर्वक उनके शरीरकी और उनकी सेवा किया करती है।

अमराप्सरसां—अमराश्च अप्सरसश्च तेषाम्। यहां सम्बन्धमें षष्ठी विभक्ति कीगई है अतएव इस इतरेतर योग समासमें आये हुए अमर और अप्सरा शब्दोंका सम्बन्ध परिषदि शब्दके साथ है। अर्थात् अमरों—देवोंकी सभामें और अप्सराओंकी सभामें। एक एक इन्द्रके देव और देवियोंका परिवार बहुत बडा है। देव और अमर पर्यायवाचक शब्द हैं। इनका अर्थ ऊपर बताया जा चुका है। अप्सराका अर्थ सामान्यतया नृत्यकारिणी किया जाता है यद्यपि जो नृत्यकारिणी हैं उनको अप्सराएं कहा जा सकता है किंतु सभी अप्सराएं नृत्यकारिणी ही हों यह बात नहीं है। इन्द्र—सौधर्मेन्द्रके विस्तृत परिवारमें चार लोकपाल भी माने गये हैं। जो

१—स्वर्गप्रच्युतिलिंगानि यथान्येषां सुधाशिनाम्। स्पष्टानि न तथेन्द्राणां किन्तु लेशेन केनचित्॥ आदि ११—२॥ २—त० सू० ७—२२॥ ३—ननु च विस्पष्टार्थं सेवितेत्येव वक्तव्यम्? न अर्थविशेषोपपत्तेः। न केवलं सेवनमिह परिगृह्यते। किं तर्हि? प्रीत्यर्थोऽपि। स० सि०।

कि नियमसे मोक्ष जानेवाले देवोंमें[1] परिगणित हैं। इन यम आदि चारों ही लोकपालोंमेंसे प्रत्येक की जो ३॥ करोड अप्सराएं बताई गई हैं[2]। ये सब नर्तकी नहीं है। साधारण परिवारकी देवियां हैं। इन्द्रके परिवारमें एक अनीक—सेनाके देव देवियोंका भी भेद है। जो सात प्रकार की है। इनमें एक भेद नर्तकियोंका है जिसकी कि गणमहत्तरिका नीलांजना बताई गई है। इससे मालुम होता है कि सभी अप्सराएं नृत्यकारिणी ही नहीं हुआ करतीं।

परिषद् नाम सभाका हैं। इसका शब्दार्थ "परितः सीदति-सीदन्ति वा अस्याम्" ऐसा होता है। इन्द्रकी तीन तरहकी सभाएं हैं। अन्तः परिषत्, मध्य परिषत् और बाह्य परिषत्। तीनों ही सभाओंके सदस्य देवोंकी संख्या क्रमसे १२ हजार १४ हजार और १६ हजार है। इन्द्रकी ८ अग्रमहिषियों—इन्द्राणियोंमेंसे भी प्रत्येककी तीन-तीन परिषत् हैं। जिनमें कि क्रमसे ५ सौ ६ सौ ७ सौ देवियां सदस्य हैं। इन्द्र इन देवोंकी उन परिषत्—सभाओंमें बैठकर कभी कभी चर्चा उपदेश आदि करता है तो वही एक भवतारी परम सम्यग्दृष्टि शतयज्वा कभी-कभी उन सभी देवियों एवं अप्सराओंकी परिषत्में बैठकर पवित्र एवं उचित भोगोंका का भी अनुभव किया करता है।

चिरं, रमन्ते = रम्[3] धातुका अर्थ क्रीड़ा करना आनन्द विलास भोग उपभोग करना है। चिरं यह अव्यय है। जो कालकी अधिकताको बताता है। जैसे कि चिरन्त चिरंतन चिरण्टी चिरक्रिय चिरजीवी चिरायुस् इत्यादि। प्रकृतमें यह शब्द आयुपर्यन्त यथाप्राप्त भोगोंको बिना किसी विघ्न बाधाके भोगते रहनेको सूचित करता है। तथा मनुष्योंकी अपेक्षा देवोंकी तथा देवों में भी सम्यग्दृष्टियों एवं इन्द्रोंकी आयुकी दीर्घता, अनपवर्त्यता, तथा घातायुष्कताकी अपेक्षासे उसमें पाई जानेवाली अधिकता आदि को भी बताता है।

जिनेन्द्रभक्ताः—यह शब्द सम्यग्दृष्टि अर्थको बताता है। अंशतः अथवा पूर्णतया जो मोहकर्मपर विजय प्राप्त करनेवाले है उनको कहते हैं जिन। इनके जो इन्द्र हैं, इनपर जिनकी आज्ञा चलती है उनको कहते हैं जिनेन्द्र। इस तरहके सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी जिनेन्द्रके जो भक्त हैं—सेवक पूजक आराधक हैं उनको कहते हैं जिनेन्द्रभक्त। यद्यपि जिनका मोहकर्म—मिथ्यात्व सत्तामें है फिर भी जिसका उदय अत्यन्त मन्द मन्दतर अथवा मन्दतम हो गया हैं वे भी महान भद्रपरिणामी रहनेके कारण जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञाको सर्वथा प्रमाण मानते और उनको आज्ञानुसार व्रत संयम एवं तपश्चर्याके भी साधक हुआ करते हैं। फलतः वे भी जिनेन्द्र

१—इन्द्र हुओ न शची हू हुओ, लोकपाल कबहूं नहि हुओ। इत्यादि।

२—स्वयंप्रभे विमाने सोमो लोकपालः अर्धतृतीयपल्योपमायुः।...... चत्वारि देवीसहस्राणि, अर्धतृतीय पल्योपमायूंषि, चतुर्णामपि लोकपालानां चतस्रोऽग्रमहिष्यः। अर्धतृतीयपल्योपमायुषः।...... चतुर्णां लोकपालानामेकैकस्यार्धचतुर्थकोटी संख्या अप्सरसः। रा० वा० ४—।।१६—८ का भाष्य।

३—भ्वादि आत्मनेपदी वर्तमानकाल अन्यपुरुष बहुवचन।

भक्त ही हैं। परन्तु वे सिद्धान्ततः और अन्तरङ्गमें तथा वास्तविकरूपमें—मिथ्यात्वका उदय पाये जाने और इसीलिये सम्यक्त्वसहित नहीं रहनेके कारण मुख्यतया जिनेन्द्रभक्त शब्दसे नहीं कहे जा सकते। प्रकृतमें उन अनुपचरित सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्रभक्तोंका ही ग्रहण किया गया है, ऐसा समझना चाहिये। जो कि नियमसे जिनेन्द्र भगवानके भक्त होते हैं तथा अन्य किसी देवके वास्तवमें भक्त न होकर जिनेन्द्र भगवानके ही भक्त हुआ करते हैं।

स्वर्ग—सु–सुष्ठु–सुन्दरम्–सुखरूपम् वा। अर्यते–प्राप्यते इति अर्–स्थानं। एतत् स्वर्–सुखरूपम् स्थानम् इति यो गीयते स स्वर्गः। इस निरुक्तिके अनुसार संसारमें यह सबसे अधिक सुखरूप स्थान है, ऐसा जिसके विषयमें माना जाता है उसको स्वर्ग कहते हैं। फिर भी देवगति अथवा वैमानिक देव पर्यायवाले जीवोंके स्थानके लिये यह शब्द रूढ है।

तात्पर्य—यह कि जगतमें यह बात प्रसिद्ध है कि संसारमें यदि कोई सर्वाधिक सुखका स्थान है तो वह स्वर्ग है। यद्यपि यह ठीक है कि तत्त्वतः दुःख जिसको कहते हैं उसकी परिभाषा से स्वर्ग भी बाहर नहीं है। कर्माधीनता भंगुरता संक्लेश आदि दुःखरूप भावोंसे वह भी मुक्त नहीं है। फिर भी कर्मफलको भोगनेवाली चारों गतियोंमें वह इसीलिये प्रधान एवं इष्टरूप माना जाता है कि पुण्यरूप माने गये कर्मोंमेंसे अत्यधिक भेदोंका वहां उदय पाया जाता है और उनके फल भोगनेमें बाधक बन सकनेवाले कारणोंका वहां प्रायः सद्भाव नहीं पाया जाता। अतएव पुण्य फल भोगने योग्य स्थानोंमें अधिक होनेके कारण ही उसकी वैसी प्रसिद्धि है।

पुण्य प्रकृतियां कुल ६८ हैं उनमेंसे साता वेदनीय उच्च गोत्र देव आयु देवगति पञ्चेन्द्रिय जाति वैक्रियिक शरीर अङ्गोपाङ्ग निर्माण बन्धन संघात समचतुरस्र संस्थान स्पर्श रस गन्ध वर्ण शुभ सुभग सुस्वर आदेय यशस्कीर्ति आदि बहुतर प्रकृतियोंका उदय यहां पाया जाता है। खास बात यह है कि इन प्रकृतियोंका उदय वहांपर सामान्यरूपसे सभी देवोंके पाया जाता है। फलतः सभी देव स्वाभाविकरूपसे अनेक गुणोंसे युक्त गति, अष्टविध विक्रियामें समर्थ तथा शुभ सुभग कान्तियुक्त योग्य साङ्गोपाङ्गादिसे सुन्दर शरीर, अनपवर्त्य आयु, उच्चगोत्र, यथा प्राप्त इष्ट भोगोंके भोक्ता ही हुआ करते हैं। स्वर्गमें मिथ्यादृष्टि भी उत्पन्न होते हैं। अतएव सम्यक्त्व सहित और मिथ्यात्वसहित जीवोंको स्वर्गमें उत्पन्न होने मात्रसे ही सामान्यतया कोई अन्तर नहीं पड़ता और न कहा जा सकता है। किन्तु यहां पर तो आचार्य सम्यक्त्वका असाधारण फल बता रहे हैं। अतएव जिस स्वर्गको साधारण मिथ्यादृष्टि जीव भी प्राप्त कर लेता है उसके प्राप्त करलेनेमें सम्यक्त्वके फलकी कोई असाधारणता प्रकट नहीं होती। इसलिये आचार्य ने विशेषता दिखानेके लिये जो प्रकृत कारिकामें विशेषण दिये हैं उनके आशयपर आगमके अनुसार खासतौरसे ध्यान देने की आवश्यकता है। अतएव उन्हीं विशेषताओंको संक्षेपमें यहां पर कुछ स्पष्ट करदेना उचित प्रतीत होता है।

अष्टगुणोंसे प्रयोजन विक्रिया सम्बन्धी अणिमा महिमा आदि प्रसिद्ध आठ भेदोंसे और पुष्टिशब्दसे उन्हीकी पुष्टिका अर्थ यदि लिया जाय तब तो पुष्टिमे सम्यग्दृष्टिकी विशेषता इस प्रकार समझनी चाहिये कि मिथ्यादृष्टिकी विक्रियामें उतनी सामर्थ्य नहीं पाई जाती जितनी कि सम्यग्दृष्टिकी विक्रियामें रहा करती है। यदि इन आठ गुणों और पुष्टिको भिन्न भिन्न लिया जाय तब आठ गुणोंके विषयमें उपयोगकी अपेक्षासे अन्तर समझना चाहिये। अर्थात् सम्यग्दृष्टि देव अपने उन गुणोंका दुरुपयोग नहीं किया करता। मिथ्यादृष्टि देव कदाचित् दुरुपयोग भी कर सकता है। तथा पुष्टिके विषयमें यह समझना चाहिये कि शरीरके उपायके योग्य वैक्रियिक शरीरके परमाणुस्कन्धोंके महत्त्वपूर्ण परिणमनमें अन्तर पड़ा करता है। सम्यग्दृष्टिके समान मिथ्यादृष्टियोंके शरीर स्कन्धोंका परिणमन सातिशय एवं महान् नहीं हुआ करता। इसके सिवाय तुष्टि शब्दके द्वारा भी सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिमें जो विशेष अन्तर है वह भी प्रतीतिमें आता अथवा आ जा सकता है। क्योंकि इन गुणोंके प्राप्त होने पर सम्यग्दृष्टिको तो तुष्टि रहा करती है। परन्तु मिथ्यादृष्टि असंतुष्ट ही रहा करता है। सम्यग्दृष्टिके संतोष और मिथ्यादृष्टिके असंतोषकी स्पष्ट परीक्षा उस समय होजाती है जब कि स्वर्गसे उनके च्युत होनेका अवसर आया करता है। मिथ्यादृष्टि देव मरते समय अपनी विभूति, इष्ट सुख साधन और ऐश्वर्यका वियोग होता हुआ देखकर या जानकर जिसतरह संक्लिष्ट होता रोता और विलाप करता है वैसा सम्यग्दृष्टि नहीं किया करता। क्योंकि वह तत्त्वज्ञ एवं वस्तुस्वरूपका यथार्थतया श्रद्धावान् होनेके सिवाय अनन्त रागद्वेषपरिणामोंसे रहित एवं उतना ही परपदार्थोंके संयोग वियोगमें समभाव रहा करता है।

अष्टगुण शब्दसे विक्रियाके आठभेद न लेकर यदि गति स्थिति प्रभाव सुख द्युति आदिको लिया जाय जैसा कि ऊपर कहा गया है तब सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके इन आठ भेदोंमें जो अन्तर या विशेषता पाई जाती है वह आगमके अनुसार स्वयं समझी जा सकती है। उसका यहां विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है। फिर भी संक्षेपमें उसका थोड़ासा परिचय देदेना उचित प्रतीत होता है।

गति—सम्यग्दृष्टि जीव भवनत्रिकमें उत्पन्न नहीं होता, देवी नहीं होता, आभियोग्य किल्विषिक सरीखी निकृष्ट अवस्थाओंको प्राप्त नहीं किया करता, और वह नीचेके ही स्वर्गों-तक उत्पन्न[1] न होकर अन्तिम विमान सर्वार्थसिद्धि तक भव धारण किया करता है तदनुसार

१—द्रव्यमिथ्यादृष्टि सहस्रारसे ऊपर नहीं जाता। "परमहंस नामा परमती सहस्रार ऊपर नहीं गती ॥ चौ० ठा० परन्तु व्यवहारतः सम्यग्दृष्टि पूर्णतया आर्हत आगमके अनुसार तपस्वी किन्तु अन्तरंगमें दर्शन मोहके सूक्ष्मतम उदयके कारण नवग्रैवेयक तक भी जाता है इससे ऊपरका भव मिथ्यादृष्टि नहीं, सम्यग्दृष्टि ही धारण किया करता है

भवनिमित्तक प्राप्त होनेवाली शक्तियों—विक्रिया आदिके विषयमें तथा शारीरिक-गुणधर्मोंमें भी महान् अन्तर रहा करता है।

स्थिति—सम्यग्दृष्टिकी आयुका प्रमाण तेतीस सागर तक हुआ करता है। जब कि मिथ्यादृष्टि सहस्रार स्वर्ग तक और कोई कोई अन्तिम ग्रैवेयक तक ही उत्पन्न हो सकते हैं। इसके सिवाय घातायुष्कताकी अपेक्षासे भी विशेषता पाई जाती है। आगममें देवोंकी आयुका वर्णन करते हुए बारहवें स्वर्गतकके देवोंकी आयुमें निश्चित उत्कृष्ट आयुःस्थितिसे कुछ अधिक का भी पाया जाना बताया है। जैसे कि पहले दूसरे स्वर्गकी उत्कृष्ट आयु सामान्यतया दो सागर प्रमाण है। परन्तु आगममें दो सागरसे कुछ अधिक[1] कही गई है। परन्तु यह अधिकता घातायुष्कताकी अपेक्षासे है। क्योंकि यदि कोई मिथ्यादृष्टि ऊपरके स्वर्गकी आयुका बंध करनेके बाद संक्लेश परिणामोंके द्वारा स्थितिका घात करके सौधर्मद्विकमें उत्पन्न होता है तो उसकी उत्कृष्ट आयु दो सागरसे पल्यके असंख्यातवें भागतक अधिक होगी। कदाचित् कोई सम्यक्त्व सहित जीव यदि वैसा करता है—ऊपरके स्वर्गकी बद्ध आयुका घात करके सौधर्म ईशानमेंसे किसी में उत्पन्न होता है तो उसकी उत्कृष्ट आयु दो सागरसे आधा सागर तक अधिक होगी। ऐसा सिद्धान्त शास्त्रका कथन है। इस कथनसे भी सम्यक्त्वके प्रतापसे देवायुकी स्थितिमें पाई जानेवाली विशेषता एवं अधिकताका परिज्ञान हो सकता है।

प्रभाव—इसका आशय शापानुग्रहशक्तिसे है। यह शक्ति ऊपर-ऊपरके देवोंकी अधिक-अधिक होती जाती है। तथा मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टिकी यह शक्ति विशिष्ट रहा करती है फिर भी वह प्रायः संभावना सत्यकी ही विषय रहा करती है।

सुख—यद्यपि साधारणतया[2] मनुष्योंकी अपेक्षा देवोंके वैषयिक सुखको विशिष्ट कहा जा सकता है। क्योंकि कर्मभूमिज मनुष्योंके समान उनके विषय शीघ्र नश्वर तथा दुःखान्तरित नहीं हैं। परन्तु आचार्योंका अभिप्राय यहांपर वास्तवमें वैषयिक सुखकी तरफ नहीं है। सुखसे प्रयोजन उसी सुखका लेना चाहिये जो कि ऊपर-ऊपरके देवोंमें अधिकाधिक बताया गया है। इस तरहका सुख बाह्य विषयोंकी अपेक्षा नहीं रखता। यही कारण है कि ऊपर-ऊपरके स्वर्गोंमें बाह्य भोगोपभोगके साधन एवं विभूतिके क्रम-क्रम होते जाने पर भी सुखकी मात्रा अधिकाधिक होती गई[3] है। और यह बात स्पष्ट है कि इस तरहके सुखका संभव जो सम्यग्दृष्टिके हो सकता है वह मिथ्यादृष्टिके नहीं हो सकता। यद्यपि मिथ्यादृष्टिके भी यथायोग्य निराकुलता—

१—सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥ त० सू०

२—क्योंकि भोगभूमिजोंका सुख भी प्रायः देवोंके समान हुआ करता है। आगममें उसको चक्रवर्तीके सुखसे भी अनन्त गुणा बताया गया है, देखो आ० पु० तथा ति० प०

३—इसके लिये देखो आ० पु० पर्व ११।

आकांक्षाओंकी अल्पतरता पाई जाती है। फिर भी वह सम्यग्दृष्टिकी अनिर्वचनीय निःकांक्ष मनोवृत्ति एवं परिणामों तथा सुखकी तुलना नहीं कर सकती।

द्युति लेश्या इन्द्रिय विषय और अवधिके विषयकी भी उत्तरोत्तर अधिकता तथा सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके इन गुणोंमें जो विशेषता पाई जाती है वह भी आगमके अनुसार समझ लेना चाहिये।

इसी प्रकार दूसरे विशेषणके द्वारा सम्यक्त्वसहित जीवको देवपर्याय प्राप्त होनेपर जो मिथ्यादृष्टि देवकी अपेक्षा विशेषता रहा करती है वह व्यक्त की गई है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिमें अन्तर बतानेवाली यह असाधारण सैद्धान्तिक बात है। आगमका यह नियम है कि जो कोई भी देव पर्यायको धारण करता है उसके अवधि ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम भी अवश्य हुआ[1] करता है। फिर भी मिथ्यादृष्टिके इस क्षायोपशमिक ज्ञानको विभङ्ग[2] और सम्यग्दृष्टिके इस तरहके ज्ञानको अवधिज्ञान शब्दसे ही कहा गया है। साथ ही बताया गया है कि जो विभंग है वह दर्शनपूर्वक नहीं[3] होता, अवधिज्ञान ही दर्शन—अवधिदर्शन पूर्वक हुआ करता है। अतएव "दृष्टिविशिष्टाः" विशेषणके द्वारा समझना चाहिये कि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि देवदृष्टि—दर्शन अर्थात् अवधि दर्शनसे विशिष्ट[4] हुआ करते हैं।

आगममें बताया गया है कि स्वर्गसे च्युत होनेका जब समय आता है तब अनेक प्रकारके जो चिह्न प्रकट होते हैं उनमें मन्दारमालाकाम्लान होना तथा शरीरकी

१—भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्॥ त० सू० अ० १ सू० २१। २—सर्वार्थसिद्धि त० सू० १-२१ = "देवनारकाणामित्यविशेषाभिधानेऽपि सम्यग्दृष्टीनामेव ग्रहणम्। कुतः? अवधिग्रहणात्। मिथ्यादृष्टीनां च विभंग इत्युच्यते।" तथा १-३१ की स० सि० "यथा चावधिज्ञानेन सम्यग्दृष्टिः रूपिणोऽर्थानव गच्छति तथा मिथ्यादृष्टिर्विभंगज्ञानेनेति।

३—यद्यपि षटखं०सत्प्ररूपणाके सूत्र नं० १३४ की धवला टीकाके इस वाक्यसे कि "विभंगदर्शनं किमिति पृथग्नोक्तमिति चेन्न, तस्यावधिदर्शनेऽन्तर्भावात्" इस तरहका भ्रम हो सकता है कि अवधिदर्शनमें विभंगदर्शनके अन्तर्भावको बतानेसे मालुम होता है कि अवधिदर्शन भी आगममें मान्य है। परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि संस्तुत विवरणमें बताये गये आलापोंके देखनेसे स्पष्ट है कि विभंगज्ञान दर्शनपूर्वक नहीं हुआ करता।

४—इस पदका प्रभाचन्द्रीय टीका (मुद्रित) मे कुछ अर्थ नहीं पाया गया। पं० सि० शा० गौरीलालजीने केवल विग्रहमात्र किया है। और प्रायः सभी टीकाकारोंने "सम्यग्दर्शन से विशिष्ट" ऐसा ही अर्थ किया है। परन्तु हमको यह अर्थ नहीं जंचा। क्योंकि इसी अर्थका वाचक एक शब्द "जिनेन्द्रभक्ता" यह पड़ा हुआ है। अन्य इस प्रकरणकी कारिकाओमे भी इस अर्थका वाचक एक-एक ही शब्द पाया जाता है। पुनरुक्ति व्यर्थ ही है। अतएव हमने यह अर्थ किया है कि दृष्टि अर्थात् अवधिदर्शन, जो कि संगत भी है।

आभाका फीका पड़जाना भी है। परन्तु कहा गया है कि सामान्य देवोंके समान[1] इन्द्रोंके उतनी अधिक म्लानता नहीं आया करती। इससे स्पष्ट है कि जो विशिष्ट पुण्यके धारक हैं उनके शरीरकी शोभाकी महत्ता भी अधिक ही रहा करती है। अत एव इन्द्रके ही समान सम्यक्त्वके कारण सातिशय पुण्यके भागी अन्य देवोंके शरीरकी भी शोभा मिथ्यादृष्टियोंकी अपेक्षा महान् ही हुआकरती है। इसी बातको सूचित करनेकेलिये मालुम होता है कि शोभा शब्दके साथ प्रकृष्टशब्दका प्रयोग किया गया है जो कि स्वभावतः अन्यापेक्ष होनेसे उसकी प्रकर्षताको व्यक्त करता है।

इसके सिवाय प्राप्त होनेवाली इस प्रकृष्ट शोभाके सम्बन्धमें सम्यग्दृष्टिकी जो विशेषता है वह ऊपर "जुष्टा" शब्दका अर्थ करते समय बतादी गई है। अत एव उसके यहां पुनः दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है। उसीसे मालुम हो सकेगा कि सम्यग्दृष्टिकी निःकांक्षताका यह माहात्म्य है कि उसको न चाहनेपर भी उदितोदित वैभव—विशिष्ट पुण्य कर्मोंके फल स्वयं प्राप्त हुआ करते हैं। मिथ्यादृष्टिके समान वह उनकी इच्छा नहीं किया करता।

प्रश्न—ऊपर आठ गुणोंके वर्णनमें एक द्युति भी गिनाई है शरीर वस्त्र भूषण आदि की दीप्ति—कान्तिको ही द्युति कहा[2] जाता है। शोभा भी वही है। अत एव जब उसका निर्देश पहले विशेषणके द्वारा कहे गये आठगुणोंमें ही अन्तर्भूत होजाता है तब पुनः उसीका वर्णन करनेकेलिये इस तीसरे विशेषणका कथन करना क्या पुनरुक्ति नहीं है?

उत्तर—प्रथम तो धर्मका और उसके फलका वर्णन करनेमें पुनरुक्ति दोष माना नहीं जाता क्योंकि उसमें आचार्योंका हेतु किसी भी तरहसे तत्त्वश्रद्धान और तदनुसार कल्याणके कारणभूत समीचीन आचरणमें रुचि उत्पन्न कराना ही मुख्य रहा करता है। अत एव इसकेलिये उन्हे किसी विषयको बार बार भी यदि कहना पडे तो वह इष्ट प्रयोजनका साधक होनेसे दोष नहीं है। यह दोष तो न्याय व्याकरण दर्शनशास्त्र आदिमें ही देखा जाता है। धर्मके व्याख्यानमें नहीं। और यह समीचीन धर्मशास्त्र ही है, जैसा कि ग्रन्थकर्त्ता आचार्य भगवान्‌के प्रतिज्ञा[3] वाक्यसे स्पष्ट होता है। फिर भी यह बात अच्छीतरह ध्यानमें रखनी चाहिये कि यहांपर वास्तवमें पुनरुक्ति नहीं है। क्योंकि दोनों ही गुण भिन्न भिन्न कर्मोंके उदयकी अपेक्षा रखते हैं। शरीरकी द्युति आदेय नाम कर्मके साथ साथ वर्णनामकर्मके उदयकी अपेक्षा रखती है। और शोभा, शुभ सुभग संस्थान निर्माण आदि नामकर्मोंके उदयकी अपेक्षा रखती है। इस तरह दोनों में बहुत बडा अन्तर है।

इस प्रकार विशिष्ट सातिशय पुण्यके बलपर सम्यग्दृष्टि जीव जिस ऐन्द्री जातिको प्राप्त किया करते हैं उसमें अन्य साधारण मिथ्यादृष्टि देवोंकी अपेक्षा क्या क्या अन्तर पाया

१—इसके लिये देखो यहीं पर पूर्वमें उद्धृत स्वर्गप्रच्युतिलिंगा निर्यथान्येषां सुधाशिनाम्। स्पष्टानि न तथेन्द्राणां किंतु लेशेन केनचित् ॥३॥ आ०पु० प० ११।

२—शरीरवसनाभरणादिदीप्तिः वि० १ स० सि० ३—देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम् ॥२॥

जाता है वह तीन विशेषणोंके द्वारा यहां दिखायागया है। इसके सिवाय देवोंकी सभाके रूपमें उन्हें देवोंका आधिपत्य तथा भोगोपभोग एवं विलासके साधनकी सामग्रीके रूपमें अपनी देवाङ्गनाओंके सिवाय नृत्यादि करनेवाली अप्सराओं—अभिनेत्रियोंका भी असाधारण लाभ हुआ करता है। और उन्हे यह सुखसामग्री भोगनेका अवसर थोड़ा नहीं चिरकाल—सागरोंतकका प्राप्त हुआ करता है।

चिरकाल तक रमण करते रहते हैं यह कहनेका तात्पर्य भी यह है कि इस भवके धारण करनेपर उनको वे बाधक कारण प्राप्त नहीं हुआ करते जोकि मनुष्यभवमें सुलभतया उपस्थित रहा करते हैं। क्योंकि मनुष्य पर्यायमें आधि व्याधि जरा और मरणके जो साधन प्रायः सभी को प्राप्त हुआ करते हैं वे देव पर्यायमें सामान्यतया किसी को भी प्राप्त नहीं हुआ करते। सम्पत्तिकी रक्षा आश्रितोंकी रक्षा अपनी रक्षा तथा राजा चोर अग्नि आदिका भय, अपयश अपमान एवं अन्य अनेक प्रकारकी ईति और भीतिसे जिस प्रकार मनुष्य चिन्तित और भयातुर रहा करता है उसप्रकार देव नहीं रहा करते। जिस तरह मनुष्य वात पित्त श्लेष्मा और रक्तकी अस्थिरता न्यूनाधिकता और विषमता के कारण अनेकों रोगोंसे पीडित रहा करता है उस प्रकार धातु उपधातुसे रहित वैक्रियक शरीरके धारक देव नहीं रहा करते। अर्धमृतक सम बनादेनेवाली—जरा-वृद्धावस्थासे मनुष्य जितना दुःखी होता है— सब तरहसे असमर्थ होकर खिन्न होजाया करता है वैसा निर्जर पर्यायमें नहीं हुआ करता। इन कथित कारणोंसे तथा अन्य भी अनेक[1] आगमोक्त कारणोंसे जिस प्रकार मनुष्य असमयमें ही—उदीर्णा एवं अपवर्तनके द्वारा आयुको पूर्णतया भोगे विना[2] ही गत्यन्तरको प्राप्त हो जाया करता है वैसा दिव्य शरीरवाले अमरोंका नहीं हुआ करता। वे अपनी पूर्ण आयुको भोगकर ही वहां से च्युत हुआ करते हैं।

कुछ लोगोंकी समझ है कि "मनुष्य भी असमयमें मृत्युको प्राप्त नहीं हुआ करता उसकी आयुस्थितिका भी मध्यमें खण्डन—ह्रास—अपवर्तन नहीं होता वह भी अपनी उपात्त आयुकर्मकी स्थितिको पूरा भोगकर ही मरता है। जिनका असमयमें मरण कहा जाता है वास्तवमें उनकी आयुस्थिति ही उतनी ही समझनी चाहिये[3]।

१—विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणासंकिलेसेहि। उस्सासाहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ ॥ गो० सा० ॥

२—औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥ त० सू० अ० २॥ बाह्यस्योपघात निमित्तस्य विषशस्त्रादेः सति सन्निधाने ह्रस्वं भवतीत्यपवर्त्यम्।" ....."न ह्येषामौपपादिकादीनां बाह्यनिमित्त वशादायुरपवर्त्यते इत्ययं नियमः। इतरेषामनियमः ॥ स० सि०।

३—देखो "समयसार—प्रवचन" भाग तीसरा पृ० ३३७ श्री कानजी स्वामीके प्रवचनोंका संग्रह, प्रकाशक श्री म० ही० पाटनी का ट्रस्ट मारोठ, मई १९५२) "जब सर्प काटता है और मनुष्य मर जाता है तब लोग यह समझते हैं कि वेचारा वेमौत मर गया किन्तु यह मिथ्या है क्योंकि जब आयु पूर्ण हो रही हो तो विष चढ जाता है और वह मर जाता है। यदि आयु शेष होती है तो विष उतर जाता है और वह जीवित रहता है इत्यादि।

इसी तरह कुछ लोगोंका कहना है कि "योगशक्ति अथवा प्राणायाम आदिके द्वारा आयुका प्रमाण अधिक भी हो जाया करता है क्योंकि आयुकी स्थिति श्वासोच्छ्वासपर निर्भर है। अतएव जो व्यक्ति समाधि द्वारा अथवा प्राणायामके द्वारा श्वासोच्छ्वासको अधिक काल तक रोककर रख सकते हैं उनकी आयुका प्रमाण भी बढ जाता[1] है।

ये दोनों ही मान्यताएं वास्तविक नहीं हैं। दिगम्बर जैन आगमके अनुसार मनुष्य और तिर्यंचोंकी वर्तमानमें उदयको प्राप्त आयुकर्मकी स्थिति योग्य कारण मिलने पर पूर्ण होनेके पहले भी समाप्त हो जा सकती है। ऐसे व्यक्तिका उदीर्णा अथवा अपवर्तनके द्वारा असमयमें मरण होना भी माना गया[2] है जो कि सर्वथा सत्य है।

हां, यह ठीक है कि बध्यमान—परभवसम्बन्धी जो आयु बन्ध चुकी है, उसकी स्थितिमें उत्कर्षण और अपकर्षण हो सकते हैं। परन्तु उसकी उदीर्णा नहीं हो सकती। किन्तु जो भुज्यमान आयु है–जिसका बंध तो पूर्व भवमें किया गया था। और उदय वर्तमान भवमें आरहा है उसकी स्थितिमें उत्कर्षण अपकर्षण नहीं हो सकता, उदीर्णा[3] हो सकती है।

इस तरह विचार करनेपर मालुम हो सकेगा कि मनुष्योंकी अपेक्षा देवोंको अपने प्राप्त भोगोंको भोगने और चिरकाल तक रमण करनेमें उनकी आयुकी अनपवर्त्यता भी एक बड़ा साधन है। इस अनपवर्त्यताका सम्बन्ध सभी देवोंके साथ है। फिर जो सम्यग्दृष्टि हैं, सम्यक्त्वके सान्निध्यके कारण सातिशय पुण्य विशेषका संचय करके इन्द्र अथवा असामान्य देवपर्यायको प्राप्त कर चुके हैं उनका तो कहना ही क्या है ?

आचार्यश्रीने अपने इस ग्रन्थमें जहां सम्यग्दर्शनको महत्त्व दिया है वहां उन्होंने उसके लिये प्रकरणके अनुसार सार्थक एवं कारणगर्भित भिन्न भिन्न शब्दोंका भी प्रयोग किया है। यहां पर भी सम्यग्दृष्टिके लिये जो जिनेन्द्रभक्त शब्दका प्रयोग किया है, वह भी सहेतुक है। इसके द्वारा वे बतलाना चाहते है कि सम्यग्दृष्टि जीवके जो भक्तिका विशिष्ट शुभराग भाव हुआ करता है उसके द्वारा इस तरहके पुण्य विशेषका बन्ध हुआ करता है जिसके कि कारण उसे देवेन्द्रोंके वैभव और ऐश्वर्यसे युक्त अवस्था प्राप्त हुआ करती है। ग्रन्थकर्त्तासे पूर्ववर्ती महान् आचार्य मङ्गलरूप कुन्दकुन्दने जैसा कि मुनियोंकी प्रधानतासे प्रवचनसारमें जिनभक्तिके फलका निर्देश किया[4] है। तथा रयणसारमें श्रावकोंके लिये मुख्य[5] धर्मके रूपमें जिसका उपदेश

१—यह अजैन—वैदिक मान्यता है इसके आधार पर ही उन्होने कृप परशुराम आदि ७ ऋषियोको चिरजीवी—सशरीर मुक्त माना है। २—देखो टिप्पणी नं० २

३—देखो गो० सार

४—जो तं दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं। वंदणणमंसणादिहि तत्तो सो धम्ममादियदि ॥१००॥ तेण णरा य तिरिच्छा देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा। विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति ॥१०१॥ प्र० सा० अ० १ जयसेनाचार्य तात्पर्यवृत्ति। ये दोनो गाथाएं मुद्रित प्रतिमें इस तरहके क्षेपक चिन्हके साथ क्रमसे ८, ९ नम्बर पर दी है। ५—दाणं पूजा मुक्खो सावयधम्मो ॥

दिया है। उसी आशयको ग्रन्थकारभी यहां इस शब्दके द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं। अर्वाचीन आचार्योंने भी इस जिनभक्तिका अपूर्व माहात्म्य बताते हुए उसको दुर्गतियोंके निवारण पुण्य पर्यायोंकी प्राप्ति और परमस्थान निर्वाणकी सिद्धिमें भी कारण बताया है। अतएव आचार्य भगवान् ने सम्यग्दृष्टिको—क्योंकि वह नियमसे जिनभक्त हुआ करता है, "जिनेन्द्रभक्त" इस नामसे कहकर उसको उस जिनभक्तिका[1] जो असाधारण वैभव एवं ऐश्वर्यके साथ देवेन्द्र पद तकका पुण्यफल प्राप्त हुआ करता है उसीका यहां निर्देश करके इस विषयसे सम्बन्धित आगम की मान्यताका भी स्पष्टीकरण कर दिया है।

इस तरह सम्यग्दर्शनके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले आभ्युदयिक फलोंमेंसे सुरेन्द्रता नामक परमस्थानका और उसके साथ ही ऐन्द्री नामकी जातिका वर्णन करके क्रमानुसार परम साम्राज्य नामक पांचवें परमस्थानका तथा उसके साथ ही विजया नामकी जातिका भी लाभ सम्यक्त्वके ही निमित्तसे हुआ करता है, यह बताते हैं—

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।

वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः॥३८॥

अर्थ—स्पष्ट है सम्यग्दर्शन जिनका ऐसे भव्य प्राणी नव निधि, चौदह रत्नोंके स्वामी सम्पूर्ण—षट्खण्ड भूमिके पति और चक्र-सुदर्शन चक्रको अपनी इच्छानुसार प्रवर्तित करनेमें समर्थ हुआ करते है। तथा उनके चरण मुकुटबद्ध राजाओंकेलिये शेखरके स्थानापन्न हुआ करते हैं।

प्रयोजन—ऊपरके कथनसे ही यह तो स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शनके फलका वर्णन करते हुए जब आचार्य सप्त परमस्थानरूप आभ्युदयिक फलको बता रहे हैं तब चौथे सुरेन्द्रता परमस्थानके अनन्तर परमसाम्राज्य नामके पांचवे परमस्थानका वर्णन भी स्वभावसे ही क्रम-प्राप्त है।

दूसरी बात यह भी है कि मोक्षमार्गमें—संसारके दुःखोंसे छुटाकर उत्तम सुखके मार्ग स्वरूप तीर्थके प्रवर्तनमें सुरेन्द्रका उतना उपयोग नहीं है जितना कि चक्रवर्तीका है। तीर्थंकर भगवान्‌के उपदेशकी उत्पत्ति वृद्धि और रक्षामें गणधरदेवके बाद यदि कोई बाह्य बलवत्तर निमित्त कहा जा सकता है तो वह परम सम्राट्-चक्रवर्तीका ही पद है। यह सर्व विदित है कि तीर्थंकरभगवानकी दिव्यध्वनिका निर्गम गणधरदेवके बिना नहीं हुआ करता। यह एक प्रकार

१—एकैव समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं। पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनाम्॥ यशस्तिलक॥

नियम है। यही कारण है कि भगवान् महावीर स्वामीकी दिव्यध्वनिका होना ६६ दिन तक रुका रहा था। किन्तु यदि कदाचित् गणधरदेव न हों तो? उस अवस्थामें इस नियमका अपवादरूप यदि कोई विकल्प है तो वह यही है कि चक्रवर्तीके उपस्थित होनेपर भी तीर्थप्रवृत्ति —भगवानकी दिव्यध्वनिका प्रारम्भ हो सकता है। जैसा कि आदि तीर्थंकर श्रीऋषभदेव भगवानकी दिव्यध्वनिका प्रकाश प्रथम सम्राट् श्रीभरतेश्वरके प्रश्नके कारण ही हुआ था[1]। पीछे उनके छोटे भाई पुरिमतालके राजा वृषभसेनने दीक्षा धारण करके प्रथम गणधरका पद प्राप्त[2] किया था।

यों तो श्रीभगवज्जिनसेनाचार्यके एक वाक्यसे ऐसा भी मालुम होता है कि यदि कोई गणधरदेवकी उपस्थितिमें भी उनसे प्रश्न न करके सीधा तीर्थंकर भगवानसे ही प्रश्न करें तो यह भी कोई साधारण बात[3] नहीं है। फिर जिनके निमित्तसे तीर्थकी ही प्रवृत्तिका प्रारम्भ हो तो इस तरहका असाधारण पुण्यातिशय तो इन्द्रके लिये भी अप्राप्य है जो कि गणधरकी समकक्षताके पदपर प्रस्थापित कर देता है। इस तरहका महान आभ्युदयिक पद सम्यक्त्वके साहचर्यके विना नहीं प्राप्त हो सकता। अतएव सम्यग्दर्शनके असाधारण ऐहिक महत्त्वपूर्ण फलोंको बताते हुए इस परम साम्राज्य पदका उल्लेख करना भी उचित ही नहीं, आवश्यक भी है। फिर सुरेन्द्रपदके बाद इसका वर्णन इसकी अधिक महत्ताको भी सूचित करता ही है।

तीर्थंकर भगवान जब दीक्षाके लिये घरसे निकलते हैं तब सबसे प्रथम उनकी पालकी को भूमिगोचरी[4] राजा उनके बाद विद्याधर नरेश और उनके भी अनन्तर अन्तमें देवगण वहन किया करते हैं। इससे क्षत्रिय राजाओंके नियोगकी प्रधानता उसी प्रकार व्यक्त होती है जिस प्रकार कि उनकी मन्दराभिषेक क्रियाके अवसर पर प्रथम कलशोद्धार करनेवाले सौधर्मेन्द्रके नियोगकी। जब साधारण राजाओंको इस तरहका नियोग प्राप्त है तब जो मुकुटबद्ध राजाओंका भी शासक है, अरिहंत भगवानके सम्पूर्ण अधिकृत क्षेत्रमें एवं उनके उपदेशकी प्रवृत्तिके संबंधमें जो निग्रह अनुग्रह करनेमें समर्थ है, जिसके कि अनुयायी होनेमात्रसे प्रायः अनुकरणप्रिय सम्पूर्ण भूमिपर वीतरागधर्मका सहज ही प्रचार हो सकता है, जो स्वयं न्यायधर्मके रक्षकके रूपमें वीतराग धर्मका ही प्रतिबिम्ब है, उसके महत्त्वका उल्लेख कहांतक किया जा सकता है? जिसकी कि न्यायपूर्ण बाह्य प्रवृत्तियां ही उसके सम्यग्दर्शनको स्पष्ट करनेके लिये पर्याप्त मानी जा सकती हैं।

१—देखो आदि पु० प० २४ श्लोक ७८, ७९। २—देखो आदि पु० प० २४ श्लोक १७२।

३—गणेशमथवोल्लंघ्य त्वां प्रष्टुं क इवाहकम्। भक्तो न गणयामीदमतिभक्तिश्च नेष्यते॥ १६७॥ आदि पु० प० १। ४—पदानि सप्त तामूहुः शिबिकां प्रथमं नृपाः। ततो विद्याधरा निन्युर्व्योम्नि सप्त पदान्तरम्॥ ९८॥ स्कन्धाधिरोपितां कृत्वा ततोऽमूमविलम्बितम्। सुरासुराः समुत्पेतुराकाशमदो-दूराः॥ ९९॥ आदि० प० १७॥

राजा तो देव—चैत्य चैत्यालय आदि तथा देहधारी—समस्त प्राणियों की भी नियम से रक्षा किया करता है। परन्तु देव तो अपनी भी रक्षा नहीं कर सकते। अतएव राजा परदेवता[१] है। इस युक्तिके अनुसार जो न केवल राजा अथवा अधिराज ही है किन्तु सम्राट्—समस्त षट्खण्ड भूमण्डलका रक्षक है, उसके परम साम्राज्यका कार्य क्या इन्द्र द्वारा शक्य है? नहीं। जिसके प्रतापसे प्रजामें सभी वर्ण[२] सभी वर्ग सभी अर्थ और सभी आश्रम निर्विघ्नतया प्रवर्तमान रहा करते हैं उसका स्थान कितना उच्च है यह सहज ही लक्ष्यमें आ सकता है। जिस प्रकार निःश्रेयस फलके प्रदाता आभ्युदयिक धर्मके उपज्ञ वक्ताका सर्वोत्तम स्थान है उसी प्रकार उनके उपदिष्ट धर्मका निरन्तराय और अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार सभी पालन कर सकें और उसके इष्ट विशिष्ट फलको भी प्राप्त कर सकें इसके लिये यदि कोई जगत्में समर्थ है तो परम साम्राज्य ही है जिसके कि कारण निष्कारण या सकारण आक्रमण वैर विरोध मात्स्यन्याय एवं आधिदैविक आधिभौतिक आपत्तियोंसे प्रजाका हित सुरक्षित रह सकता है। यही कारण है कि ऐन्द्री जाति और सुरेन्द्रता नामक परम स्थानके अनन्तर तथा परमा जाति और आर्हन्त्य परम स्थानके पूर्व अर्थात् दोनोंके मध्यमें विजया जाति एवं साम्राज्य नामक उस परमस्थानका आचार्य वर्णन करना उचित समझते हैं जिसका कि स्पष्ट सम्यग्दर्शनके फलस्वरूप लाभ हुआ करता है।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—

नवनिधि-सप्तद्वयरत्नाधीशाः—नव च ते निधयश्च = नवनिधयः। सप्तानां द्वयं[३]। सप्तद्वयम्, तानि च तानि रत्नानि च = सप्तद्वयरत्नानि। अधिक ईशः—अधीशः[४]. नवनिधयश्च सप्तद्वयरत्नानि च = नवनिधिसप्तद्वयरत्नानि, तेषामधीशाः। अर्थात् नव निधि और दो तरहके सात-सात रत्न—चौदह रत्नोंके अधीश-मुख्य स्वामी हुआ करते हैं।

काल महाकाल नैःसर्प पाण्डुक पद्म माणव पिंगल शंख और सर्व रत्न[५]। इस प्रकार आगममें नव निधियां बताई गई हैं। इनमेंसे काल नामकी निधिसे लौकिक शब्द-अर्थात् व्याकरण कोश छन्द अलंकार आदि सम्बन्धी तथा अन्य भी व्यावहारिक एवं गायन वादन आदि विषयक शब्द उत्पन्न हुआ करते हैं। महाकालसे असि मसि आदि षट्कर्मकी साधनभूत द्रव्यसम्पत्ति उत्पन्न हुआ करती है। नैःसर्पसे शय्या आसन मकान आदि और पाण्डुकसे हर

१—रक्षन्त्येवात्र राजानो देवान् देहभृतोऽपि च॥ देवास्तु नात्मनोऽप्येवं राजा हि परदेवता॥ ४८॥ क्षत्र चू० ल० १

२—चातुर्वर्ण्य-ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र॥ चतुर्वर्ग—धर्म अर्थ काम मोक्ष॥ अर्थोऽभिधेयरैवस्तु प्रयोजननिवृत्तिषु॥ इत्यमरः॥ आश्रम—ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यास॥

३—द्वयं द्वितयमुभयं, यमलं युगलं युगम्। युग्मं द्वन्द्वं यमं द्वैतं पादयोः पातु जैनयोः॥ २॥ नाममाला।

४—प्रादि समासः। ५—कालाख्यश्च महाकालो, नैःसर्पः पाण्डुकाह्वयः। पद्ममाणवपिंगाख्यशंखसर्वरत्नपद्मकाः॥ ७३॥ आ० पु० प० ३७॥

प्रकारके धान्य तथा छह रसोंकी उत्पत्ति हुआ करती है। पद्मनिधिसे रेशमी सूती आदि वस्त्र, पिंगलसे दिव्य आभरणोंकी, माणव निधिसे नीति शास्त्र और शास्त्रोंकी उत्पत्ति हुआ करती है। दक्षिणावर्त शंखनिधिसे सुवर्ण, और सर्वरत्नसे सर्व प्रकारके रत्नोंका लाभ हुआ करता[1] है।

मालुम होता है कि निधियोंकी यह संख्या जातिभेद—उनके गुण धर्म और योग्यताकी अपेक्षासे ही है। संख्याकी अपेक्षासे नहीं। क्योंकि भगवान्‌के समवसरणमें भी ये नव निधियां पायी जातीं हैं। समवसरणके प्रथम कोट—धूलिसालके गोपुरद्वारोंके मध्यमें भी ये ही निधियां रहती हैं। परन्तु वहां पर प्रत्येक निधिका संख्याप्रमाण १०८ बताया गया[2] है। इसपर से यह भी संभव है कि चक्रवर्तीके भी इन निधियोंमें से प्रत्येकका प्रमाण एकसे अधिक हो।

रत्न शब्दके अनेक अर्थ होते है। यहां पर इनका अर्थ "अपनी-अपनी जातिमें उत्कृष्ट"[3] ऐसा करना चाहिये। चक्रवर्तीके पाये जानेवाले ये रत्न कुल १४ हैं। जिनमें ७ चेतन और ७ अचेतन हैं। सेनापति (अयोध्या) गृहपति (कामवृष्टि) स्थपति (भद्रमुख) पुरोहित (बुद्धिसागर) हाथी (विजयपर्वत) घोड़ा (पवनंजय) स्त्री (सुभद्रा) ये सात चेतन रत्न हैं। और चक्र (सुदर्शन) छत्र (सूर्यप्रभ) दण्ड (चण्डवेग) खड्ग (सौनन्दक) मणि (चूड़ामणि) चर्म (वज्रमय) और काकिणी (चिन्ताजननी)। ये सात अचेतन रत्न[4] हैं।

यों तो चक्रवर्तीकी विभूति अपार है जिसका कि नामनिर्देश आदिपुराणमें किया गया है। परन्तु यहां पर मुख्यभूत नवनिधि और चौदह रत्नोंका ही उसको अधीश बताया गया है।

अधीश शब्द अन्य ईशों—स्वामियोंकी अपेक्षा जिसमें अधिकता पाई जाय उसका बोध कराता है। अर्थात् चक्रवर्तीका प्रभुत्व उन सबके ऊपर है। क्योंकि जितने रत्न हैं वे सब एक-एक हजार देवोंसे रक्षित[5] हैं परन्तु चक्रवर्ती उन सबका स्वामी तो है ही, साथ ही सोलह हजार[6] गणबद्ध देवोंके द्वारा रक्षित है।

नवनिधि और चौदह रत्न, जिनका कि यहां उल्लेख किया गया है वे उपलक्षण मात्र हैं। इस कथनसे विभिन्न नरेशों—भूमिगोचरियों और विद्याधर राजाओंके द्वारा तथा अधिकृत

१—इसके लिये देखो आ० पु० प० ३७ श्लोक ७५-८२॥ तथा देखो ति० पण्णत्ती अ० ४ गा० नं० ७४०।

२—काल-महाकाल-पांडु-माणव-संखाय पउम-णइसप्पा॥ पिंगल-णाणारयणो अट्ठुत्तरसयजुदाणि णिहि एदे॥ ७३६॥ ति० प०॥

३—जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तत्तद्रत्नमिहोच्यते॥ ४—देखो आदि पु० पर्व ३७॥

५—यथा "रक्ष्यं देवसहस्रेण चक्रं दण्डश्च तादृशः। जयांगमिदमेवास्य, द्वयं शेषः परिच्छदः॥ ३॥ आदि प० २८ तथा ३७-१८२॥ ६—षोडशास्य सहस्राणि गणबद्धामराः प्रभोः। ये युक्ता धृतनिस्त्रिंशाः निधिरत्नात्मरक्षणे॥ १४५॥ आदि पु० प० ३७॥ गणबद्धदेवोंकी संख्या आदि पुराणमें १६ हजार और ति० पण्णत्तीमें ३२ हजार बताई है "गणबद्धदेवणामा बत्तीस सहस्स ताण अभिधाणा

क्षेत्रके अधिपति व्यन्तरेन्द्रों एवं देवियोंके द्वारा भेटमें आये हुये सब रत्नों आभूषणों तथा प्रचुर दिव्य भोगोपभोगके साधनों आदिका भी संग्रह समझ लेना चाहिये।

सर्वभूमिपतयः—पान्ति रक्षन्ति इति पतयः। सर्वा चासौ भूमिश्च[1] सर्वभूमिः = षट्खण्डवसुन्धरा। तस्याः पतयः सर्वभूमिपतयः।

भूमि वसुन्धरा पृथ्वी आदि शब्द पर्याय वाचक हैं। सर्व शब्दमें उत्तरसे हिमवान और पूर्व दक्षिण पश्चिममें लवण समुद्रकी सीमा[२] के अन्तर्गत जितनी भूमि है उतना प्रमाण समझना चाहिये। गंगा सिन्धु और विजयार्ध पर्वतसे इस भूमिके छह खण्ड हो गये हैं। चक्रवर्ती इस सम्पूर्ण भूमिका स्वामी हुआ करता है।

भूमि शब्द भी इस कारिकामें उपलक्षण ही है। जिस तरह मोक्षशास्त्रके अ० ३ के सूत्र नं० २७में आये हुए भरत ऐरावत शब्दोंका अर्थ तत्रस्थ मनुष्य और उनके अनुभव आयु शरीरोत्सेध आदि किया गया[३] है। उसी प्रकार यहां भी भूमि शब्दका अर्थ केवल पृथ्वी ही न करके शासन सिद्धान्त—अर्थशास्त्र[४] अथवा राजनैतिक व्याख्याके अनुसार वर्णाश्रम धर्मका पालन करनेवाली प्रजा करना चाहिये। यद्यपि आकाश प्रदेश पंक्तियोंके प्रमाणकी अपेक्षा षट्खण्डभूमिका प्रमाण—चक्रवर्तीके उपभोग योग्य क्षेत्रका प्रमाण सुनिश्चित है फिर भी उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके प्रभावसे इस क्षेत्रमें वृद्धि ह्रास हुआ करता है। किन्तु उसके अधिकृत क्षेत्रमें ग्रामादिककी संख्या जो निर्धारित की गई है वह नियत ही है[५]।

यह शब्द मुख्यतया चक्रवर्तीके धर्म पुरुषार्थको व्यक्त करता है। क्योंकि वह सम्पूर्ण प्रजाके हितका सर्वोपरि रक्षक है। अतएव इस शब्दका अर्थ समस्त प्रजाका पालन पोषण करनेवाला ऐसा करना चाहिये।

चक्रं वर्तयितुं प्रभवन्ति—चक्र यह एक दिव्य अस्त्र[६] है। जो कि चक्रवर्तीके[७] शस्त्रागारमें उत्पन्न हुआ करता है। इसमें एक हजार अर-फल हुआ करते हैं और एक हजार देवोंके

॥ १३७५ ॥ ति० प० ॥ १—भूमिर्भूः पृथिवी पृथ्वी, गह्वरी मेदनी मही ।........ ॥ ५ ॥ ध० ना०

२—ति०प० गाथानं १३८, १७६ अ० ४। तथा राजवर्तिक अ०३ सू० १० वा० २ और उसका भाष्य।

३—न तयोः क्षेत्रयोर्वृद्धिह्रासौ स्तः, असंभवात्। तत्स्थानां मनुष्याणां वृद्धिह्रासौ भवतः। किंकृतौ वृद्धिह्रासौ अनुभवायुःप्रमाणादिकृतौ। स० सि० ॥ तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यसिद्धेर्भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासयोगः। अधिकरणनिर्देशो वा ॥ तत्रस्थानां हि मनुष्यादीनामनुभवायुःप्रमाणादिकृतौ वृद्धिह्रासौ ॥ श्लो० वा० अ० ३ सू० २८, २९ ॥ ४—नीति वा० अ० ५ सू० ४-७ तथा अ० १६ सू० ५ ॥

५—देखो आ० पु० प० ३७ ॥ तथा तिलोय प० चतुर्थ महाधिकार।

६—हथियार तीन तरहके हुआ करते हैं। —अस्त्र, शस्त्र, और दिव्यास्त्र

७—अर्धचक्रीके भी होता है। परन्तु प्रतिनारायणका उसीके द्वारा वध भी हुआ करता है। वह उसका पापोदय है कि अपने ही अस्त्रसे अपना ही घात हो। चक्रवर्तीके ऐसा नहीं होता।

द्वारा सुरक्षित रहा करता है। यह अपने योग्य भूमि पर विजय प्राप्त होनेको सूचित करनेवाला है। अतएव जब यह उत्पन्न हुआ करता है तभी चक्रवर्ती उससे अपनी दिग्विजयके योग्य समयको समझ लेता है और उसकी पूजन करके तथा उसीको आगे करके दिग्विजयकी यात्राका प्रारम्भ कर देता है। यात्राके समय चक्र सबसे आगे आगे आकाशमें गमन किया करता है और उसके पीछे पीछे चक्रवर्तीका षडङ्ग[1] बल चला करता है इसके कारण ही वह चक्रवर्ती कहा जाता है। जैसा कि अनुगत अर्थको बतानेवाले इस वाक्यके द्वारा स्पष्ट किया गया है। क्योंकि वह चक्रवर्तीके भाग्य इच्छा और प्रभुत्वकी सिद्धिके साधनोंमें असाधारण ही नहीं प्रधान भी है। कारण यह कि यद्यपि चक्रवर्तीके विजयके साधन अनेक हैं फिर भी उसका चक्रवर्तित्व इसी पर निर्भर है। शत्रु पर विजय प्राप्त करनेमें यह सबसे प्रबल अन्तिम और अमोघ अस्त्ररूप साधन है। यह नारायण और चरमशरीरको छोड़कर अन्य किसी भी शत्रु राजा पर चलाये जाने पर व्यर्थ नहीं जाता। प्रतिनारायणको भी इसकी प्राप्ति हुआ करती है परन्तु अन्त समयमें पुण्यक्षयका अवसर आने पर अपने विरोधी नारायणके द्वारा अपने ही इस सुदर्शन चक्रके द्वारा वह मृत्युको प्राप्त हो जाया करता है। किन्तु यह बात चक्रवर्तीके नहीं हुआ करती। उसका पुण्य विशिष्ट सातिशय हुआ करता है।

वर्तयितुम्—णिजन्त वृत् धातुसे कृदन्तका तुम् प्रत्यय होने पर यह शब्द बनता है। प्रपूर्वक भू धातुसे वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचनमें प्रभवन्ति क्रिया पद बनता है। दोनों पदोंका मिलकर अर्थ होता है कि चक्रवर्ती उस चक्रको वर्तानेमें स्वयं समर्थ हुआ करता[2] है।

स्पष्टदृशः—स्पष्टा दृक् येषां ते स्पष्टदृशः। अर्थात् जिनका सम्यग्दर्शन स्पष्ट है। स्पष्टतासे मतलब विशदता—निर्मलता अथवा जो सर्व साधारणकी समझमें आ सके, ऐसा लेना चाहिये। सम्यग्दर्शनकी स्पष्टता प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्यके द्वारा हुआ करती है। किन्तु ये भी अन्तरंग भाव हैं। असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर प्रमत्तसंयत तकके सम्यक्त्वका ये ही तीन गुणस्थानवाले प्रशमादिके द्वारा अनुमानसे ज्ञान करसकते[3] हैं। क्योंकि सम्यक्त्वके साहचर्यसे प्रशमादि भावोंमें और प्रशमादिके साहचर्यके कारण मन वचन कायकी प्रवृत्तिमें अपूर्व विशिष्टता आये बिना नहीं रहा करती। फिरभी यह सूक्ष्म विशिष्टता असंयतादि तीन गुणस्थानवालोंके ही बुद्धिगोचर हो सकती है। अतएव यह शब्द सम्यक्त्वके सहचारी उस तपश्चरण विशेषका बोध कराता है जिसके कि निमित्तसे चक्रवर्तित्वके योग्य असाधारण उच्चैर्गोत्र आदि पुण्य प्रकृतियोंका बन्ध हुआ करता और सम्यक्त्वका स्पष्टीकरण होता है।

१—हाथी घोड़ा रथ पदाति देव विद्याधर।

२—चक्रं वर्तते सम्राट् प्रेरयते इति स तत् वर्तयते तथा वर्तयितुम्।

३—तैः स्वसंविदितैः सूक्ष्मलोभान्ताः स्वां दृशां विदुः। प्रमत्तान्तान्यगां तज्जवाक्चेष्टानुमितैः पुनः ॥५३॥ अन० अ० २॥

इन्द्र पदके लिये योग्य पुण्यायु आदिका बन्ध जिस प्रकार व्रत संयम तप आदिसे युक्त जिनेन्द्रभक्तिके निमित्तसे हुआ करता है उसी प्रकार विनयपूर्ण वैयावृत्य तथा प्रायश्चित आदिसे युक्त व्रत संयम तपके निमित्तसे जिनका सम्यग्दर्शन स्पष्ट है उन्हीं जीवोंका चक्रवर्तित्व के योग्य पुण्य कर्म विशेषोंका—असाधारण उच्चैर्गोत्र आदि कर्मोंका बन्ध हुआ करता है। इसी आशयको "स्पष्टदृशः" शब्द स्पष्ट करता है।

क्षत्रमौलिशेखरचरणाः। क्षतान् त्रायन्ते इति क्षत्राः[1] —राजानः। तेषां मौलयः इति क्षत्रमौलयः। शेखर इव चरणौ इति शेखरचरणौ। क्षत्रमौलिषु शेखरचरणौ येषाम्[2] ते।

क्षण् धातुका अर्थ बध करना या मारना होता है। क्षत शब्दका अर्थ जो किसीके द्वारा मारा गया है अथवा मारा जा रहा है ऐसा होता है। ऐसे व्यक्तिका जो त्राण—रक्षण करनेवाला है उसको कहते हैं क्षत्र। यह क्षत्र शब्दका यौगिक—निरुक्त्यर्थ है। किन्तु रूढिवश इसका अर्थ क्षत्रियवर्णका व्यक्ति अथवा प्रजाका पालक राजा हुआ करता है मौलि शब्दका अर्थ मुकुट और शेखर शब्दका अर्थ मुकुटके ऊपरका फूल होता है। मतलब यह कि उस चक्रवर्तीके चरण उन क्षत्रिय राजाओंके मुकुटके ऊपर फूलका काम किया करते है। मौलि—मुकुट शब्द साथमें रहनेसे क्षत्रिय राजाओंमें भी मुकुटबद्ध[3] राजा अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि ३२ हजार मुकुटबद्ध राजा उसकी सेवा किया करते हैं। उन राजाओंके मुकुटके ऊपरके फूल चक्रवर्तीके चरणोंमें रहा करते है, ऐसा भी इस वाक्यका अर्थ हो सकता है।

तात्पर्य—यह कि जिसतरह तीर्थकर कुलकर नारायण प्रतिनारायण बलभद्र कामदेव अथवा गणधर इन्द्र आदि आभ्युदयिक पदोंका लाभ भिन्न भिन्न कारणोंसे हुआ करता है उसी प्रकार चक्रवर्ति पदके विषयनें भी समझना चाहिये। जिसका सम्यग्दर्शन विविध तपश्चरणोंके द्वारा स्पष्ट—विशद तथा कृतिद्वारा बुद्धिगम्य बन जाता है उसीको उन तपश्चरणों के निमित्तसे अनेक अतिशयोंसे युक्त और सर्वोत्कृष्ट भोगोपभोग आदिके साधनोंसे पूर्ण यह पद प्राप्त हुआ करता है।

छह खण्डवर्ती समस्त देवों और मनुष्योंमें जितना बल है उतना बल इस चक्रवर्तीकी दोनों[4] भुजाओंमें रहा करता है। उसकी दृष्टि—चक्षुरिन्द्रिय सूर्यविमानमें स्थित जिनबि-

---

१—क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः॥ रघुवंश। "क्षद्भ्यो दोषेभ्यस्त्रायन्ते रक्षन्ति इति क्षत्राः राजानः इति पं० गोरीलाल जी कृता निरुक्ति

२—क्षत्राणां मौलय इति क्षत्रमौलयः तेषां शेखराणि इति क्षत्रमौलिशेखराणि। तानि चरणेषु येषां ते० इतिनिरुक्त्या राजानस्तेषां मौलयो मुकुटाः तेषु आपाठाः शेखरा तानि चरणेषु येषामिति प्रभाचन्द्राचार्याः

३—मुकुटबद्ध राजाका लक्षण देखो ति० प०गा० नं० ४२। तथा धवला १—३६।

४—आदि पु० २७-३०। यद्बलं चक्रभृन्दोगवर्तिनां नृसुधाशिनाम्। ततोऽधिकगुणं तस्य बभूव भुजयोर्बलम्॥२११॥ आ० प० १५

स्वका दर्शन करनेमें समर्थ रहा करती है जिसका कि विषयक्षेत्र सबसे अधिक—सैंतालीस हजार दोसौ त्रेसठ योजन से कुछ अधिक[1] बताया गया है। उसका शरीर एक कम छयानवे हजार दूसरे वैक्रियिक शरीरोंका निर्माण करनेमें समर्थ रहा करता है जिनके कि द्वारा वह एक साथ सम्पूर्ण छयानवे हजार रानियोंके साथ रमण कर सकता है। वज्रवृषभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान आदि पुण्य प्रकृतियोंके उदयसे अभेद्य अच्छेद्य सुन्दर शरीरसे विभूषित रहा करता है। सोलह हजार गणबद्ध देव जिसकी रक्षा किया करते हैं। कर्त्रन्वय क्रियाओंमेंसे जो पांचवें परमसाम्राज्यका भोक्ता है। सम्यग्दृष्टियोंको प्राप्त होनेवाली चार जातियोंमेंसे जो विजया जातिसे युक्त रहा करता है। इत्यादि अनेकों अतिशयोंका लाभ विना उनके कारणभूत विशिष्ट तपश्चरणोंके तथा उनसे तद्योग्य पुण्यकर्मोंकी प्राप्ति हुए विना नहीं हो सकता। विशिष्ट बलकेलिये वीर्यान्तराय और भोगोपभोगकेलिये भोगान्तराय उपभोगान्तराय, असाधारण सम्पत्ति आदिके लाभ केलिये लाभान्तराय, तथा कल्पद्रुम[2] पूजन और षटखण्ड प्रजाको अभयदानकेलिये दानान्तराय जैसे पापकर्मोंका तीव्र क्षयोपशम आवश्यक है। साथ ही उसतरहके असाधारण शक्तियुक्त सातावेदनीय उच्चगोत्र एवं नामकर्मकी पुण्य प्रकृतियोंके उदयके विना भी उन विषयोंका लाभ नहीं हो सकता। और न उन पापकर्मोंका क्षयोपशम तथा उन पुण्यप्रकृतियोंका बन्ध विना सम्यक्त्वसहचारी प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्य आदि अन्तरङ्ग और अनशन अवमौदर्य रसपरित्यागादि बाह्य तपश्चरणके हो सकता है। इस कार्य परंपराके द्वारा उसके सम्यग्दर्शनका माहात्म्य स्पष्ट होजाता है। यद्यपि यह ठीक है कि स्वयं सम्यग्दर्शन बन्धका कारण न होकर मोक्षका ही कारण है। फिर भी यह बात भी उतनी ही सत्य है और स्पष्ट है कि उसके साहचर्यके विना तद्योग्य पुण्यकर्मोंके बन्धमें कारणभूत शुभ सरागभावोंमे उस तरहकी असाधारण विशिष्टता नहीं आ सकती। यही कारण है कि चक्रवर्तीका वह सातिशय पुण्य उसके सम्यग्दर्शनको स्पष्ट कर देता है।

इस अवसर पर यह प्रश्न हो सकता है कि चक्रवर्तीके असाधारण पुण्य फलको बताते हुए नव निधि और १४ रत्नोंका उल्लेख किया है। किन्तु उसके मन्त्रियोंका कोई नामोल्लेख नहीं है, इसका क्या कारण है? साधारण राजाका स्वरूप भी अठारह प्रकारकी प्रकृतिका आधिपत्य[3] बताया है। जिसमेंकि मन्त्री अमात्यकी भी गणना[4] कीगई है। फिर जो राजाधिराज

१—गोम्मटसार जीव कांड गा० नं १६६।

२—किमिच्छकेन दानेन जगदाशाः प्रपूर्य सः। चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञः कल्पद्रुमो मतः ॥२८॥ सागार अ० २।

३—धवला, गा० १–३६।

४—देखो ति० प० गा० ४३, ४४। तथा धवला १—३७, ३८, ३९।

—सम्राट् है क्या वह १८ प्रकारकी प्रकृतिका स्वामित्व नहीं रखता ? अथवा उसके लिये अठारह प्रकारकी प्रकृतिमें मंत्री और अमात्य परिगणित नहीं किये गये हैं ?

उत्तर—मंत्री और अमात्य चक्रवर्तीके भी रहा करते हैं। परन्तु उनको रत्नोंमें नहीं गिना है। केवल चक्रवर्तीके विचारमें सहायक होते हैं। किये जानेवाले कार्यके विषयमें वे योग्य अयोग्यका परामर्श करनेमें केवल अपने बुद्धिबलसे सहायता करनेवाले हैं। वे किसी भी कृतिकर्म को स्वयं करनेवाले नहीं हैं। किन्तु जो रत्न—चेतनरत्न हैं वे चक्रवर्तीकी आज्ञानुसार काम करनेवाले हैं। इस प्रकार दोनोंमें बहुत बडा अन्तर है। एक तो केवल सम्मति या परामर्शमात्रको देने वाले हैं और जो रत्न हैं वे सब उस सम्मत कार्यको निष्पन्न करनेवाले है। दूसरी बात यह भी है कि जिस तरह ये रत्न आज्ञाका पालन करते हैं उसतरह मंत्रीगण आज्ञा का पालन नहीं करते। क्योंकि उनका कर्तव्य केवल राजाके हिताहितके साथ ही बन्धा हुआ नहीं है, प्रजाके हिताहितके साथ भी सम्बन्धित है। मतलब यह कि मंत्रीगण राजा और राज्यके साथ साथ प्रजाके भी हिताहितका प्रतिनिधित्व करते हैं। इस तरह विचार करनेपर रत्नोंकी अपेक्षा मन्त्रियोंका कार्य अधिक महान् कठिन और गुरुतर भी[१] है। रत्नोंका उल्लेख तो उसके पुण्य फलका अतिशय बताना है। जिससे मालुम होता है कि उसके भोगोपभोग इनके निमित्तसे उसकी इच्छाके अनुकूल और सहज ही सिद्ध हो जाया करते है। अतएव ये भोगोपभोगके अथवा धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थके असाधारण साधन है।

ऊपर कहा गया है कि भूमि शब्द उपलक्षण है। अतएव उसका अर्थ वर्णाश्रमधर्मवती प्रजा करना चाहिये। सो क्या जहांकी प्रजा वर्णाश्रम धर्मका पालन करनेवाली नहीं है वहां कोई राज्य व्यवस्था नहीं है ? यदि नहीं है तो आगममें धर्मकर्मसे बहिर्भूत म्लेच्छोंके[२] भी राज्यों का जो उल्लेख पाया जाता है क्या वह मिथ्या है ? अन्यथा केवल वर्णाश्रमधर्मके पालन करने वाली प्रजाके पालनको ही राज्य कहना अयुक्त आगमविरुद्ध अथवा मिथ्या क्यों नहीं कहना चाहिये ?

उत्तर—ध्यान रहे यह प्रकृत विषय परमसाम्राज्य नामक परमस्थानसे सम्बन्धित है। जिस तरह कोई भी मनुष्य क्यों न हो जहांतक "मनुष्यगति मनुष्य आयुका उदय जिनके पाया जाय उनको मनुष्य कहना चाहिये" इस लक्षणपर दृष्टि रखकर विचार किया जाय तो वह मनुष्य ही है। परन्तु विचारशील व्यक्तियोंने उस पर्यायकी वास्तविक सफलता पर और हित पर दृष्टि रखकर धर्महीन मनुष्यको पशुतुल्य[३] कहा है। इसी तरह जहां वर्णाश्रम धर्मकी रक्षाका लक्ष्य

१—प्रजाविलोपो नृपतीच्छया चेत् प्रजेच्छया चाचरितं स्वनाशः ॥ इत्यादि। यशस्तिलक

२—धर्मकर्म बहिर्भूता त इमे म्लेच्छका मताः ॥ शेषैरन्यैः समाचारैरार्यावर्तेन ते समाः ॥ आदि पु० ३१-१४२। ३—धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः। लोकनीति।

नहीं है उस राज्यको प्रजाके प्राणादिके संरक्षणकी व्यवस्था का एक प्रकारमात्र अवश्य कहा जा सकता है। परन्तु वह धर्मराज्य नहीं है—वह परम स्थान नहीं है। ऐसे राज्योंकी अपरम-स्थानताको व्यक्त करनेके लिये ही आस्तिक आचार्योंने कहा है कि "अन्यथा पुनर्नरकाय राज्यम्[१]"। परम साम्राज्य परमस्थानका प्रयोजन चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रमिक व्यवस्थाका संरक्षण करना है। जो कि मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धिका एक बलवान असाधारण साधन है। गृहस्थावस्था में धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंका[२] अथवा धर्म अर्थ और यश[३] इन तीनों पुरुषार्थोंका अविरोधेन सेवन करना भी धर्म माना गया है। परन्तु वास्तवमें यह धर्म तभी माना जा सकता है जबकि वह मोक्ष पुरुषार्थके अविरुद्ध हो जिसका कि प्रत्यक्ष साधन वर्णाश्रमव्यवस्था है। अतएव जिस राज्यके द्वारा इस व्यवस्थाका संरक्षण होता है वास्तवमें वही परम साम्राज्य है। जो वैसा न करके मानव प्रकृतिको म्लेच्छाचारसे अभिभूत होने और आचार विचारमें पशुतुल्य होते जानेसे रोकनेमें असमर्थ है तो वह किराज्य है। और यदि वह उसमें प्रेरक होता है तो वह सद्धर्म राज्य नहीं—पशुराज्य है। क्योंकि गुण रक्षणीय हैं और जो गुण जितना अधिक महान असाधारण अद्भुत एवं स्वपरके लिये हितरूप है वह उतना ही सर्वप्रथम आदरणीय तथा सर्वात्मना रक्षणीय है। जो राज्य उसकी उपेक्षा करता है वह अपने ही जनपदकी[४] उपेक्षा करता है।

चक्रवर्तीके आभ्युदयिक पदकी महत्ता सर्वाधिक है। तीर्थकर और अरिहंतके सिवाय संसारमें और कोई भी आभ्युदयिक पद इसकी महत्ताका अतिक्रमण नहीं कर सकते। जितने भी मुकुटबद्ध राजा हैं वे सभी इसकी सेवा किया करते हैं। चक्रवर्तीको वे अपनी-अपनी कन्या आदि सार वस्तुएं भेंटमें देकर सम्बन्ध स्थापित करके भी उसकी आज्ञा शिर पर धारण[५] करते और उसका पालन किया करते हैं।

चक्रवर्तीका उनके लिये यही आदेश और उपदेश हुआ करता है कि राजाओंका कर्तव्य कि १ कुलपालन २ मतिपालन ३ आत्मपालन ४ प्रजापालन और ५ समंजसत्व[६] इन पांच कर्तव्योंका अवश्य पालन करें। कुलोंको भ्रष्ट न होने दें, सज्जातित्वका नाश न होने दें। बुद्धि-विवेकशक्तिको नष्ट न होने दें—म्लेच्छादिकों की शिक्षा दीक्षा संगति आदिके द्वारा प्रजाको

१—नीतिवाक्यामृत समुद्देश ६ सूत्र ४४।

२—धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः ॥ नीति वा० मंगल। ३—धर्मं यशः शर्म च सेवमानाः केप्येकशो जन्मविदुः कृतार्थम्। १-१४ सा० ध०। ४—जनस्य वर्णाश्रमलक्षणस्य द्रव्योत्पत्तेर्वा पदं स्थानमिति जनपदः ॥ १६-५ नी० वा०।

५—आज्ञापत्र प्राप्त होने पर प्रथम शिर पर धारण करके फिर खोलकर पढनेकी पद्धति है।

६—अपक्षपातिनी वृत्ति।

आर्यत्वसे हीन एवं जड़वादी न बनने दें, स्व एवं पर शरणागत आदि सबकी अपायसे रक्षा करें, योगक्षेमके[1] द्वारा प्रजाका पालन करें, और प्रजामें मात्स्य[2] न्याय प्रवृत्त न हो इसके लिये निग्रह अनुग्रह करनेमें समर्थ योग्य न्याय और दण्डका ठीक-ठीक उपयोग करें। यही क्षत्रियोंका कर्तव्य है और धर्म है। तथा यही उनका प्रजाके क्षतका त्राण है। अपने इस कर्तव्यमें यदि वे राजा लोग असावधानी रखते है तो चक्रवर्तीके द्वारा वे उचित दण्ड एवं निग्रहके पात्र हुआ करते है। चक्रवर्तीकी इसी तरहकी आज्ञा पालन करने वाले ३२ हजार आर्यदेशोंके अधिपति मुकुटबद्ध[3] राजाओंकी संख्या भी ३२ हजार है।

तीर्थंकर भगवान्से आधे अर्थात् ३२ चमर जिनपर ढोले जाते हैं ऐसे इस चक्रवर्तीका ऐश्वर्य अत्यन्त महान् है। जो कि उसके स्पष्ट सम्यग्दर्शन सहचारी तपाविशेषोंके निमित्तसे संचित सातिशय पुण्यकर्मोंके उदयसे इस लब्ध अभ्युदयकी असाधारण महिमाको प्रकट करता है। साथ ही उसकी प्रभुताशक्तिभी अपूर्व ही है। क्योंकि यद्यपि उसका चक्र स्वयं ही प्रवर्तमान होता है फिर भी उसकी प्रेरक—प्रयोजक कर्त्री वह प्रभुताशक्ति ही है जिसको कि चक्रवर्तीशब्दका निरुक्त्यर्थ बताते हुए आचार्यने प्रभवन्ति क्रिया पदके द्वारा व्यक्त कर दिया है।

विचार करने पर मालुम होता है कि आचार्यने यहां पर इस बात को अभिव्यक्त किया है कि सम्यग्दर्शनके प्रतापसे यह जीव इस तरहके परम साम्राज्य पदको प्राप्त किया करता है, जिसके कि फलस्वरूप न केवल वह स्वयं ही असाधारण धर्म अर्थ कामका अविरोधेन सेवन करके अपनेको मोक्षमार्गमें अग्रसर बना लेता है, मोक्षके निकट पहुंचा देता है। प्रत्युत प्रजामें भी न्यायके रूपमें वीतराग धर्मका प्रवर्तन संरक्षण एवं संवर्धन करके न केवल ऐहिक रक्षा ही किया करता है किन्तु उसे उत्तम सुखके-परमस्थान मुक्तिके प्राप्त कर सकनेमें भी सहायक हुआ करता है।

सम्यग्दर्शनके फलस्वरूप ही परम साम्राज्यकी तरह किन्तु उससे भी उत्कृष्ट आभ्युदयिक पद परम आर्हन्त्य[4] भी प्राप्त हुआ करता है, यह बात आचार्य बताते हैं।

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥३९॥

अर्थ—दृष्टि—दर्शनविशुद्धिके द्वारा अर्थका भले प्रकार निश्चय करलेनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव धर्मचक्रके धारक और लोकके लिये शरण्यभूत हुआ करते हैं। तथा उनके चरण

१—जो अपने राज्यमें नहीं है उसके संग्रहको योग और जो है उसकी सुरक्षा तथा वृद्धिको क्षेम कहते हैं।

२—बलवान् दुर्बलं ग्रसते इति मात्स्यन्यायः।

३—ति० प० गाथा न० १३९२, १३९३।

४—पं० भूधरदासजीने पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी टीकामे प्रथम तीन कल्याणक ही अभ्युदय शब्द से माने है।

कमलोंकी सुर असुर और नरपतियोंके द्वारा ही नहीं अपितु संयमी साधुओंके स्वामी—गणधर देवोंके द्वारा भी स्तुति की जाती है।

प्रयोजन—सम्यग्दर्शनके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले सभी तरह फलोंको जब आचार्य संक्षेपमें बतारहे हैं तब यहां पर परमस्थानोंके लाभके प्रकरणमें संसारमें सर्वाधिक महान् मानेगये आभ्युदयिक पदके लाभके विषयमें उल्लेख न करने पर प्रकृत वर्णन अवश्य ही अत्यधिक अन्यास दोषसे दूषित माना जा सकेगा। अतएव यह अत्यन्त उचित और आवश्यक है कि सम्यक्त्वके साहचर्यसे मिलनेवाले उस आभ्युदयिक पदका निर्देश आवश्य ही किया जाय जो कि न केवल सम्यक्त्वका महान् फल ही है प्रत्युत स्व-पर दोनोंको ही परमनिर्वाणके लाभमें असाधारण कारणभूत सम्यग्दर्शनकी प्रादुर्भूतिके लिये अथवा रत्नत्रयकी सिद्धिके लिये बीज एवं जनक भी है।

यह एक लोकोक्ति है कि 'अपुत्रः[1] पितॄणामृणभाजनम्''। इसका आशय यह है कि यदि कोई मनुष्य पुत्रको उत्पन्न किये विना ही अथवा कुटुम्ब आदिकी भविष्यके लिये समुचित व्यवस्था किये विना ही दीक्षित अथवा लोकान्तरित हो जाता है तो वह अपने पूर्वजोंका ऋणी है। क्योंकि वह उनके द्वारा अन्वयदत्तिके[2] रूपमें प्राप्त अधिकार एवं कर्तव्यके प्रति दुर्लक्ष्य करके उनके प्रति तथा धर्मपरम्पराके प्रति आवश्यक उत्तरदायित्वको नही निभाता।

१—श्री सोमदेव सूरीके नीति वाक्यामृतका यह आ० ५ का १३ नंबरका (मुद्रित प्रति) सूत्र है। यह ग्रन्थ सामान्यतया सभी सद्गृहस्थोंके लिये व्यवहारयोग्य नीतिका मुख्यतया राजाओंके लिये राज्यसे सम्बन्धित राजनीतिका वर्णन करनेवाला है। लोकमें यह जो कहा जाता है कि "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च"। सो यह तो एकान्तवादरूप अयुक्त अग्राह्य एवं अप्रमाण सिद्धान्त है। परन्तु प्रकृत सूत्रका ऐसा आशय नहीं है। यह तो उचित और आवश्यक व्यवस्थाकी दृष्टिसे कहा गया है। प्रथमानुयोगमें वर्णित अनेकों कथाओंके द्वारा इसके आशय और दृष्टिकोणको समर्थन प्राप्त है। वज्रदन्त चक्रवर्ती ने पुत्र पौत्रोंको राज्य ग्रहण करनेके लिये कहा, परन्तु उन्होने वैसा न करके सहदीक्षित ही होना चाहा; तब एक स्तनन्धयपौत्रको राज्याधिकार देकर ही उन्होंने दीक्षा धारण की थी। (आदि पु० प० ८) तथैव मंत्रियोंके समझाने पर उत्तराधिकारीको नियुक्त करके ही पूर्वकालीन राजाओं ने किस तरह राज्यका परित्याग किया इसके लिये दृष्टान्तरूप कथाओंनेसे देखो पुरन्दर—कीर्तिधर—सुकौशलकी कथाएं। प० पु० प० २१, २२। इत्यादि।

२—आगममें बताई गई ४ प्रकारकी दत्तियोंमें (सागा० १-१८) से यह एक है। इसके अनुसार अपने सभी धर्म कर्म पालन पोषण विषयक अधिकार तथा कर्तव्य विधिपूर्वक पंचोंके समक्ष योग्य पुत्र या तत्तुल्य व्यक्तिके ऊपर छोड़ दिये जाते हैं। तत्पश्चात् उसका भी यही कर्तव्य होता है। यहां पर श्लोक भी स्मरणीय है कि—विना सुपुत्रं कुत्र स्वं न्यस्य भारं निराकुलः। गृही सुशिष्यं गणिवत् प्रोत्सहेत परे पदे ॥२१ सागा० अ० ६।

यही बात प्रकृतमें भी समझनी चाहिए। अन्य सम्यग्दृष्टियोंको जो सम्यक्त्वके प्रसादसे फल प्राप्त होते हैं अथवा ऊपर कहे अनुसार आभ्युदयिक पदोंकी प्राप्ति होती है उनका मुख्य प्रयोजन स्वोपकार तक ही सीमित है। परोपकाररूप उनका फल यदि है भी तो वह गौण ही नहीं, अनियत भी है। परन्तु यही एक सम्यग्दर्शनका ऐसा आभ्युदयिक पदरूप फल है जिसके कि ऊपर सामान्यतया कुछ मनुष्योंका सीमित हित साधन कर देना मात्र नहीं अपितु तीन लोकके सभी प्राणियोंका कल्याण करना और नियम रूपसे करना तथा अनन्त अव्याबाध कल्याणको भी संरक्षण प्रदान करना नियमित रूपसे निर्भर है। इस उत्तरदायित्वके कारण प्रकृत आभ्युदयिक फलका मूल्य सर्वाधिक होजाता है। जिस प्रकार अनेक पुत्रोंके रहने पर भी जो कुलको विश्रुत बना देता है वही गणनीय हुआ करता[1] है। अथवा जो राज्य और प्रजा दोनोंके हितको सिद्ध करके सबका अनुरंजन करनेकी सामर्थ्य रखता है वही राज्य का अधिकारी हुआ करता है। अनेकानेक शिष्योंके रहते हुए भी जो संघका समुचितरूपसे संचालन करनेकी योग्यता रखता है उसीको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है। उसी प्रकार प्रकृतमें समझना चाहिये। जिनका सम्यग्दर्शन कुछ विशिष्ट योग्यताओंसे युक्त होता है वही व्यक्ति इस तरहके आभ्युदयिक फलको प्राप्त किया करता है जिसके कि कारण विवक्षित कल्याणरूप धर्मकी संतति विच्छिन्न नहीं हो पाती क्योंकि सम्यग्दर्शनका यह फल अन्य फलों के समान नहीं अपितु तीर्थंकर पद स्वरूप है जिसके कि निमित्तसे निश्चित ही तीर्थकी प्रवृत्ति—सम्यग्दर्शनादि बोधिरूप धर्मकी पुनः संतति प्रचलित हुआ करती है। इस प्रकार मोक्षमार्गके कुलालक्ष्मी पुत्रके सदृश इस अभ्युदयका लाभ भी सम्यग्दर्शनके प्रतापसे ही हुआ करता है, यह बताना ही इस कारिकाका प्रयोजन है।

सम्यग्दर्शनका वास्तविक अंतिम फल निर्वाण—संसारके दुःखोंसे छुटाकर उत्तम सुख—परमनिःश्रेयसपदका लाभ ही है किन्तु जब तक वह प्राप्त नहीं होता तब तक मध्यमें प्राप्त होनेवाले संसारके सम्मान्य सुख स्वरूप पदोंमें यह अंतिम एवं सर्वोत्कृष्ट पद है जैसा कि उसके आगमोक्त प्रशस्तत्वके[2] द्वारा जाना जा सकता है। फिर भी आश्चर्य है कि सम्यग्दृष्टि जीव इस पदको भी अपना साध्य—अन्तिम लक्ष्य पद अर्थात् शुद्ध स्वपद नहीं मानता[3]। उसकी महत्त्वाकांक्षाका विषय तो वही पद है जिसका कि इसके बाद वर्णन किया जायगा। और जिसके कि अनन्तर और कोई पद नहीं है।

१—एको गोत्रे भवति स पुमान् यः कुटुम्बं बिभर्ति ॥ तथा—वरमेकः कुलालम्बी यत्र विश्रूयते पिता ॥ इत्यादि।

२—तित्थयराण पहुत्तं णेहो बलदेवकेसवाणं च। दुक्खं च सवित्तीणं तिण्णि वि परभाग पत्ताइं तथा—तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं। तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो ॥

३—तित्थयरं सपयत्थं अधिगतबुद्धिस्स सुत्तरोअस्स। दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपदं तस्स ॥१७०॥ पंचास्तिकाय।

संसारमें जितने आभ्युदयिक पद हैं वे सब सीमित हैं। राजासे लेकर चक्रवर्तीतकके पदोंका, बल सीमित अधिकारक्षेत्र सीमित, आज्ञा ऐश्वर्य सीमित, कार्य सीमित और फल भी सीमित ही है। मानवेन्द्रोंके सिवाय यदि सुरासुरेन्द्रों के विषयमें विचार किया जाय तो उनका भी बल अधिकार कार्य और फल, द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा सीमित ही है। यदि सराग व्यक्तियोंको भी छोडकर वीतराग यतीन्द्रोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो उनका भी बल शक्ति अधिकार कार्य और फल प्रायः सीमित ही है। यद्यपि गणीन्द्रोंका कार्य और फल कदाचित् निःसीम अथवा अनन्त कहा जा सकता है फिर भी यह तो निश्चित है कि वे उपजीव्य नहीं उपजीवक ही हैं, उनकी शक्तियां और योग्यताएं जो कार्य करती है उनके विषयमें वे एकान्ततः स्वतन्त्र नहीं है। उनकी शक्तियें एवं योग्यताओंका कार्य—जीवन दूसरोंसे—तीर्थंकर भगवान्से प्राप्त अर्थपर ही निर्भर है। यद्यपि संसारके सभी आभ्युदयिक पद कथंचित् स्व और पर दोनोंकी दृष्टिसे हितरूप भी कहे और माने जाते है, तथा हैं भी। किन्तु यह भी सुनिश्चित है कि वास्तवमें इस कारिकामें वर्णित आभ्युदयिक पद ही एक ऐसा पद है जो कि अपनी सभी योग्यताओंके विषयमें न केवल अतुलता और अनन्तताको ही रखता हैं प्रत्युत अपने कृत्यके विषयमें सर्वथा स्वतन्त्र अनुपम अपूर्व और द्रव्य क्षेत्र काल भाव चारों ही दृष्टियोंसे अनन्त भी है।

इस अवसरपर यह बात भी ध्यानमें रखने योग्य है कि इस पदका यहां वर्णन करनेसे कई आवश्यक प्रश्न भी हल होजाते हैं। संसारमें जितने भी सद्धान्तिक—दार्शनिक अथवा धार्मिक ग्रन्थ पाये जाते हैं उन के मूल उपज्ञ वक्ताओंको दो[1] भागोंमेंसे यदि किसीभी एक भागमें रख लिया जाता है तो उनकी प्रामाणिकता—स्वतः प्रामाण्यके विषयमें उपस्थित होनेवाले प्रश्नका कोई भी संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता। यदि उनका वक्ता अस्मदादिके समान सराग एवं अल्पज्ञ है तो स्पष्ट है कि प्रकृत लोगोंके वचनके ही सदृश होनेसे उसके वे वचन भी स्वतः प्रमाण नहीं माने जा सकते। इसके विरुद्ध उनका वैसा वक्ता यदि कोई अशरीर वीतराग सर्वज्ञ ईश्वर है एसा माना जाय तो यह मान्यता भी असंभव होनेसे प्रमाण नहीं मानी जा सकती। क्योंकि वचन मूर्त जड़ हैं और ईश्वर अमूर्त चेतन है। अमूर्तसे मूर्त और चेतनसे जडरूप कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। फलतः मूलवक्ताकी सिद्धि युक्तियुक्त न रहनेके कारण वे सैद्धान्तिक अथवा धार्मिक वर्णन भी स्वतः प्रमाण नहीं माने जा सकते। ऐसी अवस्था में प्रकृत ग्रन्थकी अप्रामाणिकताका परिहार और उसके स्वतः प्रामाण्यकी प्रसिद्धि केलिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसके मूल—उपज्ञ वक्ताका ऐसा स्वरूप बताया जाय जो कि इन दोनों दोषोंसे रहित होनेके सिवाय वास्तवमें वचनकी स्वतः प्रमाणताके लिये उचित

१—वे सशरीर होकर भी अस्मदादिवत् सराग और अल्पज्ञ है? अथवा अशरीर सर्वज्ञ वीतराग हैं?

एवं आवश्यक योग्यताओंसे भी युक्त हो। यही कारण है कि आचार्यने प्रकृत कारिकाके द्वारा उस तरहके वक्ताका तथा प्रकृत ग्रन्थके भी अर्थतः उपज्ञ वक्ताका सहेतुक स्वरूप बता दिया है। उपदेशकी स्वतः प्रमाणताकेलिये उसके वक्ताका जीवन्मुक्त—सर्वज्ञ वीतराग होकर भी सशरीर होना, न केवल उचित समाधान ही है, साथ ही निष्पक्ष व्यक्तियोंके लिये संतोषजनक एवं श्रद्धेय भी है।

यह बात हेतुसिद्ध है, यह तो प्रकृत कारिकासे स्पष्ट हो ही जाता है साथ ही उस पद की आनद्यनन्तता भी स्फुट होती है। क्योंकि यहां पर विवक्षित धर्म के उपदेश और उस धर्म के वक्ताकी परम्परा वीजवृक्षके समान अनादि होकर, फल परम्पराकी अपेक्षा अनन्त भी है यह बात यहांके कथनसे व्यक्त हो जाती है।

इस कारिकामें जो सम्यग्दर्शनका फल बताया गया हैं उससे सम्यग्दृष्टियोंको प्राप्त होनेवाली[1] चार जातियोंमेंसे तीर्थकरोंको प्राप्त होनेवाली परमा जातिका और साथही परमार्हन्त्य नामके छठे परमस्थानका भी बोध होता है, यह बात ऊपरके कथनसे विदित हो सकती है। किन्तु यहां पर प्रयोजन सामान्य आर्हन्त्यसे नहीं अपितु तीर्थकरत्वविशिष्ट आर्हन्त्यसे है ऐसा समझना चाहिये। प्रकृत ग्रन्थमें जिस धर्मका व्याख्यान किया जा रहा हैं उसके भी अर्थतः मूलवक्ता वे तीर्थकर भगवान् ही हैं जिनका कि पद यहां पर सम्यग्दर्शनके फल स्वरूपमें बताया गया है। अपनेसे पूर्ववर्ती तीर्थकर भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट धर्म तीर्थके निमित्तसे नवीन तीर्थप्रवर्तकका प्रादुर्भाव होता है। और यही क्रम नियमितरूपसे चालू रहनेके कारण धर्म और उसके वक्ताका क्रम अनाद्यनन्त सिद्ध होजाता है।

ग्रन्थकर्त्ताने ग्रन्थकी आदिमें जिनको नमस्कार किया है तथा वर्णनीय विषयकी प्रतिज्ञाके समय देशयामि क्रियापदके द्वारा जिस प्रयोज्यकर्त्ता—वर्ण्य विषयके अर्थतः उपज्ञ वक्ताका निर्देश किया है उसका ही यहां पर उपदिष्ट धर्म तीर्थके प्रवर्त्तकरूपमें तथा उस रत्नत्रय धर्ममें भी मुख्यभूत सम्यग्दर्शनके उपान्त्य फल रूपमें बताकर इस कारिकाके द्वारा अनेक प्रयोजन सिद्ध किये हैं। धर्म—सम्यग्दर्शनका अन्तिम फल संसार की निवृत्ति है। किन्तु इसके सिद्ध होनेसे पूर्व जो आभ्युदयिक पद प्राप्त होते है उनमें यह अन्तिम और सर्वोत्कृष्ट पद है; इसी पदसे पुनः आगेकेलिये उस धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति हुआ करती है, यह पद सर्वथा निर्दोष रहनेके कारण पूर्णतया प्रमाण है। उसीका उपदेश भी सर्वात्मना प्रमाण अनुल्लङ्घ्य दुःखविघातक और उत्तम सुखका जनक माना जा सकता है। इसके सिवाय इस पदसे प्रवृत्त होने वाला शासन सभी के लिये किस तरह हितरूप है, और यह पद प्राप्त होने में सम्यग्दर्शन ही किसरूपसे मुख्य

[1]—जातिरैंद्रीभवेद्दिव्या चक्रिणां विजयाश्रिता। परमा जातिरार्हन्त्ये स्वात्मोत्था सिद्धिमीयुषाम्॥१६८॥ आ,प,३९॥

कारण बन जाता है, ये सब बातें भी इस कारिकाके सम्बन्धमें अच्छी तरह विचार करने पर मालुम हो सकती हैं। अतएव यह कारिका अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयोजनवती है।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—

अमरासुरनरपतिभिः—इस पदमें आये हुए शब्दोंका अर्थ प्रसिद्ध है। यद्यपि अमर शब्दका अर्थ निरुक्तिके अनुसार 'न मरने वाला' होता है। परन्तु संसारमें ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो कि अपनी अपनी आयुःस्थिति समाप्त होने पर न मरता हो। आयुःस्थितिकी पूर्णता ही मरण है। और आयुःस्थिति सभी संसारी जीवोंकी पूर्ण होती है और वे अवश्य मरते हैं। फिर भी इस विषयमें दो बातें ज्ञातव्य है। प्रथम तो यह कि कुछ जीव तो ऐसे हैं जो कि आयुः स्थिति पूर्ण हुए बिना नही मरते—नियमसे पूर्ण होने पर ही मरते हैं। और कुछ जीव ऐसे हैं जो इनके विपरीत योग्यता रखने वाले हैं। वे निमित्तविशेषके मिलने पर आयुःस्थितिसे पूर्व भी मरणको प्राप्त हो सकते है। इनमेसे पहले प्रकारके जीव अनपवर्त्यायुष्क और दूसरे प्रकारके जीव अपवर्त्यायुष्क कहे जाते हैं। दूसरी बात यह कि संसारी जीव दो तरहके हैं—एक चरम-शरीरी—उसी भवसे मोक्षको जाने वाले, दूसरे अचरमशरीरी—भवान्तरको धारण करनेवाले। ऊपर जो दो भेद कहे हैं वे अचरमशरीरियोंकी अपेक्षासे ही है। चरमशरीरियोंमें दो भेद नहीं हैं, वे सब नियमसे अनपवर्त्यायुष्क[१] ही हुआ करते हैं। फिर भी उनकी वर्तमान आयुःस्थिति अवश्य ही पूर्ण हुआ करती है। अतएव वे भी अवश्य मरते हैं। सर्वथा अमर कोई भी संसारी सशरीर जीव नहीं है। हां, अनपवर्त्यायुष्क जीवोंको निरुक्त्यर्थके अनुसार कदाचित् अमर शब्द से कहा जा सकता है। परन्तु यहां पर यह भी विवक्षा नहीं है। यहां पर तो यह योगरूढ शब्द हैं। अतएव इसका प्रयोग रूढ अर्थात् देवोंकी चार निकायोंमेंसे ऊर्ध्वलोकमें रहने वाले वैमा-निक देवोंके लिये ही किया गया है। यद्यपि जिस तरह वैमानिक देवोंमें यह अर्थ घटित होता है उसी प्रकार बाकीके सब देवोंमें भी घटित होता है परन्तु सब देवभेदोंमें उनके भी होनेके कारण ये वैमानिक देव भी सब अनपवर्त्यायुष्क ही हैं।

असुर—वैमानिक देवोंसे भिन्न तीन निकायके देवों—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्कोंको असुर कहा जाता है। लोकमें देवासुरसंग्रामकी कथा प्रसिद्ध है अतएव लोगोंमें मान्यता है कि ये सुरोंके साथ युद्ध करते हैं—उन पर शस्त्र आदिका प्रहार किया करते हैं। सो यह बात सर्वथा मिथ्या है। यह कथन देवोंका अवर्णवाद मात्र[२] है। दर्शनमोहके बन्धका कारण है।

१—त० सू० अ० २ सू० ५३ में "चरमोत्तमदेहाः" पाठ पाया जाता है। किन्तु पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धिमें कहते हैं कि 'चरमदेहा इति वा पाठः"। तथा श्री अकलंक देव राजवार्तिकमें कहते हैं कि "चरमदेहा इति केषाचित् पाठः"। तदनुसार सभी चरमशरीरी तथैव अन्तकृतकेवली भी अनपवर्त्यायुष्क ही सिद्ध होते हैं। इसी दृष्टि से यह लिखा गया है।

२—देखो त० सू० अ० ४ सूत्र नं० १० का राजवार्तिक नं० २ से ६॥

हां, यह बात सत्य है कि सम्यक्त्व सहित जीव इन तीन निकायोंमें उत्पन्न नहीं हुआ करता। वहां उत्पन्न होनेके बाद सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है, जब कि सम्यग्दृष्टि जीव नियमसे वैमानिक देवोंमें ही उत्पन्न हुआ करता है। इस तरह उत्पत्तिके अन्तरंग कारणरूप परिणाम भेदकी अपेक्षा दोनोंमें विरोध अवश्य है। किन्तु इसके सिवाय उनमें परस्पर विरोध, आक्रमण युद्ध आदिका कोई भी कारण नहीं है। अस्तु। इनमें जो भवनवासी हैं वे अधोलोकमें और जो व्यन्तर तथा ज्योतिष्क है वे मध्य लोकमें निवास किया करते हैं।

नर शब्दका अर्थ यद्यपि विष्णु परमात्मा आदि भी हुआ करता है किन्तु यहां पर सुप्रसिद्ध अर्थ मनुष्य सामान्य ही अभीष्ट है। पति शब्दका अर्थ "पाति=रक्षति इति पतिः" इस निरुक्तिके अनुसार स्वामी या रक्षक करना चाहिये।

अमराश्च असुराश्च नराश्च इति अमरासुरनराः तेषां पतयः, तैः। इस विग्रहके अनुसार इस कर्तृपदके द्वारा प्रकृत कारिकामें निर्दिष्ट तीर्थकर भगवान्‌को तीनों ही लोकोंके द्वारा स्तुत्य एवं सेव्य सूचित किया गया है। क्योंकि यह शब्द कृदन्त क्रियापद "नूत" के कर्तृकारकके स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। कर्ममें प्रत्यय होनेके कारण कर्त्ताके अनुक्त होनेसे इसमें तृतीया विभक्ति और उनके बहुसंख्यायुक्त होनेसे उसमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

इस पदके द्वारा जहां भगवान्‌का त्रैलोक्याधिपतित्व व्यक्त होता है वहीं गर्भादिक चार कल्याणकोंमें पाई जानेवाली त्रिलोकीपतियों द्वारा की जानेवाली उनके विशिष्ट सेवा के नियोगकी भी अभिव्यक्ति हो जाती है।

यमधरपतिभिः—ऊपरके ही अनुसार यह भी "नूत" क्रियाका कर्तृपद है। यम् धातु का अर्थ उपरम—उपरति या निवृत्ति होता है। अतएव विषयाशा आरम्भ परिग्रह तथा अज्ञान मोहक्षोभयुक्त मनोवृत्तिसे उपरत होना ही यम अर्थात् संयम[1] कहा जाता है इसके जो धारण करने वाले हैं उनको कहते हैं यमधर और जो इनके स्वामी हैं, रक्षक हैं उन गणधरादिकोंको कहते हैं "यमधरपति"। यह पद सम्यग्दर्शनके फलस्वरूप प्राप्त हुए तीर्थकर पदके विषयमें न केवल सरागव्यक्तियोंके सिवाय वीतराग व्यक्तियोंके द्वारा भी सेव्यता एवम् स्तवनीयता को ही बताता है। किन्तु साथ ही उनके चतुर्थ कल्याणकी असाधारण महिमाको भी प्रकट करता है।

"च" शब्द समुच्चय अर्थमें अथवा अनुक्त समुच्चयके अर्थमें समझना चाहिये। क्योंकि प्रथम प्रयुक्त कर्तृपदके द्वारा भगवान्‌की जो सेव्यता बताई गई है उसके अनुसार स्तवन करने वाले इन्द्रोंकी संख्याका प्रमाण ३९ ही होता है। एक तिर्यगिन्द्रका उल्लेख शेष रह जाता

१—वदसमिदिकसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्ह। धारण—पालणणिग्गहचागजओ संजमो भणिदो ॥४६५॥ जी० का०।

है। परन्तु तीर्थंकर भगवान्‌को[1] १०० इन्द्रोंके द्वारा सेव्य माना गया है। अतएव "च" शब्दके द्वारा शेष तिर्यगिन्द्रका भी अनुक्त संग्रह कर लेना चाहिये।

प्रश्न—प्रथम वाक्यमें ही तिर्यक् शब्दका भी उल्लेख करके पूरे सौ इन्द्रोंका ग्रन्थकर्त्ताने निर्देश क्यों नहीं किया?

उत्तर—९९ इन्द्रोंको ग्रन्थकर्त्ताने स्तवनका कर्त्ता बताया है। यह बात तिर्यगिन्द्रोंके द्वारा संभव नहीं है। ज्ञानकी अल्पता और अक्षरात्मक भाषाका अभाव इनके लिये प्रतिबन्धक है। वे इन असमर्थताओंके कारण अन्य इन्द्रोंके समान स्तुति नहीं कर सकते। किन्तु भक्तिवश वे भी वन्दना सेवा आदि क्रिया करते हैं। फलतः त्रिलोकीपतिकी सेवासे पृथक् न रहनेके कारण १०० इन्द्रों की संख्यामें तिर्यगिन्द्रोंको भी परिगणित किया गया है। अतएव आचार्यने यहांपर उनका गौणरूपसे "च" शब्दके द्वारा संग्रह कर लिया है। ऐसा समझना चाहिये।

नूतपादाम्भोजाः—पादौ एव अम्भोजे इति पादाम्भोजे। नूते–स्तुते पादाम्भोजे येषां ते नूतपादाम्भोजाः। अर्थ स्पष्ट है कि—उनके चरण कमलोंको उक्त देवेन्द्रों तथा नरेन्द्रों और यतीन्द्रोंके द्वारा स्तुति की जाती है। यहां पर नूत शब्द उपलक्षणमात्र है। अतएव न केवल स्तुति अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये किन्तु सेवा उपासना अर्चा आराधना आदि सभी भक्तिपूर्वक किये जाने वाले भावोंको समझना चाहिये।

दृष्ट्या—दृष्टि शब्दसे करण अर्थमें यहां पर तृतीया विभक्तिका एकवचन किया गया है। मतलब यह कि अर्थ-मोक्ष-पुरुषार्थका भले प्रकार निश्चय करनेमें जिन जीवोंको यह दृष्टि-दर्शन-सम्यग्दर्शन असाधारण कारण पड़ता है वे जीव इस महान् तीर्थंकरके आभ्युदयिक पदको प्राप्त हुआ करते हैं। तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धको कारणभूत आगममें दर्शनविशुद्धि आदिक सोलह भावनाएं बताई गई है। इनमें मुख्य दर्शनविशुद्धि ही है। क्योंकि उसके विना शेष १५ भावनाएं स्वतंत्रतया अपने कार्यमें समर्थं नहीं हैं। और इन पन्द्रहके विना भी केवल दर्शनविशुद्धिके रहनेपर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध हो सकता[2] है। वह इसके लिये स्वतन्त्र ही समर्थं है। इसलिये यहां पर दृष्टि शब्दसे सामान्यतया सम्यग्दर्शन[3] नहीं अपितु विशिष्ट दर्शन-विशुद्धि भावना अर्थ ग्रहण करना अधिक उचित एवं संगत है।

१—इंदसद वंदियाणं तिहुवणहिद विसद मधुरवक्खाणं। अन्तातीद गुणाणं णमो जिणाणं जिदभवाणं।
तथा—भवणालय चालीसा विंतरदेवाण होंति बत्तीसा। कप्पामर चउवीसा चंदो सूरो णरो तिरिओ।

२—यद्यपि तीर्थंकर कर्मके बन्धमें दर्शनविशुद्धिके साथ शेष १५ में से कोई एक भावना भी अवश्य रहा करती है।

३—प्रायः सर्वत्र इस शब्दका अर्थ सम्यग्दर्शन मात्र ही किया गया है, न कि दर्शनविशुद्धि। किन्तु इस कारिकामें तीर्थंकर शब्दका वर्णन है। अतएव उसकी करणरूप दर्शन विशुद्धि अर्थ उचित है जो कि "सुनिश्चितार्थाः" पदके अर्थसे भी मेल खाती है।

सुनिश्चितार्थाः—सुनिश्चितः, अर्थो यैस्ते । इसका मतलब यह है कि सु = शुद्ध = सम्यक् विधिपूर्वकं = केवलद्विकयोरन्यतरसमीपे[1], निश्चितः = अवधारितः = तीर्थकृत्त्व-भावनानुसारेण[2] कर्तव्यतया दृढीकृतः अर्थोऽभिधेयरूपेण प्रयोजनीभूतत्वेन च श्रेयोमार्गरूपस्तीर्थो यैस्ते । जिन्होंने सम्यक्त्वके साहचर्यसे विधिपूर्वक—केवली अथवा श्रुतकेवलीके पादमूलमें तीर्थ-कृत्त्व भावना द्वारा अथवा अपाय-विचय[3] नामक धर्मध्यानके द्वारा "मैं वास्तविक श्रेयोमार्गका बोध कराकर उद्धार करके ही रहूंगा" इस तरहकी तीर्थप्रणयनकी सरागभावनासे[4] तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध कर लिया है; वे ही इस सर्वोत्कृष्ट आभ्युदयिक पदको प्राप्त किया करते है ।

वृषचक्रधराः—वृषचक्रं—धर्मचक्रं धरन्ति इति वृषचक्रधराः । तीर्थंकर भगवान्के निकट चारों दिशाओंमें चार धर्मचक्र[5] नामक विशिष्ट सातिशय उपकरण रहा करते हैं जो उनके धर्माधिपतित्वके सूचक हैं । इसीकी अपेक्षासे कहा गया है कि वे धर्मचक्रके धारक हुआ करते है । यह पद उस योगीन्द्रको ही प्राप्त हुआ करता है जो कि सब तरहके अस्त्र—शस्त्र और दिव्यास्त्रोंका परित्याग करके प्रशान्त परिणामोंसे जिनेन्द्र भगवान्का आराधन किया करता[6] है । धर्मचक्र शब्दका दूसरा अर्थ धर्मसमूह भी हो सकता है । तदनुसार इसका अर्थ होगा कि वे धर्मसमूह—धर्मके जितने भेद अथवा प्रकार है उन सभीके धारक हुआ करते हैं । क्योंकि वे धर्ममय है, सभी धर्म उस अवस्थामें निष्पन्न एवं पर्यवसन्न हो जाया करते हैं ।

भवन्ति—यह क्रियापद है । जो इस बातको बताता है कि इस तरहके समर्थ कारणके मिलने पर इस पदकी प्राप्ति होती ही रहती है । ढाई द्वीपमें जितनी कर्मभूमियां है उन सभीमें तीर्थंकरोंकी उत्पत्ति नियत है । और वह अनादिसे है तथा अनन्त काल तक होती ही रहेगी ।

लोकशरण्याः—लोकानां शरणे साधवः । सभी शरणागत जीवोंके हितका साधन करने वाले हैं । इसका आशय यह नहीं है कि जो उनके निकट पहुँचकर उनकी सेवा करे वही उनसे हित अथवा उसके साधनको प्राप्त कर सके; अन्य नहीं । मतलब यह है कि जो उनके उपदिष्ट मार्गको स्वीकार करता है वह अवश्य ही उनके समान अनन्त कल्याणको प्राप्त किया करता है । यद्यपि उनके निमित्तसे अपनी-अपनी योग्यतानुसार अन्य भी सभी प्राणी हितको

१—तित्थयरबन्धपारम्भया णरा केवलिदुगन्ते ॥ ९३ ॥ क० का० ।

२—आदिपुराण पर्व ३८ गर्भान्वय क्रियाओमेसे क्रिया नम्बर २६ ।

३—देखो अनगारधर्मामृत अ० १ श्लोक नम्बर २ और उसकी टीका ।

४—कषाय सहित होने पर ही बन्धका कारण हुआ करता है । शुद्धवीतराग सम्यक्त्व बन्धका नही संवर निर्जरा एवम् मोक्षका ही कारण है ।

५—तत्रार्च्य मुदा चक्री धर्मचक्रचतुष्टयम । यक्षेन्द्रैर्विधृतं मूर्ध्ना भ्रमर्नाविम्बानुकारि यत् ॥ ११० ॥ आदि० प० ३५ ॥

६—त्यक्त्वास्त्राण्यस्त्राशस्त्राणि प्राक्तनानि प्रशांतिभाक् । जिनमाराध्य योगीद्रो धर्मचक्राधिपो भवेत् ॥ १७५ ॥ आ० पु० प० ३९ ॥

प्राप्त किया करते हैं फिर भी प्रकृतमें जो अभीष्ट एवं विवक्षित है उस अनन्त कल्याणक उन जीवोंको तो अवश्य ही प्राप्त होता है जो कि उनके उपदिष्ट धर्मकी साक्षात् समव उपस्थित होकर शरण ग्रहण करके अपनेको धर्ममय बना लेते हैं। केवलिपण्णत्तं धम्मं पव्वज्जामि।

तात्पर्य—यह कि सम्यग्दर्शनके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले आभ्युदयिक पदोंमें यह और सर्वोत्कृष्ट पुण्यफल[1] है जिसकोकि तीर्थंकरका पद कहते हैं। इस कारिकाके द्वारा इ की प्राप्तिमें सम्यग्दर्शनके सिवाय भी जो विशिष्ट कारण है—उनका भी निर्देश करते हुए असाधारण महिमा तथा उस पदके द्वारा पुनः प्रवृत्त होने वाली महामहिम परम्पराका भी करण करके बतलाया गया है कि सम्यग्दर्शनके निमित्तसे यह जीव निर्वाण प्राप्तिसे पूर्व कौन असाधारण सातिशय पुण्यफलोंको प्राप्त किया करता है और वे किस तरह और क स्वयं उस जीवके तथा अन्य जीवोंके भी उद्धारमें समर्थ हुआ करते हैं।

यों तो पुण्य कर्म प्रकृतियां ६८ हैं[2] परन्तु उनमें तीन ही प्रकृतियां ऐसी हैं कि के बन्ध सम्यक्त्वके साहचर्यके बिना नहीं हुआ करता। इनमें आहारक और आहारक अ ाङ्ग नाम कर्मोंका बन्ध सातवें[3] गुणस्थानमें हुआ करता है। इनके उदयसे स्वयं उस जै जैसा कि आगममें बताया गया है कदाचित् लाभ मिल सकता[4] है। किन्तु एक तीर्थकर कर्म ही ऐसा है जिससे कि स्वयं उस जीवको तथा अन्य सभी प्राणियोंको नियमसे सुख था ऐहिक अभ्युदयों एवं आमुत्रिक हितका लाभ शीघ्रसे शीघ्र तथा अधिकसे अधिक प्र ोकर ही रहा करता है। इस कर्मका बन्ध चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर अपूर्वकरणके छठे भाग ौर उदय तेरहवें[5] गुणस्थानमें हुआ करता है।

तीर्थकर कर्मका बन्ध "दृष्ट्वा सुनिश्चितार्थाः" इस कथनके अनुसार दर्शनवि ादि भावनाओंके द्वारा हुआ करता है। तीनों ही प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमें से किसी भी स दर्शनसे युक्त कर्मभूमिका कोई भी उत्तम पुरुष यदि चतुर्थादि अष्टम गुणस्थानवर्ती है सको केवलिद्विकका सान्निध्य प्राप्त है तो आवश्यक परिणामोंके होने पर इस ब धको प्राप्त हो सकता है। उस समय जो अपायविचय नामक धर्मध्यानके स ीर्थकृत्व भावनाके सराग परिणाम विशेष हुआ करते हैं वे ही इसके बन्धमें नि

१—पुण्यकर्मोंमें तीर्थंकर नाम कर्म ही सर्वोत्कृष्ट है।

२—कर्मोंकी कुल १४८ प्रकृतियोंमेंसे घातिकर्मोंकी ४७ और अघातियोंकी ५३ घटाने तथा स्पर्श० को पुण्यमें भी सम्मिलित करनेसे पुण्य कर्म ६८ हो जाते हैं।

३—सम्मेव तित्थबन्धो, आहारदुगं पमादरहिदेसु॥ ९२॥ क० का०

४—आहारन्तु पमत्ते. – ९१॥ क० का०। तथा जी० का० गा० नम्बर २३५ से २३६।

५—कर्म जी० गा० नम्बर २६१।

हैं किन्तु ये परिणाम सम्यक्त्व सहित जीवके ही हुआ करते हैं अत एव तीर्थंकरत्वका कारण सम्यग्दर्शन माना गया है। बन्धके समय जो जीवका तीर्थकृत्व—श्रेयोमार्ग प्रणेतृत्वकेलिये दृढ निश्चय हुआ करता है वही निश्चयका संस्कार अपने लिये योग्य आर्हन्त्य के निमित्तको पाकर तीर्थंकर नामकर्मके उदयमें निमित्त बन जाता है जिससे कि जगदुद्धारमें समर्थ दिव्यध्वनिका निर्गम हुआ करता है। इस कारणकलाप और कार्यकारणभावकी परम्परामें मोक्षमार्गोपदेश की रंगभूमि पर मुख्यतया अभिनय करनेवाली सूत्रधार सम्यग्दृष्टिकी सहचारिणी दर्शनविशुद्धि भावना ही है।

ध्यान रहे कि जिसतरह सम्यग्दर्शन बन्धका कारण न होकर भी सरागभावोंका सहचारी होनेके अपराधमात्रसे तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धमें कारण मानागया है जो कि सर्वथा मिथ्या नहीं किन्तु सर्वथा सत्य है उसी प्रकार आर्हन्त्य—अनन्त चतुष्टय भी वस्तुतः तीर्थंकर कर्मके उदयका कारण न होकर साहचर्यके कारण ही निमित्त माना गया है। "इस प्रकृतिके बन्ध और उदयके समयकी दोनों अवस्थाओंमें निमित्तसंबंधी यह एक अपूर्व आश्चर्यजनक विशेषता पाई जाती है कि बन्धके विषयमें जहां सर्वोत्कृष्ट अभयदानकी भावना तथा असदृश-दयासे पूर्ण सराग भाव निमित्त हैं, तब उदयके लिये अनन्त अभयदानकी क्षमता एवं निर्दयता[1] से युक्त वीतराग भाव निमित्त है। इसका भी क्या कारण है? तो इस सम्बन्धमें सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करने पर मालुम होता है कि सम्यग्दृष्टिका लक्ष्य ही आत्मनिर्भर हुआ करता है। मुमुक्षु मिथ्यादृष्टि जीव जहां पर सापेक्ष एवं अनात्मनिर्भर लक्ष्यसे ही युक्त रहा करता है तब उससे सर्वथा विरुद्ध मुमुक्षु सम्यग्दृष्टि जीव परनिरपेक्ष एवं आत्म निर्भर लक्ष्यसे ही युक्त रहा करता है। अतएव अपने पुरुषार्थके बल पर गुणस्थान क्रमसे ज्यों-ज्यों उसका विकास बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसकी आत्मनिर्भरता भी बढ़ती जाती है। और अन्तमें आर्हन्त्य अवस्थाको पाकर वह पूर्णतया आत्मनिर्भर हो जाता है। उस अवस्थाको निमित्त पाकर तीर्थंकर प्रकृति उदयमें आकर अपना काम किया करती है।

तीर्थंकर भगवानके अतिशय चार भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। शरीर वाणी भाग्य और आत्मा[2]। कारिकाके पूर्वार्थ द्वारा मुख्यतया भाग्यका अतिशय, वृषचक्रधराः कहकर आत्माका अतिशय तथा लोकोंका शरण्य बताकर वाणी एवं शरीरका अतिशय प्रकट किया गया है।

तीर्थंकर तीन तरहके हुआ करते है। दो कल्याणकवाले, तीन कल्याणकवाले और पांच कल्याणकवाले। जिन चरमशरीरी अनगारोंको तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो जाता है वे दो

१—निष्क्रान्तो दयायाः निर्दयः। दयायाः सरागरूपत्वात्।

२—आ० पु० प० ३८।

कल्याणकवाले हुआ करते हैं। क्योंकि उनके शेष दो—ज्ञान और निर्वाण कल्याणक ही हुआ करते हैं। यदि उन चरमशरीरियोंको सागार अवस्था—चतुर्थ या पंचम गुणस्थानोंमें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध प्राप्त हुआ करता है तो वे शेषके तीन कल्याणकोंके भोक्ता हुआ करते हैं। यदि अचरम-शरीरियोको उसका बंध होता है तो वे पंच कल्याण वाले हुआ करते हैं। ऐसा मालुम होता है कि प्रकृत कारिकामें सम्यग्दर्शनके फलस्वरूप पांचकल्याणक वाले ही तीर्थंकरोंको लक्ष्यमें रखकर कहा गया है। किन्तु यह कथन दो या तीन कल्याणकवालोंमें भी घटित हो सकता है।

यद्यपि तीर्थंकर प्रकृतिका उदय तेरहवें गुणस्थानमें ही हुआ करता है जैसा कि ऊपर बताया गया है फिरभी अनेक पुण्यकर्मों और अतिशयविशेषोंसे युक्त यह कर्म उदयसे पूर्व भी योग्य कालके भीतर अनेक अद्भुत महत्ताओंको प्रकट किया करता है। यह उनके भाग्य सम्बन्धी अतिशयोंमें ही परिगणित किया जा सकता है कि गर्भमें अवतीर्ण होनेसे छहमाहपूर्व यदि वे स्वर्गमें होते हैं तो उनकी मन्दारमाला आदि म्लान नहीं हुआ करती और यदि नरक में रहते है तो देवोंके द्वारा उनके उपसर्गोंका निवारण होजाया करता[1] है। तथा रत्नवृष्टि, मातापिताकी इन्द्रादिके द्वारा पूजा, ५६ कुमारिकाओंके द्वारा माताकी विशिष्ट सेवा और गर्भशोधन आदि कार्य भी इसी तरहके है। जन्मके समय चतुर्णिकाय देवोंके यहां अनाहत ध्वनि आदि होना तथा मन्दराभिषेक आदि क्रियाओंका होना, प्रतिदिन देव इन्द्र आदिके द्वारा उनकी सेवा, तथा दीक्षा कल्याणकके समय अभिषेक, शिविकावहन आदि कार्य भी इसी कोटिमें सम्मिलित किये जा सकते हैं। ज्ञानकल्याणके होने पर उनका समवसरणमें चतुर्णिकाय के देवों देवियो मनुष्यों मानुषियों और तिर्यंचोंके द्वारा ही नहीं, यतियों यतिपतियों—गणधरों एवं केवलियोंसे भी वेष्टित रहना भी त्रैलोक्याधिपतित्वके लिये निमित्त उस लोकोत्तर पुण्यकर्म तीर्थंकर नामकर्मके उदयरूप भाग्यका ही अतिशय कहा जा सकता है। इस तरह पूर्वार्धके द्वारा चार कल्याणकोंमे पाया जानेवाला भाग्यका अतिशय क्रमसे मुख्यतया अमरपतियों असुरपतियों नरपतियों एवं यतिपतियोंका निर्देश करके स्पष्ट कर दिया गया है।

तीर्थंकर भगवान्‌का धर्मचक्र उनके विहारके समय आगे आगे चलता है यह तो उनका अतिशय सुप्रसिद्ध ही है। किन्तु उनकी आत्मा स्वयं धर्मचक्र—धर्मोंके समूहरूप ही है। क्योंकि धर्मके जितने भी प्रकार बताये गये है वे उन सभीसे पूर्ण हैं। उनकी आत्माका स्वभाव[2] प्रकट हो चुका है, रत्नत्रयरूप धर्म उनमें पूर्णतया प्रकाशमान है, उत्तमक्षमा आदि धर्मोंसे युक्त हैं, दयाकी सीमा पार करके वीतराग बन चुके हैं। भगवान् गुणभद्रस्वामीके द्वारा

१—तित्थयरसत्तकम्मे उवसग्गणिवारयं कुणंति सुरा। छम्माससेसणिरए सग्गे अमलाणमालाओ॥

२—धम्मो वत्थुसहावो, इत्यादि।

वर्णित धर्मके आठों प्रकारोंसे[1] भी न्यस्त—निक्षिप्त है। कुन्दकुन्द भगवान्‌के द्वारा व्याख्यात स्वयम्भू पदसम्बन्धी स्वाश्रित षट्कारकधर्मसे[2] विभूषित हैं। सिद्धान्त शास्त्रोक्त नव क्षायिक[3] लब्धियोंको भी प्राप्त हैं, मोक्षमार्गकी भूमिकाको पारकर शुद्ध समयसाररूप अन्तिम अखण्ड धर्मके तट पर विराजमान हैं। यह उनकी द्रव्यगुणपर्याय सम्बन्धी अन्तरंग विशुद्धि आत्माश्रित अतिशय है। यही कारण है कि उनकी धर्मात्मा धर्ममूर्ति धर्मध्वज धर्माराम आदि शब्दोंके द्वारा स्तुति की गई है।

उनके सहजात शारीरिक असाधारणगुण[4] शारीरिक महिमाको प्रकट करते हैं। उनकी दिव्यदृष्टिका[5] माहात्म्य भी अनुपम है। जिस शरीरके देखनेमात्रसे चारणर्षियों तक का अज्ञान निवृत्त[6] हो जाता है उसकी असदृश कल्याणरूपताका वर्णन कौन कर सकता है।

वाणी सम्बन्धी लोकोत्तर अतिशय तो प्रसिद्ध है ही। जो अनक्षरी होकर भी सर्व भाषात्मिका है, सबके लिये हितरूप है, अन्तरंगमें काङ्‌क्षा आदि दोषोंसे रहित है और बाहर में श्वासादिके कारण जिसका क्रम अवरुद्ध नहीं हुआ करता, जो अन्य अनेक भाषासम्बन्धी दोषोंसे भी मलिन नहीं है, और समस्त शान्तपरिणामी संज्ञी पंचेन्द्रिय जिसका श्रवण कर सकते हैं। उस अपूर्व तत्त्व एवं तीर्थका प्ररूपण करनेवाली सर्वज्ञकी वाणीके माहात्म्यका कौन वर्णन कर सकता है जिसके कि कारण ही आज श्रेयोमार्ग प्रवर्तमान है, जीवमात्र सुरक्षित[7] है, और

१—धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते, धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः। धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद् भवभृतां धर्मस्य मूलं दया, धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म मां पालय॥ आत्मानुशासन।

२—देखो प्रवचनसार १-१६ की तत्त्वप्रदीपिका (अमृतचन्द्र) तथा तात्पर्यवृत्ति (जयसेनाचार्य)।

३—त० सू० अ० २ सूत्र नं० ४ "ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च। च शब्देन सम्यक्त्व चारित्रे। तथा—केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो। णवकेवललद्धुग्गमसुजणियपरमप्पववएसो ॥६३॥ जी० का०।

४—जन्मसम्बन्धी दश अतिशय—शरीरकी १ अत्यन्त सुन्दरता, २ अतिशयितसुगन्ध, ३ निःस्वेदत्व, ४ निर्नीहारता, ५ प्रियहितवचन, ६ अतुल्यबल, ७ श्वेतवर्ण दुग्धरक्त, ८ एक हजार आठ लक्षण, ९ समचतुरस्र संस्थान, १० वज्रवृषभनाराच संहनन।

५—नीलांजनाकी मृत्युके होने पर रसभग न होनेके लिये किसीको भी मालुम न हो इतनी शीघ्रता से विक्रियासे दूसरी नृत्यकारिणी इन्द्र द्वारा सभामे उपस्थित होने पर किसी को भेद न दीखने पर भी वृषभेश्वरको वह दीखगया॥

६—वीर भगवान्‌का शरीर दीख जाने मात्रसे चारणमुनिराजकी शंका निवृत्त हो जानेके कारण ही उन्होंने भगवान्‌का नाम सन्मति रक्खा था।

७—यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितोष्ठद्वयम्, नो वाञ्छाकलितं न दोषमलिनं न श्वासरुद्धक्रमं। शान्तामर्षविषैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः, तन्नः सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादपूर्वं वचः॥

भव्य जीव अज्ञानान्धकारसे निकलकर अद्भुत आत्मप्रकाशको प्राप्तकर अनन्तकालके लिये अव्याबाधस्वरूपको सिद्ध कर सके हैं और कर सकते हैं।

इस तरह अपने अद्भुत गुणोंके कारण जिस पदकी जीवन्मुक्त अवस्था तीन लोकके सभी प्राणियोंके लिये शरण्यभूत है वह सम्यग्दर्शनका महान् फल अन्य प्रकारसे कभी भी संभव नहीं है। यह उसका ऐसा लोकोत्तर आभ्युदयिक फल है जो कि स्वयं सर्वोत्कृष्ट पुण्य-फल होनेके सिवाय अन्य प्राणियोके लिये भी समस्तकल्याणका कारण है। जिसकी आराधना इस लोकके इष्ट फलोंकी ही प्रदात्री नहीं अपितु संसारातीत अनन्त शिवरूप अवस्थाकी भी प्रकाशिका और प्रदात्री है।

इस तरह सम्यग्दर्शनके फल स्वरूप प्राप्त होने वाले अनिष्टविघात और इष्टावाप्तिरूप दोनों ही तरहके फलोंमेंसे ऐहिक अभ्युदयोंका वर्णन करते हुए अन्तिम महान् पुण्यफल—तीर्थंकर पदका इस कारिकाके द्वारा वर्णन किया गया। इसमें तीर्थंकर पदकी प्राप्तिका कारण· स्वरूप और फल बतादिया गया है। पांचों ही कल्याणकोंकी महिमाके साथ साथ परमार्हन्त्य परम-स्थान और परमा नामकी जातिका भी वर्णन इसीके साथ होजाता है।

अब सम्यग्दर्शनके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले अलौकिक फलका वर्णन करते हैं—

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः॥४०॥

अर्थ—दर्शन ही है शरण जिनको ऐसे जीव उस शिव—परमनिःश्रेयस पदको प्राप्त किया करते हैं जोकि मलरहित है, जरा—वृद्धावस्था, रुजा—रोग, क्षय—हानि अथवा मरण चारों तरफकी विशिष्ट बाधाओंसे तथा शोक भय शङ्कासे रहित है। एवं जिस के होनेपर जीवके सुख विद्या और विभव गुण सर्वोत्कृष्ट अपनी पूर्ण शुद्ध अवस्थापर पहूंच जाया करते हैं।

प्रयोजन—सम्यग्दर्शनके फल दो प्रकारके हो सकते हैं और वे दोनोंही प्रकारके फल यहां इस अध्यायमें बताये गये हैं। एक तो कर्मसे सम्बन्धित अथवा सांसारिक और दूसरा कर्मरहित अथवा संसारातीत। कर्म और संसारका सम्बन्ध नियत है। जबतक कर्म हैं तबतक संसार है, और जबतक संसार है तबतक कर्म हैं। कर्मके मूलमें दो भेद हैं—पुण्य और पाप। अथवा तीन भेद हैं—द्रव्यकर्म भावकर्म और नो कर्म। इनमेंसे पापकर्म और उनके फलोपभोगके लिये अधिष्ठानरूप नोकर्म अनिष्ट है। ये सब निश्चयसे भी अनिष्ट हैं और व्यवहारसे भी अनिष्ट हैं। इसके सिवाय जितने पुण्यकर्म है और उनके योग्य विपाकाशयरूप नोकर्म है वे सब इष्ट है। यद्यपि परमार्थतः—संसाररूप और उसके कारण होनेसे वे भी मुमुक्षुकेलिये अन्ततो गत्वा —उपादेयरूप न होनेसे अनिष्ट ही है। क्योंकि वे भी वास्तवमें अपनी आत्माकी निज शुद्धावस्था

रूप न होनेके कारण तत्त्वतः उपादेय नहीं हैं। फिर भी वे पुण्यरूप अवस्थाएं अन्तिम लक्ष्य तथा उपादेय अवस्थाकी सिद्धिमें साधन होनेसे अवश्य ही कथंचित् उपादेय भी हैं। अत एव वे इष्ट हैं। मतलब यह कि जो पापरूप अवस्थाएं है वे तो सर्वथा अनिष्ट ही हैं किन्तु जो पुण्यरूप अवस्थाएं हैं वे कथंचित् इष्ट हैं और कथंचित् अनिष्ट है। ये पुण्यरूप अवस्थाएं लोकव्यवहारकी दृष्टिसे तो इष्ट है ही परन्तु कथंचित् परमार्थकी साधन होनेसे तात्त्विकदृष्टिसे भी इष्ट ही है। क्योंकि साधनके विना साध्य सिद्ध नहीं हुआ करता अतएव साधनके रूपमें वे मुमुक्षुके लिये भी इष्ट ही हैं। क्योंकि यद्यपि सम्यग्दृष्टि अथवा मुमुक्षुके वास्तविक लक्ष्य निर्वाणका साक्षात् साधन शुद्धोपयोग ही है, शुभोपयोग साक्षात् साधन नहीं है। इस दृष्टिसे वह अप्रयोजनीभूत एवं अनिष्ट ही है फिर भी शुभोपयोगके विना शुद्धोपयोग होता नहीं है। अतएव पूर्व अवस्था में शुद्धोपयोगकी अन्यथानुपपत्तिके कारण हठात् आदरणीय एवं अभीष्ट माना[१] गया है।

ध्यान रहे कि साधन दो प्रकारके हुआ करते हैं एक समर्थ दूसरे असमर्थ। जिनके व्यापारके अनंतर अव्यवहित उत्तर क्षणमें ही कार्य की निष्पत्ति हो जाती है, वे सब समर्थ कारण है। और जिनके सहयोगके विना कार्य नहीं हुआ करता उनको असमर्थ कारण कहा करते हैं। पुण्यरूप अवस्थाएं इसी तरहकी असमर्थ कारण हैं।

ऊपर जो कुछ वर्णन किया गया है उससे मालुम हो सकता है कि आचार्यने कारिका नं० ३५ के द्वारा सम्यग्दर्शनका अनिष्टविघातरूप फल बताकर कारिका नं० ३६ से इष्टावाप्तिरूप फलका वर्णन किया है। कार्यकी सिद्धिकेलिये प्रतिबन्धक कारणका अभाव और साधकरूप कारणोंका सद्भाव उचित ही नहीं, आवश्यक भी हैं।

सम्यग्दर्शनका वास्तविक फल निर्वाण ही है जैसाकि ऊपर अनेक वार कहाजा चुका है। किन्तु यह बात भी सुनिश्चत ही है और कही जा चुकी है कि कोई भी कार्य अपने कारणोंके विना निष्पन्न नहीं हो सकता। यह बात भी यहां ध्यानमें रहनी चाहिये कि यदि कोई व्यक्ति साधन या कारणका अर्थ कार्य के समय उपस्थितिमात्र ही करता है तो यह ठीक नहीं है। वह अकिंचित्कर कारण, उदासीन कारण साधक कारण और समर्थकारण तथा कारण और करण का स्वरूप एवं उनके अन्तरको न समझनेके कारण अपनी तत्त्व और तीर्थ दोनोंके विषय में अनभिज्ञता ही प्रकट करता है।

आचार्य श्रीने सम्यग्दर्शनके तात्त्विक फल निर्वाणकी सिद्धिमें साधकरूप जिन आभ्युदयिक पदोंका वर्णन किया है वे छह परमस्थान और चार जातिके रूपमें हैं। इनमेंसे अन्तिम

१—व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक् पदव्यामिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः। तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित्॥५॥ परमा०त०॥

परमार्हन्त्य स्थान और परमा जाति जिसका कि ऊपरकी कारिकामें वर्णन किया गया है ऐसे पद है जो कि उसी भवमें निर्वाणके साधक हैं। शेष स्थान और जातियोंकेलिये उसीभवसे मोक्षप्राप्त होनेका नियम नहीं है फिर भी वे साधन अवश्य है जैसा कि ऊपरके कथनसे मालुम हो सकता है। कर्मसम्बन्धित इन साधनभूत पदोंके निमित्तसे सम्यग्दर्शन का जो अन्तिम कर्मरहित संसारातीत परमनिःश्रेयसरूप फल प्राप्त होता है अब यहां उसका वर्णन भी उचित और क्रमप्राप्त है। इसके साथ ही यह नियम है कि सम्यग्दर्शनका यह परमनिर्वाणरूप फल परमार्हन्त्य पूर्वक ही हुआ करता है तथा इस जीवन्मुक्त आर्हन्त्य अवस्था प्राप्त करनेवालेको उसी भवसे परमनिर्वाण भी प्राप्त होता ही है। इस प्रसङ्गपर यह बात भी ध्यानमें रखने योग्य है कि दोनों ही मान्यताएं मिथ्या हैं कि परमनिर्ग्रन्थ अवस्था दिगम्बर जिन मुद्रा धारण किये विना तथा तपःपूर्वक अर्धनारीश्वर बने विना सग्रन्थ अवस्थासे भी निर्वाण पद प्राप्त हो सकता है। अथवा परमनिर्वाणको प्राप्त न करके अनन्तकालतक जीवन्मुक्त अवस्थामें ही जीव बना रहता है। इस दृष्टिसे भी परमार्हन्त्यके अनन्तर अवश्य प्राप्त होनेवाली सप्तम परमस्थानरूप निःश्रेयस अवस्थाका वर्णन करनेवाली यह कारिका अवश्य ही प्रयोजनवती है।

इसके सिवाय संसारातीत अवस्थाके विषयमें जो अनेक प्रकार की विपरीत मान्यताएं है, उन सबका निराकरण करके वास्तविक स्वरूपका बताना भी उचित और आवश्यक है। क्योंकि धर्मके वर्णनकी प्रतिज्ञाके समय उसका जो कर्म निवर्हणरूप उत्तम सुख फल बताया गया है उसी धर्मके मुख्य एवं प्रथम स्थानभूत सम्यग्दर्शनके वर्णन करते हुये उसके फल निर्देश के अवसर पर अन्तमें उसी कर्म निवर्हणरूप उत्तम सुखका स्वरूप बताकर विपरीत मान्यताओंके विषयमें जो अतत्त्वश्रद्धान होता है अथवा हो सकता है उसका परिहार करके उसके तत्त्वभूत स्वरूपके विषयमें सम्यक् श्रद्धान कराना आवश्यक भी है। क्योंकि सम्यग्दर्शनके विषयभूत सात तत्त्वोंमें मोक्षतत्त्व प्रधान है अतएव उसका ही वर्णन करने वाली यह कारिका उस आवश्यक प्रयोजनको पूर्ण कर देती है। उपर्युक्त आर्हन्त्य पदके पूर्ण निर्दोष रहने पर भी उससे भी सर्वथा विशुद्ध इस परम निर्वाण पदमें कितनी और किंभूत किमाकार विशेषता है यह बात भी इस कारिकाके अर्थ पर ध्यान देनेसे मालुम हो सकती है।

इस तरह विचार करने पर इस कारिकाके अनेक प्रयोजन दृष्टिमें आ सकते हैं।

शब्दोंका सामान्य विशेष अर्थ—

शिवम्—भजन्ति क्रियाका अनुक्त कर्मपद रहनेके कारण शिव पदसे द्वितीयाका एक वचन हुआ है। शिव कल्याण श्रेयस आदि शब्द पर्यायवाचक हैं। यहां इसका अभिप्राय सर्वविध पुद्गलके सभी सम्बन्धोसे रहित आत्माकी शाश्वतिक सर्वविशुद्ध अवस्थासे है। इस अवस्थामें संसारकी सभी पर्यायोंसे और खासकर आर्हन्त्य अवस्थासे भी क्या-क्या अधिक

प्रयोजनीभूत उपादेय महत्ताएं पाई जाती है सो सब इस पदके विशेषणोंके द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। सम्यग्दृष्टिको यही अपनी अन्तिम शुद्ध अवस्था प्राप्य[1] है इस बातको कर्म पद सूचित करता है। उसका एक वचन इस बातको प्रकट करता है कि संसार परिभ्रमणके समय जीवमें पुद्‌गलोंके सम्बन्धसे जो विभिन्न प्रकारसे विविधता पाई जाती है वह यहांपर सर्वथा एवं सर्वदाके लिये निर्मूल हो जाया करती है। मतलब यह कि यह अवस्था परनिमित्तक भावों से सर्वथा विमुक्त रहनेके कारण समस्त विविधताओंसे शून्य अतएव एकरूप है।

अजरम्—यह तथा आगेके "अरुजम्" आदि सभी पद "शिवम्" के विशेषण हैं। अतएव सभीमें द्वितीयाका एक वचन पाया जाता है। जरा शब्द जॄ धातुसे बनता है जिसका कि अर्थ वयोहानि होता है। शरीरमें शिथिलताका आ जाना इन्द्रियोंकी शक्तिका कम होजाना बाल पक जाना, दांत गिर जाना, औदर्य अग्निका मन्द पड़ जाना, शरीरमें बलि—झुर्रियों का आ जाना, और दृढ़तापूर्वक काम करनेकी स्फूर्ति—सोत्साह वृत्तिका न रहना, ये सब जरा वृद्धावस्थाके सूचक हैं। इनके द्वारा वयोहानिका परिज्ञान हो जाता है। मालुम हो जाता है कि अब वय—आयु हानि—क्षीणताकी तरफ उन्मुख है। कितने ही लोग युवावस्थामें भी इन चिन्होंसे युक्त देखे जाते हैं और बहुतसे लोग आयुकी अपेक्षासे वृद्ध होने पर भी इन चिन्होंसे अधिकतर अनभिभूत पाये जाते है। इसका कारण आयुकर्मके नो कर्मरूप शरीरमेंक्रमसे शिथिलता आजाना और दृढताका बना रहना है। अतएव जिनके शरीर और अंगोपांगोंके बन्धन--संघातमें अन्तरंग बहिरंग कारणोंके निमित्तसे जब भी शिथिलता आ जाती है तभी ये चिन्ह प्रकट हो जाया करते हैं। जो इनसे सर्वथा रहित हैं वे ही अजर हैं। जहां तक जीव, शरीर और उसके कारणभूत कर्मोंसे तथा नो कर्मसे सर्वथा मुक्त नहीं हुआ है वहांतक उसको तत्त्वतः एवं सर्वथा अजर नहीं माना या कहा जा सकता है। अतएव इस विशेषणके द्वारा बताया गया है कि यह संसारातीत शिवरूप अवस्था ही वास्तवमें अजर है। और उसके निमित्तसे होनेवाली आकुलताओंसे भी पूर्णतया परिमुक्त है। क्योंकि यही एक पद है जो कि जराके निमित्तभूत सभी द्रव्यकर्मों—मुख्यतया नामकर्मकी सम्बन्धित सभी प्रवृत्तियों तथा उनके उदयसे होनेवाले अशुद्ध भावों—भावकर्मों एवं तद्योग्य नोकर्मोंसे भी सर्वथा रहित है।

अरुजम्—न विद्यते रुक् = रुजा = व्याधिर्यस्य यत्र वा, अथवा न रुजति स अरुजस्तम्। जो रोगों = शारीरिक व्याधियोंसे रहित है उसको कहते हैं अरुज। शरीरमें व्याधियोंके न होने अथवा होनेका क्रमसे मुख्य कारण नामकर्मका भेद स्थिर अथवा अस्थिर नामकर्मका

१—शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्वं कलयन्। प्र० सा० गा० १-१६ तत्त्वप्रदीपिका। तथा-नित्यानन्दैकस्वभावेन स्वयम् प्राप्यत्वात् कर्मकारकम् भवति॥ ता० वृ०।

उदय है। क्योंकि शरीरकी धातु[1] उपधातुओंकी साम्यावस्थाका ही नाम स्वास्थ्य है और उन की विकृति अथवा विषमताको ही व्याधि—रोग कहते है। स्थिर नामकर्मके उदयसे वे स्थिर रहा करती है। और अस्थिर नामकर्मके उदयसे वे विकृत अथवा अस्थिर हुआ करती हैं। लोक व्यवहारमें जबतक उत्पन्न हुई व्याधिका मूलकारण सर्वथा निःशेष नहीं हो जाता तबतक वास्तव में नीरोगता नहीं मानी जाती। उसी प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टिसे तत्त्वतः विचार करने पर जबतक व्याधियोंकी उत्पत्तिके मूलकारण द्रव्यकर्म और भावकर्म तथा उनके आधारभूत शरीर एवं नोकर्मकी संतति सर्वथा निर्मूल नहीं हो जाती तबतक उस जीवको पूर्णरूपेण और अनन्तकाल के लिये नीरोग नहीं कहा जा सकता। शरीरके नीरोग रहते हुए भी रोगोंके अंतरंग कारण-भूत कर्मोंका जबतक अस्तित्व है तबतक वह संसारी जीव एकान्ततः नीरोग नहीं है। यही बात इस विशेषणके द्वारा दिखाई गई है कि रोगों सम्बन्धी दुःखों एवं आकुलताओंसे यह कर्मत्रय-शून्य अवस्था सर्वथा परिमुक्त है और इसीलिये पूर्णतः शिवरूप है।

अक्षयम्— क्षय शब्द "क्षि"[2] धातुसे बनता है जिसका कि अर्थ विनाश होता है। जिसका क्षय न हो—जो क्षयसे रहित है, अविनश्वर है उसको कहते हैं--अक्षय। यद्यपि इस शब्द के विशेषणरूप होनेके कारण अपने विशेष्यके अनुसार विभिन्नरूपमें भी अर्थ हो सकते हैं। परन्तु यहां पर आत्माकी शिवपर्यायका विशेषण होनेसे उसकी अविनश्वरतारूप विशेषताको यह शब्द बताता है।

यह तो सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि एकान्ततः किसी भी द्रव्यका सर्वथा क्षय—निरन्वय विनाश नहीं हुआ करता। क्योंकि द्रव्योंमेंसे किसीका भी निरन्वय विनाश अथवा किसी भी द्रव्यका असदुत्पाद मानने पर कोई तत्त्वव्यवस्था ही नहीं बन सकती। अतएव उत्पाद और व्ययका निरूपण द्रव्यकी दृष्टिसे नहीं अपितु उसकी अवस्थाओंकी अपेक्षासे ही किया गया है। यहां पर भी यही बात है। न तो क्षय शब्दका अर्थ सर्वथा अभाव निरन्वय विनाश है और न अक्षयशब्दका अर्थ कूटस्थता ही है। एक अवस्थाकी अपेक्षा क्षय शब्दका प्रयोग है और दूसरी अवस्थाकी अपेक्षा अक्षय शब्दका प्रयोग किया गया है। क्योंकि जीवद्रव्यकी सामान्य-तया दो अवस्थाएं है—एक संसारी और दूसरी मुक्त[3]। इनमेंसे संसारावस्थाकी अपेक्षा क्षय

१—रस रक्त मांस मेद अस्थि और शुक्र ये सात धातु है। और वात पित्त श्लेष्मा सिरा स्नायु चर्म और जठराग्नि ये सात उपधातु है। यथा—रसाद्रक्तं ततो मांसम् मांसा मेदः प्रवर्तते। मेदतोऽस्थि ततो मज्जं मज्जात्शुक्रं ततः प्रजाः॥ वातः पित्तं तथा श्लेष्मा शिरा स्नायुश्च चर्म च। जठराग्निरिति प्राज्ञैः प्रोक्ताः सप्तोपधातवः।

२—भ्वादिगण परस्मैपद अकर्मक अनिट्।

३—संसारिणो मुक्ताश्च। त० सू० २-१०॥

शब्दका और मुक्त अवस्थाकी अपेक्षा अक्षयशब्दका प्रयोग किया गया है। यहां पर यह विशेषण संसारावस्थामें पाई जानेवाली क्षयपरम्पराका शिवपर्यायमें सर्वथा अभाव बताता है।

संसारावस्थामें क्षयका अर्थ तत्पर्यायसम्बन्धी आयुका पूर्ण होना है। क्योंकि राजा मोहनीय कर्मका जबतक इस प्राणीकी परिवर्तनशील सृष्टिके ऊपर शासन विद्यमान है तब तक उसके जन्ममरणविभागका अधिकारी आयुकर्म भी उसके अनुकूल ईमानदार सेवककी तरह काम करता ही रहता है। भुज्यमान—वर्तमान आयुके स्थानपरित्यागके पूर्व ही आगेके लिये नवीन आयु नियुक्त हो जाती है। उस नवीन आयुके योग्य जीवकी पर्यायका होना ही जन्म, और उससे पूर्वकी—वर्तमान आयुके योग्य अवस्थाकी समाप्ति ही मरण अथवा क्षय कहा जाता है। जब तक मोहका साम्राज्य है तबतक यह जन्ममरणकी परम्परा भी अक्षुण्ण बनी रहती है। किन्तु इसके विरुद्ध जब यह जीव योग्य कारणोंके मिलने पर अपनी स्वाधीन और पराधीन स्थितिको समझकर स्वायत्तशासनके लिये लक्ष्यबद्ध होजाता है—सम्यग्दृष्टि बन जाता है उसी समयसे उसकी यह जन्ममरण परम्परा भी सीमित हो जाती है। और उस अवधिके अनन्तर वह उस शिवरूप अवस्थाको अवश्य ही प्राप्त होजाया करता है जो कि जन्ममरण सम्बन्धी आकुलताओं और दुःखों आदिसे सर्वथा रहित है। अतएव आयुकर्म और उसके कार्य तथा तज्जनित पराधीनता आदि दुःखोंके अभावसे प्राप्त होनेवाली परमशान्त स्वाधीनताको प्रकट करनेके लिये ही शिवरूप पर्यायका यह अक्षय विशेषण दिया गया[1] है।

जन्ममरणकी परम्पराके अभावको केवल क्षय—मरणका ही अभाव कहकर बतानेका आशय मरण सम्बन्धी दुःखोंकी विशेषता प्रकट करता है। क्योंकि यह अनुभव सिद्ध है कि जीवों को जन्मकी अपेक्षा मरणका ही भय और दुःख अधिक हुआ करता है। सात प्रकारके भयोंमें भी जन्मका नाम न लेकर मरणका[2] ही नाम लिया गया है। फिर भी इस क्षय शब्दसे केवल मरणका ही नहीं अपितु जन्म और उसके कारणभूत आयुकर्मका भी ग्रहण कर लेना चाहिये। मतलब यह कि इस अवस्थाके सिद्ध होजाने पर यह जीव पुनः कभी भी आयुकर्मका बंध नहीं करता, जन्ममरणके चक्करमें नहीं पड़ता, कर्मनिमित्तक अनुवीचिमरण और तद्भव मरणसे सर्वथा मुक्त होकर सदा—शिवरूपमें ही रहा करता है।

आगममें आयुकर्मका कार्य अपने योग्य शरीरमें जीवको रोककर रखना बताया है। किन्तु इसका आश्रय भव[3] और नोकर्म आहार[4] है। क्योंकि आयुका अर्थ होता है—एति

१—प्रभचन्द्रीय टीकामें अक्षय शब्दका अर्थ इस प्रकार लिखा है कि—अक्षयं–न विद्यते लब्धानन्तचतुष्टयक्षयो यत्र ॥

२—इहलोकभय १, परलोकभय २, वेदनाभय ३, अत्राणभय ४, अगुप्तिभय ५, मृत्युभय ६, आकस्मिकभय ७ ॥ इनका विशेष स्वरूप जाननेके लिये देखो पंचाध्यायी अ० २ श्लो० ५०४ से ५४६।

३—आउणि भवविवागि। क० का० ४८। ४—गोमट्ट० ७८।

परभवम् इति आयुः। जिसके उदयसे इस जीवको अवश्य ही भवान्तर धारण करना पड़े उसको कहते हैं आयु। कर्मोंके चार भेदोंमें आयुकर्म भवविपाकी है। गतिकर्मके उदयसे जो जीवकी[1] अवस्था—द्रव्यपर्याय हुआ करती है वही भव है और वही आयुका विपाकाधार है। किन्तु भवका नोकर्म तत्तत्क्षेत्र अथवा शरीर[2] है। आगममें शरीरके निमित्तसे इस जीवके ६४ अवगाहना स्थान[3] बताये गये हैं। जिनमें कि यह संसारी प्राणी निरंतर परिभ्रमण करता हुआ अनेक दुःखोंका आयतन बना हुआ है। इनके अन्तरंग कारणोंमें मुखिया आयुकर्मके छूटनेसे सम्बन्धित सभी कर्मोंकी तथा तज्जनित परिवृत्तियोंकी परम्परा भी समाप्त होजाती है और इसीलिये यह जीव क्षयरहित होकर अनन्त कालके लिये अक्षय शिवरूप होजाया करता है।

अव्याबाधम्—न विद्यते वि–विशेषेण विविधतया वा आ–समन्तात् बाधाः–दुःखकरणानि यत्र। आत्माके प्रत्येक भागमें विशिष्टरूपसे तथा नाना प्रकारसे जहां दुःखोंके करण असाधारण कारण नहीं पाये जाते उसको कहते है अव्याबाध।

शिवपर्यायका यह विशेषण वेदनीयकर्मके उदयसे संसारावस्थामें पाई जाने वाली क्षुधा आदि व्याबाधाओंके अभावको ही नहीं अपितु उनके एक असाधारण अन्तरंग कारण वेदनीय कर्मकी निःशेषताके निमित्तसे प्रकट हुई निराकुलताको भी व्यक्त करता है।

वेदनीय कर्म मोहोदयके बलपर ही अपना फल देनेमें समर्थ है, अन्यथा नहीं, यह बात पहले भी कही जा चुकी है जो कि आगमसे भी सिद्ध[4] है। अतएव जहां तक वेदनीयकी उदीर्णाका यह सहचारी निमित्त विद्यमान है वहीं तक वे बाधाएं भी पाई जाती हैं, इसके आगे नहीं। यही कारण है कि जो मोहरहित है उनके ये बाधाएं नही पाई जातीं। क्षीण कषाय गुणस्थानवर्ती शुद्धोपयोगी छद्मस्थ श्रमण भी जब इन बाधाओंसे रहित[5] है तब आर्हन्त्य अवस्थामें तो कहना ही क्या है जबकि सभी घातिकर्मोंका निर्मूल क्षय हो चुका है। फिर भी आगममें जो वेदनीय निमित्तक ग्यारह परीषहों—व्याबाधाओंका अर्हदवस्थामें उल्लेख किया[6] गया है उसका आशय कार्यरूप बाधाओंके बतानेका नहीं किन्तु उनके कारणभूत वेदनीयकर्मके

१—देखो राजवार्तिक अ० २ के सूत्र ६ के वार्तिक नं० १—११ तथा उनका भाष्य।

२—कर्मकाण्ड गा० ७८।

३—जीवकाण्ड गा० ९५ से ११३।

४—घादि व वेदणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं। इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पढिदं तु ॥१९॥ क० का०।

५—देखो प्रवचनसार (कुंद कुंद) गाथा नं० १४ और उसकी टीका यथा—सुविहितपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगतरागो। समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ॥१४॥ सकलमोहनीयविपाकविवेकभावनासौष्ठवस्फुटीकृतनिर्विकारात्मस्वरूपत्वाद्विगतरागः। परमकलावलोकनाननुभूयमानसातासातवेदनीयनिर्वर्तितसुखदुःखजनितपरिणामवैषम्यात् समसुखदुःखः श्रमण. शुद्धोपयोग इत्यभिधीयते। त० प्र०॥

६—एकादश जिने॥ त० सू० ९—११॥

अस्तित्वकी तरफ दृष्टि रखने और दिखानेका है। क्योंकि जहांतक कारणका अस्तित्व है वहां तक उपचारसे कार्यका भी सद्भाव स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु वह वास्तविक नही माना जा सकता। आर्हद्वस्थाको पार करके जो जीव पूर्ण शिवरूपको प्राप्त होता हैं वह उस वेदनीय कर्मके अस्तित्वसे भी शून्य है। यही कारण है कि अव्याबाध विशेषणके द्वारा उसकी सर्वथा निराकुल सुखरूपताको आचार्यने यहां पर बताया है। अर्हद्भगवानके अनन्तचतुष्टयमें जो अनन्त सुख बताया गया है वह इसीलिये अव्याबाध विशेषण विशिष्ट नहीं माना गया है कि वहां पर बाधाओंके कारणभूत वेदनीय कर्मका अस्तित्व पाया जाता है। यह विशेषण अघाति कर्मोंका भी क्षय होनेके अनन्तर सिद्धावस्थामें ही पाया जाता है। यही कारण है कि भगवान समन्तभद्रने सम्यग्दर्शनके अन्तिम फलरूपमें बताये गये इस परम निर्वाणरूप सप्तम परमस्थानके साथ ही इस विशेषणका प्रयोग करके उस शिवरूप अवस्थाकी समन्तभद्रता स्पष्ट की है।

विशोकभयशंकम्—शोकश्च भयश्च शंका चेति शोकभयशंकाः। विगताः शोकभयशंका यत्र, स तम् विशोकभयशंकम्।

मतलब यह कि वह विवक्षित इष्ट शिवपर्याय शोक भय और शंका इन दुर्भावोंसे भी सर्वथा रहित है।

शोक नामक नोकषाय वेदनीयके उदयका निमित्त पाकर और इष्ट माने हुए पदार्थका वियोग होने पर जो परिताप होता है उसको शोक कहते हैं। भयनामक नोकषायके उदयके निमित्तसे दुर्बलताके कारण प्रबल अनिष्ट प्राप्त प्रसंगसे बचनेकी जो आकुलता हुआ करती है उसको भय कहते हैं। चलिताचलित--उभयकोटिस्पर्शी अनिश्चयरूप भावोंको जो कि अमुक-विषयमें क्या होगा, क्या नहीं होगा, कैसा होगा, आदि भविष्यकी चिन्तारूपमें हुआ करते है उनको शंका कहते हैं। यद्यपि भय और शंका दोनों शब्द एकार्थक[१] भी हैं। परन्तु यहां पर दोनों ही शब्दोंका पाठ पाया जाता है अतएव उनका एक अर्थ न करके भिन्न-भिन्न अर्थ करना ही उचित है।

इस विषयमें जहांतक निमित्तभूत कर्मोंके उदयकी अपेक्षाको मुख्यतया दृष्टिमें रखकर विचार किया जाता है वहां तक शोक भय शंकामेंसे शोकका कारण शोकनामक नोकषायवेदनीय भयका कारण वीर्यान्तरायके उदयके साथ-साथ भयनामक नोकषाय, तथा शंकाका कारण मोह और ज्ञानावरण कर्म हैं जैसा कि ऊपरके कथनसे मालुम हो सकता है। परन्तु जब इनके विषय की तरफ मुख्यतया दृष्टि रखकर विचार किया जाता है अर्थात् शोक भय शंकाका भाव जिन विषयोंके सम्बन्धको लेकर प्रवृत्त होता है उनकी तरफ मुख्यतया दृष्टि रखकर यदि विचार

१—शङ्का भीः साध्वसं भीतिः ॥ प ५१० ।

किया जाय तो इनके मुख्य अंतरंग कारण अघातिकर्म ही हैं, यह स्पष्ट हो जाता है क्योंकि जीवभावोंके होनेमें मुख्य कारण मोहप्रमुख घातिकर्मोंका उदयादिक, और इनके विषयों—विपाकाश्रयरूप शरीर तथा उससे सम्बन्धित अन्य सभी इष्टानिष्ट विषयोंके लाभालाभमें मुख्य अंतरंग कारण अघातिककर्मोंका उदय ही है।

यों तो सामान्यतया सभी कर्मोंके तथा विशेषतया अघातिककर्मोंके फलोपभोगके लिये मुख्यतया अधिष्ठान शरीर ही है जो कि नामकर्मके उदयानुसार प्राप्त हुआ करता है। फिर भी प्रकृत विषयको सामने रखकर यदि चारों अघाति कर्मोंके कार्यके विषयमें पृथक-पृथक विचार किया जाय तो मालुम होगा कि जिस तरह जरा और रुजा नामकर्मके अनुसार; क्षय-मरण-अनुवीचि-मरण अथवा तद्भवमरण आयुकर्मके अनुसार, व्याबाधा—क्षुधा पिपासा आदि संबंधी बाधाएं वेदनीयकर्मके अनुसार प्राप्त हुआ करती हैं जो कि सब शरीरसे ही संबंधित है उसी प्रकार आनुवंशिक पूज्यता अपूज्यता कीर्ति अपकीर्ति प्रशस्तता अप्रशस्तता तथा योग्यता अयोग्यता-आत्मकल्याणसाधनकी क्षमता अक्षमता आदि भी गोत्रकर्मके अनुसार शरीरमें ही प्राप्त हुआ[1] करते हैं।

गोत्र कर्मके लक्षण[2] कर्म आश्रय नोकर्म दृष्टान्त पर ध्यान देनेसे मालुम हो सकता है कि यद्यपि गोत्रकर्म जीवविपाकी है फिर भी उसका विपाकाश्रय शरीर ही है। तथा उसके दो भेदोंमें—उच्च नीच विकल्पोंमें इष्टानिष्टभाव भी, जब तक मोह साहचर्य बना हुआ है, आये बिना रहता नहीं है। इसी प्रकार इष्टका वियोग होजाने पर शोक, वर्तमानमें अनिष्ट-प्रसङ्गका भय, तथा भविष्यमें कुलीनताके नष्ट होनेकी शंका भी बनी ही रहती है। किन्तु मोहके निष्प्राण होजाने पर जिस तरह मोहके ही सम्बन्धसे मुख्यतया फल देनेमें समर्थ अघाति-कर्मोंमेंसे नामकर्मका कार्य—जरा और रोग, आयुकर्मका कार्य जन्ममरणकी परम्पराका मूल-भूत नवीन आयुकर्मका बन्ध, वेदनीय कर्मका कार्य-क्षुधा आदि कार्यरूप बाधाएं नहीं हुआ करती; उसी प्रकार गोत्रकर्मका कार्य शरीरमें कुलक्रमागत उच्चता आदिका विकल्प तथा उसके आश्रयसे ही होनेवाले शोक भय शंकाके भाव भी समाप्त होजाया करते हैं। फिर भी जब तक इन अघातिकर्मोंका उदय एवं सत्त्व विद्यमान है तब तक कारणके निमित्तसे होनेवाला कार्यका भी उपचरित व्यवहार सर्वथा समाप्त नहीं माना जा सकता। और क्योंकि यह उदय एवं सत्त्व

१—यह बात कही जा चुकी है कि सज्जाति—प्रशस्त कुल–पितृ पक्ष और जाति–मातृ पक्षसे उत्पन्न हुआ व्यक्ति ही दीक्षा धारण करने का अधिकारी है। और इस तरह से दीक्षित दिगम्बर जैन मुनि हो निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

२–गो० क० का० "संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा। उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं ॥१३॥ भवमस्सिय णीचुच्चं इदि गोदं णामपुव्वं तु ॥१८॥ कुलालवा दृष्टान्त गा० नं०२१। गूयते शब्दयते इति गोत्रम्॥

संसार पर्यायके अन्तिम क्षणतक भी बना ही रहता है अतएव परमनिःश्रेयस शिवरूप अवस्था में ही उनका पूर्ण अभाव होनेके कारण उन दुर्भावोंका भी अभाव बताया गया है। यही कारण है कि "शिव" का विशोकभयशङ्कम् विशेषण देकर उस पर्यायको गोत्रनिमित्तक शोक भय शङ्का आदि आकुलताके भावोंसे भी सर्वथा रहित बताया गया है। और उस जीवविपाकी गोत्रकर्म का निःशेष क्षय बताकर गुरुता लघुता विषयक कांक्षा आदिके कारण होनेवाले संक्लेशसे सर्वथा दूर—असंस्पृष्ट शिवरूप पर्याय ही सर्वथा पूर्ण निराकुल सुखस्वरूप है यह अभिप्राय स्पष्ट करदिया गया है।

काष्ठागतसुखविद्याविभवम् ।—काष्ठां परमप्रकर्षं गताः प्राप्ता इति काष्ठागताः। सुखं च विद्या विभवश्चेति सुखविद्याविभवाः। काष्ठागताः सुखविद्य विभवा यत्र। अथवा काष्ठागतः सुखविद्ययोर्विभवो यत्र तं काष्ठागतसुखविद्याविभवं अर्थात् उस शिवपर्यायमें सुख विद्या और विभव अथवा सुख और विद्याका विभव परम प्रकर्षको प्राप्त होगया है, अथवा होजाता है।

इस जगह काष्ठागत या परम प्रकर्षको प्राप्त कहनेसे मतलब जिनके सम्पूर्ण अविभाग प्रतिच्छेद शुद्ध स्वाभाविक अवस्थामें परिणत होकर प्रकाशमान होगये हैं उन अनन्त चतुष्टय रूप गुणोंको बतानेका है। मोहकर्मके अभावसे सुख सम्यक्त्व और ज्ञानावरणकर्मका क्षय हो जानेसे विद्या—अनन्तज्ञान ग्रहण करना चाहिये। ज्ञानको उपलक्षण मानकर उसके सहचारी दर्शनको आवृत करनेवाले दर्शनावरण कर्मके निर्मूल होजानेसे प्रकट हुए अनन्तदर्शनका भी विद्या शब्दसे ही ग्रहण कर लेना चाहिये।

विभव शब्दका अर्थ पृथक् न बताकर सुख और ज्ञानकी विभूति ऐसा बताया गया है। किन्तु इस ढङ्गसे अनन्तवीर्य अर्थ भी लिया जा सकता है। क्योंकि भव—संसारका वि—विरुद्ध भाव ऐसा अर्थ ग्रहण करने पर और इस बातको दृष्टिमें लेने पर कि 'भव—संसरण में आत्मवीर्यकी अल्पता, उसका विच्छेद करनेमें आत्मवीर्यका प्रकर्ष कारण है' इस शब्दसे वीर्यगुणका आशय लिया जा सकता है। क्योंकि चारित्रके द्वारा वीर्याचारके निमित्तसे ही प्रतिपक्षी कर्मोंका क्षय करके अनन्तचतुष्टयरूप आत्मगुणोंको प्रकट किया जाता है।

इस तरह इस पदके द्वारा आत्माके अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्त सुख और अनन्त वीर्यरूप निजगुणोंकी पूर्णतया उद्भूति शिवपर्यायमें ही हुआ करती है, यह आशय प्रकट किया गया है।

यद्यपि सुख शब्दके जो चार[१] अर्थ प्रसिद्ध हैं उनमेंसे मोक्षसम्बन्धी गुण जो कि वास्तवमें आकुलताओंके अभावरूप है, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अन्तिम केवली अरिहंत भगवान् तक सामान्यतया पाया जाता है और वह पूर्व कारिकामें वर्णित जीवन्मुक्त अवस्थामें अनन्त विशेषणसे युक्त भी है। फिर भी वहां पर वह सुख अव्याबाध[२] नहीं

१—विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च। लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते॥ ॥ त० सा०
२—क्योंकि अभी वेदनीयका अस्तित्व है।

है। वेदनीय प्रभृति अघाति कर्मोंका निःशेप क्षय होने पर इस शिवपर्यायमें ही वह अव्याबाध हुआ करता है। अतएव इस शब्दके द्वारा यहीं पर अनुभवमें आनेवाली पूर्ण निराकुल निर्विकार स्वाधीन परम शान्तिका परिज्ञान कराया गया है।

प्रश्न—प्रवचनसारके प्रथम ज्ञानाधिकारकी गाथा नं० ५३ की उत्थानिकामें श्री अमृत चन्द्राचार्यके इस वाक्यसे कि "अथ ज्ञानादभिन्नस्य सौख्यस्य स्वरूपं प्रपंचयन् ज्ञानसौख्ययोः हेयोपादेयत्वं चिन्तयति" मालुम होता है कि ज्ञान और सुख भिन्न नहीं हैं। अनुभवसे भी ऐसा ही मालुम होता है कि ज्ञानसे सुख और अज्ञानसे आकुलता रूप दुःख हुआ करता है। अतएव दोनोंको एक ही मानना चाहिये। फलतः यहां पर सुख और विद्या दोनोंके ग्रहणकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर—आत्मा के दोनों ही गुण स्वतन्त्र है। वे एक नहीं है। मोहनीय कर्मके अभाव से सुख और ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अथवा क्षयोपशमसे ज्ञान हुआ करता है। दोनोंका कार्य भी भिन्न २ ही है। दोनों को अभिन्न जो कहा जाता है उसका कारण इतना ही है कि वे एक ही द्रव्य के गुण है और कभी भी वे परस्परमे एक दूसरेको छोड़कर नहीं रहा करते। तथा परस्परमें एक दूसरेका पूरक है और ज्ञान सुखका मुख्य एवं अन्तरंग साधक भी है।

प्रश्न—ऊपर ज्ञान में दर्शनका भी अन्तर्भाव कर लेनेके लिये कहा है उसी प्रकार सुख में वीर्यगुण का भी अन्तर्भाव कर लेने पर अनन्तवीर्यको बतानेके लिये पृथक विभव शब्दको ग्रहण करनेकी क्या आवश्यकता है? सुखमें ही विभव-वीर्यगुणका अन्तर्भाव क्यो नहीं किया?

उत्तर—अनन्त सुख अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन तीनों ही की उद्भूतिमें वीर्य गुण प्रधान निमित्त है। पुरुपार्थके रूपमे वीर्य गुणको काममें लिये विना आत्माका कोई भी गुण प्रकाशमान नहीं हो सकता। इस अभिप्राय को प्रकट करने के लिये उसका पृथक् उल्लेख आवश्यक है।

"सुखविद्याविभवाः" शब्दके जो दो समास किये गये हैं उसके अनुसार पाये जाने वाले विशिष्ट अर्थ का भी यहां ग्रहण करलेना चाहिये। व्याकरण के नियमानुसार[1] तत्पुरुष समास उत्तरपदार्थ प्रधान हुआ करता है और द्वन्द्व समास सर्व पदार्थ प्रधान हुआ करता है। तत्पुरुष समास के पक्ष में विभव-वीर्यगुण इसीलिये प्रधान कहा या माना जा सकता है कि अन्यगुणोंकी तरह अथवा उनसे भी कहीं अधिक सुख और विद्याकी समुद्भूति में वह बलवत्तर निमित्त है। द्वन्द्व समास करनेका कारण यह है कि वर्तमान शिवपर्याय में जब कि पुरुपार्थ का कार्य समाप्त हो चुका है आत्मा के सभी गुण समानरूप मे अवस्थित है। फलतः तत्पुरुष समास के करने से

१—उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः, अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः, सर्वपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः, पूर्वाव्ययपदार्थ प्रधानोऽव्ययीभावः। (कातन्त्र)

यह बात सूचित हो जाती है कि बिना पुरुषार्थ के अनन्त सुख और अनन्त ज्ञान ही नहीं किन्तु वह शिवपर्यायभी अभिव्यक्त नहीं हो सकती जो कि विविध आकुलताओं के कारणभूत कर्माष्टक के सर्वथा विनष्ट होने पर ही सर्वविध निराकुलताओंसे विशिष्ट हुआ करती है। क्योंकि जबतक साध्य सिद्ध नहीं हो जाता तबतक साधन अवस्था मुख्य रहा करती है कारण यह कि साधनके बिना साध्यका सिद्ध होना कठिन ही नहीं असंभव है। अतएव जबतक आत्मद्रव्य और उसके प्रत्येक गुणकी पूर्णतया शुद्धि नहीं हो जाती वहां तक आत्माको पुरुषार्थ आवश्यक रूपसे करना ही पडता है। और इसके लिये उसको प्रारम्भ में बाह्य द्रव्यों का भी अवलम्बन लेना ही पड़ता है तथा अपनी शक्तियोंका भी उपयोग करना पड़ता है। ज्यों २ आत्मा साध्यरूप अपनी अवस्था की तरफ अग्रसर होता जाता है त्यों २ सभी बाह्य साधन अनावश्यक होते जाते हैं और वे अनायास ही छूटते जाते है।

सर्व प्रथम दर्शनमोहके विनाशका, फिर चरित्र मोहके क्षयका, उसके बाद घातित्रय के घात का प्रयत्न हुआ करता है और उसमें अवस्थानुसार बाह्य पदार्थों का आश्रय लेना पड़ता है यद्वा वे निमित्तरूप बना करते हैं। इतना हो जानेपर भी उस सकल परमात्माको अघाति कर्मों को भी निःशेष करनेके लिये उनके पीछे भी पड़ना ही पड़ता है। सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति और क्रिया निवर्तन से व्युपरतिके[1] लिये भी वीर्य गुणको श्रम करना ही पड़ता है। तब कहीं शिव स्वरूप की सिद्धि होने पर यह जीव विभव[2] हुआ करता है। इस प्रकार तत्पुरुष समासके द्वारा मोक्षमार्ग और साध्यरूप शिवपर्यायकी प्रयत्नसाध्यता स्पष्ट हो जाती है। इसके अनन्तर भी वह वीर्यगुण अपना कामकरके "दीपनिर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणम्" के सिद्धान्तानुसार सर्वथा समाप्त नहीं हो जाता, वह भी अन्यगुणोंके समान उनके बराबरमें ही स्थित रहता है और कृतकृत्य होकर तथा अपने शुद्धस्वरूपमें अनन्तकालके लिये विश्रान्ति लेते हुए भी अन्य अनेक क्षायिक[3] भावों को प्रश्रय दिया करता है। इस तरहसे सम्यग्दर्शन के कारण प्राप्त होने वाले अन्तिम फल-संसार और उसके दुःखोंसे सर्वथा विनिवृत्ति तथा समन्ततो भद्र उत्तमसुखस्वरूप शिवपर्यायकी निष्पत्तिमें वीर्यगुण का जो महत्त्वपूर्ण उपयोग है वह व्यक्त होता है।

विमलम्—विगतो मलो यस्मात् अथवा यत्र तम् विमलम्। जहां पर किसी भी प्रकारका मल-दोष कलंक, अशुद्धि, अपवित्रता, अथवा उसके कारणभूत पर पदार्थका सम्पर्क नहीं रहा

१—तस्मिन् समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिनि ध्याने" केवलिनः सम्पूर्णयथाख्यातचारित्रज्ञानदर्शनं सर्वसंसार दुःखजालपरिष्वंगोच्छेदजननं साक्षान्मोक्षकारणमुपजायते। स पुनरयोगिकेवली भगवांस्तदा ध्यानानलनिर्दग्धसर्वमलकलङ्कबन्धो निरस्तकिट्टधातुपाषाणजात्यकनकवल्लब्धात्मा परिनिर्वाति ॥ स० सि० ९—४४॥

२—विगतो भवो यस्य नष्टसंसारः।

३—यदि क्षायिकदानादिभावकृतमभयदानादि सिद्धेष्वपि तत्प्रसंगः। नैष दोषः। शरीरनाम तीर्थंकर नाम कर्मोदयाद्यपेक्षत्वात् तेषां, तदभावे तदप्रसंगः। कथं तर्हि तेषां सिद्धेषु वृत्तिः? परमानन्तवीर्याव्याबाध सुखरूपेणैव तेषां तत्र वृत्तिः। केवलज्ञानरूपेणानन्तवीर्यवृत्तिवत्। स० सि० २—४॥

है। शिवपर्यायका यह समस्त दोषोंके अभावको बतानेवाला अन्तिम विशेषण है। जो इस बातको बताता है कि शिवपर्यायमें परिणत होने पर जीवके साथ न तो द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मरूप पुद्गलका किसी भी प्रकारका सम्पर्क रहा करता है और न तज्जनित कार्योंके सद्भाव के विषयमें किसी भी प्रकारकी शंका ही शेष रह जाती है। भविष्यमें फिर कभी भी इस तरह की अशुद्धि प्राप्त नहीं होगी यह आशय इससे सूचित हो जाता है। क्योंकि यदि किसी भी पदार्थ के एक बार शुद्ध हो जाने पर भी पुनः अशुद्ध होनेकी संभावना बनी हुई है, आत्माके सुखी हो जाने पर भी फिरसे उसके दुःखी होनेकी सम्भावना पाई जाती है तो उसे वास्तवमें और सर्वथा एवं पूर्णरूप शुद्ध तथा सुखी नहीं माना या कहा जा सकता। यथार्थमें सुख वही है जो कि फिर अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता और न हो सकता अथवा जिसमें किसी भी प्रकारकी असुखताका भाव अथवा मिश्रण नहीं पाया जाता।

शंका हो सकती है कि कर्म नोकर्मके हट जाने पर भी तन्निमित्तक कार्य यदि बना रहे तो क्या हानि है? सिद्धावस्थासे पूर्व कर्मनोकर्मके निमित्तसे जीवका जो आकार होता है वही मुक्त होने पर भी बना रहता है। इसी प्रकार अन्य कर्मकृत कार्योंके विषयमें भी यदि माना जाय तो क्या आपत्ति होगी? इसका उत्तर "विमलं" विशेषणसे हो जाता है। क्योंकि यह पर्याय सभी तरहके और समस्त विकारोंसे रहित है, यही इसका आशय है। मुक्तावस्थामें जो आकार रहता है वह अन्तिम शरीराकारसे किंचिद् ऊन होता है और वह आत्माके स्वभावके विरुद्ध कोई विकार नहीं है और न फिर उसमें कोई अन्तर ही पड़ता है। ऐसा यदि न माना जायगा तो संसार और मोक्षमें किसी भी प्रकार अन्तर ही स्थापित नहीं किया जा सकता। फलतः इस विशेषणसे मुक्त जीवके सम्यक्त्वकी पूर्ण निर्विकल्प समीचीनता, उसकी अनन्तकालीन तदवस्थिति, द्रव्यगुणपर्यायकी सम्पूर्ण विशुद्धि, आदि विषयोंकी सिद्धि और साथ ही अवतार वादका खण्डन भी हो जाता है।

भजन्ति—क्रियापदका अर्थ सेवन्ते प्राप्नुवन्ति अथवा अनुभवन्ति होता है। जिसका मतलब यह होता है कि सम्यग्दर्शनकी शरणग्रहण करनेवाले अन्तमें उस समस्त विशेषणोंसे सर्वात्मना शिवरूप पर्यायको अवश्य ही प्राप्त किया करते हैं। तथा पदार्थमात्रके उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक एवं परिणमनशील होनेके कारण उस अवस्थामें भी पुनः-पुनः परिणमन करते रहने पर भी उसी शुद्ध सुखरूप अवस्थाका ही सेवन करते रहते हैं, प्रतिक्षण नये-नये रूपमें भी उसीको प्राप्त करते रहते हैं और सदा उसीका एकरूपमें ही अनुभव करते रहते[१] हैं।

दर्शनशरणाः—इस पदका दर्शनं—सम्यग्दर्शनं शरणं—रक्षणं येषाम्। इस तरह बहुव्रीहि समासके रूपमें अथवा दर्शनस्य शरणाः इस तरह षष्ठी तत्पुरुष समासके रूपमें, दो तरहसे विग्रह हो सकता है। अर्थात् दर्शन ही है शरण जिनके, अथवा जो दर्शनकी शरणमें हैं—

१—परनिरपेक्षाः शुद्धागुरुलघुविकाराः। जलकल्लोलवज्जले।

सम्यग्दर्शनने जिनको अपनी शरणमें ले रक्खा है वे जीव इस तरहकी शिवपर्यायको अन्तमें अवश्य प्राप्त किया करते हैं।

दो तरहके समास जिनका कि यहां निर्देश किया गया है, उनके अर्थमें जो अन्तर पड़ता है उसका स्पष्टीकरण "सुखविद्याविभवं" का अर्थ करते समय किया जा चुका है। उसी प्रकार यहां भी तत्पुरुषमें उत्तर पदार्थको प्रधान मानकर और बहुव्रीहि समासमें अन्य पदार्थको प्रधान मानकर भिन्न भिन्न दो तरहसे अर्थ कर लेना चाहिये।

तात्पर्य—यह कि सम्यग्दर्शनका जो अन्तिम और वास्तविक फल बताया है वह शिव-पर्यायकी निष्पत्ति है जिसका कि स्वरूप इस कारिकाके द्वारा बताते हुए उसके संबंधमें प्रायः सभी ज्ञातव्य विषयोंका स्पष्टीकरण कर दिया गया है।

आत्माकी यह वह अवस्था है जो कि अनादिकालसे चली आई-उसकी दुःखरूप संसार अवस्था और उसके समस्त भेदोंसे परे तथा उस संसार एवं उसके सभी विकल्पोंके कारणोंसे भी सर्वथा असंस्पृष्ट है। यह दुःखरूप संसारसे सर्वथा पृथक् और सभी अंशोंमें कल्याणरूप है। यही कारण है कि इसको शिव नामसे कहा गया है। इस नामसे उसका सदभिधान करके, न केवल पूर्ण मुक्तावस्थाके न मानने वालोंका खण्डन ही कर दिया है, बल्कि शिव नामसे कहकर उसको केवल निदुःख—निराकुल—अज्ञानादिदोषोंसे रहित कहकर केवल निषेधरूपमें अथवा ज्ञेयाकार परिच्छेद परांगमुख चैतन्यरूपमें कहने वालोंका भी परिहार कर दिया है। सम्यग्दर्शन के फलरूपमें दिखाकर उसकी कारणजन्यता बताते हुये ईश्वरकी अनादिमुक्तताके विषयमें हो सकने वाले अतत्त्वश्रद्धानसे भी भव्य जीवोंको बचा लिया है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जो भी भव्य जीव इस समर्थ कारणको अपने प्रयत्नसे—निसर्ग अथवा अधिगम द्वारा प्राप्त करलेगा वही इस पर्यायको प्राप्त कर सकता है। अतएव इस विषयमें अद्वैतवादकी मान्यता किसी भी तरह युक्त नहीं है। इसी तरह शिवके अजर आदि सात विशेषणोंके द्वारा भी विभिन्न विपरीत मान्यताओंका निषेध करके उनकी अश्रद्धेयता व्यक्त कर दी गई है। तथा प्रकृत ग्रन्थकी आदिमें जिस धर्मके वर्णनकी प्रतिज्ञा की गई है और प्रतिज्ञाके समय उसकी जो समीचीनता तथा कर्म निवर्हणता आदि विशेषताका उल्लेख किया गया है उसकी तरफ भी यहां अध्यायकी समाप्तिसे पूर्व उपसंहार करते हुये दृष्टि दिला दी गई है।

सिद्धावस्थामें अभिव्यक्त होने वाले आत्माके आठ गुण प्रसिद्ध हैं। जो कि दो भागोंमें विभक्त है—चार अनुजीवी और चार प्रतिजीवी। कारिकाके पूर्वार्धमें चार प्रतिजीवी—सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अव्याबाध और अगुरुलघुत्वको तथा तीसरे चरणके द्वारा अनन्तचतुष्टयरूपमें चार अनुजीवी—अनन्त सुख अनन्त ज्ञान अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य गुणोंको बताया है। तथा विमल कहकर उसकी सभी शेष विकृतियोंसे भी शून्यता परमशुचिता तथा औपचारिक दोषोंसे भी रहित पवित्र स्नातकता बता दी गई है।

सप्त परमस्थानोंके रूपमें सम्यग्दर्शनके आभ्युदयिक फलोंका वर्णन हो जाने पर प्रश्न यह खड़ा हो सकता है कि क्या सभी सम्यग्दृष्टियोंको ये सभी आभ्युदयिक फल प्राप्त होते ही है? अथवा ये फल एक जीवकी अपेक्षासे कहे गये है अथवा नानाजीवोंकी अपेक्षासे? इसी प्रकार इन अभ्युदयोंको प्राप्त किये विना भी कोई जीव सम्यग्दर्शनके बल पर ही संसारके दुःखों से सर्वथा परिमुक्त हो सकता हैं या नहीं? इत्यादि। इन सब प्रश्नोंका संक्षेपमें उत्तर इस प्रकार है कि सम्यग्दृष्टि जीवमात्रको ये सभी आभ्युदयिक फल प्राप्त हों ही ऐसा नियम नहीं है। यह फल वर्णन एक जीवकी अपेक्षासे नहीं नाना जीवोंकी अपेक्षासे किया गया है तथा केवल सम्यग्दर्शनके ही बलपर कोई भी जीव निर्वाणको प्राप्त नहीं कर सकता।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके पूर्व जीव दो प्रकारके हो सकते हैं—एक बद्धायुष्क और दूसरे अबद्धायुष्क। जिन जीवोंको चार आयुकर्मोंमेंसे किसी भी परभव सम्बन्धी आयुकर्मका बन्ध हो चुका है वे सब बद्धायुष्क हैं। इस तरहके जीवोंमेंसे जिन्होंने जिस आयुका बन्ध किया है वे उस आयुकर्मके बंधके अनन्तर सम्यग्दर्शनके उत्पन्न हो जाने पर भी उस बद्ध आयुके अनुसार ही गतिको प्राप्त किया करते हैं। परन्तु जो अबद्धायुष्क है, सम्यग्दर्शन प्रकट होनेसे पूर्व जिन्होंने किसी भी आयुका बंध नहीं किया है ऐसे जीव सम्यग्दर्शनके विद्यमान रहते हुये देवायुके सिवाय अन्य किसी भी आयुका बंध नहीं किया करते। फिर चाहे वे मनुष्य हो अथवा तिर्यंच। यदि कोई मनुष्य तद्भव मोक्षगामी हो तो वह किसी भी आयुका बंध न करके उसी भवसे भवरहित इस शिवपर्यायको प्राप्त किया करता है। ऐसा जीव ऐन्द्री आदि जातियों तथा सुरेन्द्रता आदि परमस्थानोंको प्राप्त नहीं किया करता। परन्तु यह बात—तद्भव मोक्ष उसी मनुष्यमे संभव हो सकती है जिसको कि सज्जातित्वादि तीन प्रथम परमस्थान पहलेसे प्राप्त हैं। जिसको कि वे प्राप्त नहीं हैं वह जीव ऐसी देवपर्यायको भी प्राप्त नहीं कर सकता जो कि निर्ग्रन्थलिंगसे ही संभव है, तब वह निर्वाणको तो प्राप्त ही किस तरह कर सकता है। निर्वाण अवस्था विना चारित्रके केवल सम्यग्दर्शनसे नहीं हुआ करती। तथा चारित्रके विषयमें नियम है कि जो अबद्धायुष्क है, अथवा जिसने देवायुका बंध कर लिया है वही उसको धारण कर सकता है। ऐसा जीव जिसने देवायुको छोड़कर अन्य तीन आयुओंमेंसे किसीका भी बंधकर लिया है वह न देशव्रत-संयमासंयमको प्राप्त कर सकता है और न सकलसंयम=महाव्रत ही धारणकर[1] सकता है। किन्तु यह नियम है कि निर्वाण अवस्था सम्यक्त्वसहित चारित्रके बिना सिद्ध नहीं हो सकता प्रत्युत वह साधारण चारित्रसे भी नहीं हो सकती। सर्वोत्कृष्ट चारित्र—जिनलिंगके द्वारा जो जीव अनन्यशरण होकर अपने सम्यक्त्वका आराधन करते हैं वे ही इस सर्वांशमें कल्याणरूप अवस्थाको प्राप्त हो सकते हैं। ग्रन्थकारका यही तात्पर्य[2] है।

१—अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं॥

२—जैसा कि ग्रन्थ के प्रारम्भिक पद्यों और यहां दिये गये "दर्शनशरणाः" पद से जाना जा सकता है।

दर्शनशरणाः पदसे यद्यपि सम्यग्दर्शन ही मुख्यतया ग्रहण करनेमें आता है तथापि इसमें दर्शन शब्दसे सम्यग्दर्शन और शरण शब्दसे सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र दोनोंका अथवा केवल सम्यक् चारित्रका भी ग्रहण अवश्य कर लेना चाहिये। क्योंकि केवल सम्यग्दर्शन, विना ज्ञान और चारित्रकी भी सहायताके अथवा कथंचित् केवल चारित्रकी भी सहायताके न तो अपना ही पूर्ण विकास कर सकता है—निस्तरण अवस्थाको प्राप्त हो सकता है और न सम्पूर्ण कर्मोंका ही निःशेष क्षय कर सकता है। कारण यह कि एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीवको अपनी परिपूर्ण शुद्ध अवस्थामें परिणत होनेके पूर्व अपने गुणोंके स्थानोंमें जो शुद्धिका क्रमसे विकास करना पड़ता है उसमे मोहका अभाव ही केवल कारण नहीं है, योग भी बहुत बड़ा निमित्त है। मोहके अभाव अथवा सम्यग्दर्शनके होनेसे भूमि शुद्ध होती है और बीजमें अंकुरके उत्पादनकी योग्यता प्रकट होती है। किन्तु इतने मात्रसे ही तो वृक्ष उत्पन्न होकर फल हाथमें नहीं आजाता। उसके लिये अन्य भी अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। यह प्रयत्नस्थानीय ही योग अथवा चारित्र है। विवक्षित गुणस्थानोमे चारित्रका क्षेत्र थोड़ा नहीं है। सम्यक्त्वोत्पत्तिके बाद चौथे गुणस्थानसे ऊपर दस गुणस्थानोमें चारित्रका ही प्रभुत्व है। सम्पूर्ण कर्मोंकी निर्जरा होनेमें भी तपश्चरणके रूपमे चारित्रका ही प्रबल साहाय्य काम किया करता है। हां, यह ठीक है कि इस सब कामकी सिद्धिके मूलमें सम्यग्दर्शन ही अपना कार्य किया करता है। किन्तु इसके पहले जो उसकी उत्पत्तिके लिये जीवका प्रयत्न हुआ करता है वह भी उपेक्षणीय नहीं है। वह पुत्र जो अपने पिता जनककी अवगणना या निन्हव करनेवाला है कितना ही योग्य क्यों न हो, प्रशस्त नहीं माना जा सकता। यह मालुम होने पर कि बिना सम्यग्दर्शनके संसारके दुःखोंसे एकान्ततः मुक्ति नहीं हो सकती, जो भव्यजीव कर्मोंकी पराधीनता से सर्वथा छुटकारा पानेके लिये अनन्य शरण होकर उसीकी उत्पत्ति वृद्धि एवं सम्पूर्ण सफलता के लिये अपनी समस्त शक्तियोंको लगा देता है वह अवश्य ही एक दिन उपर्युक्त शिवपर्याय को प्राप्त कर लिया करता है और कृतकार्य हुआ माना जाता है, उसीका पुरुषार्थ सफल समझा जाता है। उसको जबतक वह अपनी शुद्ध सुखमय अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती तब तक चैन नहीं पड़ती, और उसके पूर्व कर्मोंके द्वारा उपस्थित किये गये बड़ेसे बड़े आभ्युदयिक पदों के प्रलोभन भी उसको लक्ष्य भ्रष्ट करनेमें समर्थ नहीं हुआ करते। यह ठीक है कि प्रबल पुरुषार्थी भव्यजीवके प्रयत्नसे उत्पन्न हुए पुत्र स्थानीय सम्यक्त्वके अतुलित प्रभाव एवं माहात्म्यको मानों दृष्टिमें लेकर ही भयातुर और अपने साम्राज्यके लिये चिंतित होकर कर्मशत्रुओंकी सेना उक्त पुण्यफलोंको देकर उससे संधि कर लेना चाहती है परन्तु अपनी शक्तियों पर पूर्ण भरोसा रखने वाला वह अनन्तवीर्य भव्य उन टुकड़ोंके बदलेमें अपने उस अनुपम त्रैलोक्याधिपतित्वके स्वाधीन अधिकारको छोड़ना रंचमात्र भी पसन्द नहीं करता।

सम्यग्दर्शनने जिसको अपनी शरणमें लेलिया है और जिसके अनेक गुणोंके भण्डार रूपी अस्त्रागारमें सुदर्शन चक्रके समान सम्यग्दर्शनरूप अमोघ अस्त्र प्रकट होकर हाथमें आगया है वह तो किसी भी प्रतिपक्षीसे संधि न करके अपने ही पुरुषार्थके बल पर स्वाधीन अनन्त अव्याबाधसुख साम्राज्य पर अपना पूर्ण अधिकार प्राप्त करके ही विश्राम लिया करता है। जिसके कि बाद फिर उसे अनन्त काल तक भी ८४ लाख योनियोंमेंसे किसीमें भी आना नहीं पड़ता, माताके गर्भाशयमें अवतार धारण करके उसका उच्छिष्ट ग्रहण नहीं करना पड़ता। —बहिर्यानके अनन्तर उसका स्तनपान नहीं करना पड़ता। शूकर आदिकी पर्याय प्राप्तकर मलभक्षणका काम नहीं करना पड़ता,[१] सहज शारीर मानस आगन्तुक बाधाओंसे पीड़ित नहीं होना पड़ता, अपने स्वाभाविक परमसूक्ष्मरूपको छोड़कर विकृत स्थूलरूप धारण नहीं करना पड़ता, उच्च नीच छोटा बड़ा दरिद्र श्रीमन्त आदिके रूप धारण करके बहुरूपिया नहीं बनना पड़ता। वह तो अपने उस शाश्वतिक सम्यक् सत् चित् आनन्द स्वरूपमें ही, जो कि स्वयंके ही इन स्वाभाविक गुणोंके सिवाय अन्य भी अनन्त और परस्परमें अभिन्नरूपमें ही रहनेवाले गुणोंका अखण्ड पिण्ड है, सदा निमग्न रहा करता है।

इस प्रकार सम्यक्त्वके प्रतापसे सम्यक् बने हुए पुरुषार्थके निमित्तसे सबसे प्रथम प्रबल तम—मोह और तदनन्तर प्रबलतर घातित्रयका विघात करके अनन्तचतुष्टयको हस्तगत करने वाला भव्य परमात्मा सांसारिक किसी भी तरहकी उपाधिसे भी युक्त न रहनेकी भावनासे ही मानों अघातिचतुष्टयको भी निश्चिन्ह बनानेके लिये प्रयत्नशील होता है और उसमें भी सफलता प्राप्त करके अपने विशुद्ध स्वभावरूप लक्षण अव्याबाध सूक्ष्मत्व अवगाहन और अगुरुलघुत्व से भी विभूषित होकर अनन्त कालके लिये विश्रान्त होजाया करता है। वही अशरीर परमात्मा पुनर्जन्मसे रहित होनेके कारण अज है, समस्त देवोंके द्वारा आराध्य अभिवन्द्य अभिगम्य आदि होनेके कारण देवाधिदेव महादेव है, अपने चित्स्वरूपमें सम्पूर्ण त्रैकालिक सृष्टि-द्रव्य गुण पर्यायोंकी समष्टिके परिच्छिन्न रहने तथा क्षीरसमुद्रको भी सर्वथा अवगणित करनेवाले अपने ही सुखसागरमें निमग्न रहनेवाला अनन्तशायी विष्णु है। और वही सम्पूर्ण कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करके अपनी अविकल गुण लक्ष्मीको सिद्ध करनेवाला प्रसिद्ध सिद्ध जिन भगवान् है।

इस तरहकी समन्त भद्र शिवपर्याय यद्यपि चारित्रके विना केवल सम्यग्दर्शनसे ही सिद्ध नहीं हुआ करती जैसा कि ऊपर बताया गया है तथा ग्रन्थकी आदिमें स्वयं ग्रन्थकर्ताने भी रत्नत्रयको ही संसारके उच्छेद और परमनिःश्रेयसपदकी सिद्धिका साधन बताया है। फिर भी जैसा कि इस अध्यायमें निरूपण किया गया है रत्नत्रयमें मुख्य सम्यग्दर्शन ही है। क्योंकि उसके

१—कुछ लोगोंने ईश्वरका शूकरावतार भी माना है जिसने कि ब्रह्मार्जी की सृष्टिकी उसके चारो तरफ दैत्य द्वारा रचे गये विष्टाके कोटका भक्षण करके रक्षा की थी।

बिना आत्माका कोई भी ज्ञान चारित्र आदि गुण मोक्षमार्गमें सफल नहीं हो सकता। और विवक्षित मोक्षपुरुषार्थकी दृष्टिसे ऐसा कोई भी पुण्यजनित आभ्युदयिक पद प्रशंसनीय एवं उपादेय नहीं माना जा सकता तथा न मुमुक्षु संतोंको अभीष्ट ही है जो कि इस जीवात्माको निर्वाण की तरफ अग्रसर नहीं बनाता। फिर भी आगममें पुण्यरूप तथा पुण्यानुबन्धी क्रियाएं भी—दान पूजा शास्त्रस्वाध्याय संयम तप गुरूपास्ति आदि आर्याचार एवं व्रत नियम आदि आत्मपरिणाम भी धर्म तथा सम्यग्दर्शन—व्यवहार सम्यग्दर्शन माने गये हैं और बताये गये हैं क्योंकि वे सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें निमित्त हैं तथा अन्तरंग सद्भूत सम्यग्दर्शनके ज्ञापक साधन हैं।

सम्यग्दर्शनकी प्रधानताका कारण पहले बताया जा चुका है। परन्तु सम्यक्त्व और चारित्रमेंसे एकको मुख्य दूसरेको गौण विवक्षाविशेषके कारण मान लेने पर भी सबसे बडी बात यह है कि आचार्योंने चारित्रसे रहित सम्यग्दर्शनको नहीं[1] किन्तु सम्यक्त्वरहित चारित्रको ही मोक्षमार्गमें अकिंचित्कर बताया है। यही कारण है कि आचार्यने यहां पर "दर्शनशरणाः" इस कर्तृपदके द्वारा उन सम्यग्दृष्टियोंको ही शिवपर्याय साधनमें स्वातन्त्र्य दिया है जिन्होंने कि या तो पूर्ण प्रयत्न करके किसी भी प्रकार—मर पचकर भी एक बार दर्शनमोहके उदयको उपशान्त कर दिया है। अथवा जो सम्यक्त्व और चारित्र दोनोंसे युक्त होते हुए भी कदाचित् दुर्दैवके आक्रमणवश चारित्रसे च्युत होजाने पर भी सम्यक्त्वसे रिक्त नहीं हो सके हैं, जिनके सम्यक्त्वने अपने उस आराधकका हाथ नहीं छोडा है। ऐसे जीव यदि तद्भवमोक्षगामी हैं तो उनके लिये तो इन भवान्तरमें प्राप्त होने वाले आभ्युदयिक पदोंके विषयमें कोई प्रश्न ही नहीं उठता परन्तु जो भवान्तरसे मोक्षको प्राप्त करनेवाले हैं उनकी दृष्टिसे और नाना जीवोंकी अपेक्षा से ही बताया गया है कि उनको मोक्ष जानेसे पूर्व इस तरहके पद प्राप्त हुआ करते हैं। फिर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि इन कथित सम्यग्दर्शनके फलस्वरूप सप्त परमस्थानोंमेंसे आदिके तीन और छट्ठा परमार्हन्त्य पद शिवपर्यायकी उपलब्धिमें ऐसे असाधारण कारण हैं कि जिनके बिना वह सिद्ध नहीं हो सकता। हां, यह ठीक है कि प्रथम तीन पद असमर्थ और छट्ठा पद समर्थ कारण है। सुरेन्द्रता और परमसाम्राज्य ये दोनों ही परमस्थान है, सम्यक्त्वके निमित्त और विशिष्ट सरागभावके कारण सम्यग्दृष्टि जीवको प्राप्त होनेवाले ये संसारके आभ्युदयिक स्थान तो अवश्य हैं; और यह बात भी सत्य है कि इन पदोंको प्राप्त करनेवाले जीव नियमसे निर्वाण प्राप्त किया करते हैं फिर भी निर्वाण परमस्थानकी सिद्धिमें इनको कारणता प्राप्त नहीं है। क्योंकि कारण वे ही हुआ करते और माने गये हैं कि जिनके बिना कार्य उत्पन्न ही न होसके[2]। ये दोनों ही पद ऐसे नहीं है कि इनके बिना शिवपर्याय प्राप्त ही न हो। परन्तु

१—दसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टाण णत्थि णिव्वाणं सिज्झंति चरियभट्टा दसणभट्टा ण सिज्झंति ॥

२—यद्भावाभावाभ्यां यस्योत्पत्त्यनुत्पत्ती तत्तत्कारकम् ॥

परमार्हन्त्य पद ऐसा है कि तत्पूर्वक ही परमनिर्वाणकी प्राप्ति हुआ करती है। और आर्हन्त्य पद परम दिगम्बर जिनमुद्रा धारण करनेवाले तपस्वी ही यथोक्त साधनोंके अवलम्बनसे प्राप्त कर सकते हैं। तथा इस दिगम्बर दीक्षाको वे ही धारण कर सकते और उसमें तत्त्वतः सफल हो सकते हैं जो कि सज्जातीय एवं सद्गृहस्थ हैं। इस तरह कारण परम्पराकी अपेक्षा ये तीन परमस्थान निर्वाणस्थानकी सिद्धिमें बाह्य साधन है। साक्षात्कारण दोनों शुक्लध्यानोंमें समर्थ आर्हन्त्य पद ही है। इस तरह सुरेन्द्रता और परमसाम्राज्यके विषयमें यह नियम नहीं है कि जितने सम्यग्दृष्टि है वे सब इन आभ्युदयिक पदोंको प्राप्त हों ही, कोई इनमेंसे किसी भी एक पदको, तो कोई दोनों पदोंको प्राप्त करके भी संसारसे मुक्त हो सकते हैं। तथा कोई कोई तीनों पदों—सुरेन्द्रता चक्रवर्तित्व एवं तीर्थकरत्वको पाकर—उनको भोगकर फिर शिवरमणीके रमण बनते हैं। इसी बातको स्वयं ग्रन्थकार इस प्रथम अध्यायको पूर्ण करते हुए आगेकी अन्तिम कारिकाके द्वारा स्पष्ट करते हैं—

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्,[१] राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम्।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम्, लब्ध्वा शिवं च जिनभक्ति[२] रुपैति भव्यः ॥४१॥

अर्थ—जिन भगवानमें है भक्ति जिसकी ऐसा सम्यग्दृष्टि भव्य पुरुष अप्रमाण सन्मानसे युक्त देवेन्द्रोंके समूहकी महिमाको, पृथ्वीपतियों के द्वारा शिरसा पूजित राजेन्द्र-सम्राट्-चक्रवर्ती के पदको अथवा यह पद जिसके द्वारा सिद्ध होता है ऐसे चक्र-सुदर्शन चक्रास्त्रको, और सम्पूर्ण लोकको अपने नीचे करने वाले धर्मेन्द्रोंके समूह अथवा धर्मचक्रको पाकर अन्तमें शिवपर्यायको प्राप्त हुआ करता है।

प्रयोजन—यद्यपि इस कारिकामें उन्हीं चार आभ्युदयिक पदोंका वर्णन किया गया है जिनका कि इसके पहलेकी चार कारिकाओंमें कथन हो चुका है। अतएव उन्हींका यहां उपसंहार रूपमें पुनः कथन कर दिया गया है ऐसा कहा जा सकता है। यह भी सत्य है कि धर्मोपदेशमें पुनरुक्तिका कोई दोष नहीं माना गया है। फिर भी ग्रन्थ और उसके कर्त्ताकी असाधारण महत्ता की तरफ दृष्टि देते हुये विचार करने पर यह कथन संतोषकर नही मालूम होता। सम्पूर्ण उपासकाध्ययनका सारसंग्रह जिसमें किया गया है, उसमें अनावश्यक एक शब्द भी न आसके, जिससेकि उस शब्दकी जगह पर उपासकाध्ययनके अन्य किसीभी महत्त्वपूर्ण आवश्यक विषयको प्रकट करनेके लिये शब्दान्तरको रखनेमें बाधा उपस्थित होजाय; इस बातको अच्छी तरह ध्यानमें रखनेवाले शिवविजयी जिनभक्त भगवान समन्तभद्र पूरे एक पद्यकी रचना कथित विषयका ही पुनः कथन करनेके लिये करके चर्वितचर्वण करनेमें चतुराईका परिचय दें यह उचित नहीं जंचता।

१—वसन्ततिलका छन्दः "ज्ञेया वसन्ततिलका तभजाजगौगः।" २—ग्रन्थकर्तुर्नामसंकेतः।

इस दृष्टिसे विचार करने पर अवश्य ही यह कारिका व्यर्थ सिद्ध होजाती है। किन्तु कोईभी व्यक्ति भगवत्कल्प समन्तभद्रके वचनामृत रत्नाकरका गंभीर तलस्पर्शी श्रद्धालु विद्वान् इस वैयर्थ्यको स्वीकार कर सकेगा, यह कथंचित् भी विश्वसनीय नहीं है अतएव सिद्ध है कि यह कारिका अवश्य ही कुछ अर्थान्तरका ज्ञापन करती है। जोकि निम्न प्रकार है :—

प्रथम तो यह कि यदि यह कारिका नहीं रहती है तो उपर्युक्त शंकाओंका परिहार ग्रन्थ द्वारा होना कठिन है। सुरेन्द्रता परमसाम्राज्य और तीर्थंकरत्व सभी सम्यग्दृष्टियोंको प्राप्त होते ही हैं क्या ? अथवा सभी सबको प्राप्त होते है या किसी २ को कोई २ प्राप्त होता है। इन प्रश्नों का उत्तर इस कारिकाके रहनेसे ही होता है। यह कारिका एक ही व्यक्तिको प्राप्त होनेवाले अभ्युदयोंको बताती है, इससे स्पष्ट होजाता है कि इसके पहले जो कथन किया गया है वह अवश्य ही नाना जीवोंकी अपेक्षासे है। फलतः मालुम होजाता है कि सभी सम्यग्दृष्टियोंके सभी परमस्थान प्राप्त ही हों यह नियम नहीं है। नियमपूर्वक कौन २ से परमस्थान और वे किस २ अवस्थायें उनको प्राप्त होते हैं यह बात आगमके द्वारा जानी जा सकती है।

दूसरी बात यह कि इन परमस्थानोंमेंसे किन २ में पूर्वापरीभाव-क्रमबद्धता या कार्य कारणभाव पाया जाता है और किन २ में नहीं ? इस विषयमें आगमका जो विधान है, उसकी तरफ भी यह कारिका संकेत करती है।

तीसरी बात यह कि—सम्यग्दृष्टि जीवको जो ये परमस्थान प्राप्त होते हैं सो इनमें कब २ कौन २ मुख्य हैं, प्रधान हैं ? और आवश्यक हैं ? तथा कौन २ गौण हैं ? यह कारिका इन प्रश्नोंका भी समाधान करती है।

चौथी बात यह कि यद्यपि शिवपर्यायको प्राप्त करने वालोंमें अपने निज शुद्ध स्वभाव गुणधर्मोंके विकाश आदिमें परस्पर कोई अन्तर नहीं पाया जाता—सभी समान हैं फिर भी भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा उनमें भी अन्तर माना गया है जो कि आगमम[१] बताया गया है उसको भी यह कारिका सूचित कर देती है।

फलतः कारिकाकी व्यर्थता से निकलनेवाले इसी तरहके अनेक ज्ञापनसिद्ध अर्थ यहां संगृहीत होजाते है या होसकते हैं जोकि आगमके कथनके अनुकूल है। इस तरह विचार करनेसे इस कारिककी असाधारण प्रयोजनवत्ता सिद्ध एवं स्पष्ट होजाती है।

शब्दोंका सामान्य-विशेष अर्थ—

देवेन्द्रचक्रमहिमानम्—देव इन्द्र चक्र और महिमा, इसतरह चार शब्दोंका पद एक पद है। निरुक्तिपूर्वक इस पदका अर्थ इस प्रकार करना चाहिये। देवनाम् इन्द्राः देवेन्द्राः, तेषां चक्रम् —समूहः संघातः, तस्य महिमा—माहात्म्यम्।

१—क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥ त०सू० अ० १०॥

देवगति और देव आयु नामकर्मके उदयसे प्राप्त पर्यायके धारण करने वाले उन संसारी जीवोंको जोकि वैक्रियिक शरीर तथा भवप्रत्यय अवधि या विभङ्गज्ञान आदिसे युक्त है उनको देव[१] कहते है। इन्दन्ति[२] इति इन्द्राः, परमैश्वर्यवन्तः, आज्ञाप्रवर्तकाः। जो परम ऐश्वर्यके धारक हैं साथ ही जिनकी अपने क्षेत्रवर्त्ती सभी देवों पर आज्ञा प्रवृत्त होती है उनको इन्द्र कहते हैं। क्रियते येन यत्र वा तत् चक्रं[३]। जिसके द्वारा, जिनपर अथवा जहांसे जिस स्थान आदि पर बैठकर अपने२ पदके अनुरूप आज्ञा उपदेश आदि कार्यका प्रवर्तन होता है उसको कहते हैं चक्र। यद्यपि इस शब्दका अर्थ समूह, गाडीका पहिया, जलावर्त, यन्त्रविशेष, बर्तन बनानेका कुम्हारका साधन आदि, तथा "नामका एकदेशभी पूरे नामके अर्थका वोधक हुआ करता है,"- इस उक्तिके अनुसार सुदर्शन चक्र धर्मचक्र आदि भी होता है; फिर भी यहां पर सामान्यतया इस तरहसे निरुक्त्यर्थ करना अधिक उचित प्रतीत होता है जिससे कि इस कारिकामें तीनोंही स्थानों पर आये हुए इस शब्दकी ठीक २ अर्थकी संगति हो सके। महिमा शब्दका अर्थ 'माहात्म्य' प्रसिद्ध है।

अमेयमानम्—मातुं योग्यम् मेयम् न मेयम् अमेयम्। अमेयंमानं यस्य स तम्। जिसके मान-सम्मान आदिको किसी तरह नापा नहीं जा सकता। मान शब्द मीमांसार्थक अथवा पूजा आदि अर्थवाली मा धातु से बनता है इसके विचार परीक्षा प्रमाण नापनेका साधन सम्मान आदि अनेक अर्थ होते हैं।

राजेन्द्रचक्रम्—ऊपर जैसा "देवेन्द्रचक्र" पदका अर्थ किया गया है वैसाही इस पदका भी करलेना चाहिये।

"अवनीन्द्रशिरोर्चनीयम्" इसका अर्थ स्पष्ट है कि जिसका भूमिपति नरेश शिर झुकाकर पूजा सम्मान अथवा आदर सत्कार विनय आदि क्रिया करते हैं।

धर्मेन्द्रचक्रम्-ऊपरके दोनो पदों-"देवेन्द्रचक्रम्" और "राजेन्द्रचक्रम्" की तरह ही इस पदकी भी निरुक्ति तथा अर्थ कर लेना चाहिये। धर्म शब्दका निरुक्तिसहित अर्थ ग्रन्थकी आदिमें ही बता दिया गया है। जिस परमैश्वर्यसे भूषित पदके द्वारा गणधर आदिको तथा द्वादश गणके रूपमें तीन लोकको जहां या जिसके द्वारा तत्त्व और तीर्थका उपदेश-शासन[४] किया जाता है उसको कहते हैं धर्मेन्द्रचक्र। अतएव इस पदके द्वारा धर्मचक्रसे चिन्हित वह आस्थान

१—दिव्वन्ति जदो णिच्चं गुणेहिं अट्ठेहिं दिव्वभावेहिं। भासंतदिव्वकाया तम्हा ते वण्णिया देवा ॥१४१॥ जीवकाण्ड।

२—इदि परमैश्वर्ये। (भ्वादि पर०)।

३—करणाधिकरणसाधनयोः कृ धातोः घञर्थे क-विधानात्।

४—जयत्यजय्यमाहात्म्यं विशासितकुशासनम्। शासनं जैनमुद्भासि मुक्तिलक्ष्म्येकशासनम्। आदि पु०।

समझना चाहिये जिसको कि समवसरणके नामसे कहा जाता है। अतएव यह पद उस तीर्थंकर पदका बोध कराता है जिसके कि साथ उक्त धर्मशासनके कर्तृत्वका सम्बन्ध नियत है। सम्यग्दर्शन के निमित्तसे प्राप्त होनेवाले इस लोकोत्तर आभ्युदयिक पदकी असाधारण महिमाको प्रकट करनेके लिये ही यह विशेषण पद दिया गया है कि "अधरीकृतसर्वलोकम्"। अर्थात् अधरः निम्नः, न अधरः अनधरः, अनधरम् अधरम् अकरोत् इति अधरीकृतः, अधरीकृतः सर्वो लोको येन स तम्। अर्थात् जिसने सम्पूर्ण लोकको अपने नीचे कर दिया है। जो तीनों लोकोंके ऊपर शासन करने वाला है।

सख्वा और शिव शब्दका अर्थ स्पष्ट है।

"च" यह अव्यय है, जो कि अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ करता है। छन्दो रचनामें पादपूर्तिके लिये इसका प्रयोग हुआ करता है। किन्तु यह बात प्रायः साधारण कवियोंकी कृतिमें ही पाई जाती और मानी जाती है। किन्तु जो उदार कवि है। कवियोंके भी जो आदर्श हैं उनकी रचनामें यह बात नहीं हुआ करती और न मानी ही जाती है। ग्रन्थके कर्त्ता भगवान् समन्तभद्र स्वामी साधारण कवि नहीं, महान आद्यकवि माने गये हैं। उनकी कृतिमें इस "च" का प्रयोग निरर्थक-केवल पादपूर्तिके लिये ही मानना अयुक्त है। अतएव इसका विशिष्ट प्रयोजन है।

श्री समन्तभद्र स्वामी महान् वैयाकरण भी हैं। व्याकरण शास्त्र में "च" के चार अर्थ माने गये हैं—समुच्चय अन्वाचय इतरेतर और समाहार। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। अनेक शब्दोंका जहां द्वन्द्व समास किया जाता है वहां पर इनमेंसे अन्तिम दो अर्थ हुआ करते हैं। और जहां समास न करके वाक्यमें ही "च", का प्रयोग होता है तो वहां प्रथम दो अर्थोंमेंसे कोई भी एक अर्थ माना जाता है। कदाचित्—प्रकरण विशेषके अनुसार दोनों अर्थ भी माने जा सकते हैं। यहां पर भी समास न रहनेके कारण, केवल वाक्यमें ही "च" का प्रयोग होनेसे इतरेतर या समाहार अर्थ न करके उसका समुच्चय अथवा अन्वाचय अर्थ करना ही उचित है। प्ररूपणीय विषयोंमेंसे जहां पर कोई गौण और कोई मुख्य बताया जाय वहां पर "च" का अन्वाचय और उनमेंसे जहां सभी विषय परस्परमें निरपेक्ष रहते हुए भी एक ही क्रियासे सम्बन्धित हो वहां उसका समुच्चय अर्थ हुआ करता है।

प्रकृतमें इस "च" का अन्वाचय अर्थ मुख्यतया करना उचित है क्योंकि ऐसा करनेसे प्रथम तीन चरणोंमें प्ररूपित तीनों ही आभ्युदयिक पदोंकी आनुषङ्गिकता प्रकट होजाती है। सम्यग्दृष्टिका मुख्य लक्ष्य निर्वाणको सिद्ध करना ही है सम्यग्दर्शनका वास्तविक फल भी वही है। यदि बीचमें कोई पद फिर चाहें वह कितना ही महान् क्यों न हो प्राप्त होता है तो वह अन्नके लिये कीगई खेतीके फल भूसाके समान नगण्य ही है।

जिनभक्तिः—जयन्ति कर्मारातीन् इति जिनाः, तेषु भक्तिर्यस्य स अर्थात् सम्यग्दृष्टिः। यद्यपि यह शब्द सामान्यतया सम्यग्दर्शनको ही सूचित करता है फिर भी जहांतक चारों ही पदोंके साथ सम्यग्दर्शनके कार्यकारणभावका विशेष रूपसे विचार एवं सम्बन्ध है तत्तत् कार्यके कारणकी अपेक्षासे इस शब्दके चार प्रकारके अर्थ करना ही उचित एवं संगत प्रतीत होता है। जैसा कि पहले बताया गया है। सुरेन्द्रताके लिये अभिषेक पूजा आदि, चक्रवर्तित्वके लिये वैयावृत्य प्रभृति तपश्चरण, तीर्थकरत्वके लिये अपायविचय धर्मध्यान अथवा तीर्थकृत्त्व भावना और निर्वाणके लिये शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीनता अर्थ करना अधिक संगत होता है।

उपैति[१] क्रिया पदका अर्थ स्पष्ट है। भव्यका अर्थ होता है भवितुं योग्यः। यह एक पर्यायाश्रित स्वभावका बोधक सापेक्ष शब्द है। आगे होने वाली सिद्ध पर्यायकी योग्यता मात्र को यह शब्द प्रकट करता[२] है। जिनमें यह योग्यता पाई जाती है उन्हींको कहते हैं भव्य। यद्यपि इस योग्यताका बोधक पूरा शब्द "भव्यसिद्धिक" ही आगममें[३] पाया जाता है। फिर भी यहां उसके एक देश भव्य शब्दके द्वारा वही अर्थ सूचित किया गया है।

अनादि कालसे जिन जीवोंमें यह योग्यता पाई जाती है वे सभी भव्य हैं फिर भी जिनके भव्य भावका विपाक[४] हो जाता है उनके अन्य निमित्त मिलने पर सम्यग्दर्शन भी प्रकाशमान होजाया करता है। और उसी जीवको अपने पुरुषार्थके बलपर अन्य निमित्तोंके साहचर्यसे जब अपने ही शुद्ध स्वभावमें पूर्णतया लीनता—शैलेश्य[५] प्राप्त होजता है तब वह सिद्धिको भी प्राप्त कर लिया करता है। उस अवस्थामें भव्यत्व—सिद्धि प्राप्त करनेकी योग्यता का कोई प्रश्न ही नहीं रहता। यही कारण है कि निर्वाण अवस्थामें उसका अभाव[६] बताया गया है। यहां पर भव्य शब्दका उल्लेख करके अभव्योंका निराकरण करते हुए बताया गया है कि संसारी जीवोंमें जो भव्य हैं वेही जिनेन्द्र भगवान्में अथवा जिन पर्यायमें यद्वा जैनेन्द्री मुद्रा में वास्तविक भक्ति रखनेवाले—सम्यग्दृष्टि होकर शिवपर्यायको प्राप्त हुआ करते हैं।

तात्पर्य—यह कि ऊपर सम्यग्दर्शनके निमित्तसे प्राप्त होनेवाली जिस संसारातीत शिवपर्यायका बयान किया गया है वह संसार सम्बन्धी सभी विकल्पों और उनके कारणभूत द्रव्य क्षेत्र काल भावसे शून्य है। अतएव अभेद अर्थात् परसम्पर्कसे सर्वथा रहित रहनेके कारण एक रूप है। अपने शुद्ध ज्ञानादि गुणोंके अखण्ड पिण्डरूपमें विद्यमान रहते हुए भी वह पर-सम्बन्धनिमित्तक माने जाने या कहे जानेवाले सभी भेदोंसे एकान्ततः विमुक्त है। परन्तु ऐसा होते हुए भी आगममें[७] भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे उसमें भी अनेक प्रकारसे पाये जानेवाले भेद व्यवहारका उल्लेख पाया जाता है। उसी प्रकार यहां इस कारिकाके आशयके

१—इपैवत्यर्थे। २—भवितुं योग्यो भव्यः। ३—सत् प्ररूपणा सू० न० १४१ से १४३।
४—भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते॥ ५—सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेस आसवो जीवो॥ गो० जी० ।६—औपशमिकादिभव्यत्वानां च।

मुक्त होजानेवालोंमें कोई अन्तर नहीं हैं—सामान्यतया सब एक रूप ही हैं। फिरभी उनमें पूर्वपर्यायके आश्रयसे भेद भी पाया जाता है मतलब यह कि सम्यग्दर्शनके निमित्तसे जो संसार में रहते हुए यह परमस्थानोंका लाभ हुआ करता है उनकी अपेक्षा सातवें परमस्थानमें भी भेद माना या कहा जा सकता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन निमित्तसे शिवपर्यायको जो जीव प्राप्त किया करता है उसमें पहले तीन पद—सज्जातित्व सद्गृहस्थता और पारिव्राज्य तो आवश्यक निमित्त हैं; किन्तु अन्तिम तीन पद—सुरेन्द्रता परमसाम्राज्य—चक्रवर्तित्व और आर्हन्त्य अर्थात् तीर्थंकरत्व ये आवश्यक निमित्त नहीं हैं। इनके बिना भी कोई भी सज्जाति सद्गृहस्थ सम्यग्दृष्टि जीव दीक्षा धारण करके शिव पर्यायको प्राप्त करसकता है। अतएव कहा जा सकता है कि कोई तो सुरेन्द्रताको न पाकर और कोई उसको प्राप्त करके सिद्ध हुए हैं, इसी प्रकार कोई चक्रवर्त्तीका पद पाकर तो कोई उसके बिना भी मुक्त हुए हैं, तथा कोई तीर्थंकर पदसे और कोई अतीर्थंकर पदसे ही निर्वाणको गये हैं। अतएव इन तीनों पदोंके अथवा इनमें से किसी भी पदके बिना भी शिवपर्याय प्राप्त हो सकती है। इसीलिये अन्वाचय अर्थमें आया हुआ "च" तीनों पदोंकी गौणताको प्रकट करता है। यद्यपि सामान्य रूपसे तो सभी सांसारिक अभ्युदय मोक्षकी अपेक्षा आनुषङ्गिक ही हैं फिर भी कारिकामें उल्लिखित सुरेन्द्रतादि तीन पदोंकी तरह प्रथम तीन परमस्थान अनावश्यक नहीं है, कारिका नं० ३६ में बताये गये सज्जातित्वादि तो मोक्षकी प्राप्तिमें साधन होनेके कारण सर्वथा आवश्यक हैं सुरेन्द्रता आदिके विषयमें यह बात नहीं है इसीलिये मालुम होता है कि अन्वाचय अर्थकी प्रधानताके कारण "च" के द्वारा कारिकोक्त सुरेन्द्रता आदि तीन पदोंकी ही वास्तवमें गौणता बताई गई है।

यह तीन पदोंकी गोणता भी मोक्षकी ही अपेक्षासे है, न कि परस्परकी अथवा उनके कार्यविशेषोंकी अपेक्षासे। यह ठीक है कि सामान्यतया तीनों ही पद कर्माधीन होनेसे परतंत्र नश्वर तथा अनेक प्रकारके दुःखोंसे भी आक्रान्त रहनेवाले हैं और इसीलिये शिवपर्यायकी अपेक्षा सर्वथा हेय हैं। तथापि सम्यग्दर्शन सहचारी पुण्य विशेषके फल होनेके कारण सातिशय एवं संसारमें सर्वाधिक सम्मान्य हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि गौणरूपमें कहेगये भी ये तीनों पद जो कि सुरेन्द्र राजेन्द्र और धर्मेन्द्र इस तरह जिस एक इन्द्र शब्दके ही द्वारा कहे गये हैं वह इन्द्र शब्द परमैश्वर्यका वाचक होनेसे शासनके अधिकारकी योग्यताको मुख्यतया प्रकट करता है। क्योंकि ऐश्वर्यमें आज्ञाकी ही प्रधानता रहा करती है, न कि वैभव की। यद्यपि उनका वैभव भी अधिक रहा करता है फिर भी ऐश्वर्यमें उसकी अपेक्षा नहीं है। किसी व्यक्ति का वैभव कम हो या ज्यादा परन्तु जिसकी आज्ञा प्रवृत्त हुआ करती है, वास्तवमें शासक इन्द्र

को ही प्राप्त हुआ करते हैं, फलतः वे नियमसे शिवपर्यायको भी प्राप्त होते हैं।

प्रकृत कारिकामें प्रयुक्त "च" का मुख्यतया अर्थ अन्वाचयरूपमें ही करना उचित है, यह ठीक है; जैसा कि ऊपर किया गया है। परन्तु मोक्षपर्यायकी अपेक्षाको गौण करके परस्पर तीनों पदोंकी दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो उसका समुच्चय अर्थ भी हो सकता है। क्योंकि ये तीनों ही पद अपने-अपने विषयमें अपनी-अपनी स्वतंत्र ही महत्ता रखते हैं। तीनों ही पदोंकी असाधारण महत्ता उनके विशेषणों द्वारा स्पष्ट हो जाती है, यद्वा ऊपर दी गई है। ये तीनों ही पद अपने-अपने क्षेत्रमें और अपने-अपने समयमें संख्याकी अपेक्षासे एक-एक ही रहा करते हैं। नीतिशास्त्र भी एकके ही शासनका समर्थन करता[1] है। एक ही इन्द्र अपने जिस अधिकृत स्वर्ग पर—उसमें रहने वाले सभी देवों पर ही नहीं देवेन्द्रों पर भी शासन किया करता है उस स्वर्ग का और उन देवोंका प्रमाण अमेय[2] है। जिस सभाके द्वारा उसका शासन प्रवृत्त हुआ करता, अथवा जहां बैठकर वह शासन—आज्ञा प्रदान, विचार विनिमय, सूचना, उपदेश आदि किया करता है उसकी महिमा भी अमेय है। ये सभाएं सौधर्मेन्द्रादिकी सुधर्मा[3] आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। तथा उनकी जो अभ्यन्तरपरिषत् और बाह्य परिषत् है उनकी भी महिमा अमेय ही है। केवल इसीलिये नहीं कि उनका वैभव अतुल्य एवं अपरिमित है किन्तु इसलिये भी कि जिन पर वह शासन करता है वे अप्रमाण—असंख्येय हैं।

चक्रवर्त्तीके लिये भी यही बात है। षट्खण्ड भूमिके शासनमें उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा करता। वह अकेला ही राजेन्द्रोंके द्वारा समस्त प्रजाका एकच्छत्र पालन किया और कराया करता है। उसकी सभाका महत्त्व भी अपरिमित ही है। जिसका कि नाम दिक्स्वस्तिका है। जो कि १६ हजार गणबद्ध देवों, सेनापति, मंत्री आदि हजारों सेवकों तथा ३२ हजार मुकुटबद्ध आर्य नरेन्द्रों, १८ हजार कर्मभूमिज म्लेच्छ राजाओं, एवं विद्याधर नरेशों आदिसे व्याप्त रहा करती है। जहां पर बैठकर वह प्रजाका न्यायपूर्वक पालन करनेके लिये राजाओंको उपदेश और आज्ञा प्रदान किया करता तथा न्यायका भङ्ग करनेवालोंको दण्ड विधान एवं उत्तम कार्य करने वालोंपर विविध प्रकारसे अनुग्रह प्रदर्शित किया करता है, जिसके कि निग्रह अनुग्रहका प्रभाव समस्त षट्खण्ड भारतकी प्रजाके धर्म अर्थ काम यश मोक्ष पर पड़ा करता है, उसकी इस सभामें दौवारिकके द्वारा उसकी स्वीकृति प्राप्त किये बिना कोई भी अच्छेसे अच्छे नरेश भी प्रवेश नहीं पा सकते और उन्हें झुककर नमस्कार करना पड़ता है।

१—बिनपति बहुपति पतितपति पत्नीपति पति बाल, नरपुर की तो बात क्या सुरपुर होय उजार।

२—देखो षटखण्डागम द्रव्य प्रमाणानुगम सूत्र ६६ आदि।

३—इनके नाम आगममें देखने चाहिये।

तीर्थंकर भगवानकी उस आस्थान सभा—समवसरणकी महिमाका तो वर्णन भी कौन कर सकता है? जिसको कि देखकर इन्द्र तथा चक्रवर्ती भी चकित हो जाया करते हैं। धार्मिक शासनमें वे अद्वितीय है; अनुपम है, सर्वोत्कृष्ट है। उनके शासनका ही यह महत्त्वपूर्ण प्रभाव है कि जीव मोहनिद्राको छोड़कर आत्म कल्याणके पथमें चलनेकी क्षमता प्राप्त कर लिया करते, मोक्षमार्गमें विहार किया करते और अनन्त दुःखरूप अवस्थासे छूटकर सर्वथा सुखरूप समन्ततो-भद्र शिवपर्यायको प्राप्त हो जाया करते हैं। इतना ही नहीं, संसारका प्राणीमात्र आपके ही दया-पूर्ण वीतराग शासनके कारण आजतक जीवित है और सुरक्षित है। आपकी द्वादशगणयुक्त सभामें पल्यके असंख्यातवें भाग भव्य श्रोता, यद्यपि सभाके क्षेत्रफलसे उनका क्षेत्रफल असंख्यात गुणा है फिर भी विना किसी संघर्ष अथवा बाधाके वन्दना पूजामें प्रवृत्त तथा उपस्थित रहा करते हैं। जहां पर आतंक रोग मरण उत्पत्ति वैर कामबाधा भूख प्यासका कोई कष्ट नहीं हुआ करता। जिसके भीतर मिथ्यादृष्टि अभव्य, असंज्ञी, संशय विपर्यय अनध्यवसायसे युक्त जीव प्रविष्ट ही नहीं हो सकते। यहीं पर उनकी चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर १३ वें गुणस्थानतकके सभी धर्मेन्द्रोंकी उपस्थितिमें तीन लोकके लिये अभयप्रदान करनेवाली निरक्षर वीतराग युगपत् अनन्त पदार्थोंका वर्णन करनेवाली दिव्यध्वनिका दिन भरमें ४ बार छह-छह घड़ी तक निर्गम हुआ करता है। इस सर्व हितकारी देशना, तथा अष्ट महा प्रातिहार्य, नवनिधियों कल्पवृक्षोंके लोकोत्तर वैभवसे पूर्ण, समवसरणका माहात्म्य; तीन लोकके अधिपतियों द्वारा पूज्य त्रैलोक्या-धिपति तीर्थंकर भगवानके उस पुण्यातिशयके अनुरूप ही है जिसने कि सभी पुण्यकर्मोंको पादाक्रान्त कर दिया है। यही कारण है कि उस कर्मके उदयसे युक्त इस तीर्थंकर पदको यहां पर अधरीकृतसर्वलोक कहा गया है।

इस तरह ये तीनों ही आभ्युदयिक पद परस्परमें अपना-अपना असाधारण महत्त्व रखते हैं। फिर भी निर्वाणकी अपेक्षा नगण्य तथा हेय ही है। यही कारण है कि यहां इनकी गौणता प्रकट की गई है।

यह भी यहां ध्यानमें रहना चाहिये कि सम्यक्त्वके निमित्तसे प्राप्त होने वाले ये तीन पद उपलक्षणमात्र हैं। इनके सिवाय और भी अनेक पद हैं जो कि नियमसे सम्यग्दृष्टिको ही प्राप्त हुआ करते है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवको देव और मनुष्य इस तरह दो ही पुण्यरूप गति प्राप्त हुआ करती हैं। अतएव उनसे संबंधित सभी उत्कृष्ट पद तो उसको प्राप्त होते ही हैं परंतु कदाचित् अनुत्कृष्ट पद भी उसे प्राप्त हुआ करते हैं। इसीलिये इन्द्र पद चक्रवर्ती पद और तीर्थंकर पद इन तीनों ही पदोंको उपलक्षण मानकर इन्द्र पदसे देवगति सम्बन्धी लोकपाल लौकान्तिक तथा अनुदिश अनुत्तर विमानोत्पन्न आदि देवोंका ग्रहण कर लेना चाहिये। चक्रवर्ती पदसे कुलकर, कामदेव, बलभद्र आदि समझ लेने चाहिये। तीर्थंकर पदसे दो कल्याण

तथा तीन कल्याणक वाले सभी तीर्थंकरों का अन्तर्भाव किया जा सकता है। परन्तु यह बात सुनिश्चित है कि सम्यग्दृष्टि जीव इस तरहके किसी भी पदकी वास्तवमें आकांक्षा नहीं रखता उसका अन्तिम लक्ष्य–साध्य पद तो अपना शुद्ध शिवस्वरूप ही है। हां, यह ठीक है कि जब तक उसको शिवस्वरूप प्राप्त नहीं होता तबतक उसको संसारमें इस तरह के पद प्राप्त हुआ करते हैं। फिर भी यह नियम नहीं है कि इन पदोंको प्राप्त करे ही अथवा तीनों ही पदोंको प्राप्त करे। इन पदोंको बिना प्राप्त किये भी केवल सज्जातित्व सद्गृहस्थता और परिव्राज्यको ही प्राप्त करके निर्वाणको सिद्ध कर सकता है। इन पदोंमेंसे किसी भी एक पदको पाकर भी मोक्षको जा सकता है। तथा तीनों पदोंको यद्वा तीनों पदोंसे अतिरिक्त किसी और भी पदको साथमें धारण करके—उनको भोगकर अन्तमें 'जिसमें कि ये पद अत्युत्तम एवं महान् माने जाते हैं उस संसारका ही अनन्त कालके लिये परित्याग कर ध्रुव अचल अनुपम शास्वत शिव स्वरूप सिद्धावस्थाको सिद्ध कर सकता हैं। जैसे कि सोलहवें सत्रहवें और अठारहवें तीथकर श्री १००८ भगवान शांतिनाथ कुन्थुनाथ अरनाथने किया।

अब इस अध्यायके अन्तमें हम उन्हीं तीनों परमात्माओंका मङ्गलरूप स्मरण करते हैं जिन्होंने कि इन्द्र-अहमिन्द्र पदको और उसके बाद एक साथ धर्म अर्थ काम पुरुषार्थके प्रतीकरूप तीर्थंकर चक्रवर्ती और कामदेवके पदोंको भोगकर एकसाथ ही सबका परित्याग करनेमें अपने परमोत्कृष्ट पुरुषार्थ-मोक्षपुरुषार्थको सिद्ध करके शिवस्वरूप प्राप्त किया और जोकि संसार में रत्नत्रय[1] के नामसे प्रसिद्ध हैं।

शान्तिः शान्तिकरः प्रशान्तवदनः सम्भ्रान्तिहारी जिनो,
यः संतापनिषूदने शशिसमो ध्वान्तापनोदी महान् ।
लब्ध्वा पुण्यफलत्रयीमनुपमां भुक्त्वा यथेष्टं च ताम्,
ऐश्वर्ये परमे निसर्गजनिते तस्थौ निजे चिन्मये ॥१॥

षट्खण्डां वसुधां प्रसाध्य सहसा सद्रत्नसारामलम्,
चक्रेणाथ सुदर्शनेन कृतवानाज्ञाभृतो भूभृतः ।
रामाः पण्णवतीः सहस्रगुणिताः सौगुण्यमूर्तीः सतीः,
योऽनङ्गोऽरमयन्निरन्तररतिः सद्विक्रियो भोगवान् ॥२॥

सैषः षोडशमो जिनेन्द्र उदितो जीयाज्जगत्पावनः,
इक्ष्वाकुप्रथितान्वयेन्दुरमलज्योतिः सदोद्योतवान् ।
संसाराम्बुधिपारगो भुवि नृणामुत्तारकः पोतवत्,
श्रेयोमार्गनिरूपणामृतनिषेकोऽज्जीवितप्राणभृत् ॥३॥

१—तीनों तीर्थंकरों की संयुक्त मूर्तियों को रत्नत्रयमूर्ति के नाम से कहनेकी प्रथा है, जैसे सोलपुर में

अहो प्रसिद्धे तव तीर्थकृत्त्वे साम्राज्यलक्ष्मीः किमु वर्णनीया।
अनङ्गलक्ष्मीर्यदि वा यतो हि सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः ॥४॥
शम्भो! महादेव! चतुर्मुखाख्य! स्वामिन् हृषीकेश! गणेशसेव्य।
न ज्ञायते तेऽद्भुतचेष्टितस्य किं वा रहस्यं, कविभिः; तथाहि—॥५॥
जीवैरनन्तैरुपभुज्यमानामेकां शिवां कामयसे कथं त्वम्!
त्यक्त्वा सहस्रप्रमिताः सतीस्तास्तुल्या ह्यनङ्गप्रियया समस्ताः ॥६॥
रत्नानि दिव्यानि चतुर्दशापि चेतोभिसतर्पिफलप्रदानि।
मुक्त्वाऽस्त्ररत्नत्रितयं गृहीतं त्वया हि संसारविनाशहेतु ॥७॥
इन्द्रोपकल्प्यानि परिच्छदानि हर्म्याणि संतर्पणसाधनानि।
सर्वाण्यपोह्याशु वने प्रविष्टो जातो यथाजातसुगात्रमात्रः ॥८॥
आज्ञां वहन्तः शिरसा सहस्राः भूपा महान्तोऽपि तके त्रिसृष्टाः।
निष्किञ्चनैः सेवितपादपद्मो जातः कथं गन्धकुटीनिवासी ॥९॥
आ ओष्ठजिह्वादिप्रकम्पभावादन्यत्र दिव्यध्वनिरुज्जगौ ते।
वेदार्थसार्थैःसह मुक्तितत्त्वं सिद्धौ नृणामभ्युदये स हेतुः ॥१०॥
तेनैव तज्ज्ञाः प्रणमन्ति भक्त्या भव्या भजन्ते च भवन्तमेव।
विक्षुब्धभावोऽहमपि प्रशान्त्यै वन्दे यजे स्तौमि नमस्करोमि ॥११॥

कुन्थुस्तोत्रम्—

षट्खण्डजामप्रतिमां विभूतिं, भोगोपभोगांश्च सुरोपनीतान्।
भुक्त्वैकदा कंचिदवाप्य हेतुम्, वैरस्यमध्यास्त य इत्थमेषु ॥१॥
हा, कष्टमेषः खलु मूढ आत्मा, भोगेष्वतृप्तो विषयी वराकः।
वाञ्छन् सुखं तस्य च साधनानि, नित्यं भ्रमत्येव भवे भवेऽपि ॥२॥
संसार इत्युच्यत अज्ञकैर्यो, निःसार एवास्ति स इत्यशङ्कम्।
तत्त्वं न जानन् विपरीतबुद्धिस्तत्रैव मोहाद्रमते यथेष्टम् ॥३॥
धनार्जने बन्धुजनेष्टसिद्ध्यै, कलत्रपुत्रादिहिताभिवृद्ध्यै।
दयाविहीनोऽनृतभाषणादि करोति किं किं नहि कर्म जीवः ॥४॥
तेनैव चातुर्गतिकेऽत्र लोके, दुःखाकुले भीभृति पापबीजे।
उत्पादमृत्य्वन्वयभृच्छरीरी, कर्मार्दितः पर्यटते सदैव ॥५॥
प्रवर्तते मोहविवर्तवर्ती यथातथा प्राकृत एष लोकः।
परन्तु तत्त्वज्ञजनोऽपि तद्वदहो प्रवर्त्तेत विचित्रतेयम् ॥६॥
ज्ञात्वाप्यहं नाद्यापि

धिङ् मामिति प्रोह्य विसृज्य राज्यं मत्वा तृणायापि जिनप्रव्रज्याम् ॥७॥
चण्डेन दंडेन वशं तु निन्ये, प्राक्चण्डदोर्दण्डबलानरातीन् ।
सोऽन्तर्गतां कर्मचमूं, विजेतुं जातोद्यमीदण्डमदण्डयत् स्वम् ॥ ॥८॥
यथा तमिस्रान्तरितं तमौघम्, निवारयामास पुरा सरत्नः ।
तथैव रत्नत्रयतेजसान्तःस्थितं तमो भव्यनृणां जहार ॥९॥
स कुन्थुनाथो जगदेकनाथो मां मन्मथो मारजयी जिनेन्द्रः ।
नृपेन्द्रशास्तापि निरस्त्रवस्त्र उपह्नवाक् पातु निरक्षरोक्तिः ॥१०॥

अर-जिनस्तवनम्—

अथ श्रीमान् महेन्द्रार्च्यः स्वयंभूर्योगवानरः ।
अथाख्यातात्मस्वातन्त्र्यः पवित्रयतु मां प्रभुः ॥१॥
वृषभोऽजितसामर्थ्यः शंभवो नोऽभिनन्दनः ।
पद्माढ्यः सुमतिं पातु कोटिचन्द्रद्युतिः स मे ॥२॥
पुष्पदन्तप्रसन्नास्यम् सद्वाचं सुखशीतलम् ।
दुष्कर्महतये नित्यं भजन्ते यं सुरासुराः ॥३॥
येनाभ्यधायि सद्धर्मः सुपार्श्वस्थगणेशिने ।
सर्वश्रेयोऽर्थसंसाधुः वासुपूज्यगुणात्मकः ॥४॥
तस्मै विमलबोधाय नमोऽनन्तगुणात्मने ।
यस्मात् प्रादुरभूद्देवी शारदा जगदम्बिका ॥५॥
भव्येभ्यो रोचते यस्य पवित्रं नाम पावनम् ।
ऋच्छन्ति तत्पदं यत्र निलीनाः योगिनः क्षणात् ॥६॥
कुन्थुवच्छान्तिकर्ता च पदत्रयविभूपितः ।
देवदेवो महादेवोऽपायात् पायात् स नः सदा ॥७॥
गुणरत्नाकर मलहर गभीर, परमौदारिकशुभतमशरीर ।
अरनाथ महत्तरपूज्य देव, जय जय जिनवर जगतांवरेण्य ॥८॥

इस प्रकार श्री भगवत्समन्तभद्राचार्यविरचित रत्नकरण्डश्रावकाचारकी धर्मचन्द्रिका नामकी विद्यावारिधि स्याद्वादवाचस्पति जैनसिद्धान्तमर्मज्ञ वेरनी, एटा, उत्तरप्रदेश निवासी इंदौर (मध्य भारत) प्रवासी पंडितप्रवर खूबचन्द्र (पद्मावती पुरवालजातिसमुद्भव) विरचित हिन्दी टीकामें सम्यग्दर्शनका वर्णन करनेवाला प्रथम अध्याय पूर्ण हुआ ॥१।

इति शुभं भद्रं च भूयात्

जीयात्समन्तभद्रोऽसादभद्रार्थनिपूदनः